विषय-सूची

मेरी कहानी

१

कश्मीरी घराना

"अपने आपके बारे में लिखना है तो अच्छा काम, मगर है मुश्किल। क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और यदि अपनी तारीफ करें, तो पाठकों को उसे सुनना नागवार गुजरता है।"

—अब्राहम कोली

मा-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो तो, यों भी उसके खराब हो जाने का अन्देशा रहता है, फिर हिन्दुस्तान मे तो और भी ज्यादा। ओर जब लडका ऐसा हो जो शुरू के ११ साल तक अपने मा-बाप का अकेला ही बच्चा रहा हो, तो फिर खराबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरे दो बहने है, जो उम्र मे मुझसे बहुत ही छोटी है और हम हरेक के बीच मे काफी साल का फर्क है। इस तरह अपने बचपन मे मै बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हम-उम्र साथी न मिला—यहाँतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ, क्योकि मै किसी किंडर-गार्टन या बच्चो के मदरसे मे पढने नही भेजा गया। मेरी पढाई की जिम्मेदारी खानगी मास्टरो या अध्यापिकाओ पर थी।

मगर हमारे घर मे किसी तरह अकेलापन न था। हमारा परिवार बडा था, जिसमे चाचा-ताऊ और दूसरे नजदीक के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू-परिवारो मे आम तौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र मे मुझसे बहुत बडे थे और वे सब हाईस्कूल या कॉलिज मे पढते थे। उनकी नजर मे मै उनके कामो या खेलो मे शरीक होने लायक नही हुआ था। इस तरह इतने बडे परिवार मे, मै और भी अकेलापन महसूस करता था और ज्यादातर अपने ही खयालो और खेलो मे ही मुझे अकेले अपना वक्त काटना पडता था।

हम लोग कश्मीरी है। २०० बरस से ज्यादा हुए होगे, १८वीं सदी के शुरू में हमारे पुरखे दौलत और नामवरी हासिल करने के इरादे से कश्मीर की [illegible] तराइयों से नीचे के उपजाऊ मैदानो मे आये। वे मुगल सल्तनत की गिराव[illegible] था। [illegible]े। औरंगजेब मर चुका था और फर्रुखसियर बादशाह था। हमारे जो [illegible] [illegible] रहते आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फारसी [illegible] उनका बड़ा नाम था। फर्रुखसियर जब कश्मीर गया तो उसकी [illegible]। वह तेज-मिजाज

और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुग
की राजधानी थी। यह १७१६ के आस-पास की बात है। राजकोल को एक मका
और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू प
गया। कोल जो उनका खानदानी लकब था वह बदलकर कोल-नेहरू हो गया और,
आगे चलकर, वह कोल गायब हो गया और हम महज नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डावाडोल जमाना आया कि जिससे हमारे कुटुम्ब के जी
मे कई उतार-चढाव आये, जिसमे वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परद
लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के नाम-मात्र के बादशाह के दरबार मे कम्पनी-सरक
के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गगाधर नेहरू, १८५७ के गदर के कुछ पहले त
दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ मे ३४ साल की भर-जवानी मे ही वह मर गये थे

१८५७ के गदर की वजह से दिल्ली मे हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट
गया। हमारे खानदान के तमाम कागज-पत्र और दस्तावेज तहस-नहस होगये। इस
तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोडनेवाले और कई
लोगों के साथ वहाँ से चल पडा और आगरे मे जाकर बस गया। उस समय मे
पिताजी का जन्म नहीं हुआ था। लेकिन मेरे दो ताऊ जवान थे और कुछ-कुछ अग्रेजी
जानते थे। इस अग्रेजी जानने की बदौलत मेरे छोटे ताऊ और परिवार के कुछ दूसरे
लोग एक बुरी और अचानक आफत से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लो
के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थ
जिसका रूप-रग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चो का हुआ
करता है। इत्तिफाक से कुछ अग्रेज सिपाही उन्हे रास्ते मे मिले। उन्हे शक हुआ
कि, हो न हो, यह लडकी किसी अग्रेज की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे
है। उन दिनों सरसरी तौर पर मुकदमा करके सजा ठोक देना एक मामूली बात थी,
इसलिए मेरे ताऊ तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नजदीकी पेड पर जरूर फासी
पर चढा दिये गये होते। मगर खुश-किस्मती से मेरे ताऊ के अग्रेजी जानने ने मदद
की, जिससे इस फैसले मे कुछ देरी हुई। इतने ही मे उधर से एक शख्स गुजरा,
…ताऊ वगैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरो की जान बचाई।

कुछ बरसो तक ये लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को मेरे पिताजी
पैदा हुए। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे
…छोटी तस्वीर हमारे यहा है जिसमे वह मुगलो का दरबारी लिबास
…अजीब और मजेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर
…के और इसी साल पैदा हुए हैं।

हने और हाथ मे एक टेढी तलवार लिये हुए है। उसमे वह एक मुगल सरदार-से दिखाई देते है, हालाकि उनकी सूरत-शकल कश्मीरियो की-सी ही थी।

तव हमारे परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी मेरे दो ताउओ पर आ पडी, जो कि उम्र मे मेरे पिता से काफी वडे थे। वडे ताऊ वशीधर नेहरू थोडे ही दिन वाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग मे नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तवादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगो से वहुत-कुछ जुदा पड गये। छोटे ताऊ नन्दलाल नेहरू राजपूताना की एक छोटी रियासत खेतडी के दीवान हुए और वहां दस वरस तक रहे। वाद मे उन्होने कानून का अध्ययन किया और आगरे मे वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हीके साथ रहे और उन्हीकी छत्र-छाया मे उनका लालन-पालन हुआ। दोनो का आपस मे वडा प्रेम था और उसमे वन्धु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सवसे छोटे होने के कारण स्वभावत मेरी दादी के वहुत लाडले थे। वह वूढी थी और वडी दवग भी। कोई उनकी वात न सुने, यह उन्हे गवारा नही होता था। उनको मरे अव कोई पचास वर्ष हो गये होगे, मगर वूढी कश्मीरी स्त्रियाँ अव भी उनको याद करती है और कहती है कि वह वडी जोरदार औरत थी। अगर किसीने उनकी मर्जी के खिलाफ कोई काम किया, तो वह उसके लिए भयकर सावित होती थी।

मेरे ताऊजी नये हाइकोर्ट मे जाया करते थे और जव वह हाइकोर्ट इलाहावाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वही जा वसे। तवसे इलाहावाद ही हमारा घर वन गया है और वही, वहुत साल के वाद, मेरा जन्म हुआ। ताऊजी की वकालत धीरे-धीरे वढ़ती गई और वह इलाहावाद-हाइकोर्ट के वडे वकीलो मे गिने जाने लगे। इस वीच मेरे पिताजी कानपुर और इलाहावाद के स्कूल और कॉलेज मे शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू मे उन्होने महज फारसी और अरवी की तालीम पाई थी। उनकी अग्रेजी शिक्षा वारह-तेरह वरस की उम्र के वाद शुरू हुई। मगर उस उम्र मे भी वह फारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरवी मे भी कुछ दखल रखते थे। और इसी कारण उनसे उम्र मे वहुत वडे लोग भी उनके साथ इज्जत से पेश आते थे। छोटी उम्र मे इतनी लियाकत हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज मे वह ज्यादातर हँसी-खेल और धूमामस्ती के लिए मशहूर थे। उन्हे सजीदा विद्यार्थी किसी तरह नही कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की वनिस्वत खेल-कूद और शरारत का शौक वहुत था। कॉलेज मे वह सरकश लडको के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिवास की तरफ हो गया था, और सो भी उस वक्त जव कि हिन्दुस्तान मे कलकत्ता और वम्बई-जैसे वडे शहरो को छोडकर इसका चलन नही हुआ था। वह तेज-मिजाज

ओर अक्खड थे, तो भी उनके अंग्रेज प्रोफेसर उनको बहुत चाहते थे और अ
मुश्किलो से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उ
बुद्धि तेज थी और कभी-कभी एकाएक जोर लगाकर वह क्लास मे भी अपना क
ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफेसर का जिक्र प्रेम-भरे शब्द
मे किया करते थे। वह थे मि० हैरिसन, जो म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद
प्रिन्सिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होने बडे जतन से सम्हालकर रक्खी थी। वह
उन दिनो की है, जब कि वह कॉलेज मे पढते थे।

कॉलेज की परिक्षाओ मे वह पास होते चले गये। कोई खास नामवरी उन्होने
हासिल नही की। आखिर को बी० ए० के इम्तिहान मे बैठे। मगर उसके
उन्होने कुछ मेहनत या तैयारी नही की थी और जो पहला पर्चा किया तो उ
उन्हे बिल्कुल संतोष नही हुआ। उन्होने सोचा, जब पहला ही पर्चा बिगड ग
है तो अब पास होने की क्या उम्मीद? उन्होने बाकी परचे किये ही नही और ताज
ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनो विश्वविद्यालय की परीक्षाऍ आगरा मे
हुआ करती थी) मगर बाद को उनके प्रोफेसर ने उन्हे बुलाया और बहुत बिगडे।
उनका कहना था कि पहला परचा तुमने ठीक-ठीक किया है और बेवकूफी की जो आगे
के परचे नही किये। खैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के कुछ क
हो गई और बी० ए० पास करना आखिर रही गया।

जब उन्हे काम-धंधा जमाने की फिक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह भी थ
की ओर गई, क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था कि जिसमे कुछ ल
होशियार आदमियो के लिए काम की गुञ्जाइश थी और जिसकी चल बुजुर्गो का हुआ
पो-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। वसे ही जा रहे
वकील के इम्तिहान मे बैठे आर उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हे शुरू हुआ
भी मिला। कानून का विषय उन्हे दिल से पसन्द था और उसमे सफलता एक बात थ
उन्होने निश्चय कर लिया था।

उन्होने कानपुर की जिला-अदालतो मे वकालत शुरू की, और चूंकि पर फार्म
पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी तोडकर मेहनत की। फिर ज्यादा ने मदद
वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हा, हॅसी-खेल और मौज-मजा उनका बाजरा, जो
जारी रहा और अक्सर भी उनका कुछ वक्त उसमे चला जाता था। उन्हे पिताजी
और दंगल का खास शौक था। उन दिनो कानपुर कुश्तियो और दंगल । लिब
[illegible] था।

[illegible] कानपुर मे उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद [illegible] राकुर

इलाहाबाद आये और हाइकोर्ट मे काम करने लगे। पण्डित नन्दलाल एकाएक गुजर गये। इससे पिताजी को जबरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नही, पिता के समान थे, और उन दोनो मे बडा प्रेम था। उनके जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की ओर पिताजी की यह बहुत बडी हानि थी। अब इतने बडे कुनबे के भरण पोषण का प्राय सारा भार इस नौजवान के कन्धे पर आ पडा।

वह अपने पेशे मे जुट पडे। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनो तक दूसरी सब बातो से जी हटाकर इसीमे लगे रहे। ताऊजी के करीब-करीब सब मुकदमे उन्हे मिल गये और उन्हे उनमे अच्छी कामयाबी भी मिल गई। इसमे अपने पेशे मे भी बहुत जल्दी कामयाबी मिली। मुकदमे धडाधड आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र मे ही उन्होने वकालती सफलता मे नामवरी हासिल करली और इसके लिए उन्होने अपनी निष्ठुर प्रेयसी वकालत मे अधिक-से-अधिक तल्लीन होकर इसकी कीमत भी चुकाई थी। उनके पास न सार्वजनिक और न खानगी कामो के लिए वक्त रहता था—यहाँतक कि छुट्टियो के दिन भी वह वकालत के काम मे ही लगाते थे। काँग्रेस उन दिनो मध्यम श्रेणी के अग्रेजी-दाँ लोगो का ध्यान अपनी खीचने मे लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठको मे गये भी थे और, जहाँ चारो से सम्बन्ध है, उसके प्रति अपनी रुचि और भक्ति प्रकट भी कर चुके थे। उसके कामो मे वह कोई खास दिलचस्पी नही लेते थे। अपने पेशे मे ही इतने थे कि उसके लिए उन्हे वक्त नही था। हाँ, एक बात और थी। इसके सिवा, निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यो का क्षेत्र उनके लिए भी होगा या नही, उस समय तक इन विषयो पर उन्होने न तो ज्यादा ध्यान था, न कुछ उन्हे इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन ठन मे शामिल होना नही चाहते थे, जिसमे उन्हे किसी दूसरे के इशारे पर नाचना । यो बचपन और जवानी के शुरू की तेजी देखने मे कम हो गई थी, पर उसने नया रूप ले लिया था। अधिकार की नई इच्छा उनमे जग गई थी। छोटी की ओर उसे लगा देने से उन्हे कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और लम्बन का भाव बढ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लडना, दिक्कतो का मुकाबिला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनो तिक क्षेत्र से अपनेको बचाये रखते थे। और बात यह है कि उन दिनो काँग्रेस लडाई का मादा ही बहुत कम था। फिर भी, उस क्षेत्र से उनका परिचय नही था उनका दिमाग अपने पेशे की बातो मे और उसके लिए बडी मेहनत करने मे लगा

रहता था। उन्होंने सफलता की सीढी को जोर से पकड लिया था और एक-एक कदम ऊपर चढते जाते थे—किसीकी मेहरबानी से नहीं, जैसा कि उनका विश्वास था और न किसीकी खिदमत करके, बल्कि खुद अपने संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ मे वह जरूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेजो और उनके तौर-तरीक के कद्रदाँ भी थे। उनका यह खयाल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये है और वे जिस हालत मे है, बहुत-कुछ, उसीके लायक है। जो राजनैतिक लोग बाते-ही-बाते किया करते है, करते-धरते कुछ नही, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफरत-सी करते थे, हालाकि वह यह नही जानते थे कि इससे ज्यादा वे और कर क्या सकते थे। हाँ, एक और खयाल भी उनके दिमाग मे था, जोकि उनकी कामयाबी के नशे मे पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति मे पडे है, उनमे ज्यादातर—सब नहीं—वे लोग है, जो अपने जीवन मे नाकामयाब हो चुके है।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन मे बहुत परिवर्तन हो गया था। जहाँ आमदनी बढी नही कि खर्च भी उसके साथ बढा नहीं। रुपया जमा करना मेरे पिताजी को ऐसा मालूम पडता था मानो जब और जितना चाहे रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तुहमत लगाना है। खिलाडी की स्पिरिट और हर तरह मे बडी-चढी रहन-सहन के शौकीन तो वह थे ही, जो-कुछ कमाते थे, सब खर्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा चाल-ढाल धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे मे ढलता गया।

मेरे बचपन[1] मे हमारे घर का यह हाल था।

१. १४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी संवत् १९४६, को इलाहाबाद मे मेरा जन्म हुआ था।

२

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बुजुर्गो की छत्रच्छाया मे बीता। उसमे कोई महत्त्व की घटना नही हुई। मैं अपने चचेरे भाइयो की बाते सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ मे आ जाती हो सो बात नही। अक्सर ये बाते अग्रेज और यूरेशियन लोगो के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियो के साथ अपमानजनक व्यवहारो के बारे मे हुआ करती थी और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फर्ज होना चाहिए कि वह इस हालत का मुकाबिला करे और इसे हरगिज बरदाश्त न करे। हाकिमो और लोगो मे टक्करे होती रहती थी और उनके समाचार आये दिन सुनाई पडते थे। उनपर खूब बहस भी होती थी। यह एक मशहूर बात थी कि जब किसी अग्रेज ने किसी हिन्दुस्तानी को कत्ल कर दिया तो उसको जूरी, जिनमे उन्हीके देश-वाले रहते थे, बरी कर देते। रेलगाडियो मे यूरोपियनो के लिए डब्बे रिज़र्व रहते थे और गाडी मे चाहे कितनी ही भीड हो—और जबरदस्त भीड रहा ही करती थी—कोई हिन्दुस्तानी उनमे सफर नही कर सकता था, चाहे भले ही वे खाली पडे रहे। जो डब्बे रिजर्व नही रहते थे, उनपर भी अग्रेज़ लोग अपना कब्ज़ा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को नही घुसने देते थे। सार्वजनिक बगीचो और दूसरी जगहो मे भी बेञ्चे और कुर्सिया रिजर्व रक्खी जाती थी। विदेशी हाकिमो के इस बर्ताव को देखकर मुझे बडा रज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता तो मुझे बडी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयो मे से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगडो मे उलझ जाते, तब हम लोगो मे बडा जोश फैल जाता। हमारे परिवार भर मे मेरे एक चचेरे भाई बडे दबग थे। उन्हे अक्सर अग्रेज़ो से और ज्यादातर यूरेशियनो से झगडा मोल लेने का बडा शौक था। यूरेशियन तो अपनेको शासको की जाति का बताने के लिए अग्रेज़ अफसरो और व्यापारियो से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते। ऐसे झगडे खासकर रेल के सफर मे हुआ करते थे।

हालाकि देश मे विदेशी शासको का रहना और उनका रग-ढग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, मुझे जहाँतक याद है, किसी अग्रेज के लिए मेरे दिल मे बुरा भाव नही था। मेरी अध्यापिकाये अग्रेज़ थी और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यो कहना चाहिए कि अपने दिल मे तो मैं अग्रेजो की इज्ज़त ही करता था।

शाम को रोज कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम मे पड जाते और दिन-भर की थकान मिटाते। उनकी जबरस्त हँसी से सारा घर भर जाता। इलाहाबाद मे उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं पर्दे की ओट मे उनकी और उनके दोस्तो की ओर झांकता और यह जानने की कोशिश करता कि देखे ये बडे लोग इकट्ठे होकर आपस मे क्या-क्या बाते करते है। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मै पकडा जाता तो मै खीचकर बाहर लाया जाता और मै, सहमा हुआ, कुछ देर तक पिताजी की गोदी मे बैठाया जाता। एक बार मैने उन्हे 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मै जानता था। अक्सर पिताजी और उनके मित्रो को पीते देखा था। मगर इस नई लाल चीज को देखकर मै सहम गया और माँ के पास झपटा गया और कहा कि "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे है।"

मै पिताजी की बहुत ही इज्जत करता था। मै उन्हे बल, साहस और होशियारी की मूर्ति समझता था। और दूसरो के मुकाबले मे इन बातो मे बहुत ही ऊँचा और बढा-चढा पाता था। मै भी अपने दिल मे यह आशा लगाये था कि बडा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। लेकिन जहाँ मै उनकी इज्जत करता था और उन्हे बहुत ही मानता था, वहाँ मैं उनसे डरता भी था। नौकर-चाकरो पर और दूसरो पर बिगडते हुए मैने उन्हे देखा था। उस समय वह बडे भयंकर मालूम होते थे। और मै मारे डर के कांपने लगता था। नौकरो के साथ जो यह बर्ताव उनका होता था उसके प्रति मेरे मन मे अक्सर कभी-कभी गुस्सा भी आ जाया करता था। उनका स्वभाव दरअसल तेज था, और उनकी आयु के ढलते दिनो मे भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे मे देखने को नहीं मिला। लेकिन खुशकिस्मती से उनमे हँसी-मजाक का माद्दा बडे जोर का था और वह इरादे के बडे पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपपर काबू रख सकते थे। ज्यों-ज्यो उनकी उम्र बढती गई, उनकी अपने-आप पर काबू पाने की ताकत बढती गई। और फिर शायद ही कभी उनकी इस पुरानी आदत का परिचय मिलता।

उनकी तेज-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही मे मै उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज मैने पिताजी की मेज पर दो फाउंटेन-पेन पडे देखे। मेरा जी ललचाया। मैने दिल मे कहा, पिताजी एक साथ दो पेनो का क्या करेगे? एक मैने अपनी जेब मे डाल लिया। बाद मे बडे जोरो की तलाश हुई कि पेन कहां चला गया? तब तो मै घबराया, पर मैने बताया नहीं। आखिर पेन मिल गया और मै गुनहगार करार

दिया गया। पिताजी बहुत गुस्सा हुए और मेरी खूब जी भर के मरम्मत की। आखिर पिटकर शर्म से अपना-सा मुंह लिये मै माँ की गोद मे दौडा गया। इतना पिटा था कि कई दिन तक मेरे बदन पर क्रीम और मरहम लगाने पडे थे।

लेकिन मुझे याद नही पडता कि इस सजा के कारण पिताजी के प्रति मेरे मन मे कोई बुरा भाव पैदा हुआ हो। मै समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सज़ा तो तुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी जरूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल मे वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर उसमे और शामिल हो गया था। मगर मा के साथ ऐसा न था। उससे मै बिलकुल नही डरता था। क्योकि मै जनता था कि वह मेरे सब कुछ किये-धरे को माफ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मै उसपर थोडा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मै मा को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नजदीक मालूम होती थी। मै जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ स्वप्न मे भी पिताजी से कहने का खयाल नही कर सकता था। वह सुडौल, कद मे छोटी और नाटी थी और मै जल्द ही करीब-करीब उनके बराबर ऊँचा हो गया था और अपनेको उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थी। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूब-सूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी मा के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान मे आये थे

एक और शख्स जो लडकपन मे मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिताजी के मुशी मुबारकअली थे। वह बदायूँ के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे। मगर १८५७ के गदर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अग्रेजी फौज ने उनको एक हद तक जड-मूल से उखाड फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हे हरेक के प्रति, और खासकर बच्चो के प्रति, बहुत नम्र और सहन-शील बना दिया था, और मेरे लिए तो वह, जब कभी मै किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ महसूस करता तो, सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढिया सफेद दाढी थी और मेरी नौ-जवान आखो को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खज़ाने मालूम होते थे। मै उनके पास लेटे-लेटे घण्टो अलिफलैला के और दूसरे किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की बाते सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बडे होने पर, मुशीजी इन्तकाल कर गये। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन मे बनी हुई है।

हिन्दू पुराणो और रामायण-महाभारत की कथाये भी मै सुना करता था जोकि मेरी मा और चाइयाँ सुनाया करती थी। मेरी एक चाई, पण्डित नन्दलालजी की

विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू ग्रन्थो की बहुत जानकारी रखती थी। उनके पास कहानियो का तो मानो खजाना ही भरा था।

धर्म के मामले मे मेरे खयालात बहुत धुधले थे। मुझे वह स्त्रियो मे मम रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी ओर बडे चचेरे भाई धर्म की बात हँसी मे उडा दिया करते थे और इसपर ज्यादा ध्यान नही देते थे। हाँ, हमारे की ओरते अलबत्ता पूजा पाठ ओर व्रत-त्योहार किया किया करती थी। हालाँकि इस मामले मे घर के बडे-बूढे अदामियो की देखा-देखी उनके तात्कालिक आचरण कोशिश किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मै उनका रस लिया करता थ कभी-कभी मै अपनी मा या ताई के साथ गगा नहाने जाया करता, ओर क इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरो मे भी या किसी नामी ओर बडे सा सन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर दिल पर हुआ।

फिर त्योहार के दिन आते थे—होली जबकि सारे शहर मे रगरेलियो की धू मच जाती थी ओर हम लोग एक दूसरे पर रग की पिचकारिया चलाते थे, दिवाल रोशनी का त्योहार होता जबकि सब घरो पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हजा दीये जलाये जाते, जन्माष्टमी, जिसमे कि जेल मे पैदा हुए श्रीकृष्ण की आधीरात वर्षगाठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बडा मुश्कि होता था), दशहरा ओर रामलीला, जिसमे कि स्वाँग ओर जूलूसो के द्वारा रामचन् ओर लका-विजय की पुरानी कहानी की नकल की जाती थी ओर जिन्हे देखने के लि लोगो की बडी भारी भीड इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देख जाते थे, जिनमे रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब मे हसन ओर हुसैन के सा घटित घटनाओ की यादगार मे शोकपूर्ण मरसिये गाये जाते थे। दोनो ईद पर मुशीजी बढिया कपडे पहनकर बडी मसजिद मे नमाज के लिए जाते ओर मै उनके घर जाकर मीठी सेवैया ओर दूसरी बढिया चीजे खाया करता। इनके सिवा रक्षाबन्धन, भैया-दूज वगैरा छोटे त्योहार भी हम हम लोग मनाते थे।

कश्मीरियो के कुछ खास त्योहार भी होते है, जिन्हे उत्तर मे बहुतेरे दूसरे हिन्दू नही मनाते। इनमे सबसे बडा नौरोज याने वर्ष-प्रतिपदा का त्यौहार है। इस दिन हम लोग नये कपडे पहनकर बन-ठनकर निकलते ओर घर के बडे लडके-लडकियो को हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवो मे मुझे एक सालाना जल्से मे ज्यादा दिलचस्पी थी जिसका खास मुझीसे ताल्लुक था—याने मेरी वर्ष-गाठ का उत्सव

इस दिन मै बडे उत्साह और रग मे रहता था। सुबह ही एक बडी तराजू मे मै गेहूँ और दूसरी चीजो के थैलो से तौला जाता और फिर वे चीजे गरीबो को बाँट दी जाती और बाद को नये-नये कपडो से सजा-धजाकर मुझे भेट और तोहफे नजर किये जाते। फिर तीसरे पहर दावत दी जाती। उस समय मै अपनेको मानो उस सारे जलसे का सरदार ही पाता था। मगर मुझे इस बात का बडा दुख था कि वर्ष-गाठ साल मे एक बार ही क्यो आती है? वास्तव मे मैने इस बात का आन्दोलन खडा करने की कोशिश की कि वर्ष-गाँठ के मौके बरस मे एक बार ही क्यो और अधिक क्यो न आया करे? उस वक्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयगा जब ये वर्ष-गाँठे हमको अपने बुढापे के आने की दुखदायी याद दिलाया करेगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी मे बरात भी जाया करते। उस सफर मे बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सव मे हम बच्चो की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थीं और हम आजादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने मे कई कुटुम्बो के लोग आकर रहते थे और उनमे बहुतेरे लडके और लडकियाँ भी होती थीं। ऐसे मौको पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नही रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौका मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बडे-बूढो की डाँट-फटकार भी जरूर पड जाती थी।

हिन्दुस्तान मे क्या गरीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियो मे धूम-धाम और फिजूल-खर्ची करते है उसकी सब तरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फजूल-खर्ची के अलावा उसमे बडे भद्दे ढग के प्रदर्शन भी होते है, जिनमे न कोई सुन्दरता होती है न कला। (कहना नही होगा कि इसमे अपवाद भी होते है) इन सबके असली गुनहगार है मध्यम वर्ग के लोग। गरीब भी कर्ज लेकर फजूल-खर्ची करते है। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनकी मुफलिसी उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओ के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि गरीब लोगो की जिन्दगी बडी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमे उन्हे अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौका मिल जाता है, जो कि उनकी मेहनत-मशक्कत के रेगिस्तान मे एक झरने का काम देता है। रोजमर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम मे हटकर कुछ आराम और आनन्द की छटा दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौके मिलते है उनको ऐसा कौन निठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और

तसल्ली न मिलने देना चाहेगा ? हाँ, फज़ूल-खर्ची को आप शौक से बन्द कर दीजि
और उनकी शाहखर्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ्ज़ हैं ये जो उस थोड़े
प्रदर्शन के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं, जिसे गरीब लोग अपनी गरीबी में भी दिखा
हैं—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज्यादा उदास औ
हँसी-खुशी से खाली मत बनाइए।

यही बात मध्यमश्रेणी के लोगों के लिए भी है। फज़ूल-खर्ची को छोड़ दे
ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं, जहाँकि दूर के रिश्तेदार और पु
साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है
यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है। सबका साथ और ए
जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए यहाँ शादी के जलसों को लोग इतन
चाहते हैं। एक और चीज इसके मुकाबले की है और कुछ बातों में तो, और सामाजि
सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गई है। वह है राजनैतिक सम्मेलन,
अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, या कांग्रेस की बैठकें।

और लोगों की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत में, कश्मीरियों को एक सु
सुभीता है। उनमें पर्दे का रिवाज या मर्द-औरतों को एक-दूसरे से न मिलने-जु
देने का रिवाज कभी नहीं रहा है। मैदान में आने पर, वहाँके रिवाज के मुताबि
दूसरों से और गैर-कश्मीरियों से जहाँतक ताल्लुक है, उन्होंने इस रिवाज को ए
हद तक अपना लिया है। उत्तर में जहाँ कि कश्मीरी अधिक बसते हैं, उन दिनों य
सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में
उन्होंने स्त्री और पुरुषों के सामाजिक जीवन को वैसा ही आजाद रक्खा है। कोई भी
कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर में आजादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियों की
दावतों और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और
बैठते हैं। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती हैं, लड़के-लड़कियाँ
बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते हैं। लेकिन हाँ, यह तो कहना ही पड़ेग
कि आधुनिक पश्चिम की आजादी उन्हें नहीं थी।

इस तरह मेरा बचपन गुजरा। कभी-कभी, जैसा कि बड़े कुटुम्बों में हुआ ही
करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी
के कानों तक पहुँचते। तब वह गुस्सा होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवकूफी
है। मैं यह तो नहीं समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है। मैं
तो इतना जानता था कि कोई बुरी बात हुई है। क्योंकि लोग एक-दूसरे
[illegible] से बोलते थे और आपस में मिलना टालते थे। ऐसी हालत

मैं बडा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पडते तो हम लोगों के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों का एक छोटा वाकया मुझे अभीतक याद है। मैं ६-७ वर्ष का रहा होउगा। म रोज घुड-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज शाम को मैं घोडे से गिर पडा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—खाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफी घबराहट और हलचल मच गई और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब, जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश में दौड पडे। पिताजी उन सबके आगे थे। वह रास्ते में मुझे मिले और वे सब मेरे साथ इस तरह पेश आये मानो मैंने कोई बडी बहादुरी का काम किया हो।

३

थियोसॉफ़ी

जबकि मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफ़ी बड़े मकान
गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रक्खा था। इस मकान
बड़ा बाग था और एक तैरने का बड़ा-सा हौज। वहाँ ज्यों-ज्यों नई-नई चीजे दि
पड़ती त्यो-त्यो मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत मे नये-नये हिस्से जोड़े
रहे थे और बहुतेरा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहाँ मजदूरो को क
करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूँ कि मकान मे तैरने के लिए एक बड़ा हौज था। मैं तैरना जान
गया और पानी मे गिरते मुझे जरा भी डर मालूम नहीं होता था। गर्मी के दिनो
मे कई बार मौका-बे-मौका मैं उसमे नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दो
तैरने आया करते, वह एक नई चीज थी और वहाँ तथा मकान मे बिजली की ब
लगाई गई थी। ये इलाहाबाद मे उन दिनो नई बाते थी। इन नहानेवालो के झुण
मुझे बड़ा आनन्द रहता था और उनमे जो तैरना नहीं जानते थे उनमे से किसी
आगे धक्का देकर या पीछे खीचकर डराने मे बड़ा ही लुत्फ आता था। मुझे डाक्ट
तेजबहादुर सप्रू का किस्सा याद आता है, जबकि उन्होने इलाहाबाद-हाइकोर्ट मे नई
नई वकालत शुरू की थी। वह तैरना नहीं जानते थे और न जानना ही चाहते थे, वह
पन्द्रह इञ्च पानी मे पहली सीढ़ी पर ही बैठ जाते थे और कसम खाने को एक सी
नीचे नहीं उतरते थे, और अगर कोई उन्हे आगे खीचने की कोशिश करता तो जो
से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नहीं थे, मगर वह किसी तरह
हाथ-पैर फड़फड़ाकर और जी कड़ा करके हौज के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनो बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमे मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअ
की तरफ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की खबरो को पढ़ने के लिए मैं अखबा
पढ़ने लगा।

इसी समय एक दूसरी बात मे मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी
बहन का पैदा होना। मेरे दिल मे एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह
कि मुझे कोई भाई या बहन नहीं है जबकि और सबके है। जब मुझे यह मालूम
हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी
उन दिनो ... मुझे याद है कि मैं उस वक्त बरामदे मे बैठा-बैठा कितनी

उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने मे एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की खबर दी और कहा—शायद मजाक मे—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नही हुआ, जो तुम्हारी जायदाद मे हिस्सा बटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आ गया—इस खयाल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना खयाल रखनेवाला समझे।

पिताजी की योरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणो मे अन्दर-ही-अन्दर एक तूफान खडा कर दिया। योरप से लौटने पर उन्होने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी, पण्डित विशननारायण दर, जो बाद मे कांग्रेस के सभापति हुए थे, इग्लैण्ड गये थे और वहा से बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारो ने प्रायश्चित्त भी कर लिया तो भी पुराने खयाल के लोगो ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी किस्म का ताल्लुक नही रक्खा। इससे बिरादरी मे करीब-करीब बराबर के दो टुकडे हो गये थे। बाद को कोई कश्मीरी युवक विलायत पढने गये और लौटकर सुधारक-दल मे मिल गये—लेकिन उन सबको प्रायश्चित्त करना पडा था। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या, एक तमाशा होता था, जिसमे किसी तरह की धार्मिकता नही थी। उसके मानी सिर्फ रस्म अदा करना या एक गिरोह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफा प्रायश्चित्त कर लेने के बाद ये सब लोग हर तरह के नवीन सुधारो के कामो मे शरीक होते—यहाँ तक कि अब्राह्मण और अहिन्दू के यहाँ भी आते-जाते और खाना खाते थे।

पिताजी एक कदम और आगे बढे और उन्होने किसी रस्म या नाममात्र के लिए भी किसी प्रकार के प्रायश्चित्त को करने से इन्कार कर दिया। इसमे बडा तहलका मच गया, खासकर पिताजी की तेजी और अक्खडपन के कारण। आखिरकार कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल बन गया। थोडे ही साल के अन्दर जैसे-जैसे खयालात बदलते गये और पुरानी पाबन्दियाँ हटती गई, ये सब दल एक मे मिल गये। कई कश्मीरी लडके और लडकियाँ इग्लैण्ड और अमेरिका पढने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नही हुआ। खान-पान का परहेज करीब-करीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगो को, खासकर बडी-बूढी स्त्रियो को, छोडकर गैर-कश्मीरियो, मुसलमानो तथा गैर-हिन्दुस्तानियो के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गई। दूसरी जाति-वालो के साथ स्त्रियो का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गई। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक जोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालो के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज अभी बहुत [illegible]

नहीं है—हालाकि दिन-दिन बढती पर है। मेरी दोनों बहनों ने गैर-कश्मीरियों के सा
शादी की है और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही एक हंगेरियन लडकी ब्या
लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि ज्यादा
वंश शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों में यह अभिलाषा पाई जाती
कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के प्रकट चिन्हों को कायम रखे
उन्हें डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और गैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदे
उन दोनो बातो को खो देंगे। इस विशाल देश मे हम कश्मीरियों की संख्या दरिया
खसखस के बराबर है।

सबसे पहला कश्मीरी ब्राह्मण जिसने आधुनिक समय मे, कोई सौ बरस पह
पश्चिमी देशो की यात्रा की, वह था मिर्जा मोहनलाल 'कश्मीरी'। (वह अपनेको ऐ
ही कहा करते थे) वह बडे खूबसूरत और जहीन थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज
पढते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फारसी के दुभाषिया बन
वह गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होने सैर की। और ज
कहीं गये उन्होंने अपनी एक-एक शादी की। मगर आम तौर पर ऊंचे दर्जे के लोगो
यहा। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान मे शाही घराने की एक लडकी से शा
करली थी, इसीलिए उनको मिर्जा की उपाधि मिली थी। वह योरप भी गये
और तत्कालीन तरुण महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होंने अपनी या
का अच्छा रोचक वर्णन और सुन्दर संस्मरण लिखे है।

जब मैं कुछ ११ वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम
एफ० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और
फरासीसी या बेल्जियन थी। वह एक पक्के थियोसाफिस्ट थे और मिसेज बेसेण्ट
सिफारिश से आये थे। कोई ३ साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातो मे मुझ
उनका गहरा असर पडा। उस समय एक और मेरे शिक्षक थे—एक बूढे पण्डित
जो मुझे हिन्दी और संस्कृत पढाने के लिए रखे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के ब
भी पण्डितजी मुझे कुछ कम पढा पाये थे—इतना थोडा, कि मैं अपने नाम-मात्र
संस्कृत ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूं, जोकि मैंने हैरो
पाई थी। कुसूर तो इसमें मेरा ही था, भाषायें पढने में मेरी गति अच्छी नहीं थी अ
व्याकरण में तो मेरी रुचि बिलकुल ही नहीं थी।

एफ० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढने का चाव लगा, और मैंने
अंग्रेजी किताबें पढ डाली—अलबत्ते बिना किसी उद्देश के। बच्चों और ल
सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने पढ लिया था। लेविस कैरोल की किताबें और

जगल बुक्स' ओर 'किम' मुझे बहुत पसन्द थी। गस्टेव डोरे के चित्र, जो 'डॉन क्विजोट' मे थे, मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए ओर फ्रिड्जॉफ ननसेन की 'फारदेस्ट नार्थ' ने तो मेरे लिए अद्भुतता ओर साहस की एक नई दुनिया का दरवाजा खोल दिया। स्कॉट, डिकेन्स ओर थैकरे के कई उपन्यास मुझे पढे याद है। एच० जी० वेल्स के रोमान्सेज, मार्क ट्वेन और शेर्लाक होम्स की कहानियाँ भी पढी है। 'प्रिजनर्स ऑफ जेन्दा' को पढकर मुझे रोमाञ्च हो उठा था। ओर जेरोम के० जेरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट' से बढकर हास्य-रस की पुस्तक मैने नही पढी। दूसरी किताबे भी मुझे याद है। वे है डू मॉरियर की 'ट्रिलबी ओर 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुचि बढी थी, जोकि कई परिवर्त्तनो के हो चुकने के बाद अब भी मुझमे कुछ हद तक कायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यो से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खडी करली थी ओर मै प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान ओर रसायन-शास्त्र के प्रयोग घण्टो किया करता था, जो बडे दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तके पढने के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक ओर बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बडे जोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफी। हर हफ्ते उनके कमरे मे थियोसॉफिस्टो की सभा हुआ करती। मै भी उसमे जाया करता, ओर धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा ओर विचार-शैली मेरे हृदयगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयो पर तथा 'अवतार', 'कामशरीर' ओर दूसरे 'अलौकिक शरीरो' ओर 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्व' इन विषयो पर चर्चा होती ओर मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे थियोसाफिस्टो से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थो, बुद्ध-धर्म के धम्मपद, पायथागोरस, तयाना के अपोलोनियस और कई दार्शनिको और ऋषियो के ग्रन्थो का जिक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ मे तो नही आता था। परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण ओर लुभावना मालूम होता था, ओर मै खयाल करता था कि सारे विश्व के रहस्यो की कुजी यही है। यही से जिन्दगी मे सबसे पहले मै अपनी तरफ से धर्म ओर परलोक के बारे मे सोचने लगा था। हिन्दू-धर्म, खासकर, मेरी नजर मे ऊचा उठ गया था, उसके क्रिया-काण्ड ओर व्रत-उत्सव नही—बल्कि उसके महान् ग्रन्थ, उपनिषद् ओर भगवद्गीता। मै उन्हे समझ तो नही पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण जरूर मालूम होते थे। मुझे 'कामशरीरो' के सपने आते ओर मै बडी-बडी दूर तक आकाश मे उडता जाता। बिना किसी विमान के यो ही ऊँचे आकाश मे उडते जाने के सपने मुझे जीवन मे अक्सर आया करते है। कभी-कभी तो वे बहुत सच्चे ओर साफ मालूम होते है ओर नीचे विशाल विश्व-पट मे सारा जन-प्रदेश

मुझे दिखाई पड़ता है। मैं नहीं जानता कि फ्रूड तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होंगे।

उन दिनों मिसेज बेसेन्ट इलाहाबाद आई थीं, और थियोसॉफी-सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और चकाचौंध होकर घर आता था—अपने आपको भूले जाता था, जैसे कि कोई सपने में हो। मैं उस समय १३ साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से इजाजत लेने गया तो उन्होंने उसे हँसकर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्व देना नहीं चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुःख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह में बहुत बातों में बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफिस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफिकल सोसायटी में शरीक हुए जब मैडम ब्लैवेट्स्की हिन्दुस्तान में थीं। धार्मिक-विश्वास की बनिस्बत कुतूहल के कारण शायद वह उसके मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र जो उनके साथ सोसायटी में शरीक हुए थे कायम रहे, और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊँचे चढ़ते गये।

इस तरह मैं १३ वर्ष की उम्र में थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बना, और खुद मिसेज बेसेन्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमें कुछ उपदेश दिया, और कुछ गूढ़ चिन्हों के बारे में कहा—जो कि शायद फ्रीमेसनरी ढंग के थे। उस समय मैं पुलकित हो उठा था। मैं थियोसॉफिकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकाट को देखा था, जिनकी दाढ़ी बड़ी उम्दा थी।

३० बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा, और कैसा क्या अनुभव करता होगा, इसका ख़याल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह ख़याल पड़ता है कि अपने थियोसॉफी के इन दिनों में मेरा चेहरा स्थिर, गम्भीर और उदास दिखाई पड़ता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉफिस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखाई पड़ता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊँची सतह पर हूँ, और अवश्य ही मेरा रंग-ढंग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लड़के या लड़की अपनी संगत के लायक न समझते होंगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया और बहुत ही थोड़े अरसे में थियोसॉफी मेरी ज़िन्दगी से बिलकुल हट गई। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका

ओर थियोसॉफी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुख होता है कि थियोसॉफिस्ट तबसे मेरी निगाह मे कुछ नीचे उतर गये है और ऊँचे एव बढ-चढे होने के बजाय मामूली आदमी से दिखाई देते है, जोकि खतरे की बनिस्बत आराम को ज्यादा पसन्द करते है। शहीदो के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलो पर चलना पसन्द करते है। लेकिन हाँ, मिसेज बेसेन्ट के लिए मेरे दिल मे जीता-जागता आदर रहा है।

एक दूसरी मार्के की घटना थी, जिसने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, रूस-जापान की लडाई। जापानियो की विजय से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज मै अखबारो मे ताजी खबरे पढने का मुन्तजिर रहता। मैने जापान सम्बन्धी कई किताबे मगाई और उनमे से थोडी-बहुत पढी भी। जापान के इतिहास मे तो मानो मै अपनेको गवा बैठा था, लेकिन पुराने जापान के सरदारो की कहानियाँ चाव से पढता और लेफ्केडियो हर्न का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावो से भरा रहता था। मै योरप के पजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावो मे डूबा रहता था। मै बडे-बडे बहादुरी के मनसूबे बाधा करता था, कि कैसे हाथ मे तलवार लेकर मै हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लडूगा।

मै चौदह साल का था। हमारे घर मे रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बडे चचेरे भाई अपने-अपने काम-धधो मे लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन मे नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनाये मडराया करती थी। और स्त्री जाति मे मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी, लेकिन अब भी मै लडकियो की बनिस्बत लडको के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था, और लडकियो के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ समझता था। लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतो मे—जहा सुन्दर लडकियो का अभाव नही रहता था—या दूसरी जगह, उनपर कही निगाह पड गई या बदन छू गया तो मेरे रोगटे खडे हो जाते थे।

मई १९०५ मे जब मै पन्द्रह साल का था, हम इग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, मा, मेरी छोटी बहन, और मै चारो एकसाथ गये।

मुझे दिखाई पडता है । मैं नही जानता कि फ्रूड तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होगे ।

उन दिनो मिसेज बेसेन्ट इलाहाबाद आई थीं, और थियोसॉफी-सम्बन्धी कई विषयो पर भाषण दिये थे । उनके सुन्दर भाषणो से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता था—अपने आपको भूले जाता था, जैसे कि कोई सपने मे हो । मै उस समय १३ साल का था, तो भी मेने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया । जब मै पिताजी से इजाजत लेने गया तो उन्होंने उसे हँसकर उड़ा दिया । वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्व देना नहीं चाहते थे । उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुख हुआ । यो तो वह मेरी निगाह मे बहुत बातो मे बड़े थे । फिर भी मुझे लगा कि उनमे आध्यात्मिकता की कमी है यो सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफिस्ट थे । वह तबसे थियोसॉफिकल सोसायटी मे शरीक हुए जब मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान मे थी । धार्मिक-विश्वास की बनिस्बत कुतूहल के कारण शायद वह उसके मेम्बर बने थे । मगर शीघ्र ही वह उसमे से हट गये । हाँ, उनके कुछ मित्र जो उनके साथ सोसायटी मे शरीक हुए थे कायम रहे, और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदो पर ऊचे चढते गये ।

इस तरह मैं १३ वर्ष की उम्र मे थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बना, ओर खुद मिसेज बेसेन्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमे कुछ उपदेश दिया, और कुछ गूढ चिन्हो के बारे मे कहा—जो कि शायद फ्रीमेसनरी ढग के थे । उस समय मै पुलकित हो उठा था । मैं थियोसॉफिकल कन्वेन्शन मे बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी डाढी बडी उम्दा थी ।

३० बरस पहले अपने बचपन मे कोई कैसा लगता होगा, और कैसा क्या अनुभव करता होगा, इसका खयाल करना बहुत मुश्किल है । मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पडता है कि अपने थियोसॉफी के इन दिनो मे मेरा चेहरा स्थिर, गम्भीर और उदास दिखाई पडता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉफिस्ट स्त्री-पुरुषो का अक्सर दिखाई पडता है । मैं अपने मन मे समझता था कि मैं औरो से ऊँची सतह पर हूँ, और अवश्य ही मेरा रग-ढग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लडके या लडकी अपनी सगत के लायक न समझते होगे ।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया, और बहुत ही थोड़े अरसे मे थियोसॉफी मेरी जिन्दगी से बिलकुल हट गई । इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इग्लैण्ड पढने चला गया था । मगर इसमे कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की सगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका

और थियोसॉफी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुख होता है कि थियोसॉफिस्ट तबसे मेरी निगाह मे कुछ नीचे उतर गये हैं और ऊँचे एव बढ-चढे होने के बजाय मामूली आदमी से दिखाई देते है, जोकि खतरे की बनिस्बत आराम को ज्यादा पसन्द करते हैं। शहीदो के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलो पर चलना पसन्द करते हैं। लेकिन हॉ, मिसेज बेसेन्ट के लिए मेरे दिल मे जीता-जागता आदर रहा है।

एक दूसरी मार्के की घटना थी, जिसने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, रूस-जापान की लडाई। जापानियो की विजय से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज़ मै अखबारो मे ताजी खबरे पढने का मुन्तजिर रहता। मैने जापान सम्बन्धी कई किताबे मगाई और उनमे से थोडी-बहुत पढी भी। जापान के इतिहास मे तो मानो मै अपनेको गवा बैठा था, लेकिन पुराने जापान के सरदारो की कहानियॉ चाव से पढता और लेफ्केडियो हर्न का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावो से भरा रहता था। मै योरप के पजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावो मे डूबा रहता था। मै बडे-बडे बहादुरी के मनसूबे बाधा करता था, कि कैसे हाथ मे तलवार लेकर मै हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लडूगा।

मै चौदह साल का था। हमारे घर मे रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बडे चचेरे भाई अपने-अपने काम-धधो मे लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन मे नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनाये मडराया करती थी। और स्त्री जाति मे मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी, लेकिन अब भी मै लड़कियो की बनिस्बत लडको के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था, और लडकियो के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ समझता था। लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतो मे—जहॉ सुन्दर लडकियो का अभाव नही रहता था—या दूसरी जगह, उनपर कही निगाह पड गई या बदन छू गया तो मेरे रोगटे खडे हो जाते थे।

मई १९०५ मे जब मै पन्द्रह साल का था, हम इग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, मा, मेरी छोटी बहन, और मै चारो एकसाथ गये।

४

हैरो और कैम्ब्रिज

मई के अखीर मे हम लोग लन्दन पहुंचे। डोवर से ट्रेन मे जाते हुए रास्ते मे सुशिमा मे जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुडदौड थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन मे आने के कुछ दिनो बाद ही एम०ए० अन्सारी (डाक्टर अन्सारी) से मेरी भेट हुई। उन दिनो वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होने वहां के विद्यालयो मे चमत्कारिक सफलता प्राप्त की थी। उन दिनो वह लन्दन के एक अस्पताल मे हाउस-सर्जन थे।

हैरो मे दाखिल होने के लिए मेरी उम्र कुछ बडी थी, क्योकि मै उन दिनो १५ बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशकिस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो योरप के दूसरे देशो की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महीनो बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मै अजनबी आदमियो मे बिलकुल अकेला कभी नही रहा था। इसलिए मुझे बहुत ही सूना-सूना मालूम पडता था और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनो तक नही रही। कुछ हद तक मै स्कूल की जिन्दगी मे हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद मे मशगूल रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नही बैठा। हमेशा मेरे दिल मे यह खयाल बना रहता कि मै इन लोगो मे से नही हू और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होगे। कुछ हद तक मै सबसे अलग अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मै खेलो मे पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलो मे मै चमका-चमकाया तो कभी नही, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मै खेल से पीछे हटनेवाला भी न था।

शुरू मे तो मुझे नीचे के दर्जे मे भरती किया गया, क्योकि मुझे लैटिन कम आती थी। लेकिन फौरन ही मुझे तरक्की मिल गई। गालिबन कई बातो मे, और खासकर आम बातो की जानकारी मे, मै अपनी उम्र के लोगो से आगे था। इसमे शक नही कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मै अपने ज्यादातर सहपाठियो से ज्यादा किताबे और अखबार पढता था। मुझे याद है कि मैने अपने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज लडके बडे भद्दे होते है, क्योकि वे खेलो के सिवा और किसी विषय पर बात ही नही कर सकते। लेकिन मुझे [illegible] अपवाद भी मिले थे, खास तौर पर ऊपर के दर्जो मे।

इग्लैण्ड के आम चुनाव मे मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहा तक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर मे हुआ और उसमे लिबरलो की बडी भारी जीत हुई। १९०६ के शुरू मे हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे नई सरकार की बाबत सवाल पूछे, और मुझे यह देख कर बडा अचरज हुआ कि उस दर्जे मे मै ही एक ऐसा लडका था जो उस विषय पर बहुत-सी बाते बता सका—यहाँ तक कि कैम्पबैल-बैनरमैन के मंत्रि-मडल के सदस्यो की करीब-करीब पूरी फेहरिस्त बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय मे मुझे बहुत दिलचस्पी थी वह था हवाई जहाजो की शुरुआत। वह जमाना राइट ब्रदर्स और सन्तोस डुमोट का था। इनके बाद ही फौरन फरमान लैथम और ब्लीरियोट आये। जोश मे आकर मैने हैरो से पिताजी को लिखा था कि मै हफ्ते के अखीर मे हवाई-जहाज द्वारा उडकर आपसे हिन्दुस्तान मे मिल सकूगा।

इन दिनो हैरो मे चार या पॉच हिन्दुस्तानी लडके थे। दूसरी जगह रहनेवालो से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौका मिलता था। लेकिन हमारे अपने ही घर मे,—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बडौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाडी होने की वजह से लोक-प्रिय थे। मेरे जाने के बाद फौरन ही वह वहा से चले गये। पीछे महाराजा कपूरथला के बडे लडके परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीकासाहब है। वहाँ उनका मेल बिलकुल नही मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लडको से मिलते-जुलते नही थे। लडके अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीको का मज़ाक उडाते थे। इससे वह बहुत चिढते थे, और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे तब तुम्हे देख लूगा। यह कहना बेकार है कि इस घुडकी का कोई अच्छा असर नही होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रास मे रह चुके थे और फ्रान्सीसी भाषा मे धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अग्रेजी स्कूलो मे विदेशी भाषाओ के सिखाने के तरीके कुछ ऐसे थे, कि फ्रान्सीसी भाषा के दर्जे मे उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नही आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब यकायक हमारे कमरो मे घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। पीछे हमे मालूम हुआ कि परमजीत-सिंह की सोने की मूठ की खूबसूरत छडी खो गई है। तलाशी मे वह नही मिली। उसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान मे ईटन और हैरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह छडी उनके मकान मे रक्खी मिली। जाहिर है, कि किसी साहब ने मैच मे उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासो मे थोडे से यहूदी भी थे। यो वे म
मे बिला खरखशा रहते थे, लेकिन तह मे उनके खिलाफ खयाल जरूर काम करत
था कि ये लोग "बदमाश यहूदी" है और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजाने, मै भ
यही सोचने लगा कि इनसे नफरत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल
यहूदियो के खिलाफ कभी कोई भाव न था, और अपने जीवन मे आगे जाकर यहूदि
मे मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मै हैरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकि
न जाने कैसे मै यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नही चल सकता
विश्व-विद्यालय मुझे अपनी तरफ खीच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्ता
मे जो खबरे आती थी उनसे मै बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेजी अखबारो मे बहुत
कम खबरे मिलती थी, लेकिन जितनी मिलती थी उनसे ही यह मालूम हो जाता
कि देश मे, बगाल, पजाब और महाराष्ट्र मे, बडी-बडी बाते हो रही है। ला
लाजपतराय और सरदार अजीतसिह को देश-निकाला दिया गया था। बगाल
हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पडता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की त
चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन बातो
मेरे ऊपर भारी असर पडा। लेकिन हैरो मे एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मै इ
बारे की बाते कर सकता। छुट्टियो मे मै अपने कुछ चचेरे भाइयो तथा दूसरे हिन
स्तानी दोस्तो से मिला और तभी मुझे अपने जी को हलका करने का मौका मिला।

स्कूल मे अच्छा काम करने के लिए मुझे एक इनाम जो मिला वह जी० एम
ट्रेवेलियन की गेरीबाल्डी-विषयक एक पुस्तक थी। इस पुस्तक मे मेरा मन ऐसा ल
कि मैने फौरन ही इस माला की बाकी दो किताबे भी खरीद ली और उनमे गैरीबाल
की पूरी कहानी बडी सावधानी के साथ पढी। हिन्दुस्तान मे भी इसी तरह की घटना
की कल्पना मेरे मन मे उठने लगी। मै आजादी की बहादुराना लडाई के सपने देखने ल
और मेरे मन मे इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गये। इन खयाल
के लिए हैरो कुछ छोटी और तग जगह मालूम होने लगी, और मै विश्व-विद्यालय
ज्यादा बडे क्षेत्र मे जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैने पिताजी को इस बा
के लिए राजी कर लिया और मै हैरो मे सिर्फ दो बरस रह कर वहाँ से चला गया।
यह दो बरस का समय वहा के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मै हैरो से खुद अपनी मरजी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे य
[illegible] जब जुदा होने का समय आया तब मुझे बडा दुख हुआ
[illegible]। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी और यह

से सदा के लिए अलग होने ने मेरे जीवन के एक अध्याय को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह खयाल आ जाता है कि हैरो छोडने पर मेरे मन मे असली दु ख कितना था ? क्या कुछ हद तक यह बात न थी कि मं इसलिए दु खी था क्योकि हैरो की परम्परा और उसके गीत के अनुसार मुझे दु खी होना चाहिए था ? मैं भी इन परम्पराओ के प्रभाव से अपनेको बचा नही सकता था, क्योकि उस स्थान के साथ अपना मेल बिठा सकने के खयाल से मैने उनका विरोध कभी नही किया था।

१९०७ के अक्तूबर के शुरू मे मैं कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज मे पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र १७ बरस की या १८ बरस के नजदीक थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अन्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुकाबले मे यहाँ मुझे जो चाहूँ सो करने की काफी आजादी मिलेगी। मैं लडकपन के बन्धनो से मुक्त हो गया और यह महसूस करने लगा कि आखिर म भी अब बडा होने का दावा कर सकता हूँ। मैं ऐंठ के साथ कैम्ब्रिज के विशाल भवनो और उसकी तग गलियो मे चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचान वाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

कैम्ब्रिज मे मै तीन साल रहा। ये तीनो साल शान्ति-पूर्वक बीते, इनमे किसी प्रकार के विघ्न नही पड़े। तीनो साल धीरे-धीरे धीमी-धीमी बहनेवाली कैम नदी की तरह चले। ये साल बडे आनन्द के थे। इनमे बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढता रहा। मैने प्राकृतिक विज्ञान का ट्राइपस कोर्स लिया। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्ही विषयो तक महदूद न थी। कैम्ब्रिज या छुट्टियो मे लन्दन में अथवा दूसरी जगहो मे मुझे जो लोग मिले, उनमे से बहुत-से विद्वत्ता-पूर्वक ग्रन्थो के बारे मे, साहित्य और इतिहास के बारे मे, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे मे बात-चीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढी-चढी बाते मुझे बडी मुश्किल मालूम हुई, परन्तु जब मैने कुछ किताबे पढी तब सब बाते समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयो मे से किसी के बारे मे अपना घोर अज्ञान ज़ाहिर नही होने देता था। हम लोग नीत्शे और बर्नार्डशा की भूमिकाओ तथा लॉवेस डिकिन्सन की नई-से-नई पुस्तको के बारे मे बहस किया करते थे। उन दिनो कैम्ब्रिज मे नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बडा तार्किक—चलता-पुर्जा—समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयो पर बडे अधिकारी-रूप से, शान के साथ, बाते करते थे और बातचीत के सिलसिले मे ईवान ब्लॉक, हैवलोक एलिस, क्राफ्ट एबिंग और ओटो वीनिगर के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस

करते थे कि इन विषयो के सिद्धान्तो के बारे मे हम जितना जानते है, विशेषज्ञो को छोडकर और किसीको उससे ज्यादा जानने की जरूरत नही है।

वास्तव मे, हम बाते जरूर बढ-बढकर मारते थे,लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे मे हममे से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो जरूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोडने के बाद भी, बहुत बरसो तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यो हुआ, यह कहना कुछ कठिन है। हममे से अधिकाश का स्त्रियो की ओर ज़ोर का आकर्षण था, और मुझे इस बात मे सन्देह है कि उनके सहवास मे हममे से कोई किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मैं उसमे कोई पाप नही समझता था, मेरे मन मे कोई धार्मिक रुकावट नही थी। हम लोग आपस मे कहा करते थे—स्त्री-पुरुषो के सम्बन्धो का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से, वह तो इन आचारो से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध मे आम तौर पर जिन तरीको से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रक्खा। उन दिनो मैं निश्चित-रूप से एक झेपू लडका था, शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन मे अकेला रहा था।

उन दिनो जीवन के प्रति मेरा आम रुख एक अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अश तक युवावस्था के लिए स्वाभाविक था और कुछ अश तक ऑस्कर वाइल्ड और वाल्टर पेटर के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की जिन्दगी की ख्वाहिश को भोग-वाद जैसा बडा नाम देना है तो आसान और तबीयत को खुश करनेवाली बात, लेकिन मेरे मामले मे इसके अलावा कुछ और बात भी थी, क्योकि मैं खास तौर पर आराम की जिन्दगी की तरफ रुजू न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नही थी और धर्म के दमनकारी बन्धनो को मैं पसन्द नही करता था। इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे स्टैण्डर्ड की खोज करता। उन दिनो मैं सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नही जाता था, इसीलिए जीवन का सौन्दर्य-मय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुरुचि के साथ जीवन-यापन करूँ। गवारू ढग से उसका उपभोग तो मैं नही करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूर्ण तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मैं उसमे पाप की कोई बात क्यो समझूँ? साथ ही जोखिम और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। अपने पिताजी की तरह मैं भी हमेशा कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी और फिर बडी-बडी बाजियो का—जीवन की बडी-बडी समस्याओ का। १९०७

तथा १९०८ मे हिन्दुस्तान की राजनीति मे उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमे वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा मे मैं आराम की जिन्दगी तो बसर कर ही नही सकता था। ये सब बाते मिलकर, और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छाये, मेरे मन मे अजीब खिचडी पकाती, भवर-सी पैदा कर देती। उन दिनो ये सब बाते अस्पष्ट तथा गोल-मोल थी। परन्तु इससे उन दिनो मैं परेशान न था, क्योकि इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तबतक जीवन—शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का जीवन—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पडते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीजे देखनी थी, इतने नये क्षेत्रो की खोज करनी थी। जाडे की लम्बी रातो मे हम लोग अगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ रात मे आपस मे बाते तथा विचार-विनिमय करते, उस समय तक जबतक अगीठी की आग बुझ कर हमे जाडे से कँपा कर बिछौने पर भेज न देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद मे हमारी आवाज मामूली न रहकर तेज़ हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश मे आजाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनो हम लोग जीवन की समस्याओ के साथ गम्भीरता के स्वॉग करके खेलते थे, क्योकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्याये न हो पाई थी और हम लोग ससार के झमेलो के चक्कर मे नही फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवी शताब्दी के शुरू के दिन थे। कुछ ही दिनो मे हमारा वह ससार मिटने को था—इसलिए कि जिससे ऐसे दूसरे ससार को जगह मिले जो दुनिया के युवको के लिए मृत्यु और विनाश एव पीडा तथा दिली रज से भरा हुआ हो। लेकिन उन दिनो यह ससार भविष्य के परदे मे छिपा हुआ था और हमे अपने चारो तरफ एक सुनिश्चित तथा उन्नतिशील व्यवस्था दिखाई देती थी जो उन लोगो के लिए, जो उसमे रह सकते थे, आनन्दप्रद थी।

मैने भोग-वाद तथा वैसी ही दूसरी और उन अन्य अनेक भावनाओ की चर्चा की है, जिन्होने उन दिनो मेरे ऊपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मैने उन दिनो इन विषयो पर भली-भाति साफ तौर पर विचार कर लिया था, या मैने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की ज़रूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट तरगे-मात्र थी जो मेरे मन मे उठा करती थी और जिन्होने अपने इसी दौरान मे अपना थोडा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अकित कर दिया। इन बातो के ध्यान के बारे मे मैं उन दिनो ऐसा परेशान नही होता था। उन दिनो तो मेरी जिन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ एक चीज ऐसी जरूर थी जिनसे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राज-

नैतिक कशमकश। केम्ब्रिज मे जिन किताबो ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डा उनमे मैरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और योरप' (Asia and Europe) मुख्य है

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टो से मानो उबलता रहा १८५७ के गदर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लडने पर आमादा हुआ था। व विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक के कार्य-कला और कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरो से और बगाल की जनता जिस त मे स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञाये ले रही थी उनमे इग्लैण्ड मे रहनेवाले तमा हिन्दुस्तानियो मे खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद तिलक-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान मे यह नया दल उन दिनो इन्ही नामो पुकारा जाता था।

कैम्ब्रिज मे जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक सोसाइटी थी, जिसका नाम था मजलिस। इस मजलिस मे हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलो पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसे कुछ हद तक बेवजूद थी। पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओ की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नही। मै अक्सर मजलिस मे जाया करता था, लेकिन तीन साल मे मै वहा शायद ही बोला होऊं। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नही कर सका। कालिज मे "मैगपी और स्टम्प" नाम की जो वाद-विवाद की सभा थी उसमे भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पडा। इस सभा मे यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पडेगा और मुझे अक्सर जुर्माना देना पडता था।

मुझे यह याद है कि एडविन माण्टेगु जो पीछे जाकर भारत-मत्री होगये थे, बहुत बार इस सभा मे आया करते थे। वह ट्रिनिटी कालिज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनो केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेण्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैने उन्हीसे सुनी। जिस बात के बारे मे तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नही हो सकती, उसमे विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है, क्योकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अधश्रद्धा का सवाल ही नही रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञानो के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पडा और विज्ञान उन दिनो जिस तरह अपने सिद्धान्तो और निश्चयो को ला-कलाम समझता था वैसा ही समझने लगा था, क्योंकि उन्नीसवी और बीसवी सदी के शुरू के विज्ञान को आजकल के विज्ञान के [illegible] अपनी ताकत और सचाई की बाबत बडा इतमीनान था।

[illegible] बात-चीत मे हिन्दुस्तान की राजनीति पर बहस करते

ए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बडी गरम तथा उग्र भाषा काम मे लाते थे, यहाँ तक कि गाल मे जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ करते थे। लेकिन पीछे मैने देखा कि यही लोग कुछ तो इडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बडे धीर-गम्भीर वकील तथा ऐसे ही लोग बन गये। इन आराम-गृह के आग-बबूलो मे से विरलो ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनो मे कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनो के कुछ नामी राजनीतिज्ञो ने कैम्ब्रिज मे हम लोगो के पास आने की कृपा की थी। हम उनकी इज्जत तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानो हम उनसे बडे है। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी शिक्षा-दीक्षा उनसे कही बढी-चढी थी और हम चीजो को उनके व्यापक रूप म देख सकते थे। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमे विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपने एक बैठने के कमरे मे मिले। वहाँ हम सिर्फ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होने इतने ज़ोर-जोर से बाते की मानो वह दस हजार की सभा मे भाषण दे रहे हो। उनकी आवाज़ इतनी भयानक थी कि मै उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढग से बातचीत की और उनकी बातो का मुझपर बहुत असर पडा। मैने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र के मुकाबिले मे मुझे लालाजी का भाषण अधिक अच्छा लगा। इससे वह बडे खुश हुए, क्योकि उन दिनो उन्हे बगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नही लगत थे। गोखले ने कैम्ब्रिज मे एक सार्वजनिक सभा मे भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ यही खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल मे खड होकर उन्होने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहाँ तक कि हममे से बहुतो को यही याद नही रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध मे था।

हिन्दुस्तानियो मे हरदयाल का बडा नाम था। लेकिन वह मेरे कैम्ब्रिज मे पहुचने से कुछ पहले आक्सफोर्ड मे थे। अपने हैरो के दिनो मे मै उनसे लन्दन मे एक या दो बार मिला था।

कैम्ब्रिज मे मेरे समकालीनो मे से कई ऐसे निकले जिन्होने आगे जाकर हिन्दुस्तान की काग्रेस की राजनीति मे प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे कैम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुकअहमद शेरवानी कम-बढ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इन दिनो इलाहाबाद-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस है, मेरे समय मे कैम्ब्रिज मे थे।

मेरे दूसरे समकालीनो मे से कोई मिनिस्टर बना और कोई इण्डियन सिविल सर्वि
का सदस्य।

लन्दन मे हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इण्डिया-हाउस की बाबत ब
सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मै कभी उस हाउस मे
गया। कभी-कभी हमे उनका 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' नाम का अखबार देखने
मिल जाता था। बहुत दिनो बाद, सन् १९२६ मे, श्यामजी मुझे जिनेवा मे मिले थे।
उनकी जेबे 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियो से भरी पडी थी और व
प्राय हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हु
भेदिया समझते थे।

लन्दन मे इण्डिया-ऑफिस ने विद्यार्थियो के लिए एक केन्द्र खोला था।
इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियो के
जानने का एक जाल है और इसमे बहुत कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुत
हिन्दुस्तानियो को बरदाश्त करना पडता था, चाहे मन से हो या बेमन से, क्योकि
उसकी सिफारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय मे दाखिल होना गैरमुमकि
हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने मेरे पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति
और खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालाकि मै उनकी रा
जनीति से सहमत नही था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटो मे शामिल हु
क्योकि उनमे से बहुतो को वह जानते थे और उनमे से बहुत से वकालत मे उन
साथी थे। उन्होने अपने सूबे की एक कान्फ्रेस का सभापतित्व भी किया था, आ
बगाल तथा महाराष्ट्र के गरम-दलवालो की तीव्र आलोचना की थी। वह सयुक्
प्रान्तीय काग्रेस कमिटी के सभापति भी बन गये थे। १९०७ मे जिस समय सूरत
काग्रेस मे गोलमाल होकर वह भग हुई और अन्त मे सोलहो आना माडरेटो की
गई, उस समय वह वहा उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनो बाद मि० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबा
मे पिताजी के अतिथि बन कर रहे। उन्होने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उस
पिताजी का वर्णन किया कि वह मेहमानो की खातिर-तवाजो को छोडकर अ
सब बातो मे माडरेट है। उनका यह अन्दाज कतई गलत था, क्योकि पिताजी अपन
[illegible] किसी बात मे कभी माडरेट नही रहे और उनकी प्रकृ
[illegible] भी अलग लगा दिया। प्रचण्ड भाव
[illegible] इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटो

जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ मे और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटो मे भी माडरेट थे, और गरम-दल के सख्त खिलाफ थे, हालाँकि, मेरा ख़याल है, वह तिलक की तारीफ करते थे।

ऐसा क्यो था ? कानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे, सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हे यह दिखाया कि कडे और गरम शब्दो से तबतक कुछ होता-जाता नही जबतक कि इन शब्दो के मुताबिक काम न हो और उन्हे किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नजदीक मे दिखाई नही देती थी। उनको यह नही मालूम होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमे बहुत दूर तक ले जा सकेगे। इसके अलावा इन आन्दोलनो की पुश्त मे वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की ओर आशा नही लगाते थे। ऐसी बातो को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हे कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुत से पुराने सामाजिक रीति-रिवाजो को, जात-पॉत वगैरा को, वह कतई नापसन्द करते थे, और उन्हे उन्नति-विरोधी समझते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी। पाश्चात्य ढग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था, और वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश मे इग्लैण्ड के ससर्ग से ही आ सकती है। १९०७ मे हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से जरूर पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशो की तरह, अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटो का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका आम जनता से कोई सबध न था। वे समस्याओ पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नही करते थे, महज उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगो के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वह जाति के बन्धनो को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजो को दूर करने के लिए छोटे-छोटे सामाजिक सुधारो की पैरवी करते थे।

माडरेटो के साथ अपना भाग्य भिडाकर पिताजी ने आक्रामक ढग अख्त्यार किया। बगाल और पूना के कुछ नेताओ को छोडकर अधिकाश गरम-दलवाले नौजवान थे, और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफिक काम करने की हिम्मत करते है। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नही कर सकते थे, जिन लोगो को वह बेवकूफ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नही देख सकते थे। और इसलिए वह जब कभी मौका मिलता उनपर टूट पडते थे।

मेरा खयाल है कि केम्ब्रिज छोड देने के बाद मैने उनका एक लेख पढा था, ज बहुत बुरा मालूम हुआ था ओर मैने उन्हे एक गुस्ताखाना खत लिखा, जिसमे मैने य भी झलकाया कि इसमे शक नही कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयो से ब्रिटिश सरका बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सक थे, ओर वह सचमुच बहुत नाराज हुए भी। उन्होने करीब-करीब यहां तक सोच लिया था, कि मुझे फौरन इग्लैण्ड से वापस बुला ले।

जब मै केम्ब्रिज मे रहता था तभी यह सवाल उठ खडा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'केरियर' चुनना चाहिए। कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनो तक उसमे एक खास आकर्षण था। परन्तु चूकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मै ही, वह विचार छोड दिया गया। मेरा खयाल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी ओर अगर मैं उस इम्तिहान मे बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल ओर वहाँ ठहरना पडता। मैने केम्ब्रिज मे जब अपनी डिग्री ली तब मै २० बरस का था ओर उन दिनो इण्डियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद २२ बरस से लेकर २४ बरस तक थी। इम्तिहान मे कामयाब होने पर इग्लैण्ड मे एक साल ओर बिताना पडता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इग्लैण्ड मे इतने दिन तक रहने के कारण ऊब गये थे ओर चाहते थे कि मै जल्द ही घर लौट आऊं। मेरे पिताजी पर एक बात का और भी जोर पडा ओर वह बात यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहो मे रहना पडता। पिताजी ओर मा दोनो ही यह चाहते थे कि इतने दिनो तक अलग रहने के बाद मै उनके पास ही रहू। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष मे पडा ओर मै इनर टैम्पिल मे भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति मे गरम-दल की ओर झुकाव बढता जाने पर भी आई० सी० एस० मे शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-शासन मशीन का एक पुर्जा बनने के खयाल को मैने ऐसा बुरा नही समझा। आगे के सालो मे इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० मे अपनी डिग्री लेने के बाद मै केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान मे मुझे मामूली सफलता मिली, दूसरे दर्जे मे सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मै लन्दन मे इधर-उधर घूमता रहा। मेरी कानून की पढाई मे बहुत समय नही लगता था और [illegible] के बाद दूसरे इम्तिहान मे मै पास होता रहा। [illegible] सम्मान मिला, न अपमान। बाकी वक्त मैने यो ही

विताया। कुछ आम किताबे पढी, फैबियन और साम्यवादी विचारो की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनो के राजनैतिक आन्दोलन मे भी दिलचस्पी ली। आयर्लैण्ड और स्त्रियो के मताधिकार के आन्दोलनो मे मेरी खास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी मे जब मै आयलेण्ड गया तो सिनफिन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ खीचा था।

इन्ही दिनो मुझे हेरो के पुराने दोस्तो के साथ रहने का मौका मिला और उनके साथ मेरी आदते खर्चीली हो गई थी। पिताजी मुझे खर्च को काफी रुपया भेजते थे। लेकिन मै अक्सर उससे भी ज्यादा खर्च कर डालता था। इसलिए उन्हे मेरे बारे मे बडी चिन्ता हो गई थी, क्योकि उन्हे अन्देशा था कि कही मै बुरे रास्ते तो नही पड़ गया हूँ। परन्तु मै दरहकीकत ऐसी कोई खास बात नही कर रहा था। मै तो सिर्फ, उन खुशहाल परन्तु कुछ हद तक खाली-दिमाग अग्रेजो की नकल-भर कर रहा था जो 'मैन अबाउट टाउन'—कहलाते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश-हीन आराम-तलबी की जिन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नही हुई। मेरे पहले के होसले ठडे पडने लगे और खाली एक चीज जो बढ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

छुट्टियो मे मैने कभी-कभी योरप के जुदा जुदा देशो की भी सैर की। १९०९की गरमी मे जब काउन्ट ज़ैपलिन अपने नये हवाई जहाज मे कौन्सटेन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड कर बर्लिन आये तब मै और पिताजी दोनो वही थे। मेरा ख़याल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उडान थी। इसलिए उस अवसर पर बडी खुशी मनाई गई और खुद कैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टेम्पिलौफ फील्ड मे जो भीड इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। जैपलिन ठीक समय पर आकर बडी वज़ादारी के साथ हमारे आसपास चक्कर लगाने लगा। एेडलॉ होटल ने उस दिन अपने सब निवासियो को काउन्ट जैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेट किया था। वह चित्र अब तक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस मे वह हवाई जहाज देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उडा और जिसने एफिल टावर के चक्कर पहले पहल लगाये। मेरा ख़याल है कि उडाके का नाम कोन्टे डि लैम्बर्ट था। अठारह बरस बाद जब लिडबर्ग अटलाटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड कर पैरिस आया था तब भी मै वहाँ था।

१९१० मे कैम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फोरन ही जब मै नारवे सैर-सपाटे के लिए गया हुआ था तब मै बाल-बाल बच गया। हम लोग पहाडी प्रदेश मे पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए एक छोटे से होटल मे अपने मुकाम पर पहुचे,

ओर गर्मी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की। वहा ऐसी बात पहले किसी ने न सुनी थी
होटल मे नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि
हम लोग पास की एक नदी मे नहा सकते है। अत मेज की या मुँह पोछने की छोटी
छोटी तोलियाओ से जो होटल ने हमे उदारतापूर्वक प्रदान की थी, सुसज्जित होकर ह
मे से दो, एक मै और एक नोजवान अग्रेज, पडोस के हिम सरोवर से निकलती ओ
दहाडती हुई तूफानी धारा मे जा पहुचे। मै पानी मे घुस गया। वह गहरा तो न
लेकिन ठडा इतना था कि हाथ पैर जमे जाते थे ओर उसकी जमीन बडी रपटीली थी
मै रपट कर गिर गया। बरफ की तरह ठडे पानी से मेरे हाथ पैर निर्जीव हो गये
मेरा शरीर ओर सारे अवयव सुन्न पड गये, मेरे पैर जम न सके, तूफानी धारा मुझे ते
से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरे अग्रेज साथी ने किसी तरह बाहर निकल कर मे
साथ भागना शुरू किया ओर अन्त मे मेरा पैर पकडने मे कामयाब होकर उसने मु
बाहर खीच लिया। इसके बाद हमे यह मालूम हुआ कि हम कितने बडे खतरे मे थे
क्यो कि हमसे दो तीन सो गज की दूरी पर यह पहाडी धारा एक विशाल चट्टान
नीचे गिरती थी जिसका जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय बात थी।

"१९१२ की गर्मी मे मैने बैरिस्टरी पास करली ओर उसी साल शरद् ऋतु मे
कोई सात साल से ज्यादा इगलैड मे रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लोट आय
इस बीच छुट्टी के दिनो मे दो बार मै घर गया था। परन्तु अब मै हमेशा के लि
लोटा ओर मुझे भय है कि जब मैं बम्बई मे उतरा तो कुछ ऐसा अभिमानी था कि
मेरे कद्र किये जाने की बहुत कम गुजाइश थी।

५

वापस घर और हिन्दुस्तान की युद्धकालीन राजनीति

१९१२ के आखीर मे राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत सुस्त था। तिलक जेल मे थे, गरम दलवाले कुचल दिये गये थे। किसी कारगर नेतृत्व के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बग-भग दूर होने पर बगाल मे शान्ति हो गई थी ओर सरकार को कौसिलो की मिन्टो-मॉरले योजना के मातहत माडरेटो को अच्छी तरह इकट्ठा करने मे कामयाबी मिल गई थी। प्रवासी भारतवासियो की समस्या के बारे मे खास तौर पर दक्षिण अफ्रीका मे रहने वाले भारतीयो की दशा के बारे मे कुछ दिलचस्पी जरूर थी। काग्रेस माडरेटो के हाथ मे थी। साल भर मे एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ लोगो का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बडे दिन की छुट्टियो मे मै डेलीगेट की हैसियत से बाकीपुर की काग्रेस मे शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अग्रेजी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगो का उत्सव था। जहा सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुत वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमे किसी प्रकार की राजनैतिक उत्तेजना या खीचा-तानी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौट कर आये थे, उसमे शामिल हुए थे। उस अधिवेशन के प्रमुख पुरुप वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सच्चाई और उनकी शक्ति से वहाँ आये उन थोड़े से व्यक्तियो मे वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलो पर सजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध मे गहराई से सोचते थे। मेरे ऊपर उनका अच्छा प्रभाव पडा।

जब गोखले बाकीपुर से लौट रहे थे तब एक खास घटना होगई। वह उन दिनो पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हे अपने लिए एक फर्स्ट-क्लास का डब्बा रिज़र्व कराने का हक था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगो की भीड से तथा बेमेल साथियो से उनके आराम मे खलल पडता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हे एकान्त मे चुपचाप पडा रहने दिया जाय और काग्रेस के अधिवेशन के बाद वह उत्सुक थे कि सफर मे उन्हे शान्ति मिले। उन्हे उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाकी गाडी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियो से ठसा-ठस भरी

हुई थी। कुछ समय के बाद, भूपेन्द्रनाथ वसु जो बाद मे जाकर इडिया कौंसिल के मेम्ब
हुए, गोखलेजी के पास गये और यो ही उनसे पूछने लगे कि क्या मै आपके ड
मे सफर कर सकता हूँ? यह सुन कर पहले तो गोखलेजी कुछ चौके, क्योकि व
महाशय बडे बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राजी हो गये। चन्द मिनट ब
श्री वसु फिर गोखलेजी के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे ग
और दोस्त आपके साथ इसी कम्पार्टमेण्ट मे चले चले तो आपको तकलीफ तो न होगी
गोखलेजी ने फिर चुप-चाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले वसु सा
ने फिर उसी ढग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थो पर सोने
बहुत तकलीफ होगी। इसलिए अगर आपको तकलीफ न हो तो आप ऊपर की ब
पर सो जायँ, और हम दोनो नीचे की दोनो बर्थों पर सो जायँ। मेरा ख्याल है
अन्त मे यही हुआ और बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ कर जैसे-तैसे र
बितानी पडी।

मैं हाईकोर्ट मे वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम मे दिलच
आने लगी। योरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बडे आनन्द के थे। मुझे
आने और वहा आकर पुरानी मेल-मुलाकात कायम कर लेने से खुशी हुई। पर
धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकाश लोगो के साथ-साथ मुझे जिस तरह की जिन्द
बितानी पडती थी, उसकी सब ताजगी गायब होने लगी और मै यह महसूस क
लगा कि मै बेकार और उद्देश-हीन जीवन की नीरस खाना-पूरी मे ही फंस रहा ह
मै समझता हू कि मेरी दोगली, कम-से-कम खिचडी, शिक्षा इस बात के लिए उत्त
दायी थी कि मेरे मन मे अपनी परिस्थितियो मे असन्तोष था। इगलैंड की अप
सात बरस की जिन्दगी मे मेरी जो आदते और जो भावनाये बन गई थी वे जि
चीजो को मै यहा देखता था उनसे मेल नही खाती थी। सोभाग्य से मेरे घर
वायु-मण्डल बहुत अनुकूल था और उसमे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उत
भी काफी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनो मे व
साथी, जो उन्ही पुराने विषयो पर, आम तौर पर, कानूनी पेशे सम्बन्धी बातो
ही बार-बार बाते करते थे। निस्सन्देह यह वायु-मण्डल ऐसा न था जिससे बु
को कुछ गति या स्फूर्ति मिले, और मेरे मन मे जीवन के नितान्त नीरसपन
मनहूसी का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की ब
भी न थी।

[illegible] ने हाल ही मे लार्ड [illegible] की जो जीवनी लिखी
[illegible] ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे मे कहा था

"ये दोनो जातियाँ (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से मिल क्यो नही सकती, महज इसलिए कि हिन्दुस्तानियो से अग्रेज ऊब जाते है, यही सीधा और कठोर सत्य है।" यह सम्भव है कि बहुत से अग्रेज यही महसूस करते हो ओर इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है। दूसरी पुस्तक मे फौर्स्टर ने कहा है, कि हिन्दुस्तान मे हर एक अग्रेज यही महसूस करता है, और उसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह विजित देश पर कब्ज़ा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है, और ऐसी हालत में दोनो जातियो मे परस्पर सहज और सकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव है। हिन्दुस्तानी और अग्रेज दोनो ही एक-दूसरे के सामने बनते है ओर स्वभावत दोनो एक-दूसरे के सामने असुविधा अनुभव करते है। दोनो एक दूसरे से ऊबे रहते है ओर जब दोनो ही एक-दूसरे से अलग होते है तो उन्हे खुशी होती है और वे आजादी के साथ सास लेते तथा फिर से स्वाभाविक रूप से चलने फिरने लगते है।

आम तौर पर अग्रेज एक ही किस्म के हिन्दुस्तानियो से मिलते है—उन लोगो से जिनका हाकिमो की दुनिया से ताल्लुक रहता है। वास्तव मे भले और बढिया लोगो तक उसकी पहुँच ही नही होती और अगर ऐसा कोई शख्स उन्हे मिल भी जाय, तो वे उसे जी खोल कर बात करने को तैयार नही कर पाते। हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलो मे भी, हाकिमो की श्रेणी को ही महत्व देकर आगे बढाया है। इनमे हिन्दुस्तानी और अग्रेजी दोनो ही तरह के हाकिम आजाते है। इस वर्ग के लोग खास तौर पर मट्ठे और तग खयाल के होते है। एक सुयोग्य अंग्रेज नौजवान भी हिन्दुस्तान मे आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सास्कृतिक तन्द्रा मे ग्रस्त हो जाता है तथा समस्त सजीव विचारो और आन्दोलनो से अलग हो जाता है। दफ्तर मे दिन-भर मिसलो मे, जो हमेशा चक्कर लगाती रहती है और कभी खतम नही होती, सर खपा कर ये हाकिम थोडा-सा व्यायाम करते है। फिर वहाँ से अपने समाज के लोगो से मिलने-जुलने को क्लब मे चले जाते है, वहाँ व्हिस्की पी कर 'पच' तथा इगलैड से आये हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र पढते है। किताब तो वे शायद ही पढते हो। पढते भी होगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इस पर भी अपने इस धीमे मानसिक ह्रास के लिए आप हिन्दुस्तान पर दोष मढते है, यहाँ की आबोहवा को कोसते है और आम तौर पर आन्दोलन करनेवालो को बददुआ देते है जो उनकी दिक्कते बढाते है। लेकिन यह महसूस नही कर पाते कि उनके मानसिक और सास्कृतिक क्षय का कारण वह मजबूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान मे प्रचलित है और वह खुद जिसका एक छोटा-सा पुर्जा है।

जब छुट्टियों और फर्लो के बाद भी अंग्रेज हाकिमों की यह हालत है तब
हिन्दुस्तानी अफसर उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर
हो सकते हैं, क्योंकि वे अंग्रेजी नमूने की नकल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य
राजधानी नई दिल्ली में ऊंचे हिन्दुस्तानी और अंग्रेज हाकिमों के पास बैठ कर तरक्क
छुट्टी के कायदों, तबादिलों और नौकर तथा नौकरों की रिश्वतखोरी तथा बेईमानि
वगैरा के किस्सों को सुनने से ज्यादा जी घबड़ानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई जैसे शहरों को छोड़कर बाकी
जगहों में इस हाकिमाना और 'सर्विस' के वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्यम श्रे
के लगभग तमाम लोगों की जिन्दगी पर, खास तौर पर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों
जीवन पर, चढ़ाई करके उसे अपने रंग में रंग दिया है। पेशेवर लोग जैसे वकी
डाक्टर तथा दूसरे लोग भी उसके शिकार हो गये, और अर्द्ध सरकारी विश्व-विद्याल
के शिक्षा-भवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में र
हैं जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों से कतई कोई ताल
नहीं है। उन दिनों राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक महदूद थी। बंगाल
१९०६ में राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने जरा उस वस्तुस्थिति को झकझोर कर बंगाल
मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों में और कुछ हद तक जनता में भी नई जान डाल दं
आगे चल कर गांधीजी[1] के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेजी से बढ़ने को थ

[1] मैंने इस पुस्तक में सब जगह महात्मा गांधी के बजाय गांधीजी लिखा
क्योंकि वह खुद 'महात्मा गांधी' के बदले 'गांधीजी' कहा जाना पसन्द करते हैं। प
अंग्रेज़ लेखकों के लेखों व पुस्तकों में मैंने इस 'जी' की विचित्र व्याख्यायें देखी
कुछने कल्पना कर ली है कि वह प्यार का शब्द है, और गांधीजी के मानी हैं, 'नन्हे
प्यारे गांधी'। यह बिलकुल वाहियात है और इससे यही मालूम होता है कि ऐ
लिखनेवालों को भारतीय जीवन के बारे में कितना अज्ञान है। हिन्दुस्तान में 'जी'
सबसे ज्यादा मामूली शब्द है जो मर्द, औरत, लड़के, लड़की बच्चे सबके नाम के अ
अंधाधुन्ध लगाया जाता है। इसमें सम्मान का भाव जरूर रहता है, जैसा कि 'मिस
और 'मिसेज़' में रहता है। दरबारी मुहावरों में और नामों के आगे-पीछे के श
तथा सम्मानसूचक उपाधियों में हिन्दुस्तानी भाषा बहुत भरपूर है। 'जी' बिलकुल शुद्ध
हुए भी इन सबसे ज्यादा सरल और बेनूर है, हालांकि अपने बहनोई रणजीत ए
पंडित से मुझे मालूम हुआ कि 'जी' की वंश-परम्परा बहुत पुरानी तथा प्रतिष्ठित
यह संस्कृत के 'आर्य' शब्द से (नाज़ियों का आर्यन नहीं) निकला है जिसके मानी
सज्जन या कुलीन। प्राकृत में यही आर्य 'अज्ज' होगया। उसीसे सरल 'जी' निकला

परन्तु राष्ट्रीय सग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक सकीर्ण सिद्धान्त होता है, और वह अपने मे इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामो के लिए कुछ नही बचता।

इसलिए इग्लैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालो मे, मैं जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा। अपने वकालात के पेशे मे मुझे पूरा उत्साह नही था। राजनीति के मानी मेरे मन मे यह थे कि विदेशी शासन के खिलाफ आक्रमणकारी राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति मे इसके लिए कोई गुजाइश नही थी। मै काग्रेस मे शरीक हो गया और उसकी बैठको मे जाता रहता। फिजी मे हिन्दुस्तानी मजदूरो के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के खिलाफ या दक्षिण अफ्रीका मे प्रवासी भारतीयो के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के खिलाफ यानी ऐसे खास मौको पर जब कभी कोई आन्दोलन खडा होता तो मै अपनी पूरी ताकत से उसमे जुट कर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामो मे मैने अपना जी बहलाना चाहा लेकिन उसकी तरफ मेरी खास रगबत या झुकाव न था। बाहर जाना और जगल मे घूमना तो मुझे अच्छा लगता था लेकिन इस बात की ओर मै कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारू। सच बात तो यह है कि मै जानवरो को मारने के लिए कभी मशहूर नही हुआ, हालॉकि एक दिन कश्मीर मे थोडे-बहुत इत्तिफाक से ही एक रीछ के मारने मे मुझे कामयाबी मिल गई थी। शिकार के लिए मेरे मन मे जो थोडा-बहुत उत्साह था वह भी एक छोटे से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठडा पड गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु, चोट से मर कर मेरे पैरो पर गिर पडा और अपनी ऑसू भरी बडी-बडी ऑखो से मेरी तरफ देखने लगा। तबसे उन ऑखो की मुझे अक्सर याद आ-जाती है।

उन शुरू के सालो मे श्री गोखले की भारत-सेवक समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैने उसमे शामिल होने की बात तो कभी नही सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी और कुछ इसलिए कि उन दिनो अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरो के लिए मेरे दिल मे बडी इज्जत थी, क्योकि उन्होने निर्वाह मात्र पर अपने को स्वदेश की सेवा मे लगा दिया था। मैने दिल मे कहा कि कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है जिसमे लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार सीधा काम करते है, फिर चाहे वह काम सोलहो आने ठीक दिशा मे भले ही न हो।

मगर एक छोटे से मामले मे, जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था, श्री

श्रीनिवास शास्त्री ने मेरे दिल को बडा धक्का पहुंचाया। वह इलाहाबाद मे विद्यार्थियो की एक सभा मे भाषण दे रहे थे। उन्होने विद्यार्थियो से कहा कि अपने शिक्षको और प्रोफेसरो की इज्जत करो, उनकी आज्ञा मानो और वैध अधिकारियो द्वारा जो कायदे कानून बना दिये जॉय उनका सावधानी के साथ पालन करो। उनकी ये भली-भली बाते मुझे जरा भी पसन्द न आई। ये सब पुरानी ओर मामूली बाते थी, और सो भी अवाछनीय, क्योकि उनमे सत्तावाद पर अधिक जोर दिया गया था। मैंने सोचा कि शायद यह इसलिए हो कि हिन्दुस्तान मे अर्द्ध-सरकारी वातावरण फैला हुआ है। मगर श्री शास्त्री ने आगे बढकर विद्यार्थियो को आदेश दिया कि वे एक दूसरे के अकर्मों और कुकर्मों की रिपोर्ट अधिकारियो को तुरन्त कर दे। दूसरे शब्दो मे वे एक दूसरे का भेद लेते रहे और भेद देनेवालो का काम करे। यद्यपि श्री शास्त्री ने इन सख्त शब्दो का व्यवहार नही किया था, लेकिन मुझे उनके मानी साफ दिखाई दे रहे थे। मै एक बडे नेता की इस दोस्ताना सलाह को सुन कर दग रह गया। मै उन दिनो नया-नया ही इंग्लैण्ड से लोटा था और वहाँ मेरे स्कूल व कॉलेज मे मेरी जिस शिक्षा पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया था, वह यही थी कि अपने साथी के साथ कभी विश्वासघात मत करो। सोजन्य के नियमो के खिलाफ इससे बडा पाप और कोई न था कि आप छिप कर सुने और भेद देकर अपने साथी को विपत्ति मे डाले। इस सिद्धान्त को यकायक इस तरह सोलहो आने उलटा जाता देखकर मुझे बहुत बेचैनी हुई और मैने यह अनुभव किया कि मुझे जो सदाचार सिखाया गया है उसमे और श्री शास्त्री के सदाचार मे जमीन-आसमान का अन्तर है।

विश्व-व्यापी महा-युद्ध मे हमारा ध्यान लग गया। हालाकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उसने हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नही पडा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी बीभत्सता का पूरा रूप अनुभव भी नही किया। राजनीति के बरसाती नाले बहने और लोप हो जाते थे। ब्रिटिश डिफेन्स आफ रिएल्म एक्ट की तरह जो भारत-रक्षा नामक कानून बना था, वह देश को जोर से जकडे हुए था। लडाई के दूसरे साल मे ही षड्यन्त्रो की और गोलियो से मारे जाने की खबरे आने लगी। उधर पंजाब मे रंगरूटो की जबरन् भरती की खबरे सुनाई देती थी।

यद्यपि लोग जोर-जोर से राजभक्ति का राग अलापते थे तो भी अग्रेजो के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की खबरे सुन कर माडरेट और गरम-दल वाले दोनो को ही खुशी होती थी। यह नही कि किसीको जर्मनी से प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे प्रभुओ को नीचा देखना पडे।

असल मे यह भाव ऐसा ही था, जैसा कमजोर और असहाय मनुष्यो के मन मे अपनेसे जबरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की खबर सुनकर खुशी पैदा होती है। मेरा खयाल है कि हममे से अधिकाश इस लडाई के बारे मे मिश्रित भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड रहे थे, उनमे मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा फ्रान्सीसियो के साथ थी। मित्र राष्ट्रो की ओर से, बेहयाई के साथ जो प्रचार लगातार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पडा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बाते सही न मानने की काफी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे फिर राजनैतिक जीवन बढने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये, ओर उन्होने तथा मिसेज बेसेन्ट ने होमरूल लीगे कायम की। मै दोनो लीगो मे शामिल हुआ, लेकिन काम मैने ख़ासतौर पर मिसेज बेसेन्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मच पर मिसेज बेसेन्ट दिन-दिन अधिक भाग लेने लगी। काग्रेस के वार्षिक अधिवेशनो मे कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग काग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल मे बिजली-सी दौड गई, और हम जैसे अधिकाश नवयुवको का दिल फडकने लगा। नजदीक भविष्य मे हम बडी-बडी बाते होने की उम्मेद करने लगे। मिसेज़ बेसेन्ट की नजरबन्दी से पढे-लिखे लोगो मे बहुत उत्तेजना बढी और उसने देश-भर मे होमरूल आन्दोलन मे जान डाल दी। होमरूल लीगो मे न सिर्फ वे पुराने गरम-दल वाले ही शामिल हुए जो १९०७ से काग्रेस से बाहर रखे जाते थे,बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगो मे से बहुत से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लीगो ने छुआ तक नही।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी से वुड्ढो मे खलबली मच गई, जिनमे कई माडरेट लीडर भी थे। मुझे याद है कि नज़रबन्दी से कुछ दिन पहले तक अखबारो मे श्री० श्रीनिवास शास्त्री के वक्तृत्वपूर्ण भाषणो को पढकर हम लोगो के दिल कैसे हिल जाते थे। लेकिन नज़रबन्दी से ठीक पहले या उसके बाद से श्री शास्त्री चुप हो गये। जब काम का वक्त आया तब वह हमे बिलकुल छोड गये, और एक ऐसे वक्त पर, जब सबसे ज्यादा नेतृत्व की जरूरत थी। उनकी चुप्पी पर हममे बहुत मायूसी और नाराजगी फैली। तब से मेरे दिल मे यह विश्वास घर कर गया है कि श्री शास्त्री कर्मवीर नही है, और सकट-काल उनकी प्रतिभा के अनुकूल नही पडता।

लेकिन दूसरे माडरेट लीडर आगे बढते गये। उनमे से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे, वे वही डटे रहे। मुझे याद है कि यूरोपियन डिफेस फोर्स के ढगपर सरकार हिन्दुस्तान मे मध्यम-वर्ग के लोगो मे से जिस नये इण्डियन डिफेस फोर्स का सगठन कर रही थी, उनके बारे मे बडी बहसे होती थी। कई मामलो मे

इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फोर्स के साथ वह व्यवहार नही किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फोर्स के साथ किया जाता था, और हममे से बहुतो को यह महसूस हुआ कि जब तक ये सब अपमान-जनक भेद-भाव न मिटा दिया जायं तब तक हम इस फोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद, आखिर हम लोगो ने सयुक्त प्रात मे सहयोग करना ही तय किया, क्योंकि यह सोचा गया कि इन हालतो से भी हमारे नौजवानो के लिए यह अच्छा है कि वे फौजी शिक्षा ग्रहण करे। मैंने इस फोर्स मे दाखिल होने के लिए अपनी अर्जी भेज दी, और उस तजवीज को बढाने के लिए हम लोगो ने इलाहाबाद मे एक कमेटी भी बना ली। इसी समय मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी हुई, और उस क्षण के जोश मे मैंने कमेटी के मेम्बरो को, जिनमे पिताजी, डाक्टर तेज बहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद कर दे, और सरकार की नजरबन्दी वाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेंस फोर्स के सिल-सिले मे दूसरे सब काम भी बन्द कर दे। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा खयाल है कि लडाई के वक्त मे ऐसा लडाकू काम करने के लिए इनमे से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज़ बेसेन्ट की नजरबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होम-रूल लीग मे शामिल हो गये। कुछ महीने बाद इन माडरेट नेताओ मे से कुछ ने होम-रूल लीग से इस्तीफा दे दिया। मेरे पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद वाली शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटो की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे, उनकी प्रकृति, जो सत्ता हमारी अपेक्षा करती थी और हमारे साथ हिकारत का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उससे अपील करने के खिलाफ बगावत करती थी, परन्तु पुराने गरम दल के नेता उन्हे आकर्षित नही करते थे। उनकी भाषा और उनके ढग उन्हे नर्म-कटु मालूम होते थे। मिसेज़ बेसेन्ट की नजरबन्दी की घटनाओ का उनके ऊपर काफी असर पडा, लेकिन आगे कदम रखने से पहले वह अब भी हिचकिचाते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटो के तरीको से कुछ नही हो सकता, लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नही मिलता तबतक दूसरा भी कोई कारगर काम नही किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय तो मैं आगे से तेज़-से-तेज़ के साथ कदम मिलाकर चलने को तैयार हूं। इनके ही घर मे आल इंडिया कमिटी की मीटिंग मे वह ज्वाइंट कांग्रेस लीग योजना बनी जिसे १९१६ ई० मे कांग्रेस ने लखनऊ मे मजूर किया। इस बात से

पिताजी बडे खुश हुए, क्योकि इससे सम्मिलित उद्योग का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने साथियो से विगाड कर भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मंत्री की हैसियत से एडविन मान्टेगु ने हिन्दुस्तान मे जो दौरा किया तब तक और दौरे के दरमियान माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन मान्टेगु-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू होगया। १९१८ मे लखनऊ मे सूवे की एक विशेष कान्फ्रैस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसी मे वह सदा के लिए माडरेटो से अलग हो गये। माडरेटो को डर था कि यह कान्फ्रेस मान्टेगु-चेम्सफोर्ड प्रस्तावो के खिलाफ कडा रुख अख्तयार करेगी। इसलिए उन्होने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावो पर विचार करने के लिए काग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होने बायकाट किया। तब से अबतक वे काग्रेस से बाहर है।

माडरेटो ने जो ढग अख्तयार किया वह यह था कि वे काग्रेस के अधिवेशनो तथा दूसरे आम जल्सो से चुपचाप अलग होकर दूर रहे, और बहुमत के खिलाफ होने पर वहा जाकर अपना दृष्टि-कोण भी न रक्खे और न उसके लिए लडे। यह ढग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा खयाल है कि देश मे अधिकाश लोगो का यही आम खयाल था और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति मे माडरेटो का प्रभाव जो प्राय सोलहो आने जाता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा खयाल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो काग्रेस के शुरू के उन कुछ जल्सो मे भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था, और उन्होने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहा रक्खा। इसके बदौलत पब्लिक की निगाह मे उनकी इज्ज़त बढ गई।

लडाई के शुरू के सालो मे मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मै आम सभाओ मे व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे पब्लिक मे व्याख्यान देने मे डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मै यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अग्रेजी मे तो होने नही चाहिए और हिन्दुस्तानी मे देर तक बोलने की अपनी योग्यता मे मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मै पहले-पहल इलाहाबाद मे सार्वजनिक भाषण दूँ। सम्भवत यह १९१५ मे हुआ। लेकिन तारीख़ के बारे मे मै ठीक-ठीक नही कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या यह तरतीब भी मुझे साफ-साफ नही याद है। प्रेस का मुंह बन्द करनेवाले एक कानून के विरोध मे सभा होनेवाली थी और उसमे

मुझे यह मोका मिला था। मै बहुत थोडा बोला, सो भी अग्रेजी मे। ज्यो ही मीटिंग खतम हुई मुझे इस बात से बडी सकुच हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैने जो-कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हो सो बात नही। बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ यह था कि मैने आम सभा मे व्याख्यान दिया, ओर इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रगरूट मिल गया। उन दिनो सार्वजनिक काम दर-असल महज व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनो हमे, इलाहाबाद के बहुत से नोजवानो को, यह भी आशा थी कि डॉक्टर सप्रू मुमकिन है कि, राजनीति मे कुछ आगे कदम रक्खे। शहर मे माडरेट दल के जितने लोग थे उन सब मे उन्हीसे इस बात की सबसे ज्यादा सभावना थी, क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौके पर उत्साह की लहर मे बह जाते थे। उनके मुकाबिले मे पिताजी बहुत ठडे मालूम होते थे हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ इच्छा-शक्ति के कारण हमे उनमे बहुत कम उम्मेद रह गई थी, ओर कुछ वक्त के लिए हमे सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदे थी। इसमे तो कोई शक नही कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओ के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमे अपनी तरफ खीचते थे ओर हम लोग उनसे देर-देर तक बाते करते तथा उन पर यह जोर डालते थे कि वह जोर के साथ मुल्क का नेतृत्व करे।

उस ज़माने मे, घर मे राजनैतिक सवाल चर्चा ओर बहस के लिए शान्ति-मय विषय नही था। उनकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरमदल की तरफ जो मेरा झुकाव था उसे पिताजी बडे गोर से देख रहे थे, खास तौर पर कानूनी राजनीति के बारे मे मेरी नुक्ता-चीनियो को ओर कार्य के लिए की जानेवाली मेरी हठीली माग को। मुझे भी यह बात साफ-साफ नही दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए, ओर पिताजी कभी कभी खयाल करते थे कि मै सीधे उस हिंसात्मक काम की तरफ जा रहा हू जिसको बगाल के नोजवानो ने अख्तियार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे। जब कि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ न था। हा, यह खयाल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमे मोजूदा हालत को चुपचाप नही बरदाश्त करना चाहिए। ओर कुछ-न-कुछ जरूर करना चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम का सफल करना बहुत आसान नही दिखाई देता था। लेकिन मै यह महसूस करता था कि स्वाभिमान ओर स्वदेशाभिमान दोनो ही यह चाहते है कि विदेशी शासन के खिलाफ अधिक लडाकू ओर आक्रामक रवैया अख्तियार

किया जाय। पिताजी खुद माडरेटो की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नही तब तक वह एक स्थिति को छोड कर दूसरी को कभी न अपनाते। आगे रक्खे जानेवाले हरएक कदम के मानी यह थे कि उनके मन मे कठिन और कठोर द्वद्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लडने के बाद जब वह कोई कदम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नही हटाते थे। उन्होने आगे जो कदम बढाया वह किसी उत्साह के झोके मे नही, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एक बार आगे कदम रख लेने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हे पीछे मुड कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति मे बाह्य परिवर्तन मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी के वक्त से आया और तबसे वह कदम-ब-कदम आगे ही बढते गये और अपने माडरेट दोस्तो को पीछे छोडते गये। अन्त मे १९१९ मे पजाब मे जो दुखान्त काण्ड हुआ उसने उन्हे हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेका, और उन्होने गाँधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की डोर बाँध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नही कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन मे तरह-तरह की शकाये उठ रही थी, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनो के सार्वजनिक प्रश्नो पर शान्ति-पूर्वक बात-चीत नही कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बात-चीत मे वह गुस्सा हो जाते और हमे बात जहाँ-की-तहाँ खतम कर देनी पडती।

मै गाधीजी से पहले-पहल १९१६ मे बडे दिन की छुट्टियो मे लखनऊ-काग्रेस मे मिला। दक्षिण अफ्रीका मे उनकी बहादुराना लडाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानो मे बहुतो को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे। उन दिनो उन्होने काग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति मे भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपनेको प्रवासी भारतीयो के मसले की सीमा तक बाँध रक्खा था। इसके बाद ही चम्पारन मे निलहे गोरो से होने वाले किसानो के दुख दूर करने मे उन्होने जैसा साहस दिखाया और उस मामले मे उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगो ने देखा कि वह हिदुस्तान मे भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार है और उससे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-काग्रेस के बाद उन दिनो मे इलाहाबाद मे सरोजिनी नायडू ने जो

वक्तृत्वपूर्ण भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनो मै विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनो के गोलमोल साम्यवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ मे रौजर केसमेन्ट ने अपने मुकदमे मे जो आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमे यह बताया कि गुलाम जाति वालो के भाव कैसे होने चाहिए? आयर्लैण्ड मे ईस्टर के दिनो मे जो बगावत हुई उसकी विफलता ने भी हमे अपनी तरफ खीचा, क्योकि क्या वह सच्चा साहस नही था, जो निश्चित विफलता पर हसता हुआ ससार के सामने यह ऐलान करता था कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नही कुचल सकती?

ये ही उन दिनो मेरे भाव थे। परन्तु नई किताबो के पढने से मेरे दिमाग मे साम्यवादी विचारो के अगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनो वे भाव अस्पष्ट थे। उतने वैज्ञानिक नही थे जितने दयापूर्ण और हवाई। युद्धकाल मे तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रेन्ड रसल के लेख तथा ग्रथ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारो और इच्छाओ से मेरे मन का भीतरी सघर्ष तथा अपने वकालात के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ गया। यो मै उसे चलाता रहा, क्योकि उसके सिवा मै करता भी क्या? लेकिन मै अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि एक ओर मुझे खास तौर पर आक्रामक ढग का सार्वजनिक कार्य, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ यह वकालात का पेशा, दोनो एक साथ निभ नही सकते। सवाल सिद्धान्त का न था, लेकिन समय और शक्ति का था। न जाने क्यो कलकत्ता के नामी वकील सर रासबिहारी घोष मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विषय मे बहुत नेक सलाह दिया करते थे। खास तौर पर उन्होने मुझे यह सलाह दी कि मै अपने पसन्द के किसी कानूनी विषय पर एक किताब लिखू। क्योकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपनेको 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होने यह भी कहा कि उस किताब के लिखने मे वह मुझे विचारो की भी मदद देगे और उस किताब का सशोधन भी कर देगे। लेकिन मेरे वकील के जीवन मे उनकी यह सब दिलचस्पी बेकार थी क्योकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली इससे बढकर और कोई चीज नही हो सकती थी कि मै कानूनी किताब लिखने मे अपना समय और शक्ति बरबाद करू।

बूढे होने से सर रासबिहारी बहुत ही चिड़चिडे हो गये थे। फौरन ही उन्हे गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके मातहतो पर उनका बडा आतक-सा रहता था। मुझे वह [illegible]। उनकी खूबिया और कमजोरिया भी बिलकुल

अनाकर्पक नही मालूम होती थी। एक मर्त्तबा म ओर पिताजी शिमला मे उनके मेहमान थे। मेरा खयाल है कि यह वात १९१८ की है, ठीक उस समय की जब माण्टेगु-चैम्सफोर्ड-रिपोर्ट छप कर आई थी। उन्होने एक दिन शाम को कुछ मित्रो को खाने के लिए बुलाया ओर उनमे खापर्डे साहव भी थे। खाना खाने के वाद सर रासविहारी और खापर्डे आपस मे जोर-जोर से वाते तथा एक-दूसरे पर हमला करने लगे, क्योकि वे राजनीति मे भिन्न-भिन्न फिर्को के थे। सर रासविहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनो प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वे कपोत की तरह कोमल और माडरेटो के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये।

खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे ओर उन्होने लन्दन मे मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासविहारी इसे कैसे वरदाश्त कर सकते थे? वह जोर से वोले कि गोखले पुरुषोत्तम थे और मेरे खास मित्र थे। मै किसी को उनके खिलाफ एक भी शब्द नही कहने दूँगा। तव खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासविहारी को यह भी अच्छा तो नही लगा लेकिन उन्होने कोई नाराजगी नही दिखलाई। जाहिर है कि वह शास्त्रीजी के उतने प्रशसक नही थे जितने गोखले के। यहाँ तक कि उन्होने यह कहा कि जव तक गोखले जीवित थे मै रुपये-पैसे से भारत-सेवक-समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मौत के वाद मैने रुपया देना वद कर दिया है। इसके वाद खापर्डे उनके मुकावले मे तिलक की तारीफ करने लगे। वोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुप, एक आश्चर्यजनक पुरुप, महात्मा है।" "महात्मा!" रासविहारी वोले—"मै महात्माओ से नफरत करता हू। मै उनसे कोई वास्ता नही रखना चाहता।"

६

मेरा विवाह तथा हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ मे, दिल्ली मे, वसन्त-पचमी को हुई थी। उस साल गरमी हमने कुछ महीने कश्मीर मे बिताये। मैने अपने परिवार को तो घाटी मे छ दिया, और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाडो मे घूमता र तथा लदाख, रोड तक बढता चला गया।

ससार के उच्च प्रदेश मे उन सकीर्ण और निर्जन घाटियो मे घूमने का मेरा पहला अनुभव था, जो कि तिब्बत के मैदान की तरफ ले जाती है। जोजीला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाडो की ज हरियाली थी, और दूसरी तरफ खाली कडी शिला की चट्टान। हम उस घाटी की सँकडी तह के ऊपर चढते चले गये, जिसके दोनो ओर पहाड है। एक तरफ बरफ से ढकी हुई चोटिया चमक रही थी, और उनमे से छोटे-छोटे ग्लेशर—हिम सरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेग रहे थे। हवा ठडी और कटीली थी। लेकिन दिन मे धूप अच्छी पडती थी, और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हम चीजो की दूरी के बारे मे भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थी, हम उन्हे उनसे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढता गया, पेडो और वनस्पतियो तक ने हमारा साथ छोड दिया—सिर्फ नगी चट्टान और बरफ और हिम और कभी-कभी कुछ कुसुम-नुमा फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इस जगली और सुनसान निवासो मे मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमग का ठिकाना न था।

इस यात्रा मे मुझे एक बडा स्फूर्तिदायी उत्तेजक अनुभव हुआ। जोजीला घाटी से आगे सफर करते हुए एक जगह, जो मेरे ख्याल मे मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहा से सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच मे बुरी तरह हिम व बरफ से ढका हुआ एक बडा पहाड पडता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या है? जोश खूब था और तजुर्बे नदारद। हमने तय किया कि हम गुफा तक पहुँचने की कोशिश करेगे। अत हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ११ हजार ५०० फीट की ऊँचाई पर थे, छोड दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड पर चढने लगे। राह दिखाने के लिए [illegible] वहा का एक गडरिया था।

हम लोगो ने रस्सियो के सहारे कई हिम-सरोवरो पर चढकर उन्हे पार किया। हमारी मुश्किले बढती गई तथा सास लेने मे भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ भारवाहियो के मुंह से खून निकलने लगा, हालाकि उनपर बहुत बोझ नही था। इधर बर्फ पडने लगी और हिम-सरोवर भयानक रूप से रपटीले हो गये। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक कदम आगे बढने के लिए खास कोशिश करनी पडती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खतापूर्ण उद्योग करते ही गये। हमने अपना खीमा सुबह चार बजे छोडा था और बारह घटे तक लगातार चढते रहने के बाद एक सुविशाल हिम-क्षेत्र देखने का इनाम मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारो ओर हिमाच्छादित पर्वत चोटिया थी। मानो देवताओ का मुकुट अथवा अर्द्धचन्द्र हो। परन्तु ताजा बरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आखो से ओझल कर दिया। पता नही कि हम कितनी उँचाई पर थे, लेकिन मेरा खयाल है कि हम लोग कोई १५-१६ हजार फीट ऊचाई पर जरूर होगे क्योकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमे इस हिम-क्षेत्र को, जो सम्भवत आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगो ने सोचा कि चढाई खत्म होने से हमारी मुश्किले भी खत्म हो गई होगी इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगो ने हसते हुए यात्रा की यह मजिल भी तय करना शुरू किया। इसमे बडा धोखा था, क्योकि वहाँ दरारें बहुत-सी थी और ताजा गिरनेवाली बरफ खतरनाक दरारो को ढक देती थी। इस नई बरफ ने ही मेरा करीब-करीब खात्मा कर दिया होता। क्योकि मैने ज्योही उसके ऊपर पैर रक्खा त्योही वह धसक गई और मै धम से नीचे एक विशाल दरार मे, जो मुँह बाये हुए थी, जा गिरा। यह दरार बहुत बडी थी और कोई भी चीज उसमे बिलकुल नीचे पहुँच कर हजारो वर्ष बाद तक भूगर्भ शास्त्रियो की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन रस्सी नही छूटी और मै दरार की बाजू को पकडे रहा और ऊपर खीच लिया गया। इस घटना से हम लोगो के होश तो ढीले हो गये थे। पर फिर भी हम लोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारो की तादाद और उनकी चौडाई आगे जाकर और भी बढ गई। इनमे से कुछको पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे इसलिए अन्त मे हम लोग थके-मादे हताश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गई।

कश्मीर के पहाडो तथा ऊची-ऊची घाटियो ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैने एक बार फिर वहाँ जाने का सकल्प किया। मैने कई योजनाये सोची, और कई यात्राओ के मनसूबे बाँधे और उनमे से एकके तो खयाल ही से मेरी खुशी का ठिकाना

न रहा। वह थी तिब्बत की आश्चर्यमयी झील मानसरोवर और उसके पास का हिमा
च्छादित कैलाश। यह अठारह बरस पहले की बात है और मैं आज भी कैलाश तथ
मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले कभी था। मैं फिर कश्मीर न ज
सका, हालाँकि वहाँ जाने की मेरी बहुत ख्वाहिश रही। लेकिन मैं राजनीति औ
सार्वजनिक कामो के जजाल मे अधिकाधिक उलझता गया। पहाडो पर चढने य
समुद्रो को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलो मे जाकर ही सतोष करन
पडा। लेकिन अब भी मैं वहाँ जाने के मनसूबे गढा करता हू, क्योंकि वह तो ए
ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल मे भी नही रोक सकता। और इसके अला
जेलो मे ये स्कीमे सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या? अत मैं उस दिन न
स्वप्न देख रहा हूँ जब मैं हिमालये पर चढकर उसे पार करूगा और उस झील त
कैलाश के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूगा। परन्तु इस बीच मे जीवन व
बालू दौडती जा रही है, जवानी अधेडपन मे तबदील हो रही हैं और कभी-कभी
यह सोचता हूँ कि मैं इतना बुड्ढा हो जाऊँगा कि कैलाश और मानसरोवर जा
नही सकूगा, परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे तब भी यात्रा करने
हमेशा आनन्द ही आता है।

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृगो की पडती छाया—
साध्य गुलाबो से रजित है जिनकी भीषण दुर्गमता,
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलको पर बैठे अकुलाते,
शात शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता![१]

१. वाल्टर डि ला मेअर के एक पद्य का भावानुवाद। मूल पद्य इस प्रकार है :—

"Yes, in my mind these mountains rise,
Their perils dyed with evening's rose,
And still my ghost sits at my eyes
And thirsts for their untroubled snows."

७

गांधीजी मैदान में : सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध जबतक खतम हुआ तबतक हिन्दुस्तान का जोश-खरोश दब चुका था। उद्योगवाद फैल गया था और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता मे बढ गया था। चोटी पर के मुट्टीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढाने के लिए मौके और सत्ता मिले। मगर आम लोग इतने खुशकिस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह मे थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम वर्ग के लोगो मे यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ अधिकार मिलेगे और उसके द्वारा उन्हे अपनी बढती के नये रास्ते मिलेगे। राजनैतिक आन्दोलन, जो कि शान्तिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय और स्वशासन और स्वराज की बाते करते थे। इस अशान्ति के कुछ आसार जनता मे भी, और खासकर किसानो मे भी, दिखाई पडते थे। पजाब के देहाती इलाको मे जबरदस्ती रगरूट भर्ती करने की दुःख-दायी बाते लोग अभीतक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारूवाले तथा दूसरे लोगो पर पडयत्र के मुकदमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारो ओर फैली हुई नाराज़गी को और भी बढा दिया था। जगह-जगह लडाई के मैदानो मे जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नही रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ गया था और उनमे भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानो मे भी, तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर जैसा रुख अख्तियार किया गया उसपर, गुस्सा बढ रहा था और आन्दोलन तेज़ हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सुलहनामे पर अभी दस्तखत नही हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहां एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे तहाँ दूसरी ओर इन्तजार भी कर रहे थे।

सारे देशभर मे इन्तज़ार और आशा की हवा जोरो पर थी। लेकिन उस आशा मे चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिल का दौर हुआ, जिसमे कानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने और सज़ा देने की धाराये रक्खी गई थी। सारे हिन्दुस्तान मे चारो ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया था। यहा तक कि माडरेट लोगो ने भी अपनी पूरी ताकत से उसका विरोध

किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एक स्वर से उसका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफसरों ने उनको कानून बनवा ही डाला। और खास रिआयत पूछो तो यह की गई कि उसकी मीयाद सिर्फ तीन वर्ष की रखदी गई।

१५ वरस पहले इस बिल के जमाने पर और इसकी बदौलत जो हल-चल मची उसपर जरा निगाह दौड़ाना यहाँ उपयोगी होगा। रौलट-कानून बन तो गया, मगर जहाँ तक मैं जानता हूँ, अपनी ३ वर्ष की ज़िन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया। हालाँ कि वे तीन साल शान्ति के नहीं, ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के गदर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा कानून बनाया जिसका उसने कुछ उपयोग भी नहीं किया और बदले में उलटा एक तूफान मोल ले लिया। इससे यह बहुत-कुछ खयाल किया जा सकता है कि इस कानून को बनाने का उद्देश सिर्फ झगड़ा मोल लेना था।

एक और मज़ेदार बात सुनिए। आज १५ साल के बाद ऐसे कितने ही कानून बन गये हैं जो रोज़-ब-रोज बरते भी जाते हैं और जो रौलट-बिल से भी ज्यादा सख्त हैं। इन नये कानूनों और आर्डिनेन्सों के मुकाबिले में, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे हैं, रौलट-बिल तो आजादी का परवाना समझा जा सकता है। हाँ, एक फर्क जरूर है। १९१९ से हमें मॉन्टेगु-चैम्सफ़ोर्ड योजना नामक स्वराज की कुछ किस्तें मिल चुकी हैं और अब, सुनते हैं, एक बड़ी किस्त और मिलनेवाली है। हम तरक्की जो कर रहे हैं!

१९१९ के शुरू में गांधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को कानून न बनने दें। इस अपील की उन्होंने, दूसरी अपीलों की तरह, कोई परवा न की और, इस हालत में, गांधीजी को अपनी तबीयत के खिलाफ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा जो, उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होंने सत्याग्रह सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-कानून को न मानेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लम-खुल्ला और जान बूझ कर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अखबारों में यह खबर पढ़ी तो मुझे बड़ी तसल्ली हुई। आखिर इस उलझन में से एक रास्ता निकला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके रामबाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मैं फौरन सत्याग्रह-सभा में शामिल होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—

ोडना, जेल जाना वगैरा पर—शायद ही गौर किया हो और अगर मैंने गौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नही है। पिताजी इस नये खयाल के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावो के वहाव मे वह जाने वाले न थे। कोई नया कदम आगे वढाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे और जितना ही ज्यादा उन्होने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के वारे मे सोचा उतना ही कम वह उन्हे जॅचा। थोडे-से लोगो के जेल जाने से क्या फायदा होगा ? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दवाव पडेगा ? इन आम बातो के अलावा असल बात तो थी हमारा जाती सवाल। उन्हे यह बात बहुत बेहूदा दिखाई देती थी कि मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी पडा नही था और यह खयाल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने वच्चो से वहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नही करते थे तो भी उनके अन्दर प्रेम वहुत छिपा रहता था।

वहुत दिनो तक मानसिक सघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनो जानते थे कि यह वडी-वडी वाज़ियाँ लगाने का सवाल है, जिसमे हमारे सारे जीवन मे वडी उथल-पुथल होने की सभावना है, दोनो ने इस वात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक दूसरे की भावनाओ और वातो पर खयाल रक्खे। मैं चाहता था कि जहाँ-तक हो सके कोशिश करू कि उनको तकलीफ न भुगतनी पडे। मगर मुझे अपने दिल मे यकीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनो के लिए वह मुसीवत का समय था और कई रात मैंने अकेले वडी चिन्ता और वेचैनी मे काटी। मैं सोचता रहता कि इसमे से कोई रास्ता निकले। वाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल मे मेरी क्या गत होगी, क्योकि उनके खयाल मे मुझे आगे-पीछे जेल जरूर जाना पडेगा।

पिताजी ने गाधीजी को वुलाया और वह इलाहावाद आये। दोनो की वडी देर तक वाते होती रही। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गाधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को वहुत नागवार हो। मुझे इससे दुख ही हुआ, मगर उसी समय देश मे ऐसी घटनाये घट गई जिनसे सारी हालत ही वदल गई, और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई वन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस याने—सारे हिन्दुस्तान मे हडताले और तमाम काम-काज वन्द—दिल्ली और अमृतसर मे पुलिस और फौज का गोली चलाना और वहुत से आदमियो

का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद मे भीड के द्वारा हिसा-काण्ड हो जाना—जालियावाला-बाग का हत्या-काण्ड—पजाब मे फोजी कानून के भीषण अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे । पजाब मानो दूसरे प्रान्तो से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानो एक गहरा परदा पड गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखें उस तक नही पहुँच पाती थी । वहाँ से मुश्किल से कोई खबर मिलती थी, और कोई वहाँ न जा सकता था न वहाँ से आ ही सकता था ।

कोई इक्का-दुक्का जो किसी तरह उस नरक-कुण्ड से बाहर आ पहुँचता था, तो वह इतना भयभीत हो जाता था कि साफ-साफ हाल नही बता सकता था । हम लोग जो कि बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बडी खबर का इन्तजार करते रहते थे। और हमारे दिल मे कटुता भरती जारही थी। हममे से कुछ लोग फोजी कानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पजाब के उन हिस्सो मे जाना चाहते थे । लेकिन हमे ऐसा नही करने दिया गया और इस दर्म्यान कांग्रेस की तरफ से दुखियो और पीडितो को सहायता पहुँचाने तथा जाँच करने के लिए एक बडा सगठन बनाया गया ।

ज्योही खास-खास जगहो से फोजी कानून वापस लिया गया और बाहर वालो को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य काग्रेसी और दूसरे लोग पजाब मे जा पहुँचे और सहायता तथा जाँच के काम मे अपनी सेवाये अर्पित की । पीडितो की सहायता का काम मुख्यत पण्डित मदनमोहन मालवीय ओर स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल मे होता था और जाच का काम मुख्यत मेरे पिताजी ओर देशबन्धु दास की देख-रेख मे । गाधीजी उसमे बहुत दिलचस्पी ले रहे थे ओर दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे । देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास तोर पर अपनी तरफ लिया और वहाँ मै उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया । मुझे वह पहला मौका था उनके साथ और उनके नीचे काम करने के लिए । वह अनुभव मेरे लिए बडा कीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढा । जालियावाला-बाग मे और उस भयकर गली मे जिसमे लोगो को पेट के बल रेंगाया गया था, सबन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को काग्रेस-जाच-रिपोर्ट मे छपे थे, हमारे सामने दिये गये थे । हमने कई बार खुद जाकर उस बाग को देखा था और उसकी हर चीज की जाच बडे गौर से की थी ।

यह कहा गया था, मै समझता हूँ मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह खयाल था कि बाग से निकलने के दूसरे दरवाजे भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियाँ जारी रक्खी । यदि डायर का यही खयाल था और दरअसल उसमे रास्ता भी होता तो भी उससे उसकी जिम्मेदारी कम नही ह

जाती। मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा खयाल रहा। कोई भी शख्स इतनी ऊँची जगह पर खडा होकर, जहा कि वह खडा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारो ओर से बडे ऊँचे-ऊँचे मकानो से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ एक तरफ कोई सौ फीट के करीब कोई मकान न था, सिर्फ ५ फीट ऊँची दीवार थी। गोलियाँ तडातड़ चल रही थी और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हे कोई रास्ता नही सूझ पडा तो हजारो आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढने की कोशिश करने लगे। तब गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलाई गई—जैसा कि हमारे बयानात तथा दीवार पर लगे गोलियो के निशानात से मालूम होता है—ताकि कोई उसपर से चढ कर भाग न सके। और जब यह सब खतम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दो और घायलो के ढेर दीवार के दोनो ओर पडे हुए थे।

उस साल (१९१९) के अन्त मे मैं अमृतसर से देहली रात की गाडी से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे मे मै चढा उसकी तमाम जगहे भरी हुई थी, सिर्फ ऊपर एक 'बर्थ' खाली थी। सब मुसाफिर सो रहे थे। मैंने उस खाली बर्थ को ले लिया। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफिर फौजी अफसर थे। वे आपस मे ज़ोर-ज़ोर से बाते कर रहे थे, जो मेरे कानो तक आही पहुँचती थी। उनमे से एक बडी तेज़ी के साथ, मगर विजय के घमड मे, बोल रहा था और फौरन ही मैं समझ गया कि यह वही जालियाँवाला-बाग के 'बहादुर' डायर सा० है। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बागी शहर को खाक मे मिला दूं। मगर कहा, कि फिर मुझे रहम आ गया और मै रुक गया। हण्टर-कमिटी मे अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी सग-दिली को देखकर मेरे दिल को बडा धक्का लगा—वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोवाला पायजामा और ड्रेसिग-गाउन पहने हुए था।

पजाब-जाँच के जमाने मे मुझे गाधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौका मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हे पसद नहीं करती थी। मगर करीब-करीब हमेशा ही अपनी दलीलो से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हे मजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओ से मालूम हुआ कि उनकी सलाह मे दूर-देशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अतर्दृष्टि मे मेरी श्रद्धा बढती गई।

पजाब की दुर्घटनाओ और उनकी जाँच के कार्य का मेरे पिताजी पर ज़बरदस्त

असर हुआ। उनकी तमाम कानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था जो एक साल बाद आने वाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन दिनो इलाहाबाद से नरम दल का अखबार-'लीडर' निकल रहा था, उससे उनको सतोष नही था और उन्होने १९१९ मे 'इण्डिपेन्डेन्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यो तो इस अखबार को बडी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमे एक बात की बडी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नही था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगो पर—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोग—इस कमी की जिम्मेदारी आती है। मै खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी तजुरबा न था। और उसके रगडे-झगडो की चिन्ता से मै दिन-रात परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनो को पजाब जाना और ठहरना पडा था। हमारी लम्बी गैरहाजिरी मे पत्र की हालत बहुत गिर गई और उसकी माली हालत भी बहुत बिगड गई। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालाकि १९२०–२१ मे उसकी हालत बीच-बीच मे कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्यो ही हम जेल गये उसकी हालत अबतर होने लगी। आखिर १९२३ के शुरू मे उसकी जिन्दगी खतम हो गई। अखबार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद मैने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की जिम्मेदारी नही ली। हा, जेल मे तथा बाहर और-और कामो मे लगे रहने के कारण ही मै ऐसा न कर सकता था।

१९१९ के बडे दिनो मे पिताजी अमृतसर-काग्रेस के सभापति हुए। उन्होने माडरेट नेताओ के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन मे शामिल हो। चूकि फौजी-कानून की वजह से एक नई हालत पैदा होगई थी, उन्होने लिखा—'पजाब का जख्मी और पीडित दिल आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेगे?' मगर उन्होने उसका वैसा जवाब नही दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल न हुए। उनकी आखे उन नये सुधारो की ओर लगी हुई थी जो माण्टेगु-चेम्सफोर्ड सिफारिशो के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इन्कार कर देने से पिताजी के दिल को बडा सदमा पहुचा और उससे उनके और माडरेटो के दिल की खाई और चौडी हो गई।

अमृतसर-काग्रेस पहली गाधी-काग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होने उसकी कार्रवाई मे प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमे कुछ शक नही कि प्रतिनिधियो मे और उससे भी ज्यादा बाहर की भीड मे ज्यादातर लोग

गुवा बनने के लिए गाधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज में 'महात्मा गाधी की जय' की आवाज बुलद हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही नजर-बन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-काग्रेस मे आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नई नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मदअली खिलाफत-डेपुटेशन मे योरप चले गये। इधर हिन्दुस्तान मे खिलाफत-कमिटी दिन-पर-दिन गाधीजी के असर मे आने लगी और उनके अहिसात्मक असहयोग के विचारो से नाता जोडने की फिराक मे थी। दिल्ली मे जनवरी १९२० मे खिलाफत के नेताओ और मौलवियो और उलेमा की एक शुरू-शुरू की मीटिग मुझे याद है। खिलाफत डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गाधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके देहली पहुँचने से पहले, जो एड्रस वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हे रिवाज के मुताबिक भेजा जा चुका था। जब गाधीजी पहुँचे और उन्होने उसका मजमून पढा तो उसे बहुत नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमे बहुत-कुछ रद्दोबदल नही किया गया तो मैं डेपुटेशन मे शरीक न हो सकूँगा। उनका ऐतराज यह था कि इस मजमून मे गोल-मोल बाते कही गई है। इसमे शब्द तो बहुत है मगर यह साफ तौर पर नही कहा गया कि मुसलमानो की कम-से कम मागे क्या है। उन्होने कहा कि इससे न तो वाइसराय के साथ इन्साफ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ, न लोगो के साथ, न अपने साथ। उन्हे बढी-चढी मागे पेश न करनी चाहिएँ जिनपर वे अडना न चाहते हो। मगर छोटी-से-छोटी माग बिलकुल साफ शब्दो मे हो जिसमे किसी प्रकार शक-शुभा न हो और फिर मरने तक उसपर डँटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राज-मार्ग है।

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलको मे एक नई चीज थी। हम लोग बढी-चढी और गोल-मोल बाते और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग मे हमेशा सौदा करने की तजवीजे चला करती थी। आखिर गाधीजी की बात कायम रही और उन्होने वाइसराय के प्राइवेट-सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमे बताया कि पिछले मजमून मे क्या खामिया है और वह किस तरह गोल-मोल है और कुछ नया मजमून भी अपनी तरफ से भेजा जो उसमे जोडा जानेवाला था। इसमे उन्होने कम-से-कम माग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होने नये मजमून का जोडा जाना मजूर नही किया और कहा, कि मेरी राय मे पहला मजमून ही बिलकुल ठीक है। मगर गाधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-

पत्री से उनकी और खिलाफत कमिटी की स्थिति साफ हो जाती है और वह [illegible] के साथ चले गये।

यह जाहिर था कि सरकार खिलाफत-कमिटी की मांगे मंजूर नही कर[illegible] और लडाई छिडे बिना न रहेगी। अब मौलवियो और उलेमाओ मे देर-देर तक च[illegible] होती रहती। अहिसात्मक असहयोग पर और खासकर अहिसा पर चर्चा होती रहती। गाधीजी ने उनसे कह दिया कि मै अगुवा बनने के लिए तैयार हूं, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिसा को उसके पूरे मानी मे अपना ले। इसके बारे मे कोई कमजोरी लाग-लपट और छिपावट मन मे न होनी चाहिए। मौलवियो के लिए इस चीज को मान लेना आसान न था। लेकिन वे रज़ामन्द हो गये। हाँ, उन्होने यह अलबत्ता साफ कर दिया कि वे इसे धर्म के तौर पर नही बल्कि नीति के तौर पर मानेंगे, क्योकि हमारे मजहब मे नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नही है।

१९२० मे राजनैतिक और खिलाफत-आन्दोलन दोनो एक ही दिशा मे और एकसाथ चले। और कांग्रेस के द्वारा गाधीजी के अहिसात्मक असहयोग के मंजूर कर लिये जाने पर आखिर को दोनो एकसाथ मिल गये। पहले खिलाफत कमिटी ने उस कार्य-क्रम को अपनाया और १ अगस्त लडाई जारी करने का दिन मुकर्रर हुआ।

उस साल के शुरू मे मुसलमानो की एक मीटिंग (मै समझता हूँ कि मुस्लिम लीग की कौसिल होगी) इलाहाबाद मे सैयद रजाअली के मकान मे इस कार्य-क्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो योरप थे मगर मौलाना शौकतअली उसमे मौजूद थे। मुझे उस सभा की याद है, क्योकि मै उससे बहुत नाउम्मीद हुआ था। हां, शौकतअली अलबत्ता उत्साह मे थे, बाकी सब लोग दुखी और परेशान थे। उनमे यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामजूर करदे, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी खतरे मे पडने का न था। मैने दिल मे कहा—क्या यही लोग एक क्रातिकारी आन्दोलन के अगुआ होगे और ब्रिटिश सल्तनत को चुनौती देगे? गाधीजी ने एक भाषण दिया जिसे सुनकर वे, ऐसा मालूम होता था कि, पहले से भी ज्यादा घबरा गये। उन्होने, जैसे कोई डिक्टेटर हो, बहुत अच्छा भाषण दिया। उसमे नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह कटा-छँटा साफ और सख्ती लिये हुए था। उसकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमे कठोर निश्चय और अजहद सरगर्मी भरी हुई थी, उनकी आंखो मे मृदुता और शाति थी, मगर उनमे से जबरदस्त कार्य-शक्ति और दृढ-निश्चय की झलक मिल रही थी। उन्होने कहा कि यह मुकाबिला बड़ा जबरदस्त होगा और सामना भी बड़े जबरदस्त से है। अगर आप लड़ना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और कड़ाई

के साथ अहिसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए। जब लडाई का ऐलान कर दिया जाता है तो फौजी कानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिसात्मक युद्ध मे भी हमे अपनी तरफ से डिक्टेटर बनाने होगे और फौजी कानून जारी करने होगे, यदि हम चाहते हो कि हमारी फतह हो। आपको यह हक है कि आप मुझे ठोकर मार कर निकाल दे, मेरा सिर उतार ले, और जब कभी और जैसी चाहे सजा दे दे। लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुआ मानते है तबतक आपको मेरी शर्तो का पाबन्द जरूर रहना होगा, आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फौजी कानून के निजाम मे रहना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके सद्भाव, आपकी मजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्यो ही आप मुझसे उकता जायँ, त्यो ही आप मुझे उठाकर फेक दे, पैरो तले रौद दे और मैं चूँ तक न करूँगा।

इस आशय की कुछ बाते उन्होने कही और यह फौजी मिसाल और उनकी जबरदस्त सरगर्मी देखकर वहाँ बहुत से श्रोताओ के बदन मे चीटियाँ रेगने लगी। मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अधकचरे लोगो मे जोश भरा करते थे। और जब राये लेने का समय आया तो उनमे से बहुतो ने चुपचाप, मगर झेपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लडाई शुरू करने के, हक मे हाथ ऊचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे तो मैने गाधीजी से पूछा, कि क्या इसी तरीके से आप एक महान् युद्धको शुरू करेगे? मैने तो यहाँ जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आँखो से आग की चिनगारी निकलने की आशा रक्खी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहाँ पालतू, डरपोक और अधेड लोगो का जमघट दिखाई पडा। और फिर भी इन लोगो ने--आम राय का इतना असर था कि--लडाई के हक मे राय दे दी। निश्चय ही मुस्लिम लीग के इन मेम्बरो मे से बहुत कम ने आगे लडाई मे योग दिया था। बहुतो को तो सरकारी कामो मे पनाह मिल गई थी। मुस्लिम लीग उस समय या बाद भी मुसलमानो के किसी भी बडे तबके की प्रतिनिधि नही रह गई थी। हाँ, १९२० की खिलाफत-कमिटी अलबत्ता एक ज़ोरदार और उससे कही ज्यादा प्रातिनिधिक सस्था थी, और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लडाई के लिए कमर कस ली।

१ अगस्त गाधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—हालाकि अभी काग्रेस ने न तो इसको मजूर ही किया था, और न इसपर विचार ही किया था। उसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई मे देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गाधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे। मै उनके साथ था, और हम सब उस ज़बरदस्त जलूस मे शरीक हुए थे जिसमे सारी बबई के लाखो आदमी अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धाञ्जलि देने के लिए दौड़ पडे थे।

८

मेरा निर्वासन

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे वर्ग यानी मध्यम वर्ग की राजनीति थी। हाँ, उस समय, और बहुत हद तक, अब भी जिस राजनीति का शोर है, वह मध्यम-वर्ग के लोगों की राजनीति थी। क्या नरम और क्या गरम दोनों विचार के लोग मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी बेहबूदी चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आम तौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फले-फूले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिससे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े जमींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम वर्ग के ही थे, परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानों के मज़दूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गई थी, कुछ-कुछ जगहों में ही, मुकामी तौर पर संगठित हो पाये थे, और उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। किसान अपढ़, अज्ञान, मुफ़लिस, गंवार, दुखी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, जमींदार, साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, पुलिस, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उन पर सवारी गांठते और उनको चूसते थे।

किसी अखबार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों खयाल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मजदूर है, या उनकी कोई वकत है। अंग्रेजी के अखबार बड़े अफसरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेजों के सामाजिक जीवन के, यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गान और नाटकों की, लम्बी-लम्बी खबरें छपा करती। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिबिन्दु से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिल्कुल नहीं की जाती थी, यहाँ तक कि कांग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दे दिया करते थे। कोई खबर तभी किसी काम की समझी जाती जब कोई हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली, कांग्रेस को या उसके दावों को बुरा-भला कह बैठता या नुक्ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा ज़िक्र आ जाता, और इसको तो तभी महत्त्व दिया जाता जब वहां कोई दंगा-फसाद हो जाता।

[illegible] भी [illegible] अखबारों की नकल करने की कोशिश करते।

लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कही ज्यादा महत्व देते थे। यो तो वे हिन्दुस्तानियो को छोटी-वडी नौकरियाँ दिलवाने, उनकी तरक्की और तवदीली मे, और जब किसी जानेवाले अफसर की विदाई मे कोई पार्टी दी जाती थी, जिसमे लोगो मे वडा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोवस्त होता तो करीव-करीव हमेशा ही लगान वगैरा वढ जाता था, जिससे पुकार मच जाती, क्योकि उसका असर जमीदारो की जेव पर भी पडता। बेचारे किसान जो जमीन जोतते थे, उनकी तो कोई वात ही नही पूछता था। ये अखबार जमीदार और कल-कारखानेवालो के होते थे। यह हालत थी उन अखवारो की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यो, खुद काग्रेस का भी शुरू के दिनो मे एक यह मतालवा था कि जहाँ-जहाँ अभी वदोवस्त नही हो पाया है वहाँ स्थायी वदोवस्त कर दिया जाय कि जिससे जमीदारो के हकूक की रक्षा हो सके, और उसमे किसानो का कही जिक्र तक न रहता था।

पिछले वीस वर्षो मे राष्ट्रीय आन्दोलन की वढती के कारण हालत वहुत वदल गई है, और अब अग्रेजो के अखवारो को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नो के लिए जगह देनी पडती है। क्योकि ऐसा न करे तो हिन्दुस्तानी पाठको के टूट जाने का अदेशा रहता है। परन्तु यह वात वे अपने खास ढग से ही करते है। हिन्दुस्तानी अखवारो की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है, वे किसानो और मजदूरो की भलाई की भी वाते किया करते है, क्योकि एक तो आज-कल यह फैशन होगया है और दूसरे उनके पाठको मे कल-कारखानो और गाँव-सम्वन्धी वातो के जानने की तरफ दिलचस्पी वढ रही है। परन्तु दरअसल तो अव भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी-पूजीपतियो और जमीदारी वर्ग के हितो का ही ध्यान रखते है, जो कि उनके मालिक होते है। कितने ही हिदुस्तानी राजा-महाराजा भी अखवारो मे अपना रुपया लगाने लगे है और वे हर तरह कोशिश करते है कि उन्हे अपने रुपयो का मुआवजा मिल जाय। फिर भी इनमे से वहुत से अखवार 'काग्रेसी' कहलाते है, हालाँ कि वे जिनके तावे है उनमे से वहुतेरे काग्रेस के मेम्वर भी न होगे। किन्तु काग्रेस शब्द लोगो को वहुत प्यारा हो गया है और कितने ही लोग और सस्थाये उसे अपने फायदे के लिए इस्तैमाल करते है। जो अखवार ज़रा आगे वढे विचारो का प्रतिपादन करते है उन्हे या तो वडे वडे जुर्मानो का, यहाँ तक कि प्रेस एक्ट के जरिये दवा दिये जाने या सेसर किये जाने का भी, ख़ौफ वना रहता है।

१९२० मे मुझे इस वात का विलकुल पता न था कि कारखानो मे या खेतो मे काम करनेवाले मजदूरो की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण

बिलकुल मध्यमवर्ग के जैसा था। फिर भी मै इतना जरूर जानता था कि उनमे गरीबी बहुत है और उनके दुःख भयकर है और मै सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आजाद हो जाय तो उसका पहला लक्ष्य यह हो कि इस गरीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढी तो राजनैतिक आजादी ही दिखाई दी, जिसमे मध्यमवर्ग की प्रधानता हुए बिना नही रह सकती। गाधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेडा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानो के प्रश्न पर मै ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० मे राजनैतिक बातो मे और असहयोग के आगमन मे लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्ही दिनो एक नई बात मे मेरी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जिसे कि आगे चलकर एक महत्त्व का काम करना था। मै अपनी खुद की प्राय कोई इच्छा न रहते हुए, किसानो के सम्पर्क मे फेक दिया गया, और यह भी एक अजीब तरीके से हुआ।

मेरी मा और कमला (मेरी पत्नी) दोनो की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू मे मै उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक्त एक बडे राज के मामले मे मशगूल थे, जिसमे कि दूसरी ओर के वकील देशबन्धु दास थे। हम सेवाय होटल मे ठहरे थे। उन दिनो अफगान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियो के दर्म्यान मसूरी मे सुलह की बात हो रही थी (यह १९१९ मे हुए छोटे अफगान युद्ध के बाद की बात है, जब कि अमानुल्ला तख्त पर बैठा था) और अफगान प्रतिनिधि सेवाय होटल मे ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमे कोई खास दिलचस्पी नही थी और इस महीने भर मे मैने उस प्रतिनिधि-मडल के एक भी आदमी को नही देखा और अगर देखा भी हो तो मै किसीको पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूँ, कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट वहा आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमे मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मै अफगान-प्रतिनिधि मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे एक बडी अजीब बात मालूम हुई; क्योकि इस महीने भर मे मैने उन्हे कभी देखा तक नही और न मुझे उसका मौका ही मिल सकता था। सुपरिण्टेण्डेण्ट इस बात को जानता था, क्योकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलो पर बारीकी से निगाह रखता था और वहा दरअसल खुफिया लोगो का एक खासा जमघट बना रहता था। लेकिन ऐसा वादा करना मेरे मिजाज के खिलाफ था और मैने ऐसा करना नही किया। इसपर मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से, जो कि

देहरादून का सुपरिन्टेन्डेट था, मिलने के लिए कहा और उससे मै मिला। चूंकि मै बराबर कहता रहा कि मै ऐसा वादा नही कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमे कहा गया कि मै २४ घटे के अन्दर देहरादून जिले से बाहर चला जाऊँ। इसके मानी यही थे कि मै कुछ घटो मे ही मसूरी छोड दूं। मुझे यह अच्छा तो नही लगा कि अपनी बीमार मा और पत्नी दोनो को वहाँ छोडकर जाऊँ, लेकिन उस वक्त मुझे उस हुक्म की खिलाफवर्जी करना मुनासिब मालूम नही हुआ। क्योकि उस समय सविनय भग तो था नही, इसलिए मै मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी मुलाकात थी। उन्होने दोस्ताना तरीके पर सर हारकोर्ट को पत्र लिखा, कि मुझे यकीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा; यह शिमला के किसी मनचले आदमी की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया, कि हुक्म मे कोई ऐसी खराब बात नही है जिसके मानने से जवाहरलाल की शान मे कोई फर्क आ जाता। इसके जवाब मे पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोडने का तो कोई इरादा नही है, पर अगर उसकी मा या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए जरूरी हुआ तो वह जरूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी मा की हालत ज्यादा खराब हो गई और पिताजी व मै दोनो तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमे उस हुक्म की मन्सूखी का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख्स मैने होटल के आगन मे देखा वह अफगान था और मेरी छोटी बच्ची को गोद मे लिये हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह वहाँ का एक मिनिस्टर और अफगान प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफगानो ने अखबारो मे उसके समाचार पढे और उनकी दिलचस्पी यहाँतक बढी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज़ फूल और फलो की एक डलिया मेरी मा को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मै प्रतिनिधि-मडल के एक-दो सदस्य से मिले भी थे, और उन्होने हमे अफ़गानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमत्रण दिया था। मगर अफसोस है कि हम उससे कुछ फायदा न उठा पाये, और पता नही वहाँकी नई हुकूमत मे वह निमत्रण अब कायम रहा है या नही।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पडा और इसी अर्से मे मै किसान-आन्दोलन मे जा फँसा और ज्यो-ज्यो दिन जाते गये त्यो-त्यो मै उसमे अधिकाधिक ही फँसता गया, जिसने मेरे विचारो और दृष्टिकोण

पर काफी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन मे यह विचार उठा है कि अगर मै न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद मे ठहरा होता, या उन्ही दिनो कोई दूसरा काम होता, तो क्या हुआ होता? बहुत मुमकिन है कि मै किसानो की ओर किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खीचा गया होता; परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीका और इसलिए उसका असर भी कुछ ओर ही होता।

जून १९२० के शुरू मे, जहाँतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान परतावगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये— इस इरादे से कि वे अपने दु खो और मुसीबतो की तरफ वहाँ के खास-खास राजनैतिक पुरुषो का ध्यान आकर्षित करे। रामचद्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो न तो वहाँ के रहनेवाले ही थे और न खुद किसान ही। मैने सुना कि किसानो का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मै कुछ मित्रो के साथ उनसे मिलने गया। उन्होने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार जोर जुल्म से वसूलयाबी करते है, कैसा उनका अमानुष व्यवहार है, और कैसी उनकी हालत हो गई है जिसको कि अब बर्दाश्त नही कर सकते। उन्होने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चले और उनकी हालत की जाँच करे। उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर ज़रूर बहुत बिगडेगे और उसका बदला लिये बिना न रहेगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी जान बचाने के लिए हम उनके साथ रहे। वे हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये। आखिर को मैने उनसे वादा किया कि मै एक-दो रोज बाद ज़रूर आऊँगा।

मै कुछ साथियो को लेकर वहा पहुँचा। कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाव मे रहे। वे रेलवे से और पक्की सडक से बहुत दूर थे। उस दौरे मे मैने कई नई बाते देखी। हमने देखा कि सारे देहाती इलाके में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमे अजीब जोश उमडा पडता है। ज़रा ज़बानी कहला दिया और बडी-बडी सभाओ के लिए लोग इकट्ठे हो गये। एक गाँव से दूसरे गाव और दूसरे से तीसरे गाव इस तरह सब गावो मे सदेशा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव खाली हो जाते और खेतो मे दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते। और इससे भी ज्यादा तेजी से 'सीताराम, सीता रा आ आ म' की धुन की आवाज़ आकाश में [illegible] उठती और चारो तरफ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गाँव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पडती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौडते चले आते। मर्द-औरत [illegible]टूटे चिथडे पहने थे, मगर उनके चेहरो पर जोश और उत्साह था और आं[illegible] [illegible] हुई दिखाई देती थी, मानो कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू [illegible] मे उनकी तमाम मुसीबतो का खात्मा हो जायगा।

उन्होंने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमे आशा तथा प्रेमभरी आँखो से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हो, या उनके रहनुमा हो, जो उन्हे उनके मंजिले-मक़सूद तक पहुँचा देगे। उनकी मुसीबतो को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की जबरदस्त गरीबी और जिल्लत पर, और शर्म मेरी अपनी आराम की जिंदगी पर, और शहरो की न-कुछ राजनीति पर, जिसमे भारत के इन अधनंगे करोडो पुत्र-पुत्रियो के लिए कोई स्थान न था। नंगे-भूखे, दलित-पीडित भारतवर्ष का एक नया चित्र मेरी आँखो के सामने खडा होता हुआ दिखाई दिया। और हम लोग जो दूर शहर से उन्हे देखने कभी-कभी आ जाते है, उनके प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी मे पड गया और उसने मुझमे यह नई जिम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुःख की सैकडो कहानियाँ सुनी। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिससे वे कुचले जा रहे है। किस तरह खिलाफ-कानून लाग लगाये जाते है और जोरो-जुल्म से वसूली की जाती है, जमीन और कच्चे झोपडो से किस तरह उनको बेदखल किया जाता है, कैसे उनपर मार पडती है, कैसे चारो तरफ जमींदारो के एजेण्ट, साहूकारो और पुलिस के गिद्धो से घिरे रहते है, किस तरह कडी धूप मे मशक्कत करते है और अन्त मे यह देखते है कि उनकी सारी पैदावार उनकी नही है—दूसरे ही उठा ले जाते है और उसका बदला उन्हे मिलता है ठोकरो, गालियो और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आये थे उनमे से बहुतो के ज़मीन नही थी और जिन्हे ज़मीदारो ने बे-दखल कर दिया था, उन्हे सहारे के लिए न अपनी जमीन थी न अपना झोपडा। यो जमीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तडप से फायदा उठा कर जमींदारो ने, जो कि कानून के मुताबिक एक हद से ज्यादा लगान नही बढा सकते थे, कानून को ताक पर रखकर भारी-भारी नज-राना वगैरा बढा दिये थे। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नजराना वगैरा अदा करते और फिर जब कर्ज और लगान तक न दे पाते तो बेदखल कर दिये जाते, और उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीका पुराना चला आ रहा है और किसानो की दिन-ब-दिन बढने-वाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिसमे मामला इस हद तक बढ गया और देहात के लोग इस तरह उमड पडे? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे

अवध मे एकसी थी । ओर यह किसानो का १९२०–२१ का ववण्डर तो सिर्फ परताबगढ, रायबरेली और फैजाबाद जिले मे ही फैला हुआ था । इसका आंशिक कारण था, रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना, जो कि बाबा रामचन्द्र कहलाता था ।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था ओर कुली-प्रथा के अन्दर मजदूर बनकर फिजी चला गया था । वहा से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के जिलो की तरफ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानो के कष्टो ओर दु खो को सुनता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा । वह पढा-लिखा थोडा था और कुछ हद तक उसने किसानो से अपना ज़ाती फायदा भी कर लिया । मगर हॉ, उसने भारी सगठन-शक्ति का परिचय दिया । उसने किसानो को आपस मे समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफो पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस मे एकता का भाव पैदा किया । कभी-कभी बडी भारी-भारी सभाये होती और उससे उन्हे एक बल का अनुभव होता । यो 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे करीब-करीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और जरूरत के वक्त लोगो को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गॉवो को आपस मे बॉधने का चिन्ह बना दिया । फैजाबाद, परतावगढ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओ से भरे पडे है । इन जिलो का समावेश पुराने अयोध्या-राज्य मे होता था । तुलसीदास की रामायण वहा लोगो के घर-घर गाई जाती है । कितने ही लोगो को इसके हजारो दोहे, चौपाई बर-जवान थे । उस रामायण का गान और अच्छे-अच्छे प्रसगो पर मौजूं दोहे-चौपाइयो की मिसाल देना बाबा रामचन्द्र का एक खास तर्ज था । कुछ हद तक किसानो का सगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊट-पटाग वादे भी किये, जिनसे उन्हे बडी-बडी आशाये बॅधी । उसके पास किसी-किस्म का कोई कार्य-क्रम नही था, और जब उनका जोश आखरी सीमा तक पहुच गया तो उसने उसकी जिम्मेदारी को दूसरो पर डालने की कोशिश की । यही कारण है जो वह कितने ही किसानो को इलाहाबाद लाया कि वहा के लोग उस आन्दोलन मे दिलचस्पी ले ।

एक साल तक और रामचन्द्र ने आन्दोलन मे प्रधान रूप मे भाग लिया और दो-तीन बार जेल भी गया । मगर बाद मे जाकर वह बडा गैर-जिम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध खास तौर पर अच्छा क्षेत्र था । वह ताल्लुकेदारो का, जो [illegible] 'अवध के राजा' कहते है, गढ़ था और अब भी है । जमींदारी-प्रथा का सबसे [illegible] यहा मिलता है । जमींदारो के लगाये हुए

के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-जमीन मजदूरो की तादाद बढ रही थी। वहाँ यो सिर्फ एक ही किस्म के किसान थे। और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागो मे बॉट सकते है। एक जमीदारी इलाका जिसमे बडे-बडे जमीदार है, और दूसरा वह जहाँ किसान जमीन के मालिक है। मगर कही-कही दोनो एक-दूसरे से मिल जाते है। बगाल बिहार और सयुक्त-प्रात जमीदारी इलाका है। किसानी इलाके के लोगो की हालत इनसे अच्छी है, हालाकि वहाँ भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है। पजाब और गुजरात के (जहाँ जमीन के मालिक किसान है) किसानो की हालत जमीदारी इलाके से कही अच्छी है। जमीदारी इलाके के ज्यादातर हिस्से मे कई किस्म के काश्तकार थे, दखीलकार, गैरदखीलकार और शिकमी वगैरा। इन जुदा-जुदा काश्तकारो के स्वार्थ अक्सर आपस मे टकराते और इस कारण मिलकर एकसाथ कोई ज़ोरदार काम नही किया जा सकता। लेकिन अवध मे १९२० मे न तो दखीलकार काश्तकार थे और न हीनहयात काश्तकार ही थे। वहा सिर्फ आरजी काश्तकार थे, जो बे-दखल होते रहते थे और जिनकी जमीने ज्यादा नजराना या लगान देने पर दूसरो को दे दी जाया करती थी। इस तरह चूकि वहाँ खास तौरपर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहाँ एकसाथ काम करने के लिए सगठन करना और भी आसान था।

अवध मे आरज़ी पट्टे की भी कोई गारटी देने का रिवाज नही था। जमीदार शायद ही कही लगान की रसीद देते थे। और कोई भी जमीदार कह सकता था कि लगान अदा नही किया गया और काश्तकार को बे-दखल कर सकता था। उस बेचारे के लिए यह साबित करना गैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया। लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागे लगी हुई थी। मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके मे तरह-तरह की कोई पचास ऐसी लागे लगी हुई है। मुमकिन है यह बात बढाकर कही गई हो। मगर ताल्लुकेदार जिस तरह खास-खास मौको पर—जैसे अपने कुटुम्ब मे किसीकी शादी हो तो, लडके विलायत पढने गये हो तो, गवर्नर या दूसरे बडे अफसर को पार्टी दी गई हो तो, एक मोटर या हाथी खरीदा गया हो तो—उनके खर्चे का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी। यहाँ तक कि इन लोगो के मोटरोना (मोटर-टैक्स), हथियोना (हाथी के खरीदने का खर्च) वगैरा नाम पड गये थे।

ऐसी हालत मे कोई ताज्जुब नही जो अवध मे इतना बडा किसान-आन्दोलन उठ खडा हुआ हो, बल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालो की मदद के या राजनैतिक पुरुषो अथवा ऐसे ही दूसरे लोगो की **प्रेरणा**

के कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना बढ गया। यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिल्कुल अलहदा था। देश मे जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनो विशाल और जोरदार आन्दोलनो का मूल-कारण एक-सा था। हा, १९१९ मे गाधीजी ने जो बडी-बडी हडताले कराई थी, उनमे किसानो ने भी हिस्सा लिया था, और उसके बाद से उनका नाम देहातियो मे जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बडा आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि हम शहरवालो को इतने बडे किसान-आन्दोलन का पता तक नही था। किसी अखबार मे उसपर एक सतर भी नही आती थी। उन्हे देहात की बातो मे कोई दिल-चस्पी नही थी। मैने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगो से किस तरह दूर पडे हुए है, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया मे किस तरह रहते और काम तथा आन्दोलन करते है।

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गांवो मे घूमता रहा। और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापस गया। हम गाँव-गाँव घूमे—किसानो के साथ खाते, उन्हीके साथ उनके कच्चे झोपडो मे रहते, घन्टो उनसे बात-चीत करते और कभी-कभी छोटी-बडी सभाओ मे व्याख्यान भी देते। शुरू मे हम एक छोटी मोटर मे गये थे। किसानो मे इतना उत्साह था कि सैंकडो ने रात-रात भर काम करके खेतो के रास्ते कच्ची सडक तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवो मे जा सके। अकसर मोटर अड जाती और बीसो आदमी खुशी-खुशी दौडकर उसे उठाते। आखिर को हमे मोटर छोड देनी पड़ी और ज्यादातर सफर पैदल ही करना पडा। जहा कही हम गये, हमारे साथ पुलिस के लोग, खुफिया और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मैं समझता हूँ, खेतो मे हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीवत आ गई होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानो से विलकुल उकता उठे थे। डिपटी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिजाज नौजवान और पम्प-शू पहने हुए थे। कभी-कभी वह हमसे कहते कि ज़रा धीरे चले। मै समझता हूँ आखिर हमारे साथ चलना उन्हे दुश्वार होगया और वह रास्ते मे ही कही रह गये।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज्यादा गर्मी पडा करती है। वारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेजी वदन को झुलसाये देती थी और आखो को अधा वना देती थी। मुझे धूप मे चलने की विलकुल आदत न थी और इग्लैंड से लौटने के बाद हर साल गर्मियो मे मै पहाड पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मैं दिन भर खुली धूप मे घूमता था और सिर पर धूप से वचने को हैट भी न था। सिर्फ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी वातो मे मैं इतना मशगूल था कि धूप का कुछ खयाल भी नहीं रहा, और इलाहाबाद लौटने पर जव कही मैंने देखा तो मेरे चेहरे का रग कितना पक्का हो गया था। और मुझे याद पडा कि सफर मे क्या-क्या वीती। लेकिन इस वात पर मै अपने-आपसे खुश हुआ, क्योकि मुझे मालूम हो गया कि वडे-वडे मजबूत आदमियो के वरावर मैं धूप को वर्दाश्त कर सका और जो मैं उससे डरता था उसकी जरूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कडी-से-कडी गर्मी और कडे-से-कडे जाडे को विला ज्यादा तकलीफ के वर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम मे तथा जेल-जीवन विताने मे वडी मदद मिली। इसकी वजह

यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मजबूत और काम करने के लायक था और मै हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक मैने पिताजी से सीखा था, जो खोद बहुत कसरती थे और करीब-करीब अपने आखिरी दिनो तक जिन्होने रोजाना कसरत जारी रक्खी थी। उनके सिर पर चादी-से सफेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रिया पड गई थी और वह विचार करते-करते बूढे और थके-से दिखाई देते थे। मगर उनका बाकी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का सा जान पडता था।

जून १९२० मे परतावगढ जाने के पहले भी मै गाँवो से अक्सर गुजरता था। वहाँ ठहरता था और किसानो से बात-चीत भी करता था। बडे-बडे मेलो के अवसर पर गगा-किनारे हज़ारो देहातियो को मैने देखा था और उनमे होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मै यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या है, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्व है। हममे से ज्यादातर लोगो की तरह मै भी उनके बारे मे कोई विचार न करता था। यह बात मुझे इस परतावगढ की यात्रा मे मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैने अपने दिमाग मे बना रक्खा है उसमे हमेशा के लिए इस नगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवत उस हवा मे एक किस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग उसका असर अपनेपर पडने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैने देखे और जो छाप मुझ-पर पडी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानो की बदौलत मेरी झेप निकल गई और मै सभाओ मे बोलना सीख गया। तबतक मै शायद ही किसी सभा मे बोला होऊं। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी मे बोलने की नौबत आती थी और उसके खयाल से मै दहशत खाया करता था। लेकिन मै किसान-सभाओ मे बोलने को कैसे टाल सकता था ? और इन सीधे-सादे गरीब लोगो के सामने बोलने मे झेपने की भी क्या बात थी ? मै वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एक-दिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग मे जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोडे हो चाहे हज़ारो की तादाद मे हो, मै हमेशा बात-चीत के या ज़ाती ढग से ही उनके सामने बोलता, और मैने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमे रह जाती हो लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान मे प्रवाह काफी रहता था। मै जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमे से बहुतेरे समझ नही पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नही पाते थे, क्योकि भीड तो भारी होती थी और मेरी आवाज दूर तक नही पहुच

पाती थी। लेकिन जब कि वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते है, तब इन सब बातो की ज्यादा परवा उन्हे नही रहती।

मै अपनी मा और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग मे किसान-ही-किसान भरे थे और मै फिर उनमे जाने के लिए उत्सुक था। ज्योही मै मसूरी से वापस लौटा, गावो मे घूमने चला गया, और मैने देखा कि किसान-आन्दोलन बढता जा रहा था। उन पीडित किसानो के अन्दर अपने-आपपर एक नया विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर ओर सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। जमीदारो के कारिन्दो और पुलिस का डर उनके दिल मे कम होता चला था। और यदि किसीका खेत बे-दखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नही बढता था। जमीदारो के नौकर जो उन्हे मारा-पीटा करते थे और कानून के खिलाफ उनसे बेगार ओर लाग लिया करते थे, वह कम हो गया था, और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहकीकात की कोशिश की जाती। इससे जमीदारो के कारिन्दो और पुलिस की ज्यादतियो की कुछ रोक हुई। ताल्लुकेदार घबराये और अपना बचाव करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-कानून मे सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुकेदार और बड़े जमीदार ज़मीन के मालिक कहलाते है। वे अपनेको "लोगो के स्वाभाविक नेता" कहने मे अपना फख्र समझते है। वे यो तो ब्रिटिश सरकार के लाडले और बिगड़ैल बेटे है, लेकिन सरकार ने उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी या करने की भूल की थी उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग मे बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने काश्तकारो के लिए कुछ भी नही करते थे जैसा कि दूसरे देशो के ज़मीदार अक्सर थोडा-बहुत किया करते है, और ज़मीन और लोगो को महज़ चूस कर अपना पेट भरने वाले रह गये थे। उनके पास सबसे बडा काम यह रह गया था कि वे मुकामी अफसरो की खुशामद-दरामद करते रहे—जिनकी कि मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन टहर नही सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थो और हकूक की रक्षा का लगातार मतालबा करते रहते थे।

ज़मीदार शब्द से जरा धोखा हो जाता है और किसी-किसीको यह खयाल हो सकता है कि तमाम ज़मीदार बडी-बडी जमीनो के मालिक है। जिन सूबो मे रैयतवारी तरीका है वहाँ ज़मीदार के मानी है खुद खेती करने वाला ज़मीन-मालिक। उन प्रान्तो मे भी जहाँ जमीदारी-प्रथा है, ज़मीदारो मे कम ज़मीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हज़ारो जमीन-मालिक, और वे हजारो लोग भी जो हद दर्जे की गरीबी मे दिन काटते

है और जो किसी तरह काश्तकारो से अच्छी हालत मे नही है, आ जाते है। सयुक्त-प्रा
मे, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के करीब वे लोग है जिनकी गिनती जमीदा
वर्ग मे की जाती है। गालिबन इनमे से ९० फीसदी से ऊपर की हालत गरीब-न
गरीब काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फीसदी की हाल
किसी कदर अच्छी है। बडे समझे जाने वाले जमीन-मालिक सारे सूबे मे पाँच हजार
ज्यादा नही है और इसके कोई १/१०, दरहकीकत बडे जमीदार और ताल्लुकेदार कहलाने
लायक है। बाज-बाज बडे काश्तकार की हालत तो छोटे गरीब जमीदारो से कही अच्छी
है। गरीब जमीन-मालिक और मध्यम दर्जे के जमीदार बुद्धि मे पिछडे हुए है। मग
है आम तौर पर बहुत अच्छे लोग—स्त्री व पुरुष दोनो। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्ष
का प्रबन्ध अच्छा हो तो वे बढिया नागरिक बन सकते हैं। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन
मे खासा हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुकेदारो और बडे जमीदारो ने नही—हाँ, कु
अच्छे अपवादो को छोड कर। और तो ओर पर उनमे कुलीन वर्ग की खूबिया भी न
पाई जाती। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनो मे वे गिर गये है। अ
तक तो उनका खात्मा ही हो जाना चाहिए था। अब वे तभी तक जीवित रह सके
कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर मै देहाती इलाको मे आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षे
बढता गया—यहाँ तक कि सारे युक्त-प्रान्त मे फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शु
हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गावो मे पहुँच चुका था। हर जिले
कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओ का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात मे जाता, अ
उसके साथ वे किसानो की शिकायते दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड देते थे।
स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमे सब-कुछ आ जाता था, फिर भी ये दोनो
आन्दोलन—असहयोग और किसान—बिल्कुल अलहदा-अलहदा थे, हालांकि हमारे
प्रान्त मे ये दोनो बहुत कुछ एक-दूसरे मे मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर
डालते थे। कांग्रेस के इस प्रचार का यह फल हुआ कि मुकदमेबाजी एकबारगी कम
हो गई और गावो मे पञ्चायते कायम होकर उनमे मुकदमे फैसल होने लगे। कांग्रेस
का असर शान्ति के हक मे खास तौर पर ज्यादा गिरा, क्योकि जहा भी कोई कांग्रेस-
कार्यकर्त्ता जाता वहाँ इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर खास तौर पर जोर देता।
हो सकता है कि लोगो ने न तो इसकी पूरी कद्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो;
लेकिन इसने किसानो को मार-काट पर उतर पडने से रोका जरूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभडते है तो मार-काट कर बैठते है और
उनका उभाड किसानो की और मालिको की आमी लडाई ही बन जाती है। और

उन दिनों अवध के हिस्से के किसानो के जोश का पारा बहुत ऊंचा चढा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पडने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने गजब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमे एक ताल्लुकेदार पीटा गया। ताल्लुकेदार अपने घर मे बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नही करता और वदचलन था।

एक और किस्म का हिसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करे हुई। मगर ये टक्करे तो होकर ही रहती, क्योकि सरकार सगठित किसानो की बढती हुई ताकत को वर्दाश्त नही कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान विना टिकट रेल मे सफर करने लगे—खास तौर पर तव जब कि उन्हे अपनी वडी-वडी सभाओ मे समय-समय पर जाना पडता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद ६० से ७० हजार तक हो जाती। उन्हे हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लमखुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुकावला करने लगे, जेसा कि पहले कभी न देखा न सुना गया था। वे रेलवे कर्मचारियो से कहते कि—'साहव, अव पुराना जमाना चला गया।' किसके भड़काने से वे विना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफर करते थे, मै नही जानता। हाँ, हमने उन्हे ऐसी कोई वात नही सुझाई थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे है। वाद को जाकर रेलवेवालो ने कडाई की तव यह सिलसिला वन्द हो गया।

१९२० की शरद-ऋतु में (जव मै कलकत्ते मे काग्रेस के विशेष अधिवेशन मे गया हुआ था) कुछ मामूली-सी वात पर कुछ किसान नेता गिरफ्तार कर लिये गये। खास परतावगढ मे उनका मुकदमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुकदमे के दिन किसानो की एक वडी भीड से अदालत का हाता भर गया और वहाँ से जेल तक के रास्ते भर एक लाइन वन गई, जहाँ कि नेता लोग रक्खे गये थे। मजिस्ट्रेट घवरा गया और उसने मुकदमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड वढती गई और उसने जेल को करीव-करीव घेर लिया। किसान लोग मुट्ठी-भर चने खाकर कुछ दिन वडे मजे से रह सकते है। आखिर को किसान नेता छोड दिये गये। शायद जेल मे उनका मुकदमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानो ने उसे अपनी एक वडी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज अपनी भीड के वल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेगे। मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा ही मौका जल्दी पेश आया, लेकिन उसका अन्त दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के आरम्भ की वात है। मै नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही
कि मुझे रायवरेली से तार मिला, कि जल्दी आओ, क्योकि वहाँ उपद्रव की आश
थी। दूसरे दिन मै गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किस
पकडे गये थे और वही जेल मे रक्खे गये थे। किसानो को परतावगढ की सफल
ओर उस समय जो नीति उन्होने अखत्यार की थी वह याद थी ही। चुन
किसानो की एक वडी भीड रायवरेली जा पहुँची। मगर इस वार सरकार उ
ऐसा नही करने देना चाहती थी और इसलिए उसने जायद पुलिस और फौज
इतज़ाम कर रक्खा था कि उन्हे आगे न बढने दे। कस्बे के ठीक वाहर एक छो
नदी के उस पार किसानो का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी त
से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की ख़
मिली और मै फौरन नदी की तरफ गया, जहाँ फौज किसानो का सामना करने
लिए रक्खी गई थी। रास्ते मे मुझे जिला-मजिस्ट्रेट का जल्दी मे लिखा एक पु
मिला, कि मै वापस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैने जवाव लिखा और पूछा,
किस कानून की किस दफा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है, अ
जव तक इसका जवाव नही मिलेगा तव तक मै अपना काम जारी रखना चाहता हूँ
जैसे ही मै नदी तक पहुँचा कि दूसरे किनारे पर से गोलियो की आवाज सुनाई दी
मुझे पुल पर ही फौजवालो ने रोक दिया। मै वहाँ इन्तजार कर ही रहा था कि एक
एक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानो ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किन
खेतो मे छिप रहे थे। तब मैने वहा उसी जगह कोई दो हजार किसानो की स
करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ कद
आगे ही एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयो पर गोलियो का वरसना और चा
ओर फौज-ही-फौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मग
फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानो का डर कुछ कम हो गया
तब जिला-मजिस्ट्रेट उस स्थान से लौटे जहा से गोलियाँ चलाई जा रही थी औ
उनके अनुरोध पर मै उनके साथ उनके घर गया। वहा उन्होने किसी-न-किस
बहाने कोई दो घण्टे तक मुझे रोक रक्खा—जाहिर है कि उनका इरादा मुझे किसान
से और शहर के अपने मित्रो से दूर रखने का था।

बाद को हमे पता चला कि गोली-काण्ड मे बहुतेरे आदमी मारे गये। किसान
ने तितर-बितर होने से या पीछे हटने से इन्कार कर दिया था, मगर यो वे बिलकु
शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यकीन है कि अगर मै, या हममे से कोई, जिन
पर वे भरोसा करते थे, वहा होते और उन्होने उनसे कहा होता तो वे ज़रूर

वहाँ से हट गये होते । जिन लोगो का वे विश्वास नही करते थे उनका हुक्म मानने से उन्होने इन्कार कर दिया । किसीने तो दर-असल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि हमारे आने तक कुछ ठहर जावे; किन्तु उन्होने नही सुना । जहाँ वह खुद नाकामयाव हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्यो कर सफल होने दे सकते थे ? विदेशी सरकारो का, जिनका कि दारोमदार अपने रौव पर होता है, यह तरीका नही हुआ करता ।

रायबरेली जिले मे उन्ही दिनो दो बार किसानो पर गोलियाँ चली, और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्ता या पञ्चायत के मेम्बर के लिए मानो डर का राज्य ही फैल गया ! सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था । उन दिनो काग्रेस की प्रेरणा से किसानो के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी । इसलिए चरखा मानो राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफत आ जाती । चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे । इस तरह सरकार ने सैकडो लोगो को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीको से रायबरेली और परतावगढ जिले के देहाती इलाको के किसान ओर काग्रेस दोनो आन्दोलनो को कुचलने की कोशिश की । ज्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्ता दोनो आन्दोलनो मे एकही थे ।

कुछ दिन वाद, १९२१ मे, फैजावाद ज़िले मे दूर-दूर तक दमन का मज़ा चखाया गया । वहाँ एक अनोखे ढग से झगडा खडा हुआ । कुछ देहात के किसानो ने जाकर एक ताल्लुकेदार का माल-असवाव लूट लिया । वाद को पता लगा कि उन लोगो को एक दूसरे जमीदार के नौकरो ने भडका दिया था, जिसका ताल्लुकेदार से कुछ झगडा था । उन गरीवो से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गाधी चाहते है कि वे लूट ले, और उन्होने 'महात्मा गाधी की जय' वोलते हुए इस आदेश का पालन किया ।

जव मैने यह सुना तो मै वहुत विगडा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन मे उसी स्थान पर जा पहुँचा, जो अकवरपुर (फैजावाद जिला) के पास ही था । मैने उसी दिन एक सभा वुलाई और कुछ ही घण्टो मे ५-६ हजार लोग कई गाँवो से, कोई १०-१० मील की दूरी से, वहाँ इकट्ठे हो गये । मैने उन्हे वुरी तरह आडे हाथो लिया, कि किस तरह उन्होने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुँचाया, और शर्मिन्दगी दिलाई और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है वे सवके सामने अपना गुनाह कवूल करे ।(उन दिनो मै गाधीजी के सत्याग्रह की स्पिरिट से, जैसा-कुछ मै उसे समझता था, भरा हुआ था ।) मैने उन लोगो से, जो लूट-मार मे शरीक थे, हाथ ऊचा उठाने के

लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसो पुलिस-अफसरो के सामने कोई
दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यकीनन उनपर आफत आना।

जब उनमे से बहुतेरे लोगो से मैंने खानगी मे बात-चीत की और उन्होंने
सीधे-सादे ढग से सुनाया कि किस तरह उन्हे गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी
हालत पर बडा दुःख हुआ और इस बात पर अफसोस होने लगा कि मैंने नाहक ही
इन सीधे-भोले लोगो को लबी-लबी सजाये पाने की हालत मे ला रक्खा। लेकिन जिन
लोगो को सजा भुगतनी पडी वे दो या तीन दर्जन नही थे। सरकार के लिए उतना
अच्छा मौका भला कही खोने जैसा था? उस जिले के किसान-आन्दोलन को कुचलने
के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फायदा उठाया गया। एक हजार से ऊपर
गिरफ्तारियाँ हुई और जिला-जेल ठसाठस भर गई। कोई एक साल तक मुकदमे
चलते रहे। कितने ही तो मुकदमे के दौरान मे जेल ही मे मर गये। दूसरे कितनो ही
को लम्बी-लम्बी सजाये दी गई और पिछले दिनो जब मैं जेल गया तो वहाँ उनमे से
कुछ से मुलाकात हुई थी। क्या लडके और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल मे
काट रहे थे।

भारतीय किसान मे टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज्यादा दिनो तक
मुकाबला करने की ताकत नही रहती। अकालो और बीमारियो के दौर मे लाखो मर
जाते है। ऐसी दशा मे यह आश्चर्य की बात है कि एक साल भर तक उन्होंने
सरकार और जमीदार दोनो के सम्मिलित दबाव का मुकाबला करने की ताकत का
परिचय दिया। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन
पर दृढतापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त मे उनकी हिम्मत उस समय के लिए
तो टूट गई। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ्तार से चलता रहा—हाँ, पहले जैसे
बडे-बडे प्रदर्शन नही होते थे, लेकिन अधिकाश गाँवो मे पुराने कार्यकर्ता बच रहे थे
जिनपर डर का कोई असर न हुआ था और जो छोटे रूप मे काम करते रहे। यहाँ यह
याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था काग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम
बनने के पहले। किन्तु उसमे भी किसानो ने, पिछले साल के दमन के बावजूद, बहुत
कुछ हाथ बटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गई थी और उसने किसानो-सम्बन्धी कानून
को पास करने की जल्दी की। उसके द्वारा किसानो की हालत सुधरने की आशा हुई
थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन काबू मे आचुका है तो उसको नरम बना दिया
गया। उसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया वह था अवध के किसानो को
हीन-हयात [illegible] दे देना। यह दिखाई तो दिया था उनके लिए

सद्भावना, लेकिन अन्त मे साबित यह हुआ कि उनकी हालत मे उससे कुछ भी सुधार नही हुआ ।

अवध मे किसानो की हलचले जब-तब होती रहती थी, लेकिन छोटे पेमाने पर। मगर, १९२९ मे जो मदी सारे ससार मे आई उससे चीजो के भाव गिर गये ओर इसलिए फिर एक सकट-काल आ खडा हुआ ।

१०

असहयोग

अवध के किसानो की उथल-पुथल का यहाँ कुछ ब्योरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खडा कर दिया, जिसकी तरफ कि राष्ट्रीय विचार वालो ने शायद ही कुछ तवज्जो की हो। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में किसानो की हलचले बार-बार होती रहती है, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण है। अवध के कुछ हिस्सो मे जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ मे हुआ वह उसी तरह का था—हालाकि वह अपने ढग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषो से, बल्कि शुरू से आखिर तक बाहरी और राजनैतिक लोगो का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक मुकामी मामला था, और इसलिए उसकी तरफ बहुत-कम ध्यान दिया गया था। यहाँ तक कि सयुक्त प्रान्त के अखबारो ने भी उसकी तरफ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखाई। उनके सम्पादको और उनके अधिकाश शहराती पाठको के लिए अध-नगे किसानो की जमात के उन कामो मे कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार की खूबी न थी।

पजाब और खिलाफत-सम्बन्धी अन्यायो की रोज चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायो को दूर करने की कोशिश की जाने वाली थी, लोगो की जबान पर एक ही विषय था। सब लोगो का ध्यान उसीमे लगा हुआ था। अलबत्ते शुरू मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बडे प्रश्न, यानी स्वराज, पर ज्यादा जोर नही दिया जाता था। गाधीजी गोल-मोल और बडे-बडे उद्देशो को पसन्द नही करते है—वह हमेशा किसी खास और निश्चित बात पर सारी ताकत लगाना ज्यादा पसन्द करते है। फिर भी स्वराज की बाते वायु-मण्डल मे और लोगो के दिमागो मे बहुत कुछ घूमती रहती थी, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे उनमें बार बार उनका जिक्र आया करता था।

१९२० के सितम्बर में कलकत्ता मे कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ—पजाब और खिलाफत के बारे में और असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे जो लम्बे अर्से तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही लौटे थे। उन्हें असहयोग की यह नई योजना नापसन्द

थी और उन्होने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति मे वह आम तौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चित-रूप से वैध और माडरेट थी। सदी के शुरू के उन दिनो परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छा ने—उन्हे लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरम-दलवालो का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अरसे तक विदेशो मे रहने से और भी मजबूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकाश हिन्दुस्तानी नेताओ की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्केवन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियो' मे गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाकातो (१९०९ के लगभग) का हाल लिखा है। दोनो के बारे मे उसने बहुत सख्त लिखा है, क्योंकि उसकी राय मे वे बहुत फूक-फूक कर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत से हिन्दुस्तानी नेताओ से कही ज्यादा उनका मुकाबला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पडी उससे तो हम यह समझ सकते है कि उस समय हमारी राजनीति की और हमारे नेताओ की नाड़ी कितनी धीमी चलती थी और उनका क्या असर एक सुयोग्य और अनुभवी विदेशी सज्जन पर पडा। लेकिन पिछले २० वर्षों मे उनकी नब्ज की चाल मे बडा फर्क पड गया है।

इस विरोध मे लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बडे-बडे और प्रभाव-शाली लोग भी थे। काग्रेस के करीब-करीब सभी पुराने महारथियो ने गाधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धु दास उस विरोध के अगुआ थे—इसलिए नही कि वह उसकी स्पिरिट को नापसन्द करते थे—क्योंकि वह उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि खासकर इसलिए कि नई कासिलो के बहिष्कार पर उन्हे ऐतराज था।

पुरानी पीढी के बडे-बडे नेताओ मे एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे जिन्होंने उस समय गाधीजी का साथ दिया उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उनके पुराने साथियो ने जो-जो ऐतराज किये थे उनमे से बहुतेरो को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वह भी एक अज्ञात दिशा मे एक अजीब नये तरीके से आगे बढने मे हिचकिचाते थे, जहाँ जाकर किसीके लिए अपने पुराने तौर-तरीके कायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनके दिल मे एक अनिवार्य कोशिश थी कोई कारगर उपाय करने की ओर—और असहयोग के प्रस्ताव मे ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्त वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी कि

पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने में उन्हें बहुत वक्त लगा था। बड़ी द[illegible] तक उन्होंने गांधीजी और देशबन्धु से बातें की थीं। उन्हीं दिनों संयोग से वह [illegible] दास बाबू दोनों बहुत-कुछ एकसाथ पड़ गये थे, क्योंकि एक बड़े मुफस्सिल मुकदम[illegible] वे दोनों एक-दूसरे के खिलाफ पैरवी के लिए खड़े हुए थे। वे दोनों इस मसले [illegible] बहुत-कुछ एकसा नुक्ते-निगाह से देखते थे और उसके अन्त के बारे में भी उन[illegible] बहुत कम मतभेद था। फिर भी, वह थोड़ा-सा ही मतभेद काफी था उनसे वि[illegible] कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव का परस्पर-विरोधी पक्ष लिवाने के लिए। तीन महीने बाद [illegible] फिर नागपुर-कांग्रेस में मिले, और तबसे आगे चलकर दोनों एकसाथ चलते [illegible] और एक-दूसरे के अधिक नजदीक आते चले गये।

उन दिनों, कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के पहले, मैं उनको बहुत-कम सम[illegible] पाया था। परन्तु जब कभी मैं उनसे मिलता मैंने देखा कि वह बराबर इस समस्[illegible] का मुकाबला करने में लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा उस[illegible] जाती पहलू भी था। असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिस[illegible] मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकु[illegible] नये जीवन में अपने को ढालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, खासकर उस सम[illegible] जब कि कोई अपनी ६० वीं वर्षगांठ मनाने की तैयारी कर रहा हो। पुराने रा[illegible] नैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब तक आ[illegible] थे, सबसे ताल्लुक तोड़ना था और कितनी ही खर्चीली आदतों को छोड़ देना था, ज[illegible] अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्व का [illegible] था, और यह जाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गई तो उन्हें अप[illegible] रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये स[illegible] मिल कर उन्हें एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ ही बढ़ाते गये यहां तक कि अ[illegible] में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े। उन कई घटनाओं से, जिनका अन्त पञ्जा[illegible] [illegible]ण्ड में हुआ, और उसके बाद जो-कुछ हुआ उससे उनके दिल में जो गुस्सा भर[illegible] आ रहा था उसको, जो अन्याय और अत्याचार वहां हुए थे उनकी याद को, और [illegible] राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को, बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था [illegible] लेकिन यह महज उत्साह की लहर में बह जानेवाले न थे। उन्होंने आखिरी फैस[illegible] [illegible] किया और गांधीजी के आन्दोलन में [illegible] कूद [illegible] तब उनके दिमाग ने, और [illegible] [illegible] [illegible] ने [illegible] आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

[illegible] तरफ खिंचे थे और उसमें [illegible]

नही कि इस बात ने भी उनपर असर डाला था। जिस शख्स को वह नापसन्द ते थे उससे उनका साथ कोई भी शक्ति नही करा सकती थी, क्योकि उनकी च और अरुचि दोनो बडी तेज होती थी। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक साधु, वैरागी, धर्मात्मा, जीवन मे प्राप्त होनेवाले आनद-विलास और शारीरिक द्रो को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय जिसने जीवन के कितने ही ानन्दो का स्वागत और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि गे क्या होगा! मनोविश्लेपण-शास्त्र की भापा मे कहे तो यह एक अन्तर्मुख का क बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनो के बीच एक प्रेम-बन्धन ौर एक हित-सम्बन्ध था, जिसने दोनो को एक-दूसरे की तरफ खीचा और बॉध रखा—यहॉ तक कि जब आगे चलकर दोनो की राजनीति मे अन्तर पड गया तब ी दोनो मे गाढी मित्रता रही।

वाल्टर पेटर ने अपनी एक किताब मे बताया है कि कैसे एक साधु और एक दुनियादार, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, एक-दूसरे क विरोधी स्थानो से शुरू करके, भिन्न-भिन्न रास्तो से सफर करते हुए, पर फिर भी दोनो ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियो मे औरो से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते है—बनिस्बत इसके कि उनमे से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझे और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते है।

कलकत्ता के विशेप अधिवेशन ने काग्रेस की राजनीति मे गाधी-युग को शुरू किया, जो तबसे अबतक कायम है—हॉ, बीच मे एक छोटा-सा जमाना (१९२२ से १९२९ तक) जरूर ऐसा गया जिसमे उन्होने अपने-आपको पीछे रख लिया था और स्वराज-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तबसे काग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई, विलायती कपडे चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी, काग्रेस मे नये किस्म के लोग —प्रतिनिधि—दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भापा जहॉ अधिवेशन होता था अधिका-धिक बोली जाने लगी, क्योकि कितने ही डेलीगेट अग्रेजी नही जानते थे। राष्ट्रीय कामो मे विदेशी भापा का व्यवहार करने के खिलाफ भी लोगो के भाव तेज़ी से बढ़ रहे थे, और काग्रेस की सभाओ मे साफ तौर पर एक नई जिन्दगी, नया जोश, और एक सरगर्मी दिखाई देती थी।

६

अधिवेशन खतम होने के बाद गाँधीजी 'अमृत बाजार पत्रिका' के महारथी सम्पा
दक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जो कि मृत्युशय्या पर पडे हुए थे। मैं उनके साथ
गया था। मोती बाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और साथ ही
कहा—"मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूँ। मैं, ओर तो क्या कहूँ, कहीं भी
जाऊं, मुझे एक बात का बहुत सन्तोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा —अब मैं
इस साम्राज्य की पहुँच के परे हो जाऊँगा।"

कलकत्ता से लौटते समय मैं गाँधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके
निहायत प्यारे बडे भाई 'बडा दादा' से मिलने शान्ति-निकेतन गया। वहाँ हम कुछ
दिन रहे। मुझे याद है कि सी० एफ० एण्डरूज ने कुछ किताबे मुझे वहाँ दी थीं, जो
मुझे दिलचस्प मालूम हुई थी और जिनका मुझपर बहुत असर भी पडा था। उनका
विषय था आफ्रिका में साम्राज्यवाद के आर्थिक स्वरूप। इनमें से मॉरेल की लिखी
एक किताब—ब्लैकमेन्स बर्डन—ने मेरे दिल को बहुत हिला दिया था।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्डरूज साहब ने एक पुस्तिका लिखी,
जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गई थी। मैं समझता हूं कि उसका
नाम था—'इंडिपेंडेन्स—दि इमीजिएट नीड'। यह एक बहुत ऊँचे दरजे का मजमून था,
जो कि सीली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया
था। और मुझे ऐसा लगा कि स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है
कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह हमारे हार्दिक भावों
का चित्र खींचती हुई मालूम हुई। उसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सरगर्मी लिये
हुए थी। उसमें मानों हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणायें और अधखिली
अभिलाषायें साफ तौर पर मूर्त बनती हुई दिखाई दीं। न तो वह आर्थिक आधार पर
लिखी गई थी और न उसमें साम्यवाद ही था, उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की
ज़िल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की ओर हमारे इस बरगा
के अधःपतन का खात्मा कर देने की ज़बरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र
बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है,
हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे। असहयोग तो, जैसा कि
किसी ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों का
अपनी हुकूमत हमपर लादे रखने में सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज ने
लिखा है — "आत्मोद्धार [illegible] मतलब है, कि अपने अन्दर से कोई जबरदस्त हलचल
—उभाड़— पैदा हो। ऐसे उभाड़ के लिए जिस चाबुक की ज़रूरत है वह खुद हिन्दुस्तान
की [illegible]। वह बाहर से किसी के देने, मांगने, मिलने, [illegible]

करने ओर रिआयतें देने से नही आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।··· ··· 'इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसी ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दरअसल भक् से धडाका कर चुकी है—जब महात्मा गाँधी ने भारत के हृदय मे मन्त्र फूका—'आजाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो' और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर मे झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा को उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की निहायत खुशी हुई। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेडियाँ ढीली होने लगी ओर आजादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास मे सारे देश भर मे असहयोग की लहर बढती चली गई। नई कौन्सिलो का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमे आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नही कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटे खाली रक्खी जा सकती थी। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन, हाँ, यह सच है कि अधिकाश वोटर–मतदाता—वोट देने नही गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हे देश की पुकार का खयाल था, कौन्सिलो के लिए खडे नही हुए। चुनाव के दिन सर वेलेन्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद मे थे और खुद चुनाव के मुकामो पर देखने गये थे। वह बायकाट की पूर्णता को देखकर दग रह गये। एक देहाती चुनाव-स्टेशन पर, जो कि इलाहाबाद शहर से १५ मील दूर था, उन्होने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नही गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक मे उन्होने अपने इस अनुभव का वर्णन किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगो ने कलकत्ता-अधिवेशन मे बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आखिर को उन्होने काग्रेस के फैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर-काग्रेस (१९२०) मे फिर बहुत से पुराने काग्रेसी नेता असहयोग के मञ्च पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डॉवाडोल और सन्देह रखनेवालो को कायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद, कुछ पुराने नेता काग्रेस से पीछे हट गये, जिनमे एक मशहूर ओर लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हे 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राज-दूत' कहा था और पिछले दिनो मे उन्ही की बदोलत मुस्लिम-लीग का काग्रेस के नजदीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर काग्रेस ने बाद मे जो रुख धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह [illegible] जनता का सगठन बन गई वह उन्हे कतई नापसन्द था। उनके मतभेद का

कारण यो तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यत राजनैतिक न था। उ
समय की काग्रेस मे ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारो मे जिन्ना साहब
पीछे ही थे। पर बात यह है कि काग्रेस के इस नये रग-रूप से उनका स्वभाव मे
नही खाता था। उस खादीधारी भव्भड मे जो हिन्दुस्तानी मे व्याख्यान देने क
मतालबा करती थी, वह अपनेको बिलकुल बेमेल पाते थे। बाहर लोगो मे जो ना
था वह उन्हे पागलो की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमे और भारतीय जनत
मे उतना ही फर्क था जितना कि सेवाइल रो और बॉण्ड स्ट्रीट मे और झोपडोवा
हिन्दुस्तानी गाँवो मे है। एक बार उन्होने खानगी मे सुझाया था कि सिर्फ मैट्रिक पा
ही काग्रेस मे लिये जावे। मै नही कह सकता कि उन्होने दरअसल सजीदगी के सा
ही यह बढिया बात सुझाई थी। परन्तु यह सच है कि उनके साधारण दृष्टिकोण
वह मुआफिक ही थी। इस तरह वह काग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान क
राजनीति मे अकेले-से पड गये। दुख की बात है कि आगे जाकर एकता का
पुराना एल्ची उन प्रतिगामी लोगो मे मिल गया जो मुसलमानो मे बहुत ही सम्प्रदाय
वादी थे।

माडरेटो या यो कहे कि लिबरलो का तो काग्रेस से कोई ताल्लुक ही न रह
था। वे उससे सिर्फ दूर ही नही हट गये, बल्कि सरकार मे घुल-मिल गये, नई योजन
के अन्दर मिनिस्टर और बडे-बडे अफसर बने और असहयोग तथा काग्रेस
मुकाबला करने मे सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे, करीब-करीब सब उ
मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हे लि
आन्दोलन की जरूरत न थी। सो, एक ओर देश जहाँ जोश-खरोश से उबल रहा थ
और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहाँ वे खुले आम क्रान्ति-विरोध
खुद सरकार के एक अग बन गये। वे लोगो से कटकर बिलकुल अलग जा प
और तबसे हर मसले को हाकिमो के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनकी आदत पड ग
जो अबतक कायम है। सच्चे अर्थ मे उनकी अब कोई पार्टी नही रह गई है—सिर्फ च
लोग रह गये है, सो भी कुछ बडे शहरो मे। श्री श्रीनिवास शास्त्री शाही राजदूत ब
ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न ब्रिटिश उपनिवेशो मे तथा सयुक्त रा
अमेरिका मे गये और जहाँ-जहाँ गये उन्होने काग्रेस को और खुद अपने ही दे
वासियो को उस सरकार से लडाई करते रहने के लिए बुरा-भला कहा।

[illegible] लिबरल लोग [illegible]। खुद अपने ही [illegible]
[illegible], उन्हें कुछ नहीं दिखाई या सुनाई देती हो यह
[illegible] नहीं कहा जा सकता। जब सारी जनता [illegible]

उठती है तो वह अपनेसे अलहदा रहनेवालो के प्रति महरबान नही रह सकती। हालाकि गाधीजी की बार-बार की चेतावनियो ने असहयोग को मुखालिफो के लिए उससे कही अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत मे वह हो सकता था। लेकिन फिर भी महज उस वायुमण्डल ने ही उनका दम बन्द कर दिया था जो उसका विरोध करते थे, जिस तरह कि वह उन लोगो को बल ओर स्फूर्ति देता था और उन मे जीवन तथा कार्य-शक्ति का सञ्चार करता था जो कि उसके हामी थे। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनो के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते है, वे उन लोगो को जो जनता मे से होते है या जो उनकी तरफ हो जाते है, उत्साहित करते है और उनको आगे लाते है, और साथ ही उन लोगो के विचारो को दबाते है और उनको पीछे हटा देते है जो उनसे मतभेद रखते है।

यही कारण है जो कुछ लोगो की यह शिकायत थी कि असहयोग मे तो सहन-शीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एकसी राय देने ओर एकसे काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत ने सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात मे कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुआ था ऐसा दबग शख्स जिसे हिन्दुस्तान के करोडो लोग भक्ति-भाव से देखते थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर मे। ऐसा अनुभव होता था मानो किसी कैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गई हो और आजादी का एक नया भाव आ गया हो! जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था ओर उसकी कमर सीधी और सिर ऊचा हो गया था। यहाँ तक कि दूर-दूर के बाजारो मे भी राह चलते लोग काग्रेस और स्वराज (क्योकि नागपुर-काग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था) की, पजाब की घटनाओ की, तथा खिलाफत की बाते करते थे। लेकिन 'खिलाफत' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'खिलाफ' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के खिलाफ'! हा, वे अपने खास-खास आर्थिक कष्टो पर भी बात-चीत करते थे। बेशुमार सभाये और सम्मेलन होते और उनसे उनमे बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममे से बहुत लोग जो काग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने मे लगे हुए थे, १९२१ मे मानो एक किस्म के नशे मे मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमे वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन मे न शकाओ के लिए जगह थी, न हिचक के लिए, ; हमे अपना रास्ता अपने

सामने बिलकुल साफ दिखाई देता था, और हम आगे बढते चले जाते थे, दूसरो के उत्साह से उत्साहित होते तथा दूसरो को और आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने मे कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बडी मेहनत हमने कभी न की थी; क्योकि हम जानते थे कि सरकार से मुकाबला शीघ्र ही होने वाला है, और इससे पहले कि सरकार हमे उठा कर अलग कर दे, हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातो से बढकर हमारे अन्दर आजादी का और आजादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम पीडित है और हमारा कोई काम पूरा नही पड सकता, बिलकुल चला गया था। अब न तो काना-फूँसी होती थी और न गोल-गोल कानूनी भाषा इस्तैमाल की जाती थी, कि जिससे अधिकारियो के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही कहते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डके की चोट कहते थे। हमे उसके नतीजे की क्या परवा थी? क्या जेल? उसकी तो हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश-सिद्धि मे मदद ही पहुँचनेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफिया पुलिस के लोग जो हमे घेरे रहते थे और हम जहाँ जाते वहाँ साथ रहते थे, उनकी हालत दयाजनक हो गई थी। क्योकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाजी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ सतोप न था कि हम एक कारगर राजनैतिक काम कर रहे है, जिसमे हमारी आँखो के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जो जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आजादी बहुत नजदीक ला रहा है, बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था, कि हमारे साध्य और साधन दोनो हमारे मुखालिफो के मुकाबले मे अच्छे और ऊँचे है। हमे अपने नेता पर और उसके बताये लासानी तरीके पर फख्र था। और कभी-कभी हम अपने को सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लडाई के जारी होते हुए भी और हमारे खुद उसमे लिप्त होते हुए और उसे बढावा देते हुए भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यो-ज्यो हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्व, बढता गया, त्यो-त्यो सरकार का घटता गया। उनकी समझ मे नही आता था कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पडता था कि हिन्दुस्तान मे उनकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढहे जा रही है। दूर-दूर तक एक नई आक्रामक स्पिरिट और आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव [illegible] भारत मे ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बडा सहारा—रोब—सदैव

...रता जा रहा है। थोडा-थोडा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढता जाता था और ...रकार बहुत देर तक बडे-बडे नेताओ पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नही ...नती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फौज पर भरोसा रक्खा ...ा सकता है या नही ? पुलिस हमारे हुक्मो पर अमल करेगी या नही ? दिसम्बर ...९२१ मे लार्ड रीडिंग ने तो कही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान हो रहे है।'

१९२१ की गर्मियो मे युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफसरो के नाम ...क मजेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गई थी। वह बाद को एक अखबार मे भी छप ...ई थी। उसमे दु ख के साथ यह कहा गया था कि इस आन्दोलन मे प्रारम्भिक सूत्र ...मेशा दुश्मन यानी कॉग्रेस के हाथो मे है, और इसे कमबख्ती ही समझना चाहिए। ...और प्रारम्भिक सूत्र सरकार के हाथो मे आ जाय, इसके लिए उसमे तरह-तरह के ...उपाय बताये गये थे, जिनमे एक था निकम्मी 'अमन सभाओ' को कायम करना। यह ...माना जाता था कि असहयोग से लडने का यह तरीका लिबरल मिनिस्टरो का सुझाया ...हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफसरो के होश हवास गुम होने लगे थे। दिमागी परेशानी कम न थी। दिन-दिन प्रबल होनेवाला विरोध और हुकूमत का मुकाबला करने की स्पिरिट हाकिमो के सिर पर घने मानसूनी बादलो की तरह मँडरा रहे थे, परन्तु फिर भी चूकि उसके साधन शान्तिमय थे, उन्हे उसका मुकाबला करने, उसपर हावी होने या जोर के साथ धर दबाने का कोई मौका नही मिलता था। औसत दर्जे के अंग्रेज इस बात को नही मानते थे, कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिसा चाहते है। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धडी है—किसी गहरी छिपी साजिश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिसात्मक उत्पात के रूप मे फूट पडने-वाली है। अंग्रेजो को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूर्व एक रहस्यमय देश है, और वहाँ के बाजारो और तग गलियो मे दिन-रात छिपी साजिशे होती रहती है। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशो के मामलो को सीधा नही देख सकते। वे एक पूर्वी पुरुष को जो स्पष्ट और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नही करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते है, उसके बारे मे जोकुछ खयाल बनाते है वे भेदियो और खुफिया पुलिस के द्वारा पेटभर के मिली खबरो के आधार पर, और फिर उसके सम्बन्ध मे अपनी कल्पना की उडान को खुला छोड देते है। अप्रैल १९१९ के शुरू मे पजाब मे ऐसा ही हुआ। अधिकारियो मे और आम तौर पर अंग्रेज लोगो मे एकाएक दहशत फैल गई। उन्हे हर जगह खतरा-ही-खतरा, एक बगावत, एक दूसरा गदर जिसमे भयानक मारकाट

होगी, दिखाई देने लगा और हर सूरत से आँखे मूदकर आत्म-रक्षा की सहज
उनसे वे-वे भयंकर काण्ड करा डाले जिनके अमृतसर का जालियावाला-बाग
रेंगनेवाली गली ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी
हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने या डर जाने की गुंजाइश
जो कुछ दर-असल हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ खयाल कर
गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की
का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन सरूप की शादी इलाहाबाद मे १० मई १९
को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पचाग मे शुभ-दिन देखकर यह तारीख
मुकर्रर की गई थी। गाँधीजी तथा दूसरे काँग्रेसियो को, जिनमे अली-बन्धु भी
निमंत्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का खयाल करके उसी समय के आस
पास कार्य-समिति की भी बैठक इलाहाबाद मे रख ली गई थी। स्थानिक काँग्रेस
चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-नामी नेताओं की मौजूदगी से फायदा उठा
जाय और इसलिए उन्होंने बड़े पैमाने पर एक जिला-कान्फरेन्स का आयोजन किया
उन्हें उम्मीद थी कि आस-पास के देहात से किसान लोग बहुत बड़ी तादाद मे
जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओं की बदौलत इलाहाबाद मे खूब चहल-पहल और
छाया हुआ था। इससे कुछ लोगो के दिलो मे अजीब घबड़ाहट छा गई। एक रोज
एक बैरिस्टर-दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अंग्रेजो के होश
ठिकाने न रहे और उन्हें डर हो गया कि शहर मे एकाएक कोई बवंडर खड़ा हो जाने
वाला है। हिन्दुस्तानी नौकरो मे उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब
पिस्तौल रखने लगे। खानगी मे यहा तक कहा गया कि इलाहाबाद का किला
बात के लिए तैयार रक्खा गया था कि जरूरत पड़ने पर तमाम अंग्रेजो को पनाह
लिए वहा भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ
न सका कि कोई क्यों इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्ति-मय शहर मे ऐसे
बवंडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उसी समय जब कि खुद अहिंसा का दूत ही
आ रहा हो। ओफ! यहा तक कहा गया कि १० मई, और यही तारीख इत्तफाक
मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी, १८५७ को मेरठ मे गदर शुरू हुआ था
उसकी सालाना जलसा करने की ये तैयारियां हो रही है।

१९२१ में खिलाफत-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गई थी, इससे कितने
मौलाना और मुसलमानों के मजहबी नेताओं ने इस राजनैतिक लड़ाई में बड़ा

बँटाया था। उन्होने इस हलचल पर एक निश्चित मजहबी रग चढा दिया था और मुसलमान लोग आम तोर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रग मे रँगे हुए मुसलमान भी, जिनकी कोई खास रगबत मजहब की तरफ नही थी, डाढी रखने तथा शरीयत के दूसरे फरमानो की पाबन्दी करने लगे थे। बढते हुए पश्चिमी असर के ओर नये खयालात के सबब से मौलवियो का जो असर और रोब घटता जा रहा था वह फिर बढने और मुसलमानो पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयो ने भी, जो खुद भी मजहबी तबीयत के आदमी थे, इस सिलसिले को और ताकत दी, ओर इसी तरह गाधीजी ने भी, जो मौलवियो और मौलानाओ को बहुत ही इज्जत दिया करते थे।

इसमे कोई शक नही कि गाधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म शास्त्राज्ञा से जकडा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मशा जरूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। और इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पडा था तथा, जहाँ तक जनता से ताल्लुक है, उसने एक धर्मोद्धार का रूप धारण कर लिया था। काग्रेस के बहुसख्यक कार्यकर्ता स्वभावत अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी तरह भाषा भी बोलने लगे। और फिर भी कार्य-समिति मे गाधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय, और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ मे धार्मिक पुरुष न थे, और जो राजनैतिक मसलो का राजनैतिक जमीन पर बैठकर ही विचार करते थे। अपने व्याख्यानो और बयानो मे वे धर्म को नही लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का ज्यादा असर होता था—क्या उन्होने वह सब बहुत-कुछ नही छोड दिया था, जिसको दुनिया कीमती समझती है, और पहले से ज्यादा सादी रहन-सहन नही अख्त्यार कर ली थी? यह बात खुद ही धर्म का एक चिन्ह समझ ली गई, और इसने भी धर्मोद्धार के वायुमण्डल को फैलाने मे मदद की।

राजनीति मे, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनो तरफ धार्मिकता की इस बढती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणो मे कहते थे उसका बहुताश मुझे बहुत कुफल पैदा करनेवाला मालूम होता था। उनका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र मुझे गलत दिखाई देता था और हर चीज को जो मजहबी मरोड दी जाती, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गाधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानो को खटकते थे—जैसे राम-

राज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते है । लेकिन उस समय मुझमे दखल देने की श
न थी, और मै इसी खयाल से तसल्ली कर लिया करता था कि गाधीजी ने उन
प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दो को सब लोग जानते है और जनता इन्हे सम
लेती है । उनमे जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध शक्ति थी।
लेकिन मै इन वातो की झञ्झट मे ज्यादा नही पडता था । मेरे पास काम
इतना ज्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेजी से हो रही थी कि ऐसी
छोटी-छोटी वातो की परवा करने की जरूरत न थी, क्योकि उस समय मै उन्हे वैसा
ही न-कुछ समझता था । किसी वडे आन्दोलन मे हर किस्म के लोग रहते है,
जब तक हमारी असली दिशा सही है कुछ भँवरो और चक्करो से कुछ विगड न
सकता । और खुद गाधीजी को ले तो वह ऐसे शख्स थे जिन्हे समझना वहुत मुश्कि
था, कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ मे प्राय
नही आती थी । लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हे इतना जरूर अच्छी तरह
समझ गये है कि वह एक महान् और अद्वितीय पुरुष और शानदार नेता है और जब
कि हमने उनपर कम-से-कम उस समय तो श्रद्धा रक्खी थी तो मानो हमने कोरे
कागज़ पर ही दस्तखत करके उनके हवाले कर दिया था । अक्सर हम आपस मे उनके
इन सब्तो और विचित्रताओ की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी मे कह
करते कि जब स्वराज आ जायगा तब इन सब्तो को इस तरह आगे न चलने देगे ।

इतना होने पर भी हममे से वहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलो मे
उनके इतने प्रभाव मे थे कि धर्म के क्षेत्र मे भी विलकुल आजाद वने रहना असभव
था । जहाँ सीधे हमले से कामयावी की उम्मीद न थी वहाँ ज़रा चक्कर खाकर जाने
मे वहुत हद तक उस प्रवृत्ति की ताकत कम हो जाती थी । धर्म के वाहरी आचार
कभी मेरे दिल मे जगह न कर पाये, और सबसे वडी वात तो यह कि मुझे इन धार्मिक
कहलानेवाले लोगो के द्वारा जनता का चूसा जाना वहुत नापसद था, मगर फिर भी
ने धर्म के प्रति नरमी अख्त्यार करली थी । अपने ठेठ वचपन से लेकर किसी भी
य की वनिस्वत १९२१ मे मेरा मानसिक झुकाव धार्मिकता की तरफ ज्यादा हुआ
। लेकिन तब भी मै उसके वहुत नजदीक नही पहुँचा था ।

जिस बात का मै आदर करता था वह थी उस आन्दोलन का नैतिक और
र-सबधी पहलू और सत्याग्रह । मैने अहिसा के सिद्धान्त को सोलहो आने नही
या ना हमेशा के लिए नही अपना लिया था, लेकिन हा, वह मुझे अपनी तरफ
धिक खीचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे दिल मे पक्का वैठता
कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गई है, हमारी जैसी परम्परा और

जैसे सस्कार है उन्हे देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—तग और मजहबी मानी मे नही—साँचे मे ढालना मुझे एक उमदा ख़याल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिए—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नही, बल्कि निर्भ्रम व्यावहारिक राजनीति भी थी, क्यो कि जो साधन अच्छे नही होते वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते है। और नई समस्याये और नई दिक्कते पैदा कर देते है। और ऐसी दशा मे, एक व्यक्ति या एक कौम के लिए, ऐसे साधनो के सामने सिर झुकाना—दलदल मे से गुजरना, कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था। उससे अपनेको गदा बनाये बिना कोई कैसे बच सकता था? यदि हम सिर झुकाते है, या पेट के बल रेगते है, तो कैसे हम अपने गौरव को कायम रखते हुए तेजी के साथ आगे बढ सकते है?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज दी जो मै चाहता था—कौमी आजादी का ध्येय और (जैसा मैने समझा) निचले दर्जे के लोगो के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावो के मुआफिक थे और जिन्होने मुझे ज़ाती आज़ादी का भान कराया। यह ज़ाती तसल्ली मुझे इतनी ज्यादा मिली कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मै ज्यादा गिनती न करता था, क्योकि ऐसी असफलता तो थोडे समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मै न तो समझता था और न उसकी तरफ मेरा खिचाव ही हुआ था, लेकिन हा, उन श्लोको को पढना पसन्द करता था जो शाम को गाधीजी के आश्रम मे प्रार्थना के समय पढे जाते थे, और जिनमे यह बताया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए . शान्त, स्थिर, गभीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय मे अनासक्त। मै खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अनासक्त नही हूँ, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

११

सन् उन्नीस सौ इक्कीस और मेरी पहली जेल-यात्रा

उन्नीस सौ इक्कीस का साल हमारे लिए एक असाधारण वर्ष था। राष्ट्रीयता और राजनीति और रहस्यवादिता और धर्मान्धता का एक अजीब मिश्रण हो गया था। इस सब की तह मे किसानो की अशान्ति और बडे शहरो का बढता हुआ मध्य-वर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और एक अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी जबरदस्त आद-र्शवाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषो को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमे बडी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियो से बल मिला था। उसकी तह मे थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिचा हुआ था, और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो जमाने की स्पिरिट के अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे मे मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थी। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक बात थी कि किस तरह गाधीजी ने सब वर्गो और सब गिरोहो के लोगो पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक ही दिशा मे चलनेवाला एक पचरगी दल बना लिया था। वास्तव मे वह 'लोगो की समष्टि अभिलाषाओ का एक मूर्त रूप' (जो बात कि एक दूसरे ही नेता के विषय म कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषाये और उमगे उन विदेशी हाकिमो के प्रति घृणा-भाव से कही मुक्त थी, जिनके खिलाफ वे इस्तैमाल हो रही थी। राष्ट्रीयता मूल मे ही एक विरोध-रूपी भाव है, और यह जीता और पनपता है दूसरे राष्ट्रीय समुदायो के, खासकर किसी शासित देश के, विदेशी शासको के खिलाफ घृणा और क्रोध के भावो पर। १९२१ म हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश लोगो के खिलाफ — और क्रोध जरूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्को के मुकाबले मे यह निहायत ही कम था। इसमे शक नही कि यह बात हुई है गाधीजी के अहिंसा के तात्पर्य और कठिनाइयो पर जोर देते रहने के कारण ही। इसका यह भी कारण था कि सारे देश मे आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गई थी कि हमारे बन्धन टूट रहे है, हमारा बल बढ रहा है, और नजदीक भविष्य मे कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल होनेवाले हो तो गुस्सा होने और नफरत करने से फायदा ही क्या है? [illegible] उदार बनो न हमारा कुछ बिगाड नही।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियो के प्रति, जो हमारे खिलाफ हो गये थे और ाष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलो मे इतने उदार नही थे, हालाकि ो-जो काम हम करते थे वे उचित ही थे और खूब आगा-पीछा सोचकर करते । उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योकि उनकी कोई वकत ही थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई मे नकी कमजोरी, वक्त-परस्ती तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के ारा दिये जाने के कारण हिकारत भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से किन्तु उत्कटता के साथ, और हम इस ानन्द मे मस्त थे कि हमने अपना हथियार चला दिया है। मगर लक्ष्य के बारे मे तो पष्ट विचार का बिलकुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि मने सैद्धान्तिक पहलुओ को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलो को, और जिस निश्चित ीज को हमे प्राप्त करना है उसे, किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम वराज के बारे मे बहुत बढ चढकर बाते करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा ाहता वैसा उसका मतलब निकाला करता था। ज्यादातर नवयुवको के लिए तो सका मतलब था राजनैतिक आज़ादी या ऐसी ही कोई चीज़, और लोक-ान्त्री ढग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणो मे कहा रते थे। बहुत लोगो ने यह भी सोचा था कि इससे लाज़मी तौर पर मजदूरो और किसानो के वे बोझे जिनके तले वे कुचले जा रहे है हलके हो जायेंगे। मगर यह ाहिर था कि हमारे ज्यादातर नेताओ के दिमाग मे स्वराज का मतलब आज़ादी से हुत छोटी चीज़ था। गाधीजी इस विषय पर बडे मज़े से अस्पष्ट रहते थे और स बारे मे साफ विचार कर लेनेवालो को वह बढावा नही देते थे। मगर हा हमेशा, अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चितरूप से, पद-दलित लोगो को लक्ष्य करके बोला करते े, और इससे हम कइयो को बडी तसल्ली होती थी, हालाकि उसी के साथ वह ऊँची श्रेणीवालो को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गाधीजी का ज़ोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नही होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था, और उन्हे हिन्दुस्तान के लोगो को दृढता और चरित्रबल देने मे आश्चर्यजनक सफलता मिली थी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमे न अधिक दृढता बढी न चरित्रबल बढा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और [illegible] हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मजबूती ही हममे विश्वास भर देती थी। [illegible] और पिछडे और दबे हुए लोगो ने अचानक अपनी कमर सीधी की और

अपना सिर ऊँचा किया, और एक देशव्यापी सुनियन्त्रित और सम्मिलित उपाय
जुट पडे। हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी
मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का खयाल हमने छो
दिया। हमने भुला दिया कि एक जाग्रत विचार-विज्ञान और उद्देश्य के बिना, जनता
की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुधुआ कर रह जायगा। किसी हद तक हमारे
आन्दोलन मे धर्मोद्धार या पुनरुद्धार-वाद के बल ने हमे आगे बढाया। और वह
भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनो के लिए या अन्यायो को दूर क
के लिए अहिसा का प्रयोग करना एक नया ही सदेश है, जो हमारा राष्ट्र ससार क
देगा। सभी जातियो और सभी राष्ट्रो मे जो यह विचित्र मिथ्याविश्वास फैल जाता
है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से ससार मे सबसे ऊँची है, उसीमे हम
फँस गये थे। अहिसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लडाइयो मे, शस्त्रास्त्रो के बद
एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह सिर्फ नैतिक उपाय ही नही है, बल्कि
कारगर भी है। मेरे खयाल से, हममे से शायद ही कोई मशीनरी और वर्तमान सभ्यता
विषयक गाधीजी के पुराने विचारो से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी
अपने विचारो को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियो मे ज्यादातर
अव्यवहार्य समझते होगे। निश्चय ही, हममे से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता
की नियामतो को त्यागने को तैयार न थे, हालाकि हमे चाहे यह महसूस हुआ हो
हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक उनमे कुछ परिवर्त्तन कर देना ठीक होगा। खुद
मै तो बडी मशीनरी और तेज सफर को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमे
सन्देह नही हो सकता कि गाधीजी के आदर्श का बहुत लोगो पर असर पडा और वह
मशीनो और उनके सब परिणामो को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो
भविष्यकाल की तरफ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ निगाह डाल
लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनो ही तरह के लोगो ने सोचा कि हम जि
सम्मिलित उपाय मे लगे हुए है वह मिलकर करने ही योग्य है, और इसी स्पिरिट के
बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्मत्याग के लिए तैयार होना आसान
हो गया।

मै आन्दोलन म दिलोजान से जुट पडा और दूसरे बहुत-से लोगो ने भी ऐसा ही
किया। मैने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तके और अखबार
तक, [illegible] काम से ताल्लुक था, सब छोड दिये।
[illegible] कुछ-कुछ पढना कायम रखता था और ससार
[illegible] जानने की कोशिश करता था। मगर अब

। इसके लिए वक्त ही नही था । हालाकि परिवारिक मोह जबरदस्त था, मगर मै पने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी लडकी, सबको करीब-करीब भूल ही गया था । हुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनो मै उनकी कितनी कठिनाई और ितने कष्टो का कारण बन गया था, और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण र्य और सहनशीलता का परिचय दिया था । दफ्तर और कमिटी की मीटिगे ओर ागो की भीडे ही मानो मेरा घर बन गया था । "गाँवो मे जाओ' यही सबकी ावाज़ थी, और हम कोसो खेतो मे चलकर जाते थे, दूर-दूर के गाँवो मे पहुचते थे, ार किसानो की सभाओ मे भाषण देते थे । मै रोम-रोम मे जनता की सामूहिक ावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था । मे ाडा-थोडा भीड का मानस, शहर की जनता और किसानो के फर्क को समझने लगा, ार मुझे धूल और तकलीफो और बडे-बडे मजमो के धक्कम-धक्को मे मजा आने ाा, हालाकि उनमे अनुशासन के न होने से मै अक्सर चिढ जाता था । उसके बाद कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रोधित मजमो के सामने भी जाना पडा है, जिनकी ाी इतनी बढी हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हे भडका सकती थी, और शुरू के ाुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बडी मदद मिली । मै हमेशा सीधा ामे के सामने जाता और उसका भरोसा करता था, और अभी तक तो उसने मेरे ते सद्व्यवहार और गुणग्राहकता का ही परिचय दिया है, चाहे हममे मत-भेद ही ाा हो । मगर मजमो का स्वभाव चचल होता है और सम्भव है भविष्य मे मुझे कुछ ार ही अनुभव मिले ।

मै मजमो को अपना समझता था और मजमे मुझे अपना लेते थे, मगर उनमे अपने-आपको भुला नही देता था । मै अपनेको उससे हमेशा अलग ही समझता ा । मै अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हे समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और े ताज्जुब होता था कि मै, जो कि अपने आसपास जमा होने वाले इन हजारो ादमियो से हर बात मे भिन्न था, अपनी आदतो मे, इच्छाओ मे, मानसिक और ाध्यात्मिक दृष्टिकोण मे बहुमत भिन्न था, इन लोगो की सदिच्छा और विश्वास कैसे ासिल कर सका ? क्या इसका सबब यह था कि इन लोगो ने मुझे मेरी असलियत कुछ जुदा समझा ? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेगे, क्या तब भी वे मुझे ाहेगे ? क्या मै लम्बी-चौडी बाते बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हू ? ने उनके सामने सच्ची और खरी बाते कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैने उनमे ाी से बातचीत की, और उनके कई प्रिय विश्वासो और रीतियो की नुक्ताचीनी ा फिर भी वे मेरी इन सब बातो को बरदाश्त कर लेते थे । मगर मेरा यह विचार

न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मै जैसा कुछ हू, उसके लिए नही, वल्कि मेरी बाब[illegible]
उन्होने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कि[illegible]
सम तक टिकी रह सकती थी? और वह टिकी रहने भी क्यो दी जाय? जब उनक[illegible]
वह कल्पना झूठ निकलेगी और उन्हे असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा?

मुझमे तो कई तरह का अभिमान है, मगर मजमो के इन भोले-भाले लोगो [illegible]
तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नही हो सकता है। उनमे कोई दिखाव[illegible]
न था, और न कोई अशिष्टता ही थी, जैसा कि मध्यम वर्ग के कई लोगो मे, जो अपने
को उनसे अच्छा समझते है, होती है। हाँ, वे कुन्द-जहन बेशक थे और व्यक्तिगत रू[illegible]
से ऐसे न थे कि उनमे कोई दिलचस्पी ले, मगर समुदाय-रूप मे उनको देखकर तो
असीम करुणा का भाव पैदा होना और उनके आनेवाले दु खान्त जीवन का दृश्य आख[illegible]
के सामने खडा हो जाता था।

मगर हमारी कान्फरेन्सो का तो, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्ता (जिनमे म[illegible]
भी शामिल था) व्याख्यान-मच पर अपना करतब दिखाते थे, हाल ही दूसरा था।
वहा काफी दिखावा होता था, और हमारे धुआँधार भाषणो मे अशिष्टता की
कमी न थी। हममे से सभी थोडे-बहुत इस मामले मे कुसूरवार रहे होगे, म[illegible]
खिलाफत के कई छोटे नेता तो उसमे सबसे ज्यादा बढे हुए थे। जहा बहुत लोग जम[illegible]
हो उनके सामने व्याख्यान-मच पर स्वाभाविक वर्ताव रखना आसान नही है, और इस
तरह लोगो के सामने आने का पहले किसी को तजुर्वा भी नही था। इसलिए हमार[illegible]
खयाल के मुताबिक नेताओ को जैसे रहना चाहिए उसी तरह से हम अपने-आपको
विचार-पूर्ण और गभीर, चचलता और छिछोरपन से बिलकुल बरी, दिखाते थे। जब
हम चलते, या बात करते या हसते थे, तो हमे यह खयाल रहता था कि हजारो आ[illegible]
हमे घूर रही है और उसीका ध्यान मे रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमा[illegible]
भाषण अक्सर बडे वक्तृत्वपूर्ण होते थे, मगर अक्सर ही वे ज्यादातर बे-मुद्दा भी होत[illegible]
थे। दूसरे लोग जैसा अपनेको समझे वैसा अपने-आपको समझना मुश्किल ही है।
इसलिए जब मै अपने-आपकी नुक्ता-चीनी न कर सका तो मैने दूसरो के तर्ज-अमल
पर गौर करना शुरू किया, और इसी काम मे मुझे खूब मजा आया। और फिर मुझे
यह मजाक खयाल भी आता था कि शायद मै भी दूसरो को इतना ही वाहियात
दिखाई देता होऊगा।

[illegible] नाओ की [illegible] गिरफ्तारी और सजायाबी होती
[illegible] न हुई। अली-बन्धुओ का हिन्दुस्तानी फौज [illegible]
[illegible] गई थी। जिन शब्दो के लि[illegible]

उन्हे सजा मिली थी, उनको सैकडो व्याख्यान-मचो से हजारो आदमियो ने दोहराया। अपने कुछ भाषणो के कारण राजद्रोह का मुकदमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियो मे दी गई थी। मगर उस वक्त ऐसी कोई कार्रवाई नही की गई। साल के अखीर मे मामला अजहद बढ गया। युवराज हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुताल्लिक की जानेवाली तमाम कार्रवाइयो का वहिष्कार करने की घोषणा काग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अखीर तक बगाल मे काग्रेस के स्वयसेवक गैरकानूनी करार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धु दास ने बगाल को एक बडा जोशीला सदेश दिया—"मै महसूस कर रहा हूँ कि मेरे हाथो मे हथकडिया पडी हुई है। और मेरा सारा शरीर लोहे की वजनी जजीरो से जकडा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना और यन्त्रणा। अरे, सारा हिन्दुस्तान एक बडा जेलखाना ही है! काग्रेस का काम हर हालत मे जारी रहना चाहिए—इसकी पर्वाह नही कि मै पकड़ लिया जाऊ या खुला रहूँ, इसकी पर्वाह नही कि मै मर जाऊँ या जिन्दा रहूँ।" यू० पी० मे भी हमने सरकार की चुनोती को स्वीकार कर लिया। हमने न सिर्फ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयसेवक-सगठन कायम रहेगा, बल्कि देनिक अखबारो मे अपने स्वयसेवको की नामावलिया भी छपवा दी। पहली फहरिस्त मे सबसे ऊपर मेरे पिताजी का नाम था। वह स्वयसेवक तो नही थे, मगर सिर्फ सरकार की हुक्म-उदूली करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू ही मे, हमारे प्रान्त मे युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ्तारियाँ शुरू हुई।

हमने जान लिया कि आखिर अब तो पासा पड चुका है; काग्रेस और सरकार का अनिवार्य सघर्ष अब होने ही वाला था। अभी तक भी जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना भी एक नई बात थी। एक दिन मै इलाहाबाद के कॉग्रेस-दफ्तर मे जरा देर तक बकाया काम निपटा रहा था। इतने ही मे एक क्लर्क जरा उत्तेजित होता हुआ आया, और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आई है, और दफ्तर के मकान को घेर रही है। नि सन्देह मै भी थोडा उत्तेजित तो हो गया, क्योकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ दिखाई देने की इच्छा, पूरी तरह शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इसलिए मैने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफसर दफ्तर के कमरो मे तलाशी ले तो तुम उनके साथ-साथ रहो, और बाकी के कारकुनो से कहा कि सब अपना-अपना काम बिला खटका करते रहो और पुलिस की तरफ ध्यान न दो। कुछ देर बाद एक मित्र और एक साथी कार्य-कर्ता जो

दफ्तर के बाहर ही गिरफ्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मेन के साथ, मेरे
मुझसे विदा लेने आये। मुझे इन नई घटनाओ को मामूली घटनाये सम[illegible]
चाहिए, यह अभिमान मुझमे इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्ता[illegible]
साथ बिलकुल रूखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मेन से मैंने कहा कि मैं [illegible]
तक अपनी चिट्ठी, जिसे मैं लिख रहा था, पूरी न कर लूँ, तबतक जरा ठहरे[illegible]
जल्दी ही शहर मे और भी लोगो के गिरफ्तार होने की खबर आई। आखिर[illegible]
मैंने यह तय किया कि मैं घर जाऊँ और देखूँ कि वहाँ क्या हो रहा है। मैंने [illegible]
कि पुलिस, जो एक-न-एक दिन आने ही वाली थी, हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक
हिस्से की तलाशी ले रही है और मालूम हुआ कि वह, पिताजी और मुझे, दोनों को
गिरफ्तार करने आई है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा
कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहा ले जाये गये, वहाँ-वहाँ
हड़ताले और सूनी सडके ही मिली। जब वह इलाहाबाद आये तो वह एक सुनसा[illegible]
शहर मालूम पडा। कुछ दिनो बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक
अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी।
मगर उनका कोई कसूर न था, और न उनके खिलाफ कोई दुर्भावना थी। [illegible]
हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ते उनके व्यक्तित्व का बेजा फायदा उठाने की [illegible]
की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो, खासकर युक्तप्रान्त और बगाल मे, गिरफ्तारियो और सज[illegible]
की धूम मच गई। इन प्रान्तो मे सभी खास-खास कांग्रेसी नेता और काम कर[illegible]
वाले पकड लिये गये, और मामूली स्वयंसेवक तो हजारो की तादाद मे जेल गये।
शुरू-शुरू मे तो ज्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयसेवको
की तादाद मानो खत्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-
सब (५५ व्यक्ति), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एकसाथ गिरफ्तार
कर लिये गये। नई ऐसे लोगो को भी, जिन्होने अभीतक कांग्रेस या राजनैतिक हल-
चल मे कोई हिस्सा नही लिया था, जोश चढ आया, और वे गिरफ्तार होने की जिद
करने लगे। ऐसी भी मिसाले हुई कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट
रहे थे [illegible] मे बह गये, और घर के बजाय जेल मे जा पहुचे। नवयुवक और
[illegible] भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते
थे। [illegible] अन्दर [illegible], आस-की-शाम अपने परिचित नारा और आवाज सुनते थे,
[illegible] बाहर पुलिस की लारियो पर-लारिया आ रही है। जेल

ए गई थी, ओर जेल-अफसर इस असाधारण वात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी
ना भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमे सिर्फ लाये जाने
लो की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नही लिखे होते थे या न लिखे जा सकते
। ओर वास्तव मे लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी मे से निकलते थे,
न जेल-अधिकारी यह नही समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति मे क्या करना
ाहिए, जेल-मैनुअल मे इसकी बावत कोई हिदायत नही थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड दी,
र्फ खास-खास कार्यकर्ता चुनकर पकडे जाने लगे। धीरे-धीरे लोगो के उत्साह की
हली वाढ भी उतर गई, और सभी भरोसे के कार्यकर्ताओ के जेल चले जाने से
निश्चय ओर लाचारी की भावना फैल गई। यह परिवर्तन भी यो ऊपरी ही था।
तावरण मे तो फिर भी तेजी ओर चारो ओर तनातनी के भाव मोजूद थे ओर
गा जान पडता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तेयारी हो रही हे। दिसम्बर
९२१ और जनवरी १९२२ मे, यह अनुमान किया जाता है कि, कोई ३० हजार
ादमियो को असहयोग के सम्बन्ध मे सजाये मिली। मगर हालाकि ज्यादातर
मुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, इस सारी लडाई के नेता महात्मा
ाधी फिर भी वाहर थे, जो रोजाना लोगो को अपने सदेश देते ओर हिदायते
ारी करते रहते थे, जिनसे लोगो को स्फूर्ति मिलती थी ओर कई अवाञ्छनीय वाते
ोने से वच जाती थी। सरकार ने उनपर अभीतक हाथ नही डाला था,
योंकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा खराव होगा और कही हिन्दुस्तानी फोज
ोर पुलिस विगड तो नही जायगी।

अचानक १९२२ की फरवरी के शुरू मे ही सारा दृश्य वदल गया, ओर जेल
ही हमने वडे आश्चर्य ओर भय के साथ सुना कि गाधीजी ने हमारी लडाई के
ाक्रमणात्मक कार्य वन्द करवा दिये हे ओर सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया है। हमने
ुना कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गॉव के पास लोगो की एक
ीड ने वदले मे पुलिस-स्टेशन मे आग लगा दी थी ओर उसमे करीव आधे दर्जन
ुलिसवालो को जला डाला था।

जब हमे मालूम हुआ कि ऐसे वक्त मे जब कि हम अपनी स्थिति मजबूत करने
ा रहे थे ओर सभी मोर्चो पर आगे वढ रहे थे, हमारी लडाई वन्द कर दी गई है,
ो हम बहुत विगडे। मगर जेल मे हमारी मायूसी ओर नाराजगी से किसीको कुछ भी
ायदा नही हो सकता था, ओर सत्याग्रह वन्द हो गया, ओर उसके साथ ही अस-
योग भी जाता रहा। कई महीनो की दिक्कत ओर परेशानी के बाद सरकार को

...हली बार उसे अपनी तरफ ...
...। कुछ हफ्तों बाद उसने गाधीजी को गिरफ्ता...
एक लम्बी कैद की सजा दे दी।

अहिंसा और तलवार का उसूल

चौरीचौरा-काण्ड के वाद हमारे आन्दोलन के एकाएक मुल्तवी किये जाने मे, मेरा खयाल है, गाधीजी को छोडकर काग्रेस के वाकी तमाम नेताओ मे वहुत ही नाराजगी फैली थी। मेरे पिताजी जो उस वक्त जेल मे थे, उसपर वहुत ही विगडे थे। कुदरतन् नोजवान काग्रेसियो को तो यह वात ओर भी ज़्यादा वुरी लगी थी। हमारी वढती हुई उम्मीदे धूल मे मिल गई। इसलिए उसके खिलाफ इतनी नाराजगी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के मुल्तवी किये जाने से जो तकलीफ हुई उससे भी ज्यादा तकलीफ मुल्तवी करने के जो कारण वताये गये उनसे तथा उन कारणो से पैदा होनेवाले नतीजो से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेद-जनक ओर अहिसात्मक आन्दोलन के भाव के विलकुल खिलाफ, लेकिन क्या हमारी आजादी की राष्ट्रीय लडाई कम-से-कम कुछ वक्त के लिए महज इसलिए वन्द हो जाया करेगी कि कही वहुत दूर के किसी कोने मे पडे गॉव मे किसानो की उत्तेजित भीड ने कोई हिसात्मक काम कर डाला ? अगर इस तरह अचानक खून-खरावी का यही अटल नतीजा होना है तव तो इस वात मे कोई शक नही कि अहिसात्मक लडाई की विद्या और उसके मूल सिद्धान्त मे कुछ कमी है, क्योकि हम लोगो को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारन्टी करना गैरमुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़िमी है कि आजादी की लडाई मे आगे कदम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड से भी ज्यादा लोगो को अहिसात्मक लडाई का उसूल और उसका अमल सिखा दे और, यही क्यो, हममे से ऐसे कितने है जो यह कह सकते है कि पुलिस से वहुत ज्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेगे ? लेकिन अगर हम इसमे कामयाव भी हो जायॅ तो जो वहुत-से भडकानेवाले एजेन्ट और [illegible]ओर वगैरा हमारे आन्दोलन मे आ घुसते है, ओर या तो खुद ही कोई मारकाट कर डालते है या दूसरो से करा देते है, उनका क्या होगा ? अगर अहिसात्मक लडाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कही कोई ज़रा भी गड़-बड़ी न करे, तब तो अहिसात्मक लडाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगो ने अहिसा के तरीके को इसीलिए मजूर किया था, और काग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपना साधन बना लिया था, कि हमे यह विश्वास था कि वह

तरीका कारगर है। गाधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज इसीलिए नहीं रखा कि वह सही तरीका है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सब ज्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार मे है, तो भी वह है बहुत ही बल प्रभाव रखनेवाला तरीका, और ऐसा तरीका जो जालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचा सिर झुकाने के बिलकुल खिलाफ था। वह तरीका कायरो का तरीका नहीं था जिस लडाई से मुँह छिपाया जाय, बल्कि बुराई और कौमी गुलामी की मुखालिफत करने लिए बहादुरो का तरीका था। लेकिन अगर किन्ही भी थोडे से शख्सो के—मुमकिन वे दोस्ती का लबादा ओढे हुए हमारे दुश्मन हो—हाथ मे यह ताकत हो कि ऊटपटॉग बेतहाशा कामो से हमारे आन्दोलन को रोक या खत्म कर सकते है, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मजबूत-से-मजबूत तरीके से भी आखिर क्या फायदा?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगो को समझाने की ताकत गाधीजी मे कसरत से मौजूद है। अहिसा का और शातिमय असहयोग का रास्ता अख्त्यार कराने के लिए उन्होने अपनी ताकत से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमे बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज और उनकी मुख-मुद्रा शान्त और साफ थी। उसमे विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बरफ की उस बाहरी ओढनी के पीछे एक ठोस जोश और उमग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड-उड कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग के भीतरी-से-भीतरी कोने मे घर कर गये, और उन्होने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होने जो रास्ता बताया था वह कडा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पडता था कि वह आजादी के मकसद पर हमे जरूर पहुँचा देगा। १९२० मे 'तलवार का उसूल' नाम के एक नामी लेख मे उन्होने लिखा था —

'मै यह विश्वास जरूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ बुजदिली और हिसा मे से ही चुनाव करना हो तो मै हिसा को चुनने की सलाह दूँगा। मै यह पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज्जत बचाने के लिए हथियारो की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरो की तरह खुद अपनी बेइज्जती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिसा हिसा से कही ऊँची है, सजा की बनिस्बत माफी देना कही ज्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। क्षमा से वीर की शोभा बढती है। लेकिन सजा न देना उसी हालत मे क्षमा होती है जब सजा देने की ताकत हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैने अपने से बलवान को क्षमा किया कोई मानी नही रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टु[illegible] कर सकता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता।' लेकिन मै यह न

ामझता कि हिन्दुस्तान असहाय है । न मै यही समझता हूँ कि मै बिलकुल असहाय हूँ···

"कोई मुझे समझने मे गलती न करे । ताकत शारीरिक बल से नही आती, वह ो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है ।

"कोई यह न समझे कि मै हवाई और खयाली आदमी हूँ । मै तो अमली आदर्श-ादी होने का दावा करता हूँ । अहिसा-धर्म महज ऋषि और महात्माओ के लिए ही ाही है, वह तो आम लोगो के लिए भी है । जैसे पशुओ के लिए हिसा प्रकृति का नेयम है वैसे ही अहिसा हम मनुष्यो की प्रकृति का कानून है । पशुओ की आत्मा ोती पडी रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा ओर कानून को जानती ही ाही । इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज्यादा ऊँचे कानून की ताकत, आत्मा ी ताकत, के सामने सिर झुकावे ।

"इसीलिए मैने हिन्दुस्तान के सामने आत्मत्याग का, अपनी कुर्बानी का, ुराना नियम पेश करने की जुर्रत की है । क्योकि सत्याग्रह और उसकी शाखाये, सहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामो के अलावा ओर ुछ नही है । जिन ऋषियो ने, हिसा मे से अहिसा का नियम ढूढ निकाला, वे न्यूटन ा ज्यादा प्रतिभाशाली थे । वे खुद वेलिंगटन से ज्यादा योद्धा थे । वे हथियार चलाना ानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होने उन्हे बेकार पाया और थकी हुई दुनिया को ह सिखाया कि उसका छुटकारा हिसा के जरिये नही होगा बल्कि अहिसा के जरिये ोगा ।

"अपनी सक्रिय दशा मे अहिसा के मानी है जान-बूझकर तकलीफे उठाना । उसके मानी यह नही है कि आप बुरा करने वाले की ख्वाहिश के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दे, बल्कि उसके मानी यह है कि हम जालिम की ख्वाहिश के खिलाफ अपनी पूरी आत्मा को भिडा दे । अपनी हस्ती के इस कानून के मुताबिक काम करते हुए, महज एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्जत, अपने मजहब और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताकत को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नीव डाल दे ।

"और इसीलिए मै हिन्दुस्तान से अहिसा का रास्ता अख्त्यार करने के लिए इसलिए नही कहता कि वह कमजोर है । मै चाहता हू कि वह अपनी ताकत और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिसा पर अमल करे । मै चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नही हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमजोरियो पर फतह पा सकती है और तमाम दुनिया के शारीरिक बलो का मुकाबला कर सकती है

"इस असहयोग को मै 'सिनफिन'-आन्दोलन से अलग समझता हूँ, क्योंकि इ
का जिस तरह से खयाल किया गया है उस तरह मे वह हिसा के साथ-साथ कभी
ही नही सकता। लेकिन मै तो हिसा के सम्प्रदाय को भी दावत देता हूँ कि वे
शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करे। वह अपनी अन्दरूनी कमजोरी की वजह
नाकामयाब न होगा। हॉ, अगर ज्यादा तादाद मे लोग उसे अख्त्यार न करे तो व
नाकामयाब हो सकता है। वही वक्त असली खतरे का वक्त होगा, क्योंकि उस वक्
वे उच्चात्मा जो अधिक काल तक राष्ट्रीय अपमान सहन नही कर सकते, अपना गुस्स
नही रोक सकेगे। वे हिसा का रास्ता अख्त्यार करेगे। जहॉतक मै जानता हूँ,
अपना वा गुलामी से मुल्क का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायेगे। अग
हिन्दुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण कर ले तो मुमकिन है कि शायद वह क्षणिक विज
पा ले। परन्तु उस वक्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय मे गर्व न होगा। मै तो हिन्दु
स्तान से इसलिए बँधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैने उसीसे पाया
है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलो का हमारे ऊपर बहुत असर पडा, लेकिन हम लोगो की राय मे और कुल मिलाकर कॉग्रेस की राय मे अहिसा का तरीका न तो मजहब या अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीका था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा-से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीका ही हो सकता था जिससे हम कुछ नतीजो की उम्मीद करते थे, और उन्ही नतीजो से अखीर मे हम उसकी बाबत फैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मजहब बना ले या निर्विवाद धर्म मान ले, परन्तु कोई भी राजनैतिक सस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नही कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगो को, एक साधन के रूप मे, अहिसा के इन पहलुओ की जाच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगो ने यह महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गाधीजी ने जो कारण बताये है वे सही है तो हमारे मुखालिफो के पास हमेशा वह ताकत रहेगी, जिससे वे ऐसी हालते पैदा कर दे जिनसे लाजिमी तौर पर हमे अपनी लडाई छोड देनी पडे। आया यह कसूर खुद अहिसा के तरीके का था या उसकी उस व्याख्या का जो गाधीजी ने की? लेकिन आखिर वही तो उस तरीके के जन्मदाता थे? उनसे ज्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीका क्या है और क्या नही है? और बिना उनके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

इस समस्या के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लडाई शुरू होने से ...

पहले, हमे यह देखकर बडा सतोष हुआ कि गाधीजी ने इस बात को साफ कर दिया। उन्होने कहा कि कही इक्के-दुक्के हिसात्मक काण्ड हो जाये तो उसकी वजह से हमे अपनी लडाई छोडने की जरूरत नही है। अगर ऐसी घटनाओ की वजह से, जो कही-न-कही हुए बिना नही रह सकती, अहिसा का तरीका काम नही कर सकता तो जाहिर था कि वह हर मोके के लिए सबसे अच्छा तरीका नही है। और गाधीजी इस बात को मानने के लिये तैयार नही थे। उनकी राय मे तो जब वह तरीका सही तरीका है तो वह सब मोको के लिए मौजूँ होना चाहिए, और कम-से-कम सकुचित दायरे मे ही सही लेकिन विरोधी आबोहवा मे भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिसात्मक लडाई का क्षेत्र बढा दिया। लेकिन यह व्याख्या गाँधीजी के मन के विकास की गवाही देती है या क्या, यह मै नही जानता।

असल बात तो यह है कि फरवरी १९२२ मे सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज़ चौरीचौरा की वजह से नही हुआ, हालाँकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल मे एक आखिरी निमित्त हो गया था। गाँधीजी अक्सर अपनी अन्त प्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते है। ऐसा मालूम होता है कि जैसे महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते है वैसे ही गाँधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नजदीक रहकर एक नई इन्द्रिय पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते है और तुरन्त उसीके मुताबिक रूप अपने कार्य को दे देते है और उसके बाद अपने चकित और नाराज साथियो के लिए अपने फैसलो को कारणो का जामा पहनाने की कोशिश करते है। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफी होता है, जैसे कि चौरीचोरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देने वाले और लम्बे-चौडे जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम सगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। करीब-करीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल मे थे, और उस वक्त तक आम लोगो को खुद अपने बल पर लडाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, काग्रेस कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दर-असल बहुत-से काबिले ऐतराज शख्स, जिनमे लोगो को उकसाने तथा भडकाने वाले सरकारी एजेट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुछ मुकामी काग्रेस और खिलाफत-कमिटियो पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगो को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमे कोई शक नही कि कुछ हद तक इस तरह की बात का [illegible] की सचाई

मे बहुत कुछ लाजिमी है। नेताओ के लिए यह लाजिमी है कि वे सबसे पहले जेल जाकर लोगो को रास्ता दिखावे और दूसरो पर यह भरोसा करे कि वे ल[ड़ाई] चलाते रहेगे। ऐसी दशा मे जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ इतना ही कि ज[नता] को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज्यादा कुछ किस्म के काम[ों से] बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० मे इस तरह की तालीम देने मे हमने पहले [के] कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक्त और १९३२ मे सविनय-भग-आन्दोलन बहुत ही ताकत के साथ और सगठित रूप मे चला था। १९२१ और १९२२ मे इ[स] बात की कमी थी। उन दिनो लोगो के जोशोखरोश के पीछे और कुछ न था। इसमे कोई शक नही कि अगर आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयकर हत्याकाड हो जाते। इन हत्याकाडो को सरकार बदतर हत्याकाण्डो द्वारा कुचलती। डर का राज कायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गाधीजी के दिमाग मे जिन असरो और सबबो ने काम किया वे सम्भवत यही थे। उनकी मूल बातो को, तथा अहिसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वाञ्छनीय था इस बात को, मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फैसला सही ही था। उनको ये सब खराबियाँ रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फैसला गलत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिसात्मक तरीके से कोई ताल्लुक न था। आप एकसाथ दाये और बाये दोनो रास्तो पर नही चल सकते। इसमे कोई शक नही कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था मे और उस खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकण्डो द्वारा कुचल डालने का निमत्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन खत्म नही हो सकता था क्योकि ऐसे आन्दोलनो का ऐसा तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म मे से ही फि[र] उठ खडे होते है। अक्सर थोडे वक्त के लिए हार जाने से भी समस्याओ को भली भाति समझने मे और लोगो को पक्का तथा मजबूत करने मे मदद मिलती है। असल बात पीछे हटना या दिखावटी हार नही है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अग[र] जनता इन उसूलो का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताकत हासिल करने मे दे[र] नही लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ मे हमारे उसूल और हमारा मकसद क्या था? एक धुधला स्वराज, जिसके पीछे उसका कोई साफ विचार-विज्ञान तो न था, लेकि[न] था सिर्फ अहिसात्मक लडाई का एक खास शस्त्र। अगर लोग किसी बडे पैमाने पर इक्के-दुक्के हिसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछला यानी अहिसा का तरीका खत्म हो जाता और जहा तक पहली बात, यानी स्वराज, से ताल्लुक है उसमे ऐसा [illegible] लोग जाने। आम तौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि

वे ज्यादा अरसे तक लडाई चलाये जाते, और विदेशी शासन के खिलाफ करीब-करीब सर्वव्यापी असतोष और काग्रेस के साथ सब लोगो की हमदर्दी के बावजूद लोगो मे काफी कुव्वत या सगठन न था। वे टिक नही सकते थे। जो हजारो लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश मे आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ ही दिनो मे तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ मे सत्याग्रह को मुल्तवी करने का जो फैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाकि उसके मुल्तवी करने का तरीका और भी बेहतर हो सकता था और उसकी वजह से लोगो मे एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गई।

मगर मुमकिन है कि इस बडे आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल मे बन्द करने से उन दुखान्त काण्डो के होने मे मदद मिली जो देश मे बाद को जाकर हुए। राजनैतिक सग्राम मे फुटकर और बेकार हिसाकाण्डो की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन उस तरह दबाई गई हिसा-वृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढती ही, और शायद बाद के सालो मे इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगडो को बढाया। असहयोग और सविनय-भग या सिविल नाफरमानी की हलचल को आम लोगो की जो भारी इमदाद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति मे प्रतिक्रियावादी थे, लोगो की निगाह से गिरकर दबे पडे थे। लेकिन उस हलचल के बन्द होने पर अब वे बाहर निकल आये। बहुत-से दूसरे लोगो ने भी—जैसे खुफिया के एजेण्टो तथा उन लोगो ने जो हिन्दू-मुसलमानो मे फिसाद कराके हाकिमो को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम वैर बढाने मे मदद की। मोपलाओ के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगो को एक अच्छा हथियार मिला जो फिरकेवाराना झगडे पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बो मे मोपला बँदियो का भुनना तो बहुत ही बीभत्स था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो फिरकेवाराना कडवापन इतना न बढता और बाद को जो फिरकेवाराना दगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताकत बाकी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने से पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिलकुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौचक रह गई और डर गई। इसी बीच वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच मे यह कहा कि मै हैरान व परेशान हूँ। उन दिनो युवराज हिन्दुस्तान मे थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ गई थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू मे जो धडाधड गिरफ्तारियाँ हुई थी

उनके बाद ही फौरन उसी महीने मे सरकार ने एक कोशिश की कि काग्रेस से कि
किस्म का राजीनामा कर लिया जाय। यह बात खास तौर पर कलकत्ते मे युवराज
आमद को मद्देनजर रखकर की गई थी। बगाल-सरकार के प्रतिनिधियो मे
देशबन्धु दास मे, जो उन दिनो जेल मे थे, कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम प
है कि इस तरह की तजवीज की गई कि सरकार और काग्रेस के प्रतिनिधियो मे
छोटी-सी गोलमेज-कानफ्रेन्स की जाय। यह तजवीज इसलिए गिर गई, क्या
गाधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली को भी, जो
वक्त कराची की जेल मे थे, इस कानफ्रेन्स मे मौजूद रहना चाहिए और सर
इस बात के लिए राजी न थी।

इस मामले मे गाधीजी का यह रुख दास बाबू को पसन्द नही आया और
वक्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होने खुलेआम गाधीजी की आलोच
की और कहा कि उन्होने सख्त गलती की है। हम लोग उन दिनो जेल मे थे, इ
लिए हममे से ज्यादातर वे सब बाते नही जान सकते जो इस मामले मे हुई,
तमाम बातो को जाने बिना कोई फैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम हो
है कि उस हालत मे उस कानफ्रेन्स से कोई फायदा नही हो सकता था। असल
सरकार महज यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते मे शाहजादे की आ
का वक्त बिला खरखशा निकल जाय। इससे तो जो बुनियादी मसले हमारे सा
थे वे ज्यो-के-त्यो बने रहते। नौ बरस बाद, जब राष्ट्र और काग्रेस पहले से
ज्यादा ताकतवर थी तब, गोलमेज कानफ्रेन्स हुई और उससे कोई नतीजा नही निकल
लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गाधीजी ने मुहम्मदअली
मौजूदगी पर जोर देकर बिलकुल ठीक ही किया। काग्रेस के लीडर की हैसियत
ही नही, बल्कि खिलाफत की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दि
काग्रेस के प्रोग्राम का खिलाफत एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाजिमी थी।
नीति या चाल मे अपने साथी को छोडना पडे वह कभी सही हो ही नही सकती
सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हे जेल से छोडने को तैयार न थी, इस बात
पता चल जाता है कि कानफ्रेन्स मे किसी किस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार
मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मो मे अलग-अलग अदालतो ने
महीने की सजाए दी थी। मुकदमे महज एक स्वाग थे और अपने रिवाज के मुता
हम लोगो ने उनमे कोई हिस्सा नही लिया था। इसमे कोई शक नही कि हमारे
नाकानून के अनुसार हलचलो मे सजा देने के लिए काफी मसाला ढूढ निकाल
[illegible] ऐसी सजा दिलाने के लिए, जो मसाला दर-असल पेश हु

गया वह मजेदार था। पिताजी पर एक गैर-कानूनी जमात का मेबर होने—कॉग्रेस-स्वयंसेवक होने—के जुर्म मे मुकदमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया जिसमे हिन्दी मे उनके दस्तखत दिखाये गये थे। बिला शक दस्तखत उन्हीके थे, लेकिन असल मे हुआ यह कि इससे पहले उन्होने प्राय कभी हिन्दी मे दस्तखत नही किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तखत पहचान सकते थे। अदालत मे एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होने हलफिया बयान दिया कि दस्तखत मोतीलालजी के ही है। वह महाशय बिलकुल अपढ थे और जब उन्होने दस्तखतो को देखा तब वह फार्म को औंधा पकडे हुए थे। पिताजी अदालत मे मेरी लडकी को बराबर अपनी गोद मे लिये रहे। इससे उनके मुकदमे मे उसे पहली मर्त्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैने हडताल कराने के लिए नोटिस बॉटे थे। उन दिनो यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा खयाल है कि इस वक्त ऐसा करना जुर्म है, क्योकि हम बडी तेजी के साथ डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज) की तरफ बढते जा रहे है—फिर भी मुझे सजा दे दी गई। तीन महीने बाद जब मै, पिताजी तथा दूसरे लोगो के साथ, जेल मे था तब मुझे इत्तिला मिली कि कोई मुकदमो की जाच करनेवाले अफसर इस नतीजे पर पहुँचे है कि मुझे जो सजा दी गई वह गलत है और इसलिए मुझे छोडा जायगा। मुझे इस बात से बडा अचरज हुआ, क्योकि मेरे मुकदमे की जॉच कराने के लिए मेरी तरफ से किसीने कोई कार्रवाई नही की थी। ऐसा मालूम पडता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जॉच करनेवाले जजो मे मुकदमो की जाच करने का एकाएक जोश उमड आया हो। मुझे पिताजी को जेल मे छोडकर बाहर जाने मे बहुत दु ख हुआ।

मैने तय कर लिया कि करीब-करीब फौरन ही अहमदाबाद जाकर गॉधीजी से मिलूगा। लेकिन मेरे वहा पहुंचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मै साबरमती-जेल मे ही जाकर मिल सका। उनके मुकदमे के वक्त मै अदालत मे मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसग था और हममे से जो लोग उस वक्त वहा मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नही सकते। जज एक अग्रेज था। उसने अपने व्यवहार मे काफी शराफत और भावना दिखाई। अदालत मे गाधीजी ने जो बयान दिया वह दिलो पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहा से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरे ले रहे थे और उनके जिन्दा वाक्यो और उनके चमत्कारी नक्शो और विचारो की छाप हमारे मन पर लगी हुई थी।

मै इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सीखचो के अन्दर बन्द थे। बाहर आकर मैने देखा कि काग्रेस का सगठन ठीक-ठीक काम नही कर रहा है और मैने उसे ठीक करने की कोशिश की। खास तौर पर मैंने विलायती कपडे के बायकाट मे दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपडे के करीब-करीब तमाम व्यापारियो ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान मे ही किसीसे खरीदेगे न विलायत से ही मगावेगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी कायम कर लिया था। मण्डल के कायदो मे यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोडेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायगी। मैंने देखा कि कपडे के कई बडे-बडे व्यापारियो ने अपना वादा तोड दिया है और वे विदेशो से विलायती कपड़ा मंगा रहे है। यह उन लोगो के साथ बहुत बडी नाइसाफी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगो ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपडे के दूकानदारो का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगो ने तय किया कि वादा तोडनेवाले दूकानदारो की दूकानो पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफी था। बस, जुर्माने दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानो से जो रुपया आया वह दूकानदारो के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियो के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होंने दूकानदारो के साथ बातचीत करने मे हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर जबरदस्ती रुपया ऐठने और लोगो को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर, राजद्रोह समेत, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफाई नहीं दी, अदालत मे सिर्फ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों मे सजा दी गई, जिनमे जबरदस्ती रुपया ऐठना और लोगो को दबाने के जुर्म शामिल थे लेकिन राजद्रोह वाला मामला नही चलाया गया। क्योकि गालिबन यह सोचा गया कि मुझे जितनी सजा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहातक मुझे याद है, मुझे तीन सजाये दी गई, जिनमे दो अठारह-अठारह महीने की थी और एक साथ चलने की थी। मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सजा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सजा थी। मै छः हफ्ते के करीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं भेजा गया।

१३

लखनऊ-ज़िला-जेल

१९२१ मे हिन्दुस्तान मे राजनैतिक अपराधो के लिए जेल जाना कोई नई बात न थी। ख़ासकर बग-भग-आन्दोलन के वक्त से तो बराबर ऐसे लोगो का ताता लगा रहा जो जेल जाते थे और जिनको अक्सर बडी लम्बी-लम्बी सजाये भी होती थी। बगैर मुकदमे चलाये नजरबन्दिया भी होती थी। लोकमान्य तिलक को जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बडे नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र मे छ साल कैद की सज़ा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नज़रबन्दियो और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ गया, और षड्यन्त्रो के मामले बहुत होने लगे, जिनमे आमतौर पर मौत की या आजीवन कैद की सजाये दी जाती थी। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आजाद भी लडाई के जमाने मे नजरबन्द हुए थे। लडाई के बाद ही फौरन पजाब मे फौजी कानून जारी हुआ, जिसमे लोग बडी तादाद मे जेल गये और बहुत लोगो को षड्यन्त्र के या सरसरी मुकदमो मे सजाये दी गई। इस तरह हिन्दुस्तान मे राजनैतिक सजा होना एक काफी आम बात हो गई थी, मगर अभीतक खुद जान बूझ-कर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले मे उन्हे राजनैतिक सज़ा अपने-आप मिल जाती थी, या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया पुलिस उनको नापसन्द करती थी। लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत मे पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हा, दक्षिण-अफ्रीका म अलबत्ते सत्याग्रह की लडाई मे गाधीजी और उनके हज़ारो अनुयायियो ने इससे उलटी ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ मे जेलख़ाना करीब-करीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सजायाफ्ता आदमी को अपने अन्दर हडप जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है। अन्दाज़ से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बडे-बडे खतरनाक जीव होगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना तो बाये हाथ का खेल था। हमारे ख़याल से जेल एकान्त, बेइज़्ज़ती और कष्टो की जगह थी, और सबसे बडी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का डर लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार ज़िक्र सुनते रहने के कारण, और अपने कई साथियो के चले जाने से, हम इस ख़याल के आदी हो गये और उसके बारे म अनोखापन और अनिच्छा की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी

उसकी तेजी कम हो गई । परन्तु दिमागी तैयारी पहले से कितनी भी की हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाखिल होते थे तो वह क्षोभ और उद्वेग से नहीं बच सकती थी । उस जमाने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज से हिन्दुस्तान के कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाखिल हो चुके है, हालाकि बहुत करके इलजाम फौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफा की रू से लगाया गया है । इनमे से हजारो तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये है । उन्हे यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातो की उम्मीद रक्खे, और जहाँतक कोई आदमी विचित्र रूप मे असाधारण नीरसता और उदासी के साथ कष्ट-सहन और भयकर एकसापन की जिन्दगी के लायक अपने-आपको बना सकता है, वहाँ तक उन्होने वहाँकी अजीब जिन्दगी के मुआफिक अपनेको बनाने की कोशिश की है । हम उसके आदी हो जाते है, क्योंकि इन्सान करीब-करीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नई बार हम उस फाटक के अन्दर दाखिल होते है तो फिर वही कुछ पुरानी क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और नब्ज उछलने लगती है और आँखे बरबस बाहर की हरियाली और चौडे मैदानो, चलते-फिरते लोगो और गाडियो और जान-पहचानवालो के चेहरो की तरफ, जिन्हे अब बहुत अर्से तक देखने का मौका नही मिलेगा, आखिरी नजर डालने लगती है ।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक-सी खतम हो गई, मेरे और जेल-कर्मचारियो दोनो ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे । जेल के अफसर इन नई तरह के अपराधियो की आमद से घबरा-से गये थे । इन नये आनेवालो की महज तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढती ही जाती थी, एक गैर-मामूली थी । उन्हे एक ऐसी बाढ-सी मालूम होती थी कि कही अपनी पुरानी कायम हदो को बहा न ले जाय । इससे भी ज्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढग के थे । यो आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम-वर्ग के बहुत ज्यादा थे । लेकिन इन सब वर्गों मे एक बात सामान्य थी । वे मामूली सजायाफ्ता लोगो से बिलकुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीके से बर्ताव नही किया जा सकता था । अधिकारियो ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा कायदो की जगह दूसरे कायदे न थे और न [illegible] की कोई मिसाले थी, न कोई पहले का तजुर्बा । [illegible] न तो बहुत दब्बू था और न नरम । और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज्यादा होने से उनमे यह खयाल भी आ गया था कि हममे कुछ ताकत है । बाहर के आन्दोलन ने और जेलखानो के अन्दर के मामलात मे पब्लिक की नई

दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, यह और भी मजबूत हो गया था। ऐसे कुछ-कुछ तेज रुख के होते हुए भी हमारी आम नीति जेल-अधिकारियो से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी इमदाद न करते तो अफसरो की तकलीफे बहुत ज्यादा हो गई होती। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था, और कुछ बैरको मे, जिनमे हमारे स्वयसेवक थे, चलकर उन्हे शान्त करने या किसी बात के लिए राजी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आये थे, और कई स्वयसेवक तो प्राय बिना बुलाये खुद जबरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नही कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफसोस जाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम मे न पडने का इकरार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हद तक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जोकि खानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ काग्रेस-स्वयसेवको को भाग जाने देने मे कामयाब हो सके, तो मै आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफारिश कर दूँगा।

हमारे साथ के ज्यादातर कैदी जेल के भीतरी चक्कर की बडी-बडी बैरको मे रक्खे जाते थे। हममे से अठारह को, जिन्हे मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड मे रक्खा गया था, जिसके साथ एक बडी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मै, इन लोगो के लिए एक अलग सायबान था, जो करीब-करीब २०×१६ फीट था। हमे एक बैरक से दूसरी बैरक मे आने-जाने की काफी आजादी थी। बाहर के रिश्तेदारो से मुलाकात बहुत बार करने की इजाजत थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियो और हमारी लडाई की बढती की ताजी घटनाओ की रोजाना खबरो से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बातचीत और बहस मे बहुत वक्त जाता था, और मै पढना या दूसरा ठोस काम कुछ नही कर पाता था। मै सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ करने और धोने मे, पिताजी के और अपने कपडे धोने मे और चर्खा कातने मे खर्च किया करता था। वे जाडे के दिन थे, जोकि उत्तर-हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तो मे हमे अपने स्वयसेवको के लिए, या उनमे से जो पढे-लिखे नही थे उनके लिए, हिन्दी उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढाने के वास्ते [illegible] की इजाजत मिल गई थी। तीसरे पहर हम [illegible] करते थे।'

१ अखबारो मे एक वाहियात खबर निकली है, और हालाकि उसका [illegible]

धीरे-धीरे बन्धन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के
हिस्से में जहाँ हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया
तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। करीब-करीब उसी वक्त मैं जेल में
दिया गया।

मैं मार्च के शुरू में बाहर निकला, और छः या सात हफ्ते बाद, अप्रैल में,
लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालतें बहुत बदल गई थीं। पिताजी को बद
कर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फौरन ही
कायदे लागू कर दिये गये थे। बड़े वीविंग-शेड के, जहाँ पहले मैं रक्खा गया
सारे कैदी भीतरी जेल में बदल दिये गये और वहाँ बैरकों में रख दिये गये
हरेक बैरक करीब-करीब जेल के अन्दर की जेल ही थी, और एक बैरक वा
को दूसरी बैरक वालों से मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाजत न थी
मुलाकात और खत अब कम किये जाकर महीने भर में एक कर दिये गये। खाना बहु
मामूली कर दिया गया, हालाँकि हमें बाहर से खाने की चीजें मँगाने की इजाजत थी

जिस बैरक में मैं रक्खा गया उसमें करीब पचास आदमी रहते होंगे। ह
सबको एक-साथ ठूँस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फीट के फास
पर थे। खुश-किस्मती से उस बैरक का करीब-करीब हरेक आदमी मेरा जा
हुआ था। और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिलकुल
मिलना तो नागवार होता गया। हमेशा उसी झुण्ड को देखना-दिखाना, वही छोटे-छो
झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिलकुल
मिलना। हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लि
बैरकों के चारों तरफ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बातचीत इस हद त
करते कि जिससे दिमाग थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत
न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था,
जिसमें उसका आनन्द, शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत थोड़ा था, और यह
सब ऐसे लोगों के साथ कि जो सब तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन

किया जा चुका है फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। वह यह
कि उस वक्त के यू० पी० के गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के
पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल
में कुछ नहीं भेजा। और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज
भेजी। वास्तव में, कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० ई० से, उन्हों-
ने शराब पीना छोड़ दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

मे इस बात का बडा उद्वेग रहता था, और मै तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालो के बाद तो जेल मे मुझे खूब एकान्त ओर अकेलापन मिल गया, जबकि महीनो तक लगातार मुझे किसी-किसी जेल-अधिकारी के सिवा ओर किसीकी सूरत दिखाई न देती थी। तब फिर मेरे मन मे उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियो की जरूरत महसूस करता था। अब मै कभी-कभी १९२२ मे लखनऊ-जिला-जेल मे इकट्ठा रहने की हालत को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मै यह खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनो हालतो मे से मुझे अकेलापन ही ज्यादा पसन्द है, बशर्ते कि मुझे पढने ओर लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे ओर खुश-मिजाज थे, ओर हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त मे रहना चाहते थे। ज्यादा-से-ज्यादा एकान्त जो मै पा सकता था यही था कि मै बैरक छोड़कर अहाते के खुले हिस्से मे आ बैठता था। इन दिनो बारिश का मोसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मै गरमी का, ओर कभी-कभी बूदा-बूदी का भी मुकाबिला कर लेता था, ओर ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से मे लेटकर मै आकाश ओर बादलो को निहारा करता था, ओर जितना पहले कभी नही किया इतना महसूस करने लगा कि ये बादल कितने गजब के सुन्दर-सुन्दर रग बदलते है—

"अहो! मेघमालाओ का यह
पल-पल रूप पलटना;
कितना मधुर स्वप्न है लेटे—
लेटे इन्हे निरखना!" [१]

ने इस तरह मुझे प्रभावित नही किया। मैने कई बार पहाडो पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की तारीफ की थी और उस समय का आनन्द लूटा था एवं उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से उस समय आन्दोलित हो उठता था। मगर मै उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोजाना की बाते है, और दूसरी बातो की तरफ ध्यान देने लगता। मगर जेल मे तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई नही देते थे, क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और सुबह देर से गरम किरणे लेकर सूरज हमारी रक्षक दीवारो के ऊपर से निकलता था। कहीं रग का नामोनिशान नही था, और हमारी आँखे सदा उन्ही मटमैली दीवारो और बैरको का नजारा देखते-देखते पथरा गई थी। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रगो को देखने के लिए भूखी थी ही, और जब बारिशी बादल अठखेलियाँ करते हुए गुजरने लगे, तरह-तरह की शक्ले बनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के रगो के चमत्कार दिखाने लगे, तो मै ताज्जुब और खुशी से उन्हे निहारने लगा और देखते-देखते मानो आनन्द मे पागल हो जाता। कभी-कभी बादलो के बीच मे से कुछ हिस्सा अलग हो जाता था और वर्षाऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उस खाली जगह मे से गहरा नीला आस्मान नज़र आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर रुकावटे धीरे-धीरे बढने लगी, और ज्यादा-ज्यादा सख्त कायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप कर ली थी, और वह हमे यह महसूस करा देना चाहती थी कि उसका मुकाबिला करने की जुर्रत करने के सबब वह हमपर किस कदर नाराज है। नये कायदो के चालू करने या उनके अमल मे लाने के तरीको से जेल-अधिकारियो और राजनैतिक कैदियो के बीच झगडे होने लगे। कई महीनो तक करीब-करीब हम सबने—हम लोग उसी जेल मे कई सौ थे—विरोध के तौर पर मुलाकाते करना छोड दिया था। जाहिरा यह खयाल किया गया कि हममे से कुछ लोग झगडा खडा कराने वाले है, इसलिए हममे से सात आदमियो को जेल के एक दूर के हिस्से मे बदल दिया गया, जोकि खास बैरको से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगो को अलग किया गया उनमे, मै, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोजफ, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गाधी थे।

हमे एक छोटे अहाते मे भेजा गया, और वहा रहने मे कुछ तकलीफे भी थी। मगर कुल मिलाकर मुझे तो उस तबदीली से खुशी ही हुई। यहा भीड-भाड नही थी, हम ज्यादा शान्ति और ज्यादा एकान्त से रह सकते थे। पढने या दूसरे काम के लिए ज्यादा [illegible] था। हम जेल के दूसरे हिस्सो के अपने साथी-कैदियो [illegible]

अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये, क्योंकि अब सब राजनैतिक कैदियो के लिए अखबार भी बंद कर दिये गये थे।

हमारे पास अखबार नही आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलो मे हमेशा टपका करती है। हमारी माहवारी मुलाकातो और खतो से भी हमे बाज-बाज ऐसी-वैसी खबरे मिल जाती थी। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमजोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुजर गया था और कामयाबी धुधले भविष्य मे दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस मे दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलो के चुनावो मे हिस्सा ले और हो सके तो इन कौन्सिलो पर कब्ज़ा कर ले, दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम मे कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गाधीजी तो जेल मे ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शो ने हमे ज्वार की लहरो की चोटी पर बैठे हुए की तरह आगे बढ़ाया था वे छोटे-छोटे झगडो और सत्ता प्राप्त करने की साज़िशो के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि जोश गुजर जाने के बाद रोजाना का काम चलाने की बनिस्बत उत्साह और जोश के वक्त मे बडे-बडे और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है। बाहर की खबरो से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और उसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते है उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी, हमारे अन्दर यह एक तसल्ली का खयाल रहा कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रखा है, और हमने ठीक काम ही किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा यह तो साफ दिखाई नही देता था, मगर आगे कुछ भी हो, हमे ऐसा मालूम होता था कि हम कईयो की किस्मतो मे तो जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा जेलो मे गुज़ारना ही बदा है। इसी तरह की बाते हम आपस मे किया करते थे, और मुझे खास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोज़फ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुँचे थे। उन दिनो के बाद जोज़फ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये है, और यहाँ तक कि हमारे कार्यो के एक जबरदस्त आलोचक भी बन गये है। क्या पता कि लखनऊ-ज़िला-जेल के सिविल वार्ड मे शरद-ऋतु की एक शाम को हुई उस बात-चीत की याद उनको कभी आती है या नही?

ऐसे सोचते हुए हम और सवाल करने मे जुट पड़े। [illegible] आते है चारो तरफ [illegible]

...तरह मुझे प्रभावित नही किया । मैने कई वार पहाडो पर और समुद्र पर सू-
दय और सूर्यास्त के दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की तारीफ की थी और उस समय
आनन्द लूटा था एवं उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से उस समय आन्दोलित
हो उठता था । मगर मै उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोजाना आ...
वाते है, और दूसरी वातो की तरफ ध्यान देने लगता । मगर जेल मे तो सूर्योदय और
सूर्यास्त दिखाई नही देते थे, क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और सुबह देर से गरम
किरणे लेकर सूरज हमारी रक्षक दीवारो के ऊपर से निकलता था । कही रग का
नामोनिशान नही था, और हमारी आँखे सदा उन्ही मटमैली दीवारो और बैरको
का नजारा देखते-देखते पथरा गई थी । वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रगो का
देखने के लिए भूखी थी ही, और जब वारिशी वादल अठखेलियाँ करते हुए गुज़र-
लगे, तरह-तरह की शक्ले वनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के रगो के चमत्कार दिखा-
लगे, तो मै ताज्जुव और खुशी से उन्हे निहारने लगा और देखते-देखते मानो आनन्द
मे पागल हो जाता । कभी-कभी वादलो के बीच मे से कुछ हिस्सा अलग हो जाता
था और वर्षाऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था । उस खाली जगह मे
गहरा नीला आस्मान नजर आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम
होता था ।

हमारे ऊपर रुकावटे धीरे-धीरे वढने लगी, और ज्यादा-ज्यादा सख्त कायदे लागू
किये जाने लगे । सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप कर ली थी, और वह हमे
महसूस करा देना चाहती थी कि उसका मुकाविला करने की जुर्रत करने के सबब
वह हमपर किस कदर नाराज है । नये कायदो के चालू करने या उनके अमल
लाने के तरीको से जेल-अधिकारियो और राजनैतिक कैदियो के वीच झगडे होने लगे
कई महीनो तक करीव-करीव हम सवने—हम लोग उसी जेल मे कई सौ थे—विरो...
के तौर पर मुलाकाते करना छोड दिया था । जाहिरा यह खयाल किया गया
कि हममे से कुछ लोग झगडा खडा कराने वाले है, इसलिए हममे से सात
आदमियो को जेल के एक दूर के हिस्से मे वदल दिया गया, जोकि खास बैरको से
विलकुल अलहदा था । इस तरह जिन लोगो को अलग किया गया उनमे, मै, पुरुषोत्त...
...दास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोजफ, वालकृष्ण शर्मा और देवदास गाँधी थे ।
हमे एक छोटे अहाते मे भेजा गया, और वहाँ रहने मे कुछ तकलीफे भी थी ।
...मिलाकर मुझे तो इस तबदीली से खुशी ही हुई । यहाँ भीड-भाड नही थी,
...न्ति और ज्यादा एकान्त से रह सकते थे । पढने या दूसरे काम के लिए
...मिलता था । हम जेल के दूसरे हिस्सो के अपने साथी-कैदियो से

अलहदा कर दिये गये और वाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये, क्योकि अव सव राजनैतिक कैदियो के लिए अखवार भी वद कर दिये गये थे ।

हमारे पास अख़बार नही आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खवर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलो मे हमेशा टपका करती है । हमारी माहवारी मुलाकातो और खतो से भी हमे वाज-वाज ऐसी-वैसी खबरे मिल जाती थी । हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन वाहर कमजोर हो रहा है । वह चमत्कारिक युग गुजर गया था और कामयावी धुधले भविष्य मे दूर जाती हुई मालूम हुई । वाहर, काग्रेस मे दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी । पहला दल, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कॉग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौसिलो के चुनावो मे हिस्सा ले और हो सके तो इन कौन्सिलो पर कब्जा कर ले, दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम मे कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था । उस समय गाधीजी तो जेल मे ही थे । आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शो ने हमे ज्वार की लहरो की चोटी पर वैठे हुए की तरह आगे वढाया था वे छोटे-छोटे झगडो और सत्ता प्राप्त करने की साजिशो के द्वारा दूर उछाले जाने लगे । हमने यह महसूस किया कि जोश गुजर जाने के वाद रोजाना का काम चलाने की वनिस्वत उत्साह और जोश के वक्त मे बडे-वडे और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है । वाहर की खवरो से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते है उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया । मगर, फिर भी, हमारे अन्दर यह एक तसल्ली का खयाल रहा कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने ठीक काम ही किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो । आगे क्या होगा यह तो साफ दिखाई नही देता था, मगर आगे कुछ भी हो, हमे ऐसा मालूम होता था कि हम कईयो की किस्मतो मे तो जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा जेलो मे गुजारना ही वदा है । इसी तरह की वाते हम आपस मे किया करते थे, और मुझे खास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोज़फ से एक वार वात-चीत हुई थी जिसमे हम इसी नतीजे पर पहुँचे थे । उन दिनो के वाद जोज़फ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये है, और यहाँ तक कि हमारे कार्यो के एक जवरदस्त आलोचक भी वन गये है । क्या पता कि लखनऊ-जिला-जेल के सिविल वार्ड मे शरद-ऋतु की एक शाम को हुई उस वात-चीत की याद उनको कभी आती है या नही ?

हम रोजाना कुछ काम और कसरत करने मे जुट पडे । कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारो तरफ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो वैलो की तरह

से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बडा चमडे का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से शाक-भाजी के बाग मे पानी देते थे। हममे से ज्यादातर लोग रोजाना थोडा-थोडा सूत कातते थे। मगर जाडे के दिनो और लम्बी रातो मे पढना ही मेरा खास काम था। करीब-करीब हमेशा जब-जब सुपरिन्टेन्डेन्ट आता तो वह मुझे पढता हुआ ही देखता था। यह पढने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैने तो अपना साधारण पढना बारह साल की उम्र मे ही खतम कर दिया था। बेशक, पढना छोड देने से उस बहादुर अग्रेज कर्नल को यह फायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नही, और शायद इसीसे बाद मे उसे युक्त-प्रान्त की जेलो के इन्सपेक्टर-जनरल की जगह पर तरक्की पा जाने मे मदद मिली।

जाडे की लम्बी रातो और हिन्दुस्तान के साफ आस्मान ने हमारा ध्यान तारो की तरफ खीचा, और कुछ नकशो की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तजार करते थे और अपने पुराने परिचितो के दर्शन के सतोष से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुज़रते-गुज़रते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया मे असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओ, पत्नियो और बहनो पर पडा। वे इन्तजार करते-करते थक गई, और जब कि उनके प्यारे जेल के सीखचो मे बन्द थे उन्हे अपनेको आजाद रखना एक लानत मालूम होती थी।

दिसम्बर १९२१ मे हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, मे पुलिसवालो ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानो को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। काग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लडकी इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराज़गी ज़ाहिर की। मुझे आशका है कि ये शुरू की बाते आमतौर पर पुलिस-दल के बारे मे उसके भावी विचारो पर असर डाल सकती है।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमे मामूली गैर-राजनैतिक कैदियो से अलग रक्खा [illegible] ी तोर पर राजनैतिक कैदियो के लिए अलग जेले मखसूस कर [illegible] ी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम [illegible] लेते थे, और उनमे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया

कि उन दिनो वास्तव मे जेल की जिन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट ओर जोर की रिश्वतखोरी ओर भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना बिलकुल अजीव तौर पर खराव था, मैंने कई मर्त्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर उसे बिलकुल न खाये जाने लायक पाया। कर्मचारी आमतोर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हे बहुत कम तनख्वाहे मिलती थी। मगर उनके लिए कैदियो या कदियो के रिश्तेदारो से हर मुमकिन मोके पर रुपया ऐठकर अपनी आमदनी बढाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टो और वार्डरो के फरायज ओर जिम्मेदारियाँ, जेल-मैनुअल मे लिखे मुताबिक, इतनी ज्यादा और इतनी किस्म की थी कि किसी भी आदमी के लिए उन्हे ईमानदारी या योग्यता के साथ पूरा करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त मे (और सम्भवत दूसरे प्रान्तो मे भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का कैदी के सुधार या उसे अच्छी आदते या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई ताल्लुक न था। जेल की मशक्कत का मकसद सज़ायाफ्ता आदमी को तग करना था[१] और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह तावे मे कर लिया जाय, जिससे जव वह जेल से छूटे तो दिल मे उसका डर और खौफ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज़ आवे।

पिछले कुछ वरसो मे कुछ सुधार जरूर हुए है। खाना थोडा सुधरा है, और

१. युक्तप्रान्त के जेल-मैनुअल की धारा ६८७ में, जो अब नये सस्करण से हटा दी गई है, लिखा था :—

"जेल में मशक्कत करना, सिर्फ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि ख़ासकर सजा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा ख़याल न किया जाय कि उससे खूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफदेह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को खौफ़ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुक़ाबिले में रूस के एस० एफ० एस० आर० की ताजीरात फौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है :—

धारा ६—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह मक़सद नहीं है कि शारीरिक यातनायें दी जायँ, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह मकसद है कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सजायें देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को गैरजरूरी या फालतू तकलीफ न पहुँचनी चाहिए।"

कपडे वगैरा भी सुधरे है। यह भी ज्यादातर राजनैतिक कैदियो के छूटने के बाद बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरो की तनख्वाह मे भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहे। लडको और छोटी उम्र के कैदियो को पढना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोडी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारो से असली सवाल कुछ भी हल नही होता है ओर अब भी ज्यादातर वही पुरानी स्पिरिट चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक कैदियो को मामूली कैदियो के साथ किये जाने वाले नियमित व्यवहार को ही सहना पडा। उन्हे कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नही मिला, मगर दूसरो से ज्यादा तेज-तर्रार और समझदार होने के कारण उनमे आसानी से कोई बेजा फायदा नही उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सका। इस सबब से आपही कर्मचारी उन्हे पसन्द नही करते थे, ओर जब मोका आता तो उनमे से किसी को भी जेल के कायदे टूटने पर सख्त सजा दी जाती थी। ऐसे ही कायदे तोडने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपनेको 'आज़ाद' कहता था, बेत लगाये जाने की सज़ा दी गई। वह नगा किया गया ओर बेत की टिकटी से बाध दिया गया, और जैसे-जैसे बेत उसपर पडते थे ओर उसकी चमडी फाडकर घुस जाते थे, वह 'महात्मा गाधी की जय' चिल्लाता था। हर बेत के साथ वह लडका यही नारा लगाता रहा, जबतक कि वह बेहोश न हो गया। बाद मे वही लडका उत्तर भारत के आतककारी कार्यो के दल का एक नेता बना।

फिर बाहर

आदमी को जेल मे कई बातो का अभाव मालूम होता है, मगर शायद स्त्रियो के बोलने और बच्चो के हँसने की आवाज का अभाव तो सबसे ज्यादा महसूस होता है। जो आवाजे वहाँ आमतौर पर सुनाई देती है वे कोई बडी खुशगवार नही होती है। वे ज्यादातर कठोर और डराने की होती है। भाषा जगली होती है और उसमे गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एकबार एक नया अभाव मालूम हुआ। मै लखनऊ-जिला-जेल मे था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैने कुत्ते का भौकना नही सुना है।

जनवरी १९२३ के आखरी दिन, लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक कैदी छोड दिये गये। उस समय लखनऊ मे एकसौ और दोसौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के कैदी होगे। दिसबर १९२१ या १९२२ के शुरु मे जिन लोगो को एक साल या कम की सजा मिली थी, वे सब तो अपनी सजा पूरी करके चले गये थे; सिर्फ वे जिनकी लम्बी सजाये थी, या जो दुबारा आ गये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बडा ताज्जुब हुआ, क्योकि आम रिहाई की पहले से कोई खबर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक कैदियो की आम रिहाई कर देने के पक्ष मे एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार की कार्य-कारिणी ऐसी माँगो की सुनवाई बहुत कम करती है। लेकिन इस समय ऐसा हुआ कि सरकार की निगाह मे यह वक्त मौजूँ था। काग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नही कर रही थी, और काँग्रेसवाले आपसी झगडो मे ही फँसे हुए थे। जेल मे भी नामी-गिरामी काग्रेसवाले ज्यादा नही थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गई।

जेल के फाटक से बाहर निकलने मे हमेशा एक राहत का भाव और आनन्दपूर्ण उत्साह रहता है। ताजा हवा और खुले मैदान, सडको पर के चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रो से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग मे भर आते है और कुछ-कुछ दीवाना बना देते है। बाहर की दुनिया को देखने से पहलेपहल जो असर होता है उसमे प्राय पागलो जैसा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव रहा थोडी देर के लिए ही, क्योकि काग्रेस-राजनीति की दशा काफी निराशाजनक थी। ऊँचे आदर्शो की जगह षड्यत्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीको से काँग्रेस-तन्त्र पर कब्जा करने की कोशिश करने लगे थे, जिनसे कुछ भी मृदुल भावना रखनेवाले लोगो की निगाह मे राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिलकुल खिलाफ था, क्योंकि उ
जरूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें करनी पड़ेंगी
अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूस
राजनैतिक प्रोग्राम ही न था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर जोर दे
थे, जोकि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह
था कि उससे हमारे कार्यकर्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इसमें उन
लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे, और
यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे सघर्ष की लहर के बाद, कि जो कामयाब न हुई हो,
कौंसिल-सम्बन्धी कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धु दास और मेरे
पिताजी ने, जोकि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं
बल्कि बाधा डालने और मुकाबिला करने की दृष्टि से सोचा था।
देशबन्धु दास कौंसिलों में भी राष्ट्रीय सग्राम को जारी रखने के उद्देश से वहाँ
जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था।
१९२० में जो उन्होंने कौंसिलों का बहिष्कार मंजूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने
दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में
पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता
था कि गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आना आजमाया जाय। कई नौजवानों के दिमाग
में यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफीन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर कब्जा कर
लिया और फिर वे कामन्स-सभा में दाखिल नहीं हुए, उसी तरह यहाँ भी किया
जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस
तरीके को अख्त्यार करने के लिए जोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झु
वाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों खिलाफत-सम्बन्धी एक डेपुटेशन के स
योरप में थे। लौटने पर उन्होंने भी बहिष्कार के इस तरीके पर अफसोस जाहि
किया था। उन्हें सिनफीन-मार्ग ज्यादा पसन्द था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में
क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वकत न थी, क्योंकि आखिरकार गांधीजी
का दृष्टिकोण ही कायम रहने को था। वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह
खयाल किया गया कि तफसील के मामले में उन्हींको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए।
सिनफीन तरीके के बारे में उनके खास ऐतराज (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के
अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट
देने के मुकामों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफीन तरीके
को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के

दिमाग मे उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौसिलो की तरफ ही खिचेगे और उन्हे उसके बाहर रहना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलन मे इतना अनुशासन और शक्ति नही है कि देर तक उन्हे बाहर रक्खा जा सके, ओर धीरे-धीरे अपनी स्थितियो से गिरकर लोग कौसिलो के जरिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फायदा उठाने लगेगे।

इन दलीलो मे सचाई काफी थी, और सचमुच १९२४-२६ मे जब स्वराज-पार्टी कौसिलो मे गई तब बहुत-कुछ ऐसा हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर काग्रेस १९२० मे कौसिलो पर कब्जा करना चाहती तो क्या हुआ होता ? इसमे शक नही हो सकता कि चूकि उस समय खिलाफत-कमिटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनो ही कौसिलो की करीब-करीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३४ मे) यह फिर चर्चा है कि काग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खडे करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे कई बडी-बडी दरारे पड चुकी है, अत अगले चुनाव मे काग्रेस को कितनी ही कामयाबी क्यो न मिले वह उतनी नही हो सकती जितनी १९२० मे हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगो के साथ मैने भी कोशिश की कि विरोधी दलो मे कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमे कुछ भी सफलता न मिली, और मै परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी झगडो से ऊब उठा। तब मै तो युक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से काग्रेस को सगठित करने के काम मे लग गया। पिछले साल के धक्के के बाद करने के लिए काम बहुत था। मैने बहुत मेहनत की, मगर उसमे मेरा कोई खास उद्देश न था। असल मे मेरे दिमाग के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नई तरह का काम आ खडा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तो के अन्दर ही मै इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी की सदारत पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का जिक्र नही किया था, बल्कि मेरा खयाल तक नही किया था। मगर अन्तिम घडी मे काग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मै ही उनके दल मे एक ऐसा आदमी हूँ जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर मे बडे-बडे काग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियो के प्रेसिडेन्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई-कार्पोरेशन के प्रेसिडेन्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त मे ज्यादातर बडी म्युनिसिपैलिटियो मे काग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के सभी मुख्तलिफ कामों में दिलचस्पी लगी और मैं उसमें ज्यादा-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालों ने लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बांधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आ हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लि और म्युनिसिपल तन्त्र को साफ-सूफ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इसी बात के लिए काफी मेहनत की। उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था, और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन मुख्तलिफ कामों के सबब अक्सर मुझे रोज़ाना पन्द्रह पन्द्रह घंटे तक काम करना पड़ता था, और दिन खत्म होने पर मैं अपनेको बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आँखों के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के तत्कालीन चीफ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर जाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होने वाली है। उनकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब-सा हुआ। मैं उन्हें नहीं जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालात के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ एक ही मुकदमे की बहस की थी, और हाइकोर्ट में मेरा आखिरी ही मुकदमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना-हो, मेरी तरफ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनकी यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं खूब तरक्की करूंगा। और इसलिए मुझे अंग्रेज़ों के दृष्टि-कोण को समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज ऐसा ही समझते हैं, कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिज्ञ ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गये हैं कि सामाजिक दायरे में अंग्रेजों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीसे नाराज़गी, कड़वापन, और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई जिम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेजी क्लब में नहीं चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात कतई बेबुनियाद है और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है[1]। मगर कई

[1] घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय २८ का फुटनोट देखिए।

अग्रेजो को ऐसी मिसाले, चाहे वे सही हो या गलत, राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफी कारण मालूम होती है। दरहकीकत, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले मे कोई खास शिकायत थी ही नही। व्यक्तिगत रूप से अग्रेज हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे और उनसे हमारी अच्छी बनती हे, हालॉकि सभी हिन्दुस्तानियो की तरह बेशक हमे अपनी जाति की गुलामी का अहसास रहा और वह हमे बहुत ज्यादा खटकती रही। मै मानता हूँ कि आज भी मेरी अग्रेजो से बहुत अच्छी पटती हे, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझे बडा बनकर अपनाना न चाहता हो, और इतने पर भी हमारे सम्बन्धो मे खुश-मिजाजी की कमी नही होती। शायद नरम दलवालो तथा अन्य लोगो की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान मे अग्रेजो से राजनैतिक सहयोग करते है, मेरा अग्रेजो से ज्यादा मेल खाता हे।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, स्पष्टवादिता और शिष्टतापूर्ण वर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डाले। मेरी उनसे कई वार मुलाकात हुई। किसी-न-किसी म्युनिसिपल टैक्स पर ऐतराज़ करने के वहाने वह मुझसे मिलने आया करते थे और दूसरी वातो पर वहस किया करते थे। एक मर्तवा उन्होने हिन्दुस्तान के लिवरलो पर खूव हमला किया। वह उन्हे डरपोक ढीले, मौका-परस्त—जिनमे न चरित्र-वल है, न दमखम—कहने लगे, और उनकी भाषा मे कठोरता और घृणा आ गई। उन्होने कहा—"क्या आप समझते है कि हमारे दिल मे उनके लिए कोई इज्ज़त है ?" मुझे ताज्जुव होता था कि वह मुझसे इस तरह की वाते क्यो कर रहे है, शायद उनका खयाल था कि ऐसी वातो से मै खुश होऊगा। इसके वाद वात-चीत फेरकर वह नई कौसिलो, उनके मत्रियो और मत्रियो को देश-सेवा करने का कितना वडा मौका हासिल है इन वातो की चर्चा करने लगे। देश के सामने सवसे जरूरी सवाल तालीम का है। क्या किसी शिक्षा-मत्री को, जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आजादी हो, लाखो आदमियो की किस्मत सुधारने का मौका नही है, क्या यह जिन्दगी का सवसे वडा मौका नही है ? उन्होने कहा, फर्ज कीजिए कि आप जैसा कोई आदमी, जिसमे समझदारी, चरित्र-वल, आदर्श और आदर्शो को अमल मे लाने की शक्ति हो, प्रान्त की शिक्षा का जिम्मेदार हो, तो क्या आप अद्भुत काम करके नही दिखा सकते ? और उन्होने कहा कि मै हाल मे ही गवर्नर से मिला हूँ, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति पर चलने की पूरी आजादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह जरूरत से ज्यादा आगे वढ गये है, उन्होने कहा कि वह सरकारी तौर पर किसीकी तरफ से कोई वादा तो नही कर सकते, मगर जो तजवीज़ उन्होने रक्खी है वह उनकी जाती ही है।

सर ग्रिमवुड ने बड़ी सफाई और टेढ़े-मेढ़े तरीके से जो प्रस्ताव रक्खा उस मेरा ध्यान तो गया। मगर सरकार का मन्त्री बनकर उसका साथ देने का कर भी नहीं सकता था। वास्तव में इस ख्याल से ही मैं नफरत करता था। उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौका पाने की मैंने अक्सर तमन्ना की है। विध्वंस, आन्दोलन और असहयोग मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकतीं। फिर भी हमारी किस्मत में यही लिखा है कि हम संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान में से गुजरने के बाद ही उस दशा में पहुँच सकते हैं जहाँ हम रचना कर सकते हैं, और सम्भव है कि हममें से ज्यादातर लोग अपनी शक्तियों और जीवन को उन परिवर्तनशील रेगिस्तानों में से गुजरने की सख्त जद्दोजहद करते हुए ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारे बच्चों या बच्चों के बच्चों के हाथ से होगा।

उन दिनों, कम-से-कम युक्तप्रान्त में तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये थे। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के जमाने में काम कर रहे थे, हट गये थे। जब कांग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा निजाम को तोड़ना चाहा, तब सरकार ने कांग्रेस से लड़ने के लिए नरम-दली मन्त्रियों से फायदा उठाने की कोशिश की। मन्त्रि-मण्डल के लोग उन दिनों उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योंकि उस मुश्किल वक्त में उन्हें सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह जरूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और इज्जत उन्हें बतौर हक के दिये गये हैं, मगर वे नहीं जानते थे कि यह तो कांग्रेस के सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चालमात्र थी। जब वह आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह में नरम-दली मन्त्रियों की कीमत बहुत गिर गई, और साथ ही वह मान और इज्जत भी जाती रही। मन्त्रियों को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला, और जल्दी ही उन्हें इस्तीफा दे देना पड़ा। तब नये मन्त्रियों के लिए तलाश होने लगी, और इसमें जल्दी कामयाबी नहीं हुई। कौंसिल में जो मुट्ठीभर नरम-दली लोग थे, वे अपने साथियों की, जो बगैर किसी लिहाज के निकाल बाहर किये गये थे, हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगों में से जो ज्यादातर जमींदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हों जो मामूली तौर पर भी तालीम-याफ्ता कहे जा सकें। कांग्रेस द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार होने से उनमें एक अजीब किस्म का गिरोह दाखिल हो गया था।

एक बात प्रसिद्ध है कि इसी समय, या कुछ वक्त बाद, एक शख्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मैं बहुत होशियार आदमी होने का फ... करता, मगर मैं अपनेको मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे

क लोगो से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूँ, और मैं समझता हूँ कि मेरी ऐसी शोहरत भी है, क्या सरकार चाहती है कि मैं मन्त्री-पद मजूर करलूँ और दुनिया मे अपने-आपको सख्त बेवकूफ जाहिर करूँ ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री सकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलो मे उनकी निगाह दूर तक नही जाती थी। मगर यह तो उनके बेकार उसूलो का कुसूर था। परन्तु एक पेशेवर की हैसियत से उनकी लियाकत अच्छी थी, और अपने दफ्तर का रोजमर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मन्त्री बने उनमे से कुछ जमीदार-वर्ग मे से आये, और उनकी शिक्षा, ज़ाब्ते के मानी मे भी, बहुत ही सीमित थी। मै समझता हूँ कि उन्हे ठीक तौर पर सिर्फ साक्षर कह सकते थे, इससे ज्यादा नही। कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियो को हिन्दुस्तानियो को बिलकुल नाकाबिल साबित करने के लिए ही चुना और ऊँची जगह पर मुकर्रर कर दिया था। उनके बारे मे यह कहना बिल्कुल मुनासिब होगा कि —

> दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊँचा उद्भव है,
> जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नही असभव है।'

तालीम-याफ्ता हो या नही, मगर इन मन्त्रियो की तरफ जमीदारो के वोट तो थे ही, और वे बडे अफसरो को बढिया गार्डन-पार्टिया भी दे सकते थे। भूख से तडपते हुए किसानो से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा इस्तैमाल और क्या हो सकता था !

१ रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का भावानुवाद। मूल पद्य इस प्रकार है—

> "Fortune advanced thee that all might aver
> That nothing is impossible to her"

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत से कामो में लग गया, ओर इस तरह मैने उन मसलो से बचने की कोशि की जो मुझे परेशानी मे डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना मुमकिन न था। जो सवालात बार-बार मेरे मन मे उठते थे, ओर जिनका कोई सतोपजनक जवाब मु नही मिलता था, उनसे मै कहाँ भाग सकता था ? बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहो आने प्रतिबिम्ब नही था। इन दिनो जो काम मै लग था वह सिर्फ इसलिए कि मै अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। उस वक्त ज आवरण मुझपर पडा हुआ था अब उससे मै निकल आया था, ओर अपने चारो तरफ हिन्दुस्तान मे ओर हिन्दुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैने बहुत-से ऐसे परिवर्त्तन देखे जिनकी तरफ अभीतक मेरा खयाल ही नही गया था। मैने नये-नये विचार देखे, ओर नये-नये सघर्ष, ओर मुझे प्रकाश के जगह उलटे बढती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गाधीजी के नेतृत्व मे मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सो की मैं बारीकी से छान-बीन करने लगा पर वह तो थे जेल मे। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नही सकते थे, ओर उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनो जो दो पार्टिया—कौसिल-पार्टी ओर अपरि वर्तनवादी—काम कर रही थी उनमे से कोई भी मुझे अपनी तरफ नही खीच रही थी। कौसिल-पार्टी जाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमे एक अन्धी गली मे लेजाकर पटक देगा। अपरि-वर्त्तनवादी महात्माजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषो के दूसरे सब अनुयायियो की तरह वे भी उनके उपदेशो के सार को न मानकर उनके अक्षरो के अनुसार चलते थे। उनमे सजीवता ओर सचालक-शक्ति नही थी, और अमल मे उनमे से ज्यादातर लोग लडाकू नही थे ओर सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमे एक गुण था। आम किसानो से उन्होने अपना सम्बन्ध बनाये रक्खा था, जबकि कौसिलो मे जानेवाले स्वराजी सोलहो आने पार्लमेण्टो की पैतरेबाजियो मे ही लगे रहे।

मेरे जेल मे छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियो के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नही देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, ओर उन्होने अपनी बहुत-सी [illegible] खर्च कर दी, भी तो मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात [illegible] ध्यान देने योग्य थी, जिसमे कि मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी

लगता था, कि उन्होने मुझपर कभी इस वात के लिए जोर या असर डालने की कोशिश नही की कि मैं स्वराजी हो जाऊँ, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनो वहुत उत्सुक थे। साफ ज़ाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन मे उनके साथ हो जाता तो उन्हे वडी खुशी होती, लेकिन मेरे लिए उनके दिल मे इतना ज्यादा खयाल था कि जहातक इस मामले से ताल्लुक था उन्होने सव कुछ मेरी मर्जी पर ही छोड दिया, मुझसे कभी कुछ नही कहा।

इन्ही दिनो मे मेरे पिताजी और देशवन्धु दास मे वहुत गहरी दोस्ती पैदा हो गई। यह दोस्ती राजनैतिक मित्रता से कही ज्यादा गहरी थी। इस दोस्ती मे मैंने जो मुहब्वत की गहराई और अपना-पन देखा उसपर कम अचरज न हुआ, क्योकि वडी उम्र मे तो गहरी दोस्तिया शायद ही कभी पैदा होती हो। पिताजी के मेल-मुलाकातियो की तादाद वहुत वडी थी। उनके साथ हँस-खेलकर जिन्दगी काटने का उनमे विशेष गुण था। लेकिन वह दोस्ती वहुत सोच-विचारकर ही करते थे, और जिन्दगी के पिछले सालो मे तो वह जीवन के मागत्य मे विश्वास खो बैठे थे। लेकिन उनके और देशवन्धु के वीच मे तो कोई वाधा न ठहर सकी, और दोनो एक-दूसरे को तहे-दिल से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशवन्धु से नौ वरस वडे थे। फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज्यादा ताकतवर और तन्दुरुस्त थे। हालाकि दोनो की कानूनी शिक्षा और वकालत की कामयावी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनो मे कई वातो मे वडा फर्क था। देशवन्धु दास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकता-मय—कवियो का सा—था। मेरा खयाल है कि उन्होने वगाली मे वहुत अच्छी कविताये भी लिखी है। वह वडे अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक अमली और रूखे-से थे, उनमे सगठन करने की वहुत वडी शक्ति थी, और मजहव का उनमे नामो-निशान भी न था। वह हमेशा लडाके रहे थे, हर वक्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगो को वह वेवकूफ समझते थे उनको कतई वरदाश्त नही कर सकते थे। कम-से-कम खुशी से तो नही करते थे। और वह अपने विरोध को भी वरदाश्त नही कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता तो उन्हे वह ऐसी चुनोती मालूम पडती जिसका वुरी तरह मुकावला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशवन्धु यद्यपि कई वातो मे एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनो का मेल वहुत ही उम्दा और कारगर सावित हुआ। इनमे हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। दोनो को आपस मे एक-दूसरे पर पूरा भरोसा था। यहातक कि दोनो ने एक-दूसरे को यह अख्तियार दे दिया

था कि किसी भी किसम का बयान या ऐलान निकालते वक्त दूसरे के नाम का इस्तेमाल कर सकते हे। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई जरूरत न थी।

स्वराज-पार्टी को मजबूती के साथ कायम करने मे और देश मे उसकी ताकत और धाक जमाने मे इस जाती दोस्ती का बहुत कुछ हाथ था। शुरू मे ही इस पार्टी मे छिन्न-भिन्न होनेवाली प्रवृत्तिया थी, क्योकि कोसिलो के जरिये अपनी जाती तरक्की की गुजाइश होने की वजह से बहुत-से मोका-परस्त ओर ओहदो के भूखे लोग उसमे आ घुसे थे। उसमे कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ ज्यादा सहयोग करने की तरफ था। चुनाव के बाद ज्योही ये प्रवृत्तिया सामने आने लगी, त्योही पार्टी के नेताओ ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अग को काटने मे न हिचकूँगा, और उन्होने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम किया भी।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन मे मुझे बहुत सुख व सतोष मिलने लगा, हालाँकि मै पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक सबधो मे मै बडा भाग्यशाली रहा हूँ। जबरदस्त कशमकश ओर मुसीबतो के वक्त मे मुझे अपने परिवार मे शान्ति ओर सान्त्वना मिली हे। मैने महसूस किया कि इस दिशा मे मै खुद कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मै कितना ऋणी हूँ। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ मेरी सनको ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति ओर तसल्ली की सबसे ज्यादा जरूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढग मे कुछ फर्क पड गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरो की तादाद भी बहुत कम कर दी थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम मे कोई कमी नही हुई थी। किसी हद तक तो गैर-जरूरी चीजो को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू खर्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीजे, घोडे-गाडिया और घर-गृहस्थी की वे सब चीजे जो हमारे रहन-सहन के नये ढग के लिए मौजूँ नही थी, बेच दी गई थी। हमारे फर्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फर्नीचर की ओर मालियो की कमी से घर की सफाई और खूबसूरती जाती रही, और बाग जगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग की तरफ नही के बराबर ध्यान दिया गया था। नह [illegible] कर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातो को

किफायतशारी को पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे, लोगों को कानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करे।

जो वक्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता उसमें वह यह काम करते थे। उनके पास वक्त बहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत में भी काफी कमा लेते थे।

खर्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि महसूस करता था। जबसे मैंने वकालत छोड़ी थी, तबसे असल में मेरी कोई निजी आमदनी नहीं रही—सिर्फ उस न-कुछ आमदनी को छोड़कर, जो शेअरों के मुनाफे—डिवीडेण्ट—के रूप में मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का खर्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम खर्च में अपना काम चला लेते हैं। इसका पता मुझे १९२१ में लगा, और उससे मुझे बड़ी तसल्ली हुई। खादी के कपड़ों और रेल के तीसरे दर्जे के सफर में ज्यादा खर्च नहीं पड़ता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह महसूस नहीं कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बे-शुमार खर्च हैं जिनका जोड़ बहुत ज्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नहीं सताया। मेरा खयाल है कि जरूरत पड़ने पर मैं काफी कमा सकता हूँ, और हम लोग अपना काम अपेक्षाकृत कम खर्च में चला सकते हैं।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बड़ा बोझ नहीं था। इतना ही नहीं, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उन-पर एक बोझ समझते हैं तो उन्हें बड़ा दुःख होता। फिर भी मैं जिस हालत में था उसको पसन्द नहीं करता था, और अगले तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नहीं मिला। मुझे ऐसा काम ढूँढ लेने में कोई मुश्किल न थी जिससे मैं कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मैं कर रहा था उसे या तो बन्द कर दूँ या कम कर दूँ। इस वक्त तक मैं जितना समय दे सकता था वह सब मैंने कॉंग्रेस और म्युनि-सिपैलिटी के काम में लगाया। मुझे यह बात पसन्द नहीं आई कि मैं रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड़ दूँ। इसलिए बड़े-बड़े औद्योगिक फर्मों ने मुझे रुपये की दृष्टि से बड़े-बड़े लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामजूर कर दिया। शायद वे इतना ज्यादा रुपया महज मेरी लियाकत के खयाल से उतना नहीं देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे वालों के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नहीं लगी। मेरे लिए यह बात बिलकुल गैर-मुमकिन थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा अख्त्यार

करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गई थी, और वह वक्त
चली गई।

१९२४ की कॉंग्रेस में एक बात यह उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियों को तन
दी जानी चाहिए। मैं उस वक्त भी कॉंग्रेस का एक प्रधान-मन्त्री था, और मैंने
विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल गलत मालूम होती थी,
किसीसे एक तरफ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक्त देकर काम क
और दूसरी तरफ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं
तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़ेगा, जिनके पास
खर्चे का निजी इन्तजाम हो। लेकिन इस तरह की फुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि
से हमेशा वाञ्छनीय नहीं होते, और न आप उनको उनके काम के लिए जिम्मेदार ही
ठहरा सकते हैं। मगर कॉंग्रेस ज्यादा नहीं दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन
दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान में सार्वजनिक फण्डों से तनख्वाह लेने के खिला
एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालाकि सरकारी नौकरी
के बाबत यह बात नहीं है, और इसलिए पिताजी ने इस बात पर बहुत ऐतरा
किया कि मैं कॉंग्रेस से तनख्वाह लूँ। मेरे सहकारी मन्त्री महाशय को रुपयों की सख्त
जरूरत थी, लेकिन वह भी कांग्रेस से तनख्वाह लेना शान के खिलाफ समझते थे।
इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालाकि मैं उसमें कोई बेइज्जती की बात
नहीं समझता था और सोलहों आने तनख्वाह लेने को तैयार था।

सिर्फ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बातें की, और उनसे कहा कि
रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहाँतक
हो सकता था वहाँतक बड़े सकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हें बुरा न
लगे। उन्होंने मुझे बताया कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या ज्यादातर वक्त पब्लिक के
काम के बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने में लगाना बड़ी बेवकूफी होगी, जबकि मैं
(पिताजी) थोड़े दिनों की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता
हूँ जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफी होगा।" दलील जोरदार
थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। फिर भी मैं उसके मुताबिक ही काम
करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलों में और रुपये-पैसे की परेशानियों में १९२३ से लेकर
१९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच में राजनैतिक हालत बदल रही थी, और
करीब-करीब अपनी मर्जी के खिलाफ मुझे भिन्न-भिन्न समूहों में अपनेको शामिल
और नगर में भी मुझे जिम्मेदारी का पद लेना पड़ा। १९२३ में एक

अजीब हालत थी। देशबन्धु दास पिछले साल गया-कॉंग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० कॉंगेस कमिटी के पदेन अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमिटी मे कसरत राय उनके व स्वराजी नीति के खिलाफ थी, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोडा-सा था और दोनो दल करीब-करीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियो में बम्बई मे अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी की बैठक मे मामला यहॉं तक बढ गया कि देशबन्धु दास ने कमिटी की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नई कार्य-समिति बनाई। अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी मे इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियो मे से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोडे-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अन्सारी नये अध्यक्ष बने और मैं एक मन्त्री।

फौरन ही हमे दोनो तरफ से मुसीबतो का सामना करना पडा। गुजरात ने जो उन दिनो अपरिवर्तनवादियो का एक मजबूत किला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ हिदायतो को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियो के अखीर मे उसी साल नागपुर मे अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी की बैठक की गई। नागपुर मे इन दिनो झण्डा-सत्याग्रह चल रहा था। यही हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक्त तक बदनाम ज़िन्दगी बिताने के बाद खातमा हो गया। इस समिति को इसलिए हटाना पडा कि असल मे खास तौर पर वह किसीकी भी प्रतिनिधि नही थी; और वह उन्ही लोगो पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ मे कॉंग्रेस-सगठन की असली ताकत थी। कार्य-समिति के इस्तीफा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात कमिटी पर लानत का जो प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफा देते हुए मुझे कितनी खुशी हुई और मैंने कितने सतोष की सॉंस ली। पार्टी की पैतरेबाजियो के इस थोडे से ही अनुभव से मै बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बडा धक्का लगा कि कुछ मशहूर कांग्रेसी भी इस तरह साजिश कर सकते हैं।

इस मीटिग मे देशबन्धु दास ने मुझपर यह इल्जाम लगाया कि तुम कठोर-हृदय हो। मै समझता हूँ कि उनका खयाल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने बहुत-से दोस्तो और साथियो के मुकाबले मे मैं कठोर-हृदय हूँ। फिर भी मुझे अपने बाबत हर वक्त यह डर रहता है कि कहीं मैं भावुकता या क्रोध की लहर मे डूब या बह न जाऊँ। बरसो मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं कठोर-हृदय हो जाऊँ। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले मे मुझे जो कामयाबी मिली वह सिर्फ ऊपरी रही है।

१६

नाभा का नाटक

स्वराजिस्टों और अपरिवर्तनवादियो की कशमकश चलती रही और स्वराजि[illegible] की ताकत धीरे-धीरे बढती गई। १९२३ के सितम्बर मे दिल्ली मे कांग्रे[illegible] का जो खास अधिवेशन हुआ, उसमे स्वराजिस्टो का जोर और बढ गया। इस कांग्रे[illegible] के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बडी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नही थी।

सिख, और उनमे से खासकर अकाली, पजाब मे बार-बार सरकार के सघर्ष म[illegible] आ रहे थे। उनमे एक धार्मिक आन्दोलन उठ खडा हुआ था, और उसने यह काम हाथ मे लिया कि बदचलन महन्तो को निकाल कर उपासना के स्थानो पर और उनकी सम्पत्ति पर कब्जा करके गुरुद्वारो को इस खराबी से छुडाया जाय। सरकार ने इसम दखल दिया और सघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियो के तरीके अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढग पर बनाये गये थे। यो सघर्ष कई जगहो पर हुए, मगर सबसे बडी लडाई गुरु-का-बाग की थी, जहाँ बीसियो सिखो ने, जिनमे कई पहले फौज मे काम किये हुए सिपाही भी शामिल थे, हाथ तक उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस की पाशविक मार का सामना किया। इस साबित-कदमी और हिम्मत के अजीब दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमिटी को गैरकानूनी करार दे दिया, और यह लडाई कुछ बरसो तक जारी रही, और अन्त मे सिख कामयाब हुए। स्वभावत कॉग्रेस की इसमे हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक्त तक अमृतसर मे अकाली-आन्दोलन से निकट सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर माध्यम के खास कर्मचारी मुकर्रर किया था।

जिस घटना का मै ज़िक्र करनेवाला हूँ उसका इस आम सिख-आन्दोलन से कोई ताल्लुक नही था। मगर इसमे शक नही कि वह घटना इस सिख-हलचल के सबब से ही हुई। पजाब की दो सिख रियासतो, पटियाला और नाभा, के नरेशो मे बडा गहरा जाती झगडा था, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर मुकर्रर कर दिया गया। सिखो ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया [illegible] इसके विरुद्ध नाभा मे और बाहर दोनो जगह आन्दोलन उठाया। इस

आन्दोलन के बीच मे, जैतो नामक स्थान पर, एक धार्मिक उत्सव को नये एडमिनिस्ट्रेटर ने रोक दिया। इसका विरोध करने के लिए और रोके हुए उत्सव को जारी रखने के घोषित उद्देश से, सिखो ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थो को रोकती, मारती, गिरफ्तार करती और आम तौर पर जगल की एक बीहड जगह मे ले जाकर छोड देती थी। मै समय-समय पर इस मार का हाल पढा करता था जब मुझे दिल्ली मे विशेष कॉग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, ओर मुझे वहॉ चलने और वहॉ क्या होता है यह देखने का आमत्रण मिला, तो मैने खुशी से उसको मजूर कर लिया। इसमे मेरा सिर्फ एक ही दिन खर्च होता था, क्योकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कॉग्रेस के मेरे दो साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। ज्यादातर फासला जत्थे ने कायदे से कतार मे चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मै नजदीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊँ ओर फिर जैतो के पास नाभा की सरहद मे, जिस वक्त वहॉ जत्था पहुँचनेवाला हो, सडक के रास्ते से पहुँच जाऊँ। हम एक बैलगाडी से आये और ठीक वक्त पर पहुँचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुँचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तखत थे कि मै नाभा के इलाके मे दाखिल न होऊँ, और अगर मै दाखिल हो गया होऊँ तो फौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी ओर सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गये, मगर उनमे उनके नाम नही लिखे हुए थे, क्योकि नाभा के अधिकारियो को उनके नाम ही नही मालूम थे। मेरे साथियो ने ओर मैने पुलिस-अफसर से कहा कि हम जत्थे मे शामिल नही है, सिर्फ तमाशबीन की तरह है, और नाभा के किसी भी कानून को तोडने का हमारा इरादा नही है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके मे ही थे तो उसमे दाखिल न होने का सवाल ही नही हो सकता था, और स्पष्टत हम उसे एकदम छोडकर सूक्ष्म हवा मे उडकर तो नही चले जा सकते। जैतो से दूसरी गाडी शायद कई घण्टे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यही रहना चाहते है। बस, हम फौरन गिरफ्तार कर लिये गये और हवालात मे ले जाकर बन्द कर दिये गये। हमको हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थो का होता था।

सारे दिन हम हवालात मे बन्द रक्खे गये और शाम को हमे विधिवत् स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकडी डाली गई—उनकी बाई कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फॉद दी गई थी, और हथकडी की जजीर हमे ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकडी डाली गई और वह

हमारे पीछे-पीछे चले। जेतो के बाजारो मे हमारे इस तरह चलने से मुझे बारबार कुत्तो के जजीर पकडकर ले जाये जाने की याद आती थी। चलते वक्त ही पहले तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमे इस घटना की मजेदारी का खयाल आया, और इसका भी हम मजा लेने लगे। उसके बाद की रात हमने अच्छी नही गुजारी। रात का हमारा कुछ वक्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था। रास्ते मे शायद आधी रात को गाडी भी बदलनी पडी थी। और रात का कुछ हिस्सा नाभा की एक हवालात मे गुजरा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जबकि हम अन्त मे नाभा-जेल मे रख दिये गये, वह मुश्तर्का हथकडी और भारी जजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनो मे से एक भी दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नही सकता था। एक दूसरे आदमी के साथ सारी रा और दूसरे दिन काफी देर तक हथकडी मे जुडा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मजा लेना मै पसन्द न करूँगा।

नाभा-जेल मे हम तीनो एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी मे रक्खे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ करीब-करीब पहुँच जाता था। हम जमीन पर ही सोये और मै बीच-बीच मे एकाएक हडबडाकर जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुंह पर से कोई चूहा या चुहिया गुज़री थी।

दो-तीन दिन बाद अपने मुकदमे के लिए हमे अदालत मे ले जाया गया, और बहुत ही ऊटपटॉग जाब्ते से वहॉ रोज-रोज कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ मालूम पडता था। नि सन्देह अग्रेजी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की जबान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा देखते रहे, और इस अर्से मे उसने एक भी लाइन नही लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-छोटी अर्जियॉ पेश की। वह उस वक्त उनपर कोई हुक्म नही लिखता था। वह उन्हे रख लेता था और दूसरे दिन उन्हे निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाकायदा अपनी सफाई नही दी। असहयोग-आन्दोलन मे हमे अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहॉ पैरवी करने की छुट्टी थी वहॉ भी हमे सफाई देने का खयाल तक प्राय बुरा लगता था। मैने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमे मैने सारे वाकयात लिखे, और खासकर एक अग्रेज की अमलदारी होते हुए भी नाभा-रियासत के तरीके कैसे है इसपर अपनी राय भी जाहिर की।

मुकदमा दिन-ब-दिन बढता ही गया, हालाकि वह एक काफी सीधा

मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज की अदालत उठ जाने के बाद भी हमें उसी मकान में बिठा रक्खा। और बहुत देर में, करीब ७ बजे, हमें एक दूसरे कमरे में ले गये जहाँ एक शख्स मेज के सामने बैठा था। और वहाँ और भी कई लोग थे। एक आदमी—जो वही पुलिस-अफसर था जिसने हमें जैतो में गिरफ्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहाँ क्या हो रहा है ? मुझे इत्तला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुकदमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा में न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। जाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सजा तो सिर्फ ६ माह ही है इसलिए यह हमारे लिए काफी न होगी, लिहाजा और कुछ ज्यादा संगीन इलजाम लगाना जरूरी है। साफ है कि सिर्फ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफी नहीं थे, इसलिए एक चौथे आदमी को जिसका हमसे कतई कोई ताल्लुक न था गिरफ्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुकदमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिख था, हम नहीं जानते थे, हाँ हमने उसे जैतो जाते वक्त खेत में सिर्फ देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा। किस अचानक ढंग से एक षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिलकुल झूठा था ही, मगर शिष्टता का तकाजा था कि कुछ तो जाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तला नहीं दी गई और हम अपनी सफाई का इन्तजाम भी करना चाहेंगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीका था। अगर हमें सफाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैं बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के कायदों में इसकी इजाजत नहीं है। इससे नाभा के जाब्ते की विचित्रताओं का हमें और भी ज्ञान मिला। हमें एक तरह की नफरत हो गई, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेंगे। किन्तु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह जमा न रह सका। अपने बारे में अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख्तसर तौर पर मगर बा-मौका अपनी राय जाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाकयात के बारे में एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुकदमा चला रहा था, पहले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनो मुकदमे चलते रहे, और हम दोनो अदालतो मे जाने का रोजाना इं-जार किया करते थे, क्योकि इससे जेल की गदी कोठरी मे तबतक के लिए छुटका तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एडमिनिस्ट्रेटर की तरफ से जेल का सुपरिटेंडेंट हमारे पास आया ओर उसने हमसे कहा कि अगर हम अफसोस जाहिर करदे और नाभा से चले जाने का इकरार लिख दे, तो हमपर से मुकदमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफसोस जाहिर करे ? हमने कोई ऐसी बात नही की है। बल्कि रियासत को हमसे माफी मागनी चाहिए। हम किसी किस्म का वादा करने को भी तैयार नही थे।

गिरफ्तारी के करीब दो हफ्ते बाद आखिर हमारे मुकदमे खत्म हुए। यह सारा वक्त इस्तगासे मे ही लगा, क्योकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नही रहे थे। ज्यादा वक्त तो देर-देर तक इन्तजार करने मे गया, क्योकि जहाँ कही जरा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वही कार्रवाई मुल्तवी करदी जाती थी या उसकी बाबत किसी अदृश्य अफसर से, जो शायद अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की जरूरत होती थी। आखरी दिन, जबकि इस्तगासे की तरफ से मामला खत्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयानात दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई खत्म करदी, ओर यह जानकर हमे बडा ताज्जुब हुआ कि वह थोडी ही देर मे फिर वापस आ गया ओर उसके साथ उर्दू मे लिखा हुआ एक बडा भारी फैसला था। यह जाहिर है कि यह भारी फैसला इतने थोडे से अरसे मे ही नही लिखा जा सकता था। यह फैसला हमारे बयानात देने के पहले ही तैयार हो गया था। फैसला पढकर सुनाया नही गया। हमे सिर्फ इतना कह दिया गया कि हमे नाभा इलाके मे से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म मे छ माह की सजा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सजा थी, दी गई है।

उसी रोज षडयन्त्र के मुकदमे मे भी हमे, ठीक-ठीक मै भूल गया हूं, या तो अठारह माह की या दो साल की सजा मिली। यह सजा छ माह की सजा के अलावा हुई। इस तरह हमे कुल दो या ढाई साल की सजा दे दी गई।

हमारे मुकदमे के दौरान मे बहुत बाते ध्यान देने लायक हुई, जिनसे हमे देशी-रियासतो की तर्ज-हुकूमत या देशी रियासतो मे अग्रेजो की तर्ज-हुकूमत का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वॉग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अखबारवाले या बाहरवाले को अदालत मे आने नही दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी पर्वाह नही करती थी, और उसकी हिदायतो की सचमुच खिलाफ-वर्जी भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर ... गर हम इसे बरदाश्त क्यो करते ? कई मौको पर मुझे खडा होना पडा

और जोर देना पडा कि पुलिस को मजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से कागजो को छीन लेती थी, और चूंकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत मे उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था कायम रखने मे असमर्थ था, इसलिए हमे थोडा-थोडा उसका काम करना पडता था। बेचारा मजिस्ट्रेट बडे पशोपेश मे था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखाई देता था, क्योकि अखबारो मे हमारी गिरफ्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हमारे जैसे थोडे-बहुत नामी राजनैतिक लोगो के साथ यह हाल हो सकता था, तो जो लोग कम प्रसिद्ध है उनके साथ तो क्या बर्ताव होता होगा ?

मेरे पिताजी को देशी रियासतो का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा मे मेरी यकायक गिरफ्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हे सिर्फ गिरफ्तारी का वाकया मालूम हुआ, मगर इसके अलावा और कोई खबर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी मे उन्होने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा मे मुझसे मिलने के बारे मे उनके रास्ते मे बहुत मुश्किले खडी कर दी गई। मगर आखिर उन्हे जेल मे मुझसे मुलाकात करने की इजाजत मिल गई। परन्तु वह मेरी कोई मदद नही कर सकते थे, क्योकि मै अपनी सफाई भी पेश नही कर रहा था और मैने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापस चले जायँ और कोई चिन्ता न करे। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी वकील है, नाभा मे मुकदमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड गये। नाभा की अदालतो को थोडे दिन देखकर कपिलदेव की कानून और जाब्ते-सम्बन्धी जानकारी मे काफी इजाफा हुआ होगा। पुलिस ने खुली अदालत मे उनके कुछ कागजात जबर-दस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज्यादातर देशी-रियासते पिछडी हुई है और उनकी हालत जागीरो की सी हो रही है, यह सब जानते है। वहाँ अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमे न तो काबलियत होती है और न लोक-हित का भाव। वहाँ बडी-बडी अजीब बाते हुआ करती है, जो कभी प्रकाश मे भी नही आती। मगर उनकी नाकाबलियत से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदकिस्मत प्रजा का बोझ कुछ हलका हो जाता है। क्योकि इस कारण से वहाँ के कार्यकारी मण्डल मे भी कमजोरी रहती है, जिससे जुल्म और बेइन्साफी करने मे भी नाकाबलियत से काम लिया जाता है। इससे जुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक नही हो जाता, बल्कि हाँ इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत मे जब अग्रेजी सरकार खुद

हुकूमत अपने हाथ मे ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि
हालत नही रहती । जागीर की सी दशा कायम रक्खी जाती है, एकतन्त्री-पन
ज्यो-का-त्यो रहता है, पुराने सब कानून और जाब्ता ही रायज माना ज
व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सगठन और मत-प्रकाशन (और उनमे सब कुछ शामि
इनपर सारे बन्धन कायम रहते है, मगर एक तबदीली ऐसी हो जाती है जिससे
हालत बदल जाती है । कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मजबूत हो जाती है, और कायदे
उनकी पाबन्दी बढ जाती है । इससे जागीरो मे और एकतन्त्री शासन मे रहनेवाले
बन्धन सख्त हो जाते है । धीरे-धीरे अग्रेजी हुकूमत पुराने रिवाजो और तरीको
बेशक कुछ परिवर्त्तन करती है, क्योकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारि
प्रवेश करने मे रुकावटे आती है । मगर शुरू-शुरू मे तो वह लोगो पर अपना प्रभुत्व
मजबूत करने के लिए उन पुराने रिवाजो और तरीको से पूरा फायदा उठाती है।
इधर लोगो को अब जागीर-तन्त्रता और एकतन्त्रता ही नही, बल्कि एक मजबूत
कार्यकारिणी द्वारा उनकी सख्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पडती है ।

मैने नाभा मे कुछ ऐसा ही हाल देखा । रियासत का इन्तज़ाम एक अग्रे
एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ मे था, जो इडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे
एकतन्त्री शासक के पूरे अख्त्यारात थे । वह सिर्फ भारत-सरकार के मातहत था,
और फिर भी हर मर्त्तबा हमे, अपने अत्यन्त सामान्य हको के छीनने की पुष्टि मे,
नाभा के कायदे-कानूनो का हवाला दिया जाता था । हमे जागीरतत्र और आधुनिक
नोकरशाही-तत्र के मिश्रण का मुकाबला करना पडा, जिसमे बुराइयाँ दोनो की शामिल
थी, लेकिन अच्छाइयाँ एक की भी न थी ।

इस तरह हमारा मुकदमा खत्म हुआ और हमे सज़ा हो गई । फैसले मे क्या
लिखा था यह हमे मालूम नही, मगर इस सारभूत बात से कि हमे लबी सजा मिली
है हमारी झल्लाहट कुछ कम हुई । हमने फैसलो की नकले मागी, मगर हमे जवाब
मिला कि इसके लिए बाकायदा अर्ज़ी दो ।

उसी शाम को जेल मे सुपरिन्टेन्डेन्ट ने हमे बुलाया, और उसने हमे ज़ाब्ता
फौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आर्डर दिखाया जिसमे हमारी सज़ा
मुल्तवी कर दी गई थी । उसमे कोई शर्त नहीं रक्खी गई थी, और इसका कानूनी
नतीजा यह था कि जहाँतक हमारा ताल्लुक था हमारी सजाये खत्म हो गई । फिर
सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्जीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया।
यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था । उसमे यह हिदायत थी कि हम
... चले जायँ, और खास इजाज़त लिये बिना रियासत मे न लौटे । मैने

ोनो हुक्मो की नकले मागी, मगर वे हमे नही दी गई। तब हमे रेलवे-स्टेशन भेज
दया गया, और हम वहाँ छोड दिये गये। नाभा मे हम किसीको भी नही जानते थे,
ौर रात को शहर के दरवाजे भी बन्द हो गये थे। हमे पता लगा कि अभी अम्बाला
ो एक गाडी जाने वाली है और हम उसीमे बैठ गये। अम्बाला से मै दिल्ली और
हा से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनो हुक्मो की नकले
ेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म है, और
ाथ ही दोनो फैसलो की नकले भी। उसने किसी चीज की भी नकल देने से इन्कार
र दिया। मैने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पडे, मगर वह इन्कार ही करता
हा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फैसलो को, जिनके द्वारा मुझे और
रे दो साथियो को दो या ढाई साल की सजा मिली, पढने का मौका नही मिला।
योकि मुझे जानना चाहिए कि ये सजाये अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होगी, और
ब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहे उसी वक्त मुझपर लागू की
ा सकेगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौकूफी' की हालत मे छोड दिये गये, मगर मै इस बात
ा पता नही लगा सका कि षड्यन्त्र के चौथे आदमी, उस सिख का क्या हुआ, जो
दूसरे मुकदमे के लिए हमारे साथ जोड दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह
छोडा न गया हो। उसकी मदद मे किसी जोरदार दोस्त या पब्लिक की आवाज न
थी, और कई दूसरे आदमियो की तरह रियासती जेल मे जाकर वह अधकार मे
पड गया होगा। मगर हम उसे नही भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे,
किन्तु उससे कुछ हुआ नही। मेरा खयाल है कि गुरुद्वारा-कमिटी ने भी इस मामले
मे दिलचस्पी ली थी। हमे पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारू' दल का एक
आदमी था, और वह लम्बे अर्से तक जेल मे रहकर हाल मे ही छूटकर आया था।
पुलिस वाले ऐसे आदमियो को बाहर रहने देने का उसूल नही मानते, और इसलिए
उन्होने बनावटी इल्जाम मे हमारे साथ उसे भी फॉस लिया।

हम तीनो—गिडवानी, सन्तानम् और मै—नाभा-जेल की कोठरी से एक
दुखदायी साथी सग मे ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योकि हम तीनो
पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी जोर की थी और शायद खतरनाक
भी थी, मगर उसकी मियाद दोनो से कम थी, और मै सिर्फ तीन या चार हफ्ते ही
बिस्तर पर रहा। मगर बाकी दोनो तो लम्बे अरसे तक बहुत गभीर हालत मे बीमार
पडे रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छ या सात महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिख-गुरुद्वारा-कमिटी में सम्पर्क रखने के लिए कांग्रेस प्रतिनिधि का काम करते थे। कमिटी ने जैतो को पांच सौ आदमियों का एक खास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की सरहद तक उनके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद में दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलाई, और मेरे खयाल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलों की मदद करने गये और पुलिस ने झपटकर उनको पकड लिया और ले गई। उनके खिलाफ अदालत में कोई कार्रवाई न की गई। उन्हें करीब-करीब एक साल तक जेल में योंही पटक रक्खा, और बाद में बहुत खराब तन्दुरुस्ती की हालत में वह छोड दिये गये।

गिडवानी की गिरफ्तारी और उनका जेल में रक्खा जाना मुझे कार्य-कारिणी सत्ता का एक भयंकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अंग्रेज आई० सी० एस० था) खत लिखा, और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यों किया गया? उसने जवाब में लिखा कि उन्हें इसलिए गिरफ्तार किया गया था कि उन्होंने नाभा के इलाके में बिला इजाजत न आने के आर्डर की खिलाफवर्जी की थी। मैंने चुनौती दी कि कानून के मुताबिक भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलों को मदद देते हुए आदमी गिरफ्तार करना मुनासिब न था। और, मैंने उस आर्डर की नकल मुझे देने या आमतौर पर शाया कर देने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मैं खुद भी नाभा जाऊँ और एडमिनिस्ट्रेटर को मेरे साथ भी वही बर्ताव करने दूं जैसा गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफादारी का तो यही तकाजा था मगर मेरे कई दोस्तों ने ऐसी राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तों की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमें अपनी कमजोरी को छिपा लिया। क्योंकि, आखिरकार यह मेरी अपनी कमजोरी और नाभा-जेल में दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहां जाने से रोका, और मुझे अपने साथी को इस तरह छोड देने की कुछ-कुछ शर्म हमेशा रहती है। इस तरह, जैसा कि हम सब अक्सर करते हैं, अक्लमंदी को बहादुरी पर तरजीह मिली।

१७

कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ में कॉंग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके सदर थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौड़ी स्पीच पढ़ी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनीतिक व साम्प्रदायिक भावना की वृद्धि होती गई। उन्होंने बताया कि १९०८ में आगाखा के नेतृत्व में जो डपूटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिशों से ही सरकार ने पहली बार अलहदा निर्वाचन के हक में घोषणा की थी वह एक कैसी जबर्दस्त चाल थी जिसके मूल में खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ, अपनी सदारत के साल में अखिल-भारतीय कॉंग्रेस-कमिटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राजी किया। भावी नीति के सम्बन्ध में मुझे साफ-साफ पता न था, ऐसी हालत में मैं नहीं चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लूँ।

लेकिन मैं मुहम्मदअली को इन्कार नहीं कर सकता था, क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये सदर के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। उनकी रुचि और अरुचि दोनों तेज थी और सौभाग्य से मैं उन लोगों में से था जो उनकी 'रुचि' में आते थे। हम दोनों प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बँधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध धार्मिक—थे और मैं वैसा नहीं था। मगर मैं उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बड़े चपल दिल्लगीबाज थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयंकर व्यंग दिल को चोट पहुँचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढ़िया टिप्पणी मन में आई तो उनके लिए उसे मन में रख लेना असंभव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल में हम दोनों की गाड़ी ठीक-ठीक चली—हालांकि कई छोटी-छोटी बातों में हमारा इख्तलाफ रहता था। हमारे अखिल-भारतीय कॉंग्रेस-कमिटी के दफ्तर में मैंने एक नया रिवाज डाला था। किसीके भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वगैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख, सैयद,

मुन्शी, मौलवी और आजकल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वगैरा जो बहुत-से ऐसे शब्द हैं और इनका प्रयोग इतना बहुतायत से और अक्सर गैरजरूरी होता है कि मैं इसकी एक अच्छी मिसाल पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नहीं पाया। मुहम्मदअली ने बहुत बिगड़कर मुझे एक तार भेजा, जिसमें सभापति की हैसियत से मुझे हिदायत दी थी कि मैं पुराने तरीके से ही काम लूँ, और खास तौर पर गांधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमें अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीके से अल्लाह का जिक्र कांग्रेस के प्रस्तावों में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी किस्म की दुआ की शक्ल में। मैं इसका विरोध किया करता। वह जोर से बिगड़ते और कहते तुम बड़े नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोड़ी देर बाद मुझसे कहते कि एक मजहबी आदमी के जरूरी गुण तुममें हैं, हालाकि तुम्हारा जाहिरा बर्ताव और दावा इसके खिलाफ है। और मैंने कई बार मन में सोचा है कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर हसर रखता है कि कोई मजहब या मजहबी ... क्या मानी करता है।

मैं उनके साथ हमेशा मजहब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मैं जानता था, इसका नतीजा यही होता कि हम दोनों एक-दूसरे पर चिढ़ उठते और मुमकिन था कि उनका जी दुःख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस किस्म की बहस करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुतसे मुसलमानों के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो, क्योंकि उनके यहाँ विचारों की आजादी मजहबी तौर पर नहीं दी गई है। विचारों की नजर से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तंग रास्ता है और उसका अनुयायी जरा भी दाहिने-बायें नहीं जा सकता। हिन्दुओं की हालत इससे कुछ अलग है, सो भी अक्सर नहीं। व्यवहार में चाहे वे कट्टर हों, उनके यहाँ बहुत पुराने बुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज माने जाते हैं, फिर भी वे हमेशा धर्म के विषय में निहायत क्रान्तिकारी और मौलिक विचारों की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते हैं। मेरा खयाल है कि आधुनिक आर्यसमाजियों की दृष्टि आम तौर पर इतनी विशाल नहीं होती। मुसलमानों की तरह वे अपने सीधे और तंग रास्ते पर ही चलते हैं। विद्या-बुद्धि में बढ़े-बढ़े हिन्दुओं के यहाँ ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आ रही है जो धार्मिक प्रश्नों में भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियाँ ... देती है, हालाँकि व्यवहार पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। मैं समझता ... असली कारण यह है कि हिन्दू-जाति में तरह-तरह के और अक्सर परस्पर

विरोधी प्रमाण और रिवाज पाये जाते है। इस सम्बन्ध मे यहाँतक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ मे मजहव नही कह सकते। और फिर भी कितने गजव की दृढता उसमे है! अपने-आपको जिन्दा रखने की कितनी जवरदस्त ताकत! भलेही कोई अपनेको नास्तिक कहता हो, जैसाकि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नही कह सकता कि वह हिन्दू नही रहा। हिन्दू-धर्म अपने वच्चो को उनके न चाहते हुए भी पकड रखता है। मै एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूँगा, फिर मै धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के वारे मे कुछ भी कहता और करता रहूँ। हिन्दुस्तानी दुनिया के लिए मै पण्डित ही हूँ, चाहे मै इस उपाधि को नापसन्द ही करूँ। मुझे याद है कि एक वार मै एक तुर्की विद्वान से स्वीजरलैण्ड मे मिला था। उन्हे मैने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमे मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ मायूस भी। क्योकि उन्होने मुझसे कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मैं समझा था कि आप कोई वडे विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध पण्डित होंगे।

हाँ, तो, मुहम्मदअली और मै मज़हव पर वहस नही करते थे। लेकिन उनमे खामोश रहने का गुण न था। और कुछ साल वाद (मै समझता हूँ, १९२५ मे या १९२६ के शुरू मे) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके। एक रोज जव मैं उनके घर, दिल्ली मे, उनसे मिला तो वह भभक उठे और वोले कि मै तुमसे मजहव पर जरूर वहस करना चाहता हूँ। मैने उन्हे समझाने की कोशिश की। कहा—आपके मेरे नुक्ते-निगाह एक-दूसरे से वहुत जुदा है और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेगे। लेकिन वह कव सुनते? उन्होने कहा—"नही, हम वाते कर ही ले। मै समझता हूँ, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो। मगर मैं तुम्हे वताना चाहता हूँ कि मै ऐसा नही हूँ।" उन्होने कहा कि मैने मज़हव पर वहुतसी किताबे पढी है और गहराई से सोचा है। उन्होने आलमारियाँ वताई, जो अलग-अलग मज़हवो पर लिखी किताबो से और खासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्वन्धी किताबो से भरी हुई थी और जिनमे कुछ आधुनिक किताबे—जैसे एच जी वेल्स की 'गॉड, दि इनविज़िवल किग'—भी थीं। महायुद्ध के दिनो मे जव वह लम्वे अर्से तक नज़रवन्द रहे थे, उन्होने कुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यो को पढा। उन्होने कहा कि इस सारे अध्ययन के फल-स्वरूप मैने देखा कि कुरान मे जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फीसदी युक्ति-सगत है, और कुरान को छोडकर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है। ३ फीसदी यो सरेदस्त तो युक्ति-सगत नही दिखाई देता है मगर यह ज्यादा मुमकिन है कि जो कुरान ९७ फीसदी वातो पर साफ तौर पर सही है वह वाकी ३ फीसदी मे भी सही होगा।

वजाय इसके कि मेरी दुर्वल तर्क-शक्ति सही हो और कुरान गलत, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि कुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होंने कुरान को १०० फीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मै वहस करना न चाहता था। किन्तु इसके वाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मै दग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी कुरान को अपने दिमाग का दर्वाजा खोलकर और एक जिज्ञासु की भावना से पढेगा तो जरूर ही वह उसकी सच्चाई का कायल हो जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि वापू (गाधीजी) ने उसे वडे गौर से पढा है और वह जरूर इस्लाम की सचाई के कायल हो गये होगे। लेकिन उनके दिल की मगरूरी उन्हे इसको जाहिर करने से मना करती है।

मुहम्मदअली अपने इस साल के सभापति-काल के वाद से धीरे-धीरे कांग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, कॉंग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ वहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यो वह कॉंग्रेस मे और अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी मे आते रहे और उनमे जोर-शोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौडी होती ही गई और अनवन वढती ही गई। शायद किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियो पर इसका दोष नही लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी वन गई थी उसमे ऐसा हुए विना रह नही सकता था। लेकिन यह हुआ वहुत ही वुरा। और इससे हम वहुतो के जी को वडा दुःख हुआ। क्योकि जातिगत मामले मे कैसा ही इख्तलाफ रहा हो, सयासी मामले मे हमारा-उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हे भी वहुत भाता था। और चूकि उनकी-हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस वात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत या यो कहे कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज हो सकती थी जो दोनो के लिए सन्तोषजनक हो। राजनैनिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगो से जो अपनेको जातिगत स्वार्थो के रक्षक वताते है, उनकी कोई वात मेल नही खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की वात हुई कि १९२८ की गर्मियो मे वह यहा से योरप चले गये। उस वक्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए वडे जोर की कोशिश की गई थी और वह करीव-करीव कामयावी की हद तक जा पहुँची थी। अगर मुहम्मदअली यहाँ होते तो कयास होता है कि मामला और ही शक्ल अख्त्यार करता। लेकिन जवतक वह वापस लौटे तवतक यहा सव टूट-टाट चुका था, और [illegible] उन्होंने अपनेको हमारे दूसरी तरफ पाया।

[illegible] वाद, १९३० मे, जव सत्याग्रह-आन्दोलन जोर पर था और हमारे

भाई-बहन धडाधड जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कॉग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज-परिषद् मे जाना पसन्द किया । उनके जाने से मेरे जी को बडा दु ख हुआ । मैं मानता हूँ कि वह भी अपने दिल मे दु खी ही हुए होगे । और लन्दन मे उन्होने जो कुछ किया उससे इसका काफी प्रमाण मिलता है । उन्होने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान मे और लडाई के मैदान मे है, न कि लन्दन के कान्फ्रेन्स-भवन मे । और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यकीन है कि वह सत्याग्रह मे शरीक हो गये होते । सेहत उनकी बहुत ही बिगड गई थी और बरसो से बीमारी उनपर हावी हो रही थी । लन्दन मे जाकर उन्होने बडी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज पाने की जो कोशिश की, और खासकर ऐसे समय जबकि उन्हे आराम और इलाज की जरूरत थी, उससे उनके आखिरी दिन और नजदीक आ गये । नैनी-जेल मे मुझे उनके मरने की खबर से बडा धक्का लगा ।

दिसम्बर १९२९ मे लाहौर-कॉग्रेस के वक्त आखिरी दफा मैं उनसे मिला था । मेरे सभापति-पद से दिये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज थे और उन्होने बडे जोर से उसकी आलोचना भी की । उन्होने देखा कि कॉग्रेस सरपट दौड़ी जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज होती जा रही है । वह खुद भी कम तेज़ न थे, और इसलिए खुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान मे आगे बढ जाना उन्हे पसन्द न था । उन्होने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर ! मैं तुम्हे चेताये देता हूँ कि तुम्हारे आज के ये सगी-साथी सब तुमको अकेला छोड देगे । जब कोई मुसीबत का और आन-बान का मौका आयेगा उसी वक्त ये तुम्हारा साथ छोड देगे । याद रखना, खुद तुम्हारे कॉग्रेसी ही तुम्हे फासी के तख्ते पर भेज देगे ।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी !

कोकनाडा-कॉग्रेस (१९२३) मे मेरे लिए एक खास दिलचस्पी की बात थी, क्योकि वहाँ हिन्दुस्तानी-सेवादल की बुनियाद रक्खी गई । स्वयसेवक-दल इससे पहले नहीं थे सो बात नही । वे इन्तज़ाम भी करते थे और जेल भी जाते थे । मगर उनमे अनुशासन और आन्तरिक एकता का भाव बहुत कम था । डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यो के लिए क्यो न एक अच्छा अनुशासन-बद्ध स्वयसेवक-दल बना लिया जाय, जो कॉग्रेस की आम रहनुमाई मे अपना काम करे ? उन्होने इसमे सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैने बडी खुशी से उसे मजूर किया, क्योकि यह खयाल मुझे जँच गया था । इसकी शुरुआत कोकनाडा मे हुई । बाद को हमे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बडे-बडे कॉग्रेसियो की तरफ से भी सेवादल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था । कुछ लोगो ने कहा कि कॉग्रेस के लिए ऐसा करना खतरनाक होगा । यह तो कॉग्रेस मे फौजी ताकत को घुसेड़ देना

है। और यह फौजी शक्ति मुमकिन है कि कॉग्रेस की मुल्की सत्ता को ही धर दबा'
दूसरे कुछ लोगो का यह खयाल दिखाई दिया कि स्वयसेवको के लिए तो सिर्फ इत
ही अनुशासन काफी है कि वे ऊपर से मिले आदेशो का पालन करते रहे। कुछ
खयाल मे उन्हे कदम मिलाकर चलने की भी ऐसी जरूरत नही। कुछ लोगो के दि
मे भीतर-भीतर यह खयाल था कि तालीम और कवायद-याफ्ता स्वयसेवको का रख
एक तरह से कॉग्रेस के अहिसा-सिद्धान्त से मेल नही खाता है। लेकिन हार्डीकर इ
काम मे भिड ही गये और बरसो की मेहनत के बाद उन्होने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि
ये तालीम-याफ्ता स्वयसेवक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिसात्मक भी र
सकते है।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ मे, मुझे इलाहाबाद मे ए
नये ढग का तजुर्बा हुआ। मै अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूँ और मुमकिन
कि तारीखो के सम्बन्ध मे कुछ भूल और गडबड हो जाय। मै समझता हूँ, वह कुम्
या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखो यात्री सगम यानी त्रिवेणी नहाने जा
है। गगा-घाट यो कोई एक मील चौडा है, मगर जाडे मे धारा सिकुड जाती है, औ
दोनो तरफ बालू का बड़ा मैदान छोड़ देती है जोकि यात्रियो के ठहरने के लि
बडा उपयोगी हो जाता है। अपने इस बहाव क्षेत्र मे गगा अक्सर अपना रास्त
बदलती रहती है। १९२४ मे गगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियो
लिए नहाना अवश्य ही खतरनाक था। कुछ पाबन्दियाँ और अहतियात लगाक
और एक वक्त मे नहानेवालो की सख्या मुकर्रर करके यह खतरा कम किया ज
सकता था।

मुझे इस मामले मे किसी किस्म की दिलचस्पी न थी, क्योकि ऐसे पर्वा
अवसर पर गगा नहाकर मै पुण्य कमाना तो चाहता ही न था। लेकिन मैने अखबार
मे पढा कि इस मामले मे प० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच
एक बहस छिड गई है, क्योकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फरमान निकाल दिय
था कि कोई सगम पर न नहाने पावे। मालवीयजी ने इसपर ऐतराज किया
क्योकि धार्मिक दृष्टि से तो सगम पर नहाने का ही महत्व था। इधर सरकार
अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का खतरा न रहे। लेकिन हस्ब
मामूल उसने निहायत ही बेवकूफी और चिढा देनेवाले ढग से इस सम्बन्ध मे का
र्वाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मै सगम पर मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नही
। गगा-किनारे पहुचने पर मैने सुना कि मालवीयजी ने जिला-मजिस्ट्रेट

एक सोजन्य-पूर्ण आखिरी चेतावनी दे दी है, जिसमे त्रिवेणी मे नहाने की इजाजत मॉगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण मे क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाजत नही दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, ओर कोई दो सौ लोगो को साथ लेकर वह सगम की तरफ वढे। इन घटनाओ से मेरी दिलचस्पी थी, और मै उसी वक्त जोश मे आकर सत्याग्रही दल मे शामिल हो गया। मैदान के उसपार लकडियो का एक जवरदस्त घेरा बना दिया गया था कि लोग सगम तक पहुँचने से बचे। जव हम इस उँचे घेरे तक पहुँचे तो पुलिस ने हमे रोका और एक निसैनी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू मे शान्ति के साथ बैठ गये। सुवहभर और दोपहर के भी कुछ घण्टे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घण्टा वीतने लगा। धूप तेज़-तेज होने लगी। वालू गरमाने लगी, और इधर हम सवकी भूख भी वढने लगी। पैदल और घुडसवार पुलिस हमारे दोनो तरफ खडी थी। मै समझता हूँ कि वाका-यदा घुड-सेना भी वहॉ मौजूद थी। हम वहुतेरो का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अव तो कुछ-न-कुछ करना ही चाहिए। मै मानता हूॅ कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होने कदम आगे वढाने का निश्चय किया। घुड-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मै नही कह सकता वह सही था) कि वे हमपर घोडे फेकेगे, और यो हमको वुरी तरह खदेडेगे। घुडसवारो से इस तरह पीटे जाने का खयाल मुझे अच्छा न लगा और वहॉ वैठे-वैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैने झट से अपने नजदीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यो न फॉद जायॅ। और मै उसपर चढ गया। तुरन्त ही वीसो आदमी उसपर चढ गये और कुछ लोगो ने तो उसकी वल्लियॉ भी निकाल डाली, जिससे एक खासा रास्ता वन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झण्डा दे दिया। जिसे मैने उस घेरे के सिरे पर खोस दिया जहॉ कि मै वैठा हुआ था मै अपने पूरे रग मे था और खूव मगन हो रहा था और लोगो को उसपर चढते और उसके वीच मे घुसते हुए और घुडसवारो को उन्हे हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहॉ मुझे यह जरूर कहना चाहिए कि घुडसवारो ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट नही पहुँची। वे अपने लकडी के डण्डो को हिलाते थे और लोगो को उनसे धक्का देते थे। मगर किसीको चोट न पहुँचाई। उस समय मुझे क्रान्तिकारियो के घेरे जाने के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आखिर को मै दूसरी तरफ उतर पडा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी वढ गई थी, सो मैने गगा मे गोता लगा लिया। जव वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज

हुआ कि मालवीयजी और दूसरे अबतक जहाँ-के-तहाँ बैठे हुए हैं और घुड़सवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियों और घेरे के बीच कंधे-से-कंधा भिड़ाकर खड़ी हुई थी। मैं (जरा टेढ़े-मेढ़े रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। [illegible] कुछ देर तक बैठे रहे, और मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन को बहुत मसोस रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालों और घोड़ों के बीच अद्भुत रीति से निक-कर उन्होंने गोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती, लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही स्तम्भित कर देने वाला था। खैर, हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को ठहर गई। थोड़ी देर बाद वह वहाँ से हटा ली गई।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे खिलाफ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के खिलाफ कुछ करना नहीं चाहती थी और इसलिए बड़े के पीछे हम छुटभैया भी अपने-आप बच गये।

१८

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू मे यकायक खबर आई कि गाधीजी जेल मे बहुत ज्यादा बीमार हो गये है जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुँचा दिये गये है और वहाँ उनका ऑपरेशन हुआ है। इस खबर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम-सा साधे खबरो का इन्तजार करते थे। अखीर मे सकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सो से लोगो की टोलियाँ उन्हे देखने के लिए पूना पहुँचने लगी। इस वक्त तक वह अस्पताल मे ही थे। कैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन दोस्तो को महदूद तादाद मे उनसे मिलने की इजाजत थी। मै और पिताजी उनसे अस्पताल मे ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नही लेजाये गये। जब उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाकी सजा रद करके उन्हे छोड दिया। उस वक्त वह जो छ साल की सज़ा उन्हे मिली थी उसमे से करीब-करीब दो साल की काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नजदीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुँचा और वही समुद्र के किनारे एक छोटे-से बगले मे रहने लगा। हम लोगो ने कुछ हफ्ते वही गुजारे और मुझे बहुत अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक छुट्टी मिल गई, क्योकि मै वहाँ मजे से तैर सकता था, दौड सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुडदौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहाँ रहने का असली मतलब छुट्टियाँ मनाना नही था, बल्कि गाँधीजी के साथ देश की समस्याओ पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गाँधीजी को यह बता दे कि स्वराजी क्या चाहते है और इस तरह वह गाधीजी की सक्रिय हमदर्दी नही तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग जरूर हासिल कर ले। मै भी इस बात से चिन्तित था कि जो ममले मुझे परेशान कर रहे है उनपर कुछ रोशनी पड जाय। मै यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा।

जहाँतक स्वराजियो से ताल्लुक है वहाँतक उनको जुहू की बात-चीत से गाधीजी को अपनी तरफ कर लेने मे या किसी हद तक भी उनपर असर डालने मे कोई कामयाबी नही मिली। यद्यपि बात-चीत बडे दोस्ताना ढग से और बहुत ही शगफ्ता के साथ होती थी लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस मे कोई समझौता नही हो

सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नहीं मिलती और इसी मतल बयान अखबारों में छपा दिये गये।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक मायूस होकर लौटा, क्योंकि गाँधीजी ने मेरे भी शक को दूर नहीं किया। अपने मामूली तरीके के मुताबिक उन्होंने भविष्य बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ इन्कार दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का करते रहना चाहिए, कॉंग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधार करने वाले कार्यक्रम पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के वक्त का रास्ता देखना चाहिए। ले हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक्त आने पर कहीं चोरीचोरा : काण्ड तो नहीं हो जायगा, जो सारा तख्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को दे। इस वक्त गाँधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नहीं दिया। न वह ह मकसद—ध्येय—के बारे में ही पूरी तरह निश्चित थे। हममें से बहुत से अपने मन यह बात साथ-साथ जान लेना चाहते थे कि आखिर हम जा कहाँ रहे हैं? फिर कॉंग्रेस इस मामले पर कोई बाजाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते कि क्या हम लोग आजादी के लिए, और कुछ हद तक समाज-रचना में हेर-फेर लिए अड़ेंगे या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राजीनामा कर लेंगे। कुछ ही महीने पहले संयुक्त-प्रान्त की सूबा कान्फ्रेन्स में अपने उस भाषण में, जो मैं सदर की हैसियत से दिया था, मैंने आजादी पर जोर दिया था। यह कान्फ्रेन्स १९२ के वसन्त में मेरे नाभा से लौटने से कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मेरी भेंट की थी, इसलिए मैं कान्फ्रेन्स में शामिल नहीं हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैंने चारपाई पर बुखार में पड़े हुए लिखा था वहीं पहुँचा दिया गया था।

जबकि हम कुछ लोग कांग्रेस में आजादी के मसले को साफ करा लेना चाहते थे तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमी लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताकत और उसकी शानोशौकत पर नाज करते थे, फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देशभाइयों के साथ पापोश का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना गुलाम बनाकर रक्खें या उनको अपने मुल्क में घुसने ही न दें। श्री० शास्त्री शाही राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लंदन में होनेवाली इम्पीरियल [illegible] बड़े फख्र के साथ कहा था, कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि [illegible] क हैं जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए हैं।"

एक बहुत बडा समुद्र हमे इन लिबरल लीडरो से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया मे रहते थे, अलग-अलग भाषाओ मे बात करते थे और हमारे ख्वाबो मे, अगर लिबरल कभी ख्वाब देखते हो तो, कोई चीज ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह जरूरी न था कि हम अपने मकसद की बाबत साफ और सही फ़ैसला करले ?

लेकिन उस वक्त ऐसे खयालात थोडे ही लोगो तक महदूद थे। ज्यादातर आदमी बहुत साफ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नही करते थे—खास तौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल मे, जोकि अपनी प्रकृति से ही कुछ हद तक अस्पष्ट और रहस्यमय होती है। १९२४ के शुरू के महीनो मे जनता का खयाल ज्यादातर उन स्वराजियो की तरफ था जो सूबे की कौसिलो और असेम्बली मे गये थे। भीतर से विरोध करने और कौसिलो को तोडने की लम्बी-चौडी बाते मारने के बाद यह दल क्या करेगा ? हाँ, कुछ मजेदार बाते तो हुई। असेम्बली ने उस साल का बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आजादी की शर्ते तय करने के लिए गोलमेज मे बहस करने की माँग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व मे बगाल-कौसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी खर्चो की मागो को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौसिलो मे, दोनो मे ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही करदी, जिससे वे कानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौसिलो मे कुछ उत्तेजना पैदा हुई, स्वराजियो मे थोडी देर के लिए अपनी फतह पर खुशी छा गई, अखबारो मे अच्छे-अच्छे हेडिंग आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नही हुआ। इससे ज्यादा वे कर ही क्या सकते थे ? ज्यादा-से-ज्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश खत्म हो गया था और लोग बजटो और कानूनो को वाइसराय या गवर्नरो द्वारा सही होने देखने के आदी हो गये थे। इसके बाद का कदम अवश्य ही कौसिलो मे जो स्वराजी मेम्बर थे उनकी पहुँच के बाहर था। वह तो कौसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के बीच मे किसी महीने मे अहमदाबाद मे अखिल-भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई। इस बैठक मे, आशा से बाहर, स्वराजियो मे और गाधीजी मे बहुत गहरी खटपट हो गई और कुछ अचानक विलक्षण हालात पैदा हो गये। शुरुआत गाधीजी की तरफ से हुई। उन्होने कांग्रेस के विधान मे एक खास परिवर्त्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक को और मेम्बरी से ताल्लुक रखने वाले नियम को बदल देना चाहते थे। इस वक्त तक जो कोई कांग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमे यह लिखा हुआ था कि कांग्रेस का उद्देश शान्तिमय उपायो से स्वराज लेना है, मजूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अब गाधीजी

चाहते थे कि सिर्फ वही लोग मेम्बर हो सके जो चार आने के बजाय निश्चित मि
मे अपने हाथ का कता हुआ सूत दे। इससे वोट देने का हक बहुत कम हो जाता
और इसमे कोई शक नही कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी को कोई हक न था कि
इस हक को इस हद तक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गांधीजी
मर्जी के खिलाफ पडते है तब वह उन हरफो की शायद ही कभी परवा करते है।
इसे विधान के साथ इतनी जबरदस्त ज्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे
धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मंत्री-पद से मेरा इस्तीफा ले लीजि
लेकिन इसी बीच मे कुछ नई बाते और हो गई जिनकी वजह से मैंने इसपर
नही दिया। अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी की बैठक मे देशबन्धु दास और पिताजी
जोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अखीर मे वे उसके खिलाफ अ
पूरी नाराजगी जाहिर करने की गरज से वोट होने से कुछ पहले अपने अनुयायि
की काफी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमिटी मे कुछ लोग
रह गये जो उस तजवीज के खिलाफ थे। प्रस्ताव कसरत राय से पास हो गया, लेकि
बाद मे वह वापस ले लिया गया, क्योकि मेरे पिताजी और देशबन्धु के अट
विरोध से और स्वराजियो के उठकर चले जाने से गांधीजी पर बडा भारी अ
पडा, उनकी भावुकता जग गई और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलि
हो गये कि अपनेको सम्हाल न सके। यह जाहिर था कि उनको बहुत गहरी तक
हुई थी। उन्होने बडी भावुकता के साथ कमिटी के सामने अपने खयालात जा
किये, जिन्हे सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह एक असाधारण और दिल हि
देने वाला दृश्य था।[१]

१. यह सब हाल जेल में याददाश्त के भरोसे लिखना पड़ा था। अब मुझे मा
हुआ है कि मेरी याददाश्त गलत निकली और अ० भा० कांग्रेस कमिटी में जिन बातो
बहस हुई उनमें से एक खास बात को में भूल गया और इस तरह वहाँ जो कुछ हु
उसकी बाबत मैंने गलत धारणा पैदा कर दी। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए
वह तो एक नौजवान बंगाली (आतंकवादी) गोपीनाथ साहा से ताल्लुक रखनेवा
वह प्रस्ताव था जो मीटिंग में पेश हुआ और अखीर मे गिर गया। जहाँ तक मुझे या
है, उस तजवीज मे उसके हिंसात्मक काम की तो निन्दा की गई थी लेकिन उस
उद्देश के साथ हमदर्दी जाहिर की गई थी। तजवीज से भी ज्यादा रंज गांधीजी को उ
तकरीरों से हुआ जो उस तजवीज के सिलसिले मे दी गई। उनसे गांधीजी को म
हो गया कि कांग्रेस मे भी बहुत-से लोग अहिंसा के मामले मे संजीदा नहीं
खयाल से वह दुखी हुए। इसके बाद फौरन ही 'यंग इण्डिया' मे इस मीटिं

मै यह कभी नही समझ सका कि गांधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक देनेवाली उस अनोखी बात के बारे मे इतनी हठ क्यो करते थे ? क्योकि वह यह तो जरूर ही जानते होगे कि उसकी बुरी तरह मुखालिफत की जावेगी। शायद वह यह चाहते थे कि काँग्रेस मे सिर्फ ऐसे शख्स रहे जो उनके खादी वगैरा के रचनात्मक कार्यक्रम मे ऐतबार रखते हो और दूसरो के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान ले नही तो काँग्रेस से निकाल दिये जाये। लेकिन अगर्चे कसरत राय उनके साथ थी फिर भी उन्होने अपना सकल्प ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता करने लगे। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनो मे इस मामले मे उन्होने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पडता था कि खुद उनकी समझ मे कुछ नही आता था कि वह कहाँ है और किधर जाना चाहते है ? उनके बारे मे मै ऐसा खयाल कभी नही करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसीलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय मे वह मामला खुद

को बाबत लिखते हुए उन्होंने कहा—"चारों प्रस्तावों पर मेरे साथ बहुमत ज़रूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस कसरत राय को भी कम राय मानना चाहिए। असल मे दोनों दल करीब-करीब बराबर थे। गोपीनाथ साहा वाले प्रस्ताव से मामला सजीदा हो गया। उसपर जो तकरीरें हुईं, उसका जो नतीजा हुआ और उसके बाद मैंने जो बाते देखीं उन सबसे मेरी आंखे खुल गई।······ गोपीनाथ साहा वाली तजवीज के बाद शराफत विदा हो गई। ऐसे मौके पर मुझे अपना अखीरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यों ज्यों कार्रवाई होती गई त्यों-त्यों मे और भी सजीदा होता गया। मेरे जी में ऐसी आई कि इस दुःखमय दृश्य से मैं भाग जाऊँ। मुझे जो प्रस्ताव मेरे सुपुर्द था उसे पेश करते हुए डर लगता था ···· मै नहीं जानता कि मैंने यह बात साफ करदी थी या नही कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल मे मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिसा की नीति के प्रति लोगों की उपेक्षा और उनकी वह अनजाने गैर-जिम्मेदारी थी···· ····ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करने को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी कि जिसे देखकर मैं दग रह गया।" गांधीजी के भाष्य के साथ यह वाक़या बहुत ही पुरमाने है। उससे उस अत्यन्त महत्त्व का पता चलता है जो गांधीजी अहिसा को देते है और इस बात का भी पता चलता है कि उसमे गड़बड़ करने को, अनजान में, अप्रत्यक्ष रूप मे की गई कोशिश का भी उनपर कैसा बुरा असर होता है। इसके बाद उन्होने जो बहुत-सी बाते की वे भी गालिबन तह मे इसी तरह के खयालात की वजह से की। उनके तमाम कामों और उनके तमाम कार्य-पोने की जड़ असल में अहिसा ही थी और अहिसा ही है।

कोई ऐसा बहुत जरूरी नही था। वोट देने का अख्त्यार हासिल करने के लिए म मशक्कत कराने का खयाल बहुत अच्छा था, लेकिन वह जिस सकुचित रूप मे का के सामने आया उससे उसका कुछ मतलब खत्म हो गया।

मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि गाधीजी को इन मुश्किलो का सामना इसलि करना पडा कि वह अजनबी हालत मे गुजर रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लडाई के खास मैदान मे उनका मुकाबला कोई नही कर सकता था। उस मैदान मे उनक सहज-बुद्धि अचूक उन्हे सही कदम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता मे सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप खुद काम करने और दूसरो से काम करान मे भी वह बहुत होशियार थे। वह दिल खोल लडाई या सच्ची शान्ति को समझ सकते थे। इन दोनो के बीच की हालत को वह नही समझ सकते थे।

कौसिलो के भीतर विरोध करने और लडाई लडने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौसिलो मे जाना चाहते हैं तो वे वहाँ सरकार की मुखालिफत करने न जायँ, बल्कि बेहतर कानून बनवाने वगैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायँ। अगर वे ऐसा नहीं करना चाहते तो बाहर ही रहे। स्वराजियो ने इनमे से एक भी सूरत अख्त्यार नहीं की। और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करने मे मुश्किल पडती थी।

लेकिन आखिर मे गाधीजी ने स्वराजियो से अपना ठीक-ठाक कर लिया। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ, वोट का हक हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होने कौसिलो मे स्वराजियो के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह खुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह ता राजनीति से अलहदा हो गये है और ब्रिटिश सरकार और उसके अफसर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनकी ताकत खत्म हो चुकी है। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गाधीजी को पीछे भगा दिया है, वे ही राजनतिक मैदान पर काबू किये हुए मालूम होते थे। पिछले पद्रह बरसो मे, इस तरह की बाते समय के अनुसार मोजूँ हेर-फेर के साथ बार-बार दुहराई गई है और उन्होने हर मर्त्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगो के खयालात के बारे मे कितनी कम जानकारी रखते है। जबसे गाधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान मे आये तबसे उनकी लोकप्रियता मे कभी कमी नही आई, कम-से-कम जहा तक आम लोगो का ताल्लुक है उनकी लोकप्रियता बराबर बढती चली गई है। और शायद अभीतक ज्यो का त्यो जारी है। लोग गाधीजी की इच्छाओ को पूरा कर सके, क्योकि आदमी की तबीयत अक्सर कमजोर होती है, लेकिन उनके

दिलो मे गाधीजी के लिए मुहब्बत भरी ही हुई है। जब मुल्क के हालात मुआफिक होते है तब लोग विशाल जन-साधारण के आन्दोलनो के रूप मे उठ खडे होते है, नही तो चुपचाप मुँह छिपाये पडे रहते है। नेता का काम यह नही है कि वह न-कुछ मे जादू की-सी लकडी फेरकर जनता की हलचले पैदा करदे। हाँ, जब हालत ऐसी पैदा हो जाय तो वह उनका फायदा उठा सकता है, उन हालात से फायदा उठाने के लिए तैयारी कर सकता है, लेकिन वह उन हालात को पैदा नही कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगो मे गाँधीजी की लोकप्रियता घटती-बढती रहती है। जब आगे बढने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते है, और जब उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गाधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते है। लेकिन इस हालत मे भी उनकी बहुत ज्यादा तादाद गाधी जी के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिए है कोई दूसरा कारगर प्रोग्राम ही नही है। लिबरलो या उन्हीसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वगैरा को कोई पूछता नही, और जो लोग आतक-कारी हिसा मे विश्वास रखते है उनका आजकल की दुनिया मे कोई स्थान नही रहा। उन्हे लोग बेकार तथा पुराने और पिछडे हुए समझते है। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते है, और इससे कॉंग्रेस मे ऊँची श्रेणियो के जो लोग है उनको डर मालूम होता है।

१९२४ के बीच मे थोडे वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी उसके बाद मेरे पिताजी और गाधीजी मे पुरानी दोस्ती फिर कायम हो गई और वह और भी ज्यादा बढ गई। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे जितनी ही खिलाफ होती, लेकिन दोनो के दिल मे एक-दूसरे के लिए बहुत ज्यादा खयाल और इज्जत थी। दोनो मे आखिर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनो इज्जत करते थे ? 'विचार-प्रवाह' (Thought-currents) नाम की एक पुस्तिका मे गाधीजी के लेखो का सग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका मे हमे उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होने लिखा है कि —

"मैने महात्माओ और महान् पुरुषो की बाबत बहुत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नही मिला। और मैं यह मजूर करता हू कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे मे भी कुछ शक है। मैं तो मनुष्यो मे और मनुष्योचित गुणो तथा कार्यो मे विश्वास करता हूँ। इस पुस्तिका मे जो विचार-प्रवाह सकलित किये गये है वे एक ऐसे ही मनुष्य के दिमाग से निकले है और मनुष्योचित है। वे मानव-प्रकृति के दो बड़े गुणो के नमूने है—यानी श्रद्धा और बल के‥ ·

जिस आदमी मे न श्रद्धा है न बल, वह पूछता है, इस सबका नतीजा क्या

होगा ? यह जवाब कि मौत होगी या जीत, उसे अपील नही करता'' ' ''' इस बीच मे वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के मजबूत पैरो पर सीधा खड़ा हुआ, अपने देश के लोगो को मातृभूमि के लिए अपनी कुर्बानी करने और तकलीफ सहने का अपना सदेश देता चला जा रहा है। लाखो लोगो के हृदय मे इस सदेश की प्रतिध्वनि आती है।''''' '''''

उन्होने स्विनबर्न की नीचे लिखी पक्तिया देकर अपनी भूमिका खत्म की है—

नही हमारे पास रहे क्या मानव ऊचे नामी—
मानव, जोकि परिस्थितियो के हो शासक औ' स्वामी ![१]

जाहिर है कि वह इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि वह गाधीजी की तारीफ इसलिए नही करते कि वह कोई साधु या महात्मा है, बल्कि इसलिए कि वह मनुष्य है। वह खुद मजबूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गाधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ करते थे। क्योकि यह साफ मालूम होता था कि दुबले-पतले शरीरवाले एक छोटे-से आदमी मे इस्पात की-सी मजबूती भी है, कुछ चट्टान जैसी चीज है जो शारीरिक ताकतो के सामने नही झुकती, फिर चाहे ये ताकते, कितनी ही बडी क्या न हो, और यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नगा शरीर, उनकी छोटी धोती, ऐसी न थी कि किसीपर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमे कुछ शाहीपन और ऐसी बादशाहियत जरूर है जो दूसरो को खुशी-खुशी से उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि वह जान-बूझकर नम्र और विनीत रहने की निश्चित कोशिश करते थे, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमे लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह ऐसे शाही हो जाते थे कि जो हुक्म निकालते वह पूरा ही करना पडता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आँखे आदमी को जकड लेती और उसके दिल के भीतर तक की बाते खोज लेती। उनकी साफ-सुथरी आवाज मीठी गूज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावो को जगाकर अपनी तरफ खीच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हजार हो, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हे अपनी तरफ खीचे बिना नही रहता और हरेक सुननेवाला बोलनेवाले के साथ एक-सा हो जाने का अनुभव करता है। इस भाव का दिमाग मे बहुत कम ताल्लुक होता था। गाधीजी दिमाग को अपील करने की बिल्कुल उपेक्षा करते हो सो बात नही, फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग ...

[१] मूल पद्य इस प्रकार है :—

Have we not men with us, Royal,
Men the masters of things ?

ह को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता
वल से होता था ओर न रेशमी मुलायम वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी
पा हमेशा सरल होती थी, और साथ ही विपय से ताल्लुक रखनेवाली भी।
र-जरूरी शब्दो का इस्तेमाल शायद ही कभी होता हो। महज उनकी सोलहो
ने पूरी सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरो को जकड लेता है। उनसे
लने पर यह खयाल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड शक्ति का भडार
रा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारो तरफ उनकी बाबत जो धारणाये
न गई है वे भी उचित आबोहवा पैदा करने मे मदद देती है। हो सकता है कि
ोई अजनबी आदमी, जिसे उन धारणाओ का पता न हो और गाधीजी के आसपास
ी हालतो से जिसका मेल न खाता हो, वह उनके जादू के असर मे न आवे या इस
द तक न आवे, लेकिन फिर भी गाधीजी के बारे मे सबसे ज्यादा कमाल की बात
ही थी और यही है कि वह अपने मुखालिफो को या तो सोलहो आने अपनी तरफ
र लेते है या कम-से-कम उनको नि शस्त्र जरूर कर देते है।

यद्यपि गाधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ करते है, लेकिन मनुष्य की
बनाई चीजो मे वह कला या खूबसूरती नही देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबर-
दस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्त्ति के सिवा और कुछ नही। उनमे सू घने की शक्ति
भी बहुत कम है। फिर भी उन्होने अपने तरीके से उन्हीमे जीवन-यापन की कला
खोज निकाली है और अपनी जिन्दगी को कला-मय बना दिया है। उनका हरेक इशारा
सार्थक और खूबी लिए हुए होता है, और खूबी यह है कि बनावट का नामो-
निशान नही। उनमे न कही नुकीलापन है, न कटीलापन। उनमे उस गॅवारूपन या
साधारणपन का निशान तक नही जिसमे, दुर्भाग्य से, हमारे बीच के दर्जे के लोग डूबे
रहते है। भीतरी शान्ति हासिल करके वह दूसरो को भी शान्ति देते है और
जिन्दगी के कॅटीले रास्ते पर मजबूत और निडर कदम रखते हुए चले जाते है।

मगर मेरे पिताजी गाधीजी से कितने भिन्न थे! लेकिन उनमे भी व्यक्तित्व का
बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पक्तियॉ उनके लिए भी
लागू होती है। जिस किसी समाज मे वह जा बैठते उसके केन्द्र और धुरीण वही बन
जाते। जैसाकि एक अग्रेज जज ने पीछे कहा था, वह जहॉ-कहीं भी जाकर
बैठते वही मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और
गाधीजी के उलटा, वह उन लोगो की खबर लिये बिना नही रहते थे जिनकी
राय उनके खिलाफ होती थी। उन्हे इस बात का ज्ञान रहता था कि उनका मिजाज
[illegible] है। वह अपने खिलाफ या तो पूरी भक्ति पैदा करते थे या [illegible] विरोध। उनमे

कोई शख्स उदासीन या तटस्थ नही रह सकता था। हरेक को या तो उन्हे ... या नापसन्द करना पडता। चौडा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोडी। इट... अजायबघरो मे रोमन शहशाहो की जो अर्द्ध-मूर्त्तियाँ है उनसे उनकी शक्ल ... काफी मिलती थी। इटली मे बहुत-से मित्रो ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्... भी इस मेल का जिक्र किया था। खास तौर पर उनकी जिन्दगी के पिछले सा... जबकि उनका सिर सफेद बालो से भर गया था, उनमे एक खास किस्म की ... शौकत और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया मे आजकल बहुत ही कम दिखाई... है। वह मेरी तरह न थे, उनके सिर के बाल अखीर तक बने रहे।

मै समझता हू कि शायद मै उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, लेकिन इस ... पन और कमजोरी से भरी हुई दुनिया मे उनकी शरीफाना हस्ती की रह-रहकर ... आती है। मै अपने चारो तरफ उनकी सी अजीब ताकत और उनकी-सी शानो-शौ... को खोजता हूँ, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ मे मैने गाधीजी को पिताजी का एक फोटो दिया था... इन दिनो गाधीजी की और स्वराजियो की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो मे पिता... जी के मूछे न थी और उस वक्त तक गाधीजीने उन्हे हमेशा सुन्दर मूछो-सहित दे... था। इस फोटो को देखकर गाधीजी चौक गये और बहुत देर तक उसे देखते र... क्योकि मूछे न रहने से मुँह व ठोडी की कठोरता और भी प्रकट हो गई थी, और कु... सूखी-सी हसी हसते हुए उन्होने कहा कि अब मैने यह जान लिया कि मुझे किसका ... मुकाबिला करना है। उनकी आँखो ने और निरन्तर हँसी ने चेहरे पर जो रेखा... बना दी थी उन्होने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था फिर भी कभी-कभी आँ... चमक उठती थी।

पिताजी असेम्बली के काम मे उसी तरह तैरने लगे जैसे बतक पानी मे। ... उनकी कानूनी और विधान-ज्ञान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौजूँ था। सत्याग्र... तथा उसकी शाखाओ के खेल के नियम तो वह नही जानते थे, लेकिन इस खेल के ... नियम-उपनियमो से पूरी तरह वाकिफ थे। उन्होने अपनी पार्टी मे कठोर अनुशासन ... रक्खा और दूसरे दलो और व्यक्तियो को भी इस बात के लिए राजी कर लिया कि ... वे स्वराज-पार्टी की मदद करे। लेकिन जल्दी ही उन्हे अपने ही लोगो से मुसीबत का ... सामना करना पडा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनो मे काग्रेस म... टी अ-परि... वर्तनवादियो से लडना पडा था, और इसलिए काग्रेस के भीतर पार्टी की ताक... ...ने के लिए बहुतसे ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गये थे। इसके बाद चुनाव हुआ ... ...रुपये की जरूरत थी। ...पये पैसवालो से ही आ सकते थे, इसलिए ...

पैसेवालो को खुश रखना पडता था । उनमे से कुछ को तो स्वराजी उम्मीदवार होने के लिए भी कहा गया था । एक अमेरिकन साम्यवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाजुक कला है जिसके जरिये गरीबो से वोट और अमीरो से चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते है कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेगे ।

इन सब बातो से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गई थी । कौंसिल और असेम्बली के काम मे इस बात की रोज ही जरूरत पडती थी कि दूसरो से और ज्यादा माडरेट दलो के साथ समझौते किये जायँ । और कोई भी उसूल या प्रचार की प्रचड आकाक्षा इन समझौतो से सुरक्षित नही रह सकती थी । धीरे-धीरे पार्टी का मिजाज और उसका अनुशासन बिगडने लगा और उसके कमजोर तथा मौके से फायदा उठानेवाले मेम्बर मुश्किले पैदा करने लगे । स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौसिलो मे गई थी कि हम "भीतर जाकर मुखालिफत करेगे" । लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरो मे फूट व विरोध पैदा करके इस खेल मे अपना हाथ डालने की ठान ली । पार्टी के कमजोर भाइयो के रास्ते मे तरह-तरह के तरीको से खास रिआयतो और ऊँचे ओहदो के लालच दिये जाने लगे । उन्हे सिर्फ इन चीजो मे से जिसे वे चाहे उसे चुन लेना था । उनकी लियाकत, उनकी मीठी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणो की तारीफे होने लगी । उनके चारो तरफ एक आनन्द-मय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतो व बाजार की धूल और शोरोगुल से बिलकुल जुदा था ।

स्वराजिस्टो का आम लहजा नीचे गिर गया । कोई शख्स किसी सूबे मे से तो कोई असेम्बली मे से विरोधी पक्ष की तरफ खिसकने लगे । पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे । उन्होने कहा, मै सडे हुए अग को काट फेकूगा । लेकिन जब सडा हुआ अग खुद ही शरीर छोडकर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बडा असर नही हो सकता था । कुछ स्वराजिस्ट मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबो मे कार्यकारिणी के मेबर । उनमे से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम रक्खा प्रति-सहयोगी । इस नाम को शुरू मे लोकमान्य तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी मे इस्तेमाल किया था । इन दिनो मे तो इसके मानी यही थे कि मौका मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हडप लो और उससे जितना फायदा उठा सकते हो उठाओ । इन लोगो के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा । लेकिन घटना-चक्र ने जो शकल अख्तियार की उससे पिताजी व देशबंधु दास को कुछ [illegible] नफरत हो गई । कौसिलो और असेम्बली के अन्दर उन्हे अपना काम [illegible] सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे । मानो उनकी

इस ऊब को बढ़ाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान मे हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा बढ़ रहा था, जिसकी वजह से कभी-कभी दंगे भी हो जाते थे।

कुछ कांग्रेसी जो हमारे साथ १९२१ और २२ मे जेल गये थे, अब सूबे-सरकारों मे मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊंचे ओहदों पर पहुँच गये थे। १९२१ मे हमे इस बात का फख्र था कि हमे एक ऐसी सरकार ने गैर कानूनी करार दिया है और वही हमे जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल थे जो पुराने कांग्रेसी भी थे। भविष्य मे हमे यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबों मे हमारे अपने पुराने साथी ही हमे गैर-कानूनी करार देकर जेल मे भेजेंगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलो से कहीं ज्यादा कुशल थे। वे हमे जानते थे, हमारी कमजोरियो को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फायदा उठाया जाय। वे हमारे तरीको से भली-भांति वाकिफ थे तथा जन-समूहो और उनके मनोभावो का भी उन्हे कुछ तजुर्बा जरूर था। दूसरी तरफ जाने से पहले उन्होने नाजियो की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोड़ा था। और कॉंग्रेस के अपने पुराने साथियो का दमन करने मे वे इन तरीको से अनभिज्ञ पुराने हाकिमो या लिबरल मिनिस्टरो से कहीं ज्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ मे कांग्रेस का जलसा बेलगॉव मे हुआ और गांधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना तो एक भोण्डी-सी बात थी, क्योंकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढ़कर थे। उनका सदर की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नही आया। मुझे उसमे जरा भी स्फूर्ति नहीं मिली। जलसा खत्म होते ही, गांधीजी के कहने पर, मै फिर अगले साल के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी का कार्यकारी मंत्री चुन लिया गया। मेरी इच्छाओं के बावजूद धीरे-धीरे मैं कांग्रेस का अर्द्ध-स्थायी मंत्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियो मे पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज्यादा तकलीफ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय मे डलहौजी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मैं भी उन्हीके पास जा पहुँचा। हम लोगो ने हिमालय के भीतर डलहौजी से चम्बा तक का सफर किया। जब हम लोग चम्बा पहुचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाड़ी रास्तो पर सफर करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से [illegible] र बैठे रहे, उनके मुह से एक शब्द तक न निकला। यह आघात उनके लिए [illegible] वेदना-पूर्ण था। मैने उन्हे इतना दुखी होते हुए कभी नही देखा था। वह

क शख्स जो उनके लिए दूसरे सब लोगो से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया
ा यकायक उन्हे छोड कर चला गया और सारा वोझ उनके कन्धो पर छोड गया ।
ह वोझा वैसे ही वढ रहा था, वह तथा देशवधु दोनो ही उससे तथा लोगो की
मज़ोरियो से ऊब रहे थे। फरीदपुर-कान्फ्रेन्स मे देशवधु ने जो अखीरी भाषण दिया
ह एक थके हुए-से शख्स का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुवह चम्बा से चल दिये और पहाडो पर चलते-चलाते डलहोजी
हुँचे, वहाँ से कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहावाद और वहाँ से कलकत्ता।

१६

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १९२३ की वसन्त-ऋतु में मैं बीमार पड गया। मि... बुखार से मेरी यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। मुझे शारी... कमजोरी से या बुखार से चारपाई पर पडा रहने या बीमार पडने की आदत न ... मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ घमण्ड था और हिन्दुस्तान मे आम तौर पर जो बीमा... बने रहने का रिवाज-सा पडा हुआ था उसके मैं खिलाफ था। अपनी जवानी ... अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन संकट के टल ... पर मुझे कमजोरी की हालत मे चारपाई पर पडे रहना पडा और अपनी तन्दुरुस्ती ... धीरे-धीरे हासिल करनी पडी। इन दिनो मैं अपने आस-पास की चीजो और ... रोज-मर्रा के कामो से अजीब विराग-सा महसूस करता था और उन्हे काफी दूरी ... देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पडता था कि जगल मे मैं पेडो की आड म... बाहर निकल आया हूँ और अब तमाम जगल को अच्छी तरह देख सकता हूँ। मे... दिमाग जितना साफ और ताकतवर इन दिनो था उतना पहले कभी न था। ... समझता हूँ कि यह तजुर्बा या इस तरह का कोई दूसरा तजुर्बा उन सब लोगो ... हुआ होगा जिन्हे सख्त बीमारी मे होकर गुजरना पडा है। लेकिन मेरे लिए तो यह ... एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तैमाल उस... सकीर्ण धर्म के मानी मे नही करता। इस तजुर्बे का मुझपर बहुत काफी असर पडा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उ... गया हूँ, और जिन ध्येयो तथा शक्तियो ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन... ज्यादा स्पष्टता के साथ देख सकता हूँ। इस स्पष्टता के फल-स्वरूप मेरे दिल में तरह ... तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई माकूल जवाब नही मिलता था। लेकि... मैं जिन्दगी और राजनीति दोनो मामलो को मजहबी निगाह से देखने के दिन-पर-दि... ज्यादा ही खिलाफ होता गया। मैं अपने उस तजुर्बे की बाबत ज्यादा नही लिख सकता। वह एक ऐसा खयाल था जिसे मैं आसानी से जाहिर नही कर सकता। यह ... ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत ही हलकी छाप ... गई है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे ... के तरीके पर उसका टिकाऊ असर पडा और अगले दो या तीन साल मैंने ... हद तक उसी विरक्त भाव से किया।

हाँ, बेशक कुछ हद तक तो यह बात उन घटनाओ की वजह से हुई जो बिल-
ल मेरी ताकत के बाहर थी और जिनमे मैं फिट नही होता था। कुछ राजनैतिक
रिवर्त्तनो का जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज्यादा असल बात थी हिन्दू-
सलमानो के ताल्लुकात मे दिन-पर दिन ज्यादा बढनेवाली खराबी, जो खास तौर
र उत्तरी हिन्दुस्तान मे अपना असर दिखा रही थी। बडे-बडे शहरो मे कई दगे हुए,
जनमे हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी थी। शक और गुस्से की आबोहवा
ऐसे नये-नये झगडे पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममे से ज्यादातर लोगो ने पहले
भी नही सुने थे। इससे पहले झगडा पैदा करनेवाली वजह थी गो-कुशी और वह भी
ासकर बकरीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानो के त्यौहारो के भिड जाने पर भी
नातनी हो जाती थी। मसलन्, जब मुहर्रम उन्ही दिनो आ पडे जिनमे रामलीला
ोती थी तो झगडे का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछले रज की याद दिलाता
ा जिससे रज और आँसू पैदा होते थे। रामलीला खुशी का त्यौहार था जिसमे बुराई
ऊपर भलाई की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनो एक-दूसरे से चस्पा
ही हो सकते थे, लेकिन खुश-किस्मती से ये त्यौहार तीस साल मे सिर्फ एक दफा
ाथ-साथ पडते थे। रामलीला तो सौर मास के अनुसार नियत चैत बदी ९ को मनाई
ाती है जब कि मुहर्रम चन्द्रमास के मुताबिक कभी इस महीने मे और कभी उस
हीने मे मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगडे का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता
ा और हमेशा खडा हो सकता था। यह था मसजिदो के सामने बाजा बजाने का
वाल। नमाज के वक्त बाजा बजाने या जरा भी आवाज आने पर मुसलमान ऐतराज
रने लगे—कहते, इससे नमाज मे खलल पडता है। हर शहर मे बहुत-सी मसजिदे
और उनमे हर रोज पाँच मर्तबा नमाज पढी जाती है और शहरो मे जलूसो की,
जिनमे शादी वगैरा के जलूस भी शामिल है, तथा दूसरे शोरोगुल की कमी नही।
सलिए झगडा होने का अन्देशा हर वक्त मौजूद रहता था। खास तौर पर जब
मसजिदो मे शाम को होनेवाली नमाज के वक्त जलूस निकलते और बाजो का शोरगुल
ोना तब ऐतराज किया जाता था। इत्तिफाक से यही वह वक्त है जबकि हिन्दुओ
मन्दिर मे शाम की पूजा यानी आरती होती है और शख बजाये जाते है तथा
मन्दिरो के घटे बजते हैं। इसी आरती-नमाज के झगडे ने बहुत बडा रूप धारण कर
िया।

यह बात अजब-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के जज्बात
ा आपस मे थोडा-सा ख्याल करते और उसके मुताबिक थोडा-सा इधर-उधर हट

देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतना कड़वापन पैदा हो और दंगे लेकिन मजहबी जोश तर्क, विचार या आपसी खयाल से कोई ताल्लुक नहीं रख और जब दोनों को काबू करनेवाली एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के खिलाफ भि सकती है तब उस जोश को भड़काना बहुत ही आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोड़े-से शहरों में होनेवाले इन दंगों को जरूरत से ज्या महत्व दे दिया जाता है, क्योंकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरों और सूबों में अ तमाम गाँवों में हिन्दू-मुसलमान अमन के साथ रहते रहे थे, उनके ऊपर इन द का कोई कहने लायक असर नहीं पड़ा। लेकिन अखबारों ने स्वभावत ही मामूली-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगड़े को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिल्कु सच है कि शहरों के आम लोगों में भी फिरकेवाराना तनातनी और कटुता ब गई। चोटी के फिरकेवाराना लीडरों ने उसे और भी बढ़ाया और वह साम्प्रदायि राजनैतिक माँगों की कड़ाई के रूप में जाहिर हुई। हिन्दू-मुसलिम झगड़े से मुसलमा के दकियानूसी लीडर, जो राजनीति में प्रतिगामी दल के हैं और जो असहयोग इतने बरसों में कोनों में पीछे पड़े हुए थे, बाहर निकले और इस प्रक्रिया सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ से रोज-ब-रोज नई-नई और पहले ज्यादा दूर तक जानेवाली साम्प्रदायिक माँगें पेश होतीं जो हिन्दुस्तान की आज और कौमी एकता की जड़ को काटती थीं। हिन्दुओं की तरफ भी जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओं के हकों की रखवाली करने के बहाने वे निमित्त-रूप से सरकार के हाथों की कठपुतली बन गये। उन्होंने जिन बातों पर जोर दिया उन्हें हासिल करने में उन्हें कोई कामयाबी नहीं मिली। जिन तरीकों से वे काम ले रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी काम याब नहीं हो सकते थे। हाँ, उन्होंने मुल्क का फिरकेवाराना मिजाज बिगाड़ने में जरूर कामयाबी हासिल की।

कांग्रेस बड़े असमंजस में पड़ गई। वह तो कौमी जजबात की प्रतिनिधि-स्वरूप थी, उन्हींका उसे खयाल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पड़ना लाजिमी था। कई कांग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन कांग्रेस के नेता मजबूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होंने किसी की भी तरफदारी करने से साफ इन्कार कर दिया। हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में ही नहीं बल्कि और फिरकों के मामलों में भी, क्योंकि अब तो सिख वगैरा कम तादाद वाली जातियाँ भी जोर-जोर से अपनी माँगें पेश कर रही थीं। लाजिमी तौर पर इस नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ के सिरे के लोग कांग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम मसले को हल करने की तदबीर बताई थी। उनका कहना था कि यह मसला तो तभी हल हो सकता है जब बड़ी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानों की हरेक माँग को पूरा करने को राजी थे। वह उनसे सौदा नहीं करना चाहते बल्कि उन्हें अपनी तरफ पूरी तरह मिला लेना चाहते हैं। चीजों की कीमतों को ठीक-ठीक कूतकर उन्होंने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी उसे पकड़ लिया। लेकिन दूसरे लोग, जो समझते थे कि वे हरेक चीज का बाजार-भाव जानते हैं लेकिन असल में किसी भी जिस की सही कीमत से वाकिफ न थे, बाजार के सौदा करने के तरीके से चिपके रहे। उन्हें वह खर्च तो साफ-साफ दिखाई दिया जो असली जिस को खरीदने में देना पड़ रहा था, और उससे उन्हें दर्द भी होता था, लेकिन जिस जिस को वे शायद खरीद लेते उसकी असली कीमत की वे कुछ भी कद्र नहीं कर सकते थे।

दूसरों की नुक्ताचीनी करना और उनपर दोष मढ़ देना आसान है और अपनी तदबीरों की नाकामयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढने के लिए तो दूसरों के सिर कसूर थोपने के लालच को रोकना प्रायः दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते हैं—कसूर हमारे खयाल का या काम में किसी किस्म की गलती का थोड़े ही था, वह तो दूसरे लोगों ने जान-बूझकर जो रोड़े अटकाये उनका था। हमने सरकार को और फिरकेवाराना लीडरों को दोष दिया। फिरकेवाराना लीडरों ने हमारा कसूर बताया। इसमें कोई शक नहीं कि हम लोगों के रास्ते में सरकार तथा उसके साथियों ने अड़चनें डालीं, और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटिश सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगों में फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो, यह हमेशा से साम्राज्यों का तरीका रहा है, और उनकी इस नीति की कामयाबी की मात्रा से, जिन लोगों का वे उनसे शोषण करते हैं उनके ऊपर, शासकों की उच्चता की मात्रा साबित होती है। हमें इस बात की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम हमें उसपर कोई अचम्भा नहीं होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करना या पहले से ही उसका इन्तजाम न कर लेना, खुद हमारे विचारों की ही एक गलती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तजाम करें? यह तो तय है कि इन गिरोहों की तरह से सौदा करने और आम तौर पर उन्हींकी चालों से काम लेने से कुछ फायदा नहीं हो सकता, क्योंकि हम कितना ही क्यों न दें, हमारी बोली कितनी ही ज्यादा क्यों न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज्यादा बोली बोल

सकता है और इससे भी ज्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सक
है। अगर हम लोगो मे कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नहीं है तो ह
अपने समान वैरी पर सब मिलकर एकसाथ लडाई नहीं कर सकते। अगर ह
मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे की भाषा मे ही सोचे और तय करे कि उ
मे सिर्फ इतना ही इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेगे, उसका सुधार या 'भारतीयकर
कर लेगे, तो फिर सयुक्त प्रहार के लिए असली प्रलोभन का अभाव ही रहेगा
क्योकि उस हालत मे हमारा मकसद जो कुछ पल्ले पडे उसके बटवारे का रह जा
है, जिसमे तीसरी और हमपर काबू रखने वाली पार्टी या शक्ति का लाजिमी तौर
बोलबाला रहता है और वही जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको जो इन
चाहती है देती है। हाँ, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढग के राजनैतिक ढाँचे
बात सोचने पर और इससे भी ज्यादा बिल्कुल दूसरे सामाजिक ढाँचे की बात सो
कर ही हम सयुक्त उपाय की मजबूत नीव डाल सकते है। हमारी आजादी की म
की तह मे जो खयाल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगो को यह मह
करा दे कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी सस्करण नहीं चाहते, जिसम
परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे, और 'डोमिनियन स्टेटस' के मानी यही
है। लेकिन हम लोग तो बिलकुल ही दूसरी किस्म के राजनैतिक ढाँचे के लिए लड
रहे है। इसमे कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी तो राजनैतिक
आजादी ही थे। उसमे आम लोगो के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक रद्दोबदल
शामिल न थी, लेकिन उसके यह मानी जरूर थे कि रुपये-पैसे-सम्बन्धी आर्थिक जजीरे,
जो हमे लन्दन शहर से जकडे हुए है, दूर हो जायँगी और उनके दूर हो जाने पर
हमारे लिए सामाजिक ढाँचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनो मै
ऐसा सोचता था। अब मै इसमे इतना और बढा देना चाहता हूँ कि मेरे खयाल मे
राजनैतिक आजादी भी हमे अकेली नहीं मिलेगी, जब वह हमे हासिल होगी तब वह
अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आजादी को भी लेती आवेगी। लेकिन हमारे
करीब-करीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिलाशक, सामाजिक ढाँचे के
फौलादी चौखटे के तग दायरो मे ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज्य-सम्बन्धी
हरेक मसले का सामना करते समय उनके पीछे यही खयाल होता था। इसीसे वे
लाजिमी तौर पर ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योकि उस ढाँचे पर तो उस
सरकार का पूरा-पूरा काबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नहीं
सकते थे। क्योकि सीधी लडाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी भी उनका
दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर सुधारवादी था, और वह समय

हुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान मे कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या फिरके-राना मसला सुधारवादी तरीको मे सन्तोप-जनक रूप से हजम हो सकता था। लात की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से, योजना निर्माण करके, क्रान्तिकारी पाय किया जाय। लेकिन नेताओ मे ऐसा कोई न था जो इन माँगो को पूरा करता।

इसमे कोई शक नही कि हमारी आजादी की लडाई मे स्पष्ट आदर्शो और ध्येयो की कमी ने साम्प्रदायिक जहर को फैलाने मे मदद दी। जनता को स्वराज्य की लडाई का उनकी रोजमर्रा की तकलीफो से कोई ताल्लुक दिखाई नही दिया। कभी-कभी अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लडे। लेकिन वह हथियार इतना कमजोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ दूसरे कामो के लिए भी उसका इस्तेमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क तथा विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय मे फिरकेवाराना लीडरो को इस काम मे कोई मुश्किल नही पडती थी कि वे इसी जजबे को मजहब के नाम पर उभाडकर उसका इस्तैमाल करे। ताहम यह बात बडी अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनो मे बुर्जुआ यानी मध्यम श्रेणी के लोगो को मजहब के नाम पर उन प्रोग्रामो और माँगो के लिए भी जनता की हमदर्दी काफी हद तक मिल गई, जिनका जनता से ही नही, निचली मध्यम श्रेणी के लोगो से भी कोई ताल्लुक न था। हरेक फिरकेवाराना जमात जनता से ही जो भी फिरकेवाराना माँग पेश करती है उसकी जाँच किये जाने पर अखीर मे यही मालूम होता है कि वह माँग नौकरियो की माँग है और ये नौकरियाँ तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगो को ही मिल सकती है। वेशक, यह माँग भी की जाती है कि कौसिलो मे, जोकि राजनैतिक ताकत का मुकाम है, स्पेशल और ज्यादा जगहे दी जायँ, मगर इस माँग का भी यही मतलव है कि इससे खासकर दूसरो से बडे बनकर उन्हे अपनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी सियासी माँगो से ज्यादा-से-ज्यादा मध्यम श्रेणी के ऊपरी तह के थोडे-से लोगो को कुछ फायदा पहुँचता था। लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते मे नई अडचने पैदा होती थी। फिर भी वडी चालाकी के साथ इन माँगो को अपने मजहबी फिरके के आम लोगो की माग के रूप मे दिखाया जाता था। असल मे उनका नगापन छिपाने के लिए उनपर मजहबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति मे प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक नेताओ का [illegible] धरकर राजनैतिक मैदान मे आये और उन्होने जो बहुत-सी कार्रवाइयाँ की वे [illegible] ने जातिगत पक्षपात से प्रेरित होकर उतनी नही की जितनी राजनैतिक तरक्की [illegible] रोकने के लिए की। राजनैतिक मामलो मे उनसे हमे हमेशा मुखालफत की ही

उम्मीद थी, लेकिन फिर भी उस बुरी हालत का यह खासतौर पर दर्दनाक पहलू कि लोग स्वराज के विरोध मे इस हद तक जा सकते है। मुस्लिम फिरकेवाराना लोगो ने तो सबसे ज्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक बाते कही और की। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आजादी की, उन्हे जरा भी परवा नही है। हिन्दुओ के साम्प्रदायिक नेता यद्यपि जाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल मे उनका उससे कोई ताल्लुक नही था। चूंकि वे कोई असली उपाय नही कर सकते थे, इसलिए उन्होने सरकार की खुशामद करके उसे राजी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गई। हिन्दू-मुसलमान दोनो के नेता साम्यवाद या ऐसी ही "सत्यानासी" हलचलो की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थो के हको मे खलल डालने वाली हर तजवीज के मामले मे इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानो के फिरकेवाराना नेताओ ने ऐसी बहुत-सी बाते कही और बहुत सी हरकते की जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुकसान पहुंचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो रूप मे उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोडी-बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओ की बाबत यह बात नही कही जा सकती।

कॉग्रेस मे बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बडी थी, जिनमे बहुत से काबिल शख्स भी थे। इतना ही नही, हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कॉग्रेस मे शामिल थे। उनमे से बहुत से कॉग्रेसी मुसलमानो ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होने फिरकेवाराना मुसलमान नेताओ का मुकाबिला किया। शुरू मे तो उन्हे इस काम मे कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पडता था कि पढे-लिखे मुसलमानो का बहुत बडा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगो मे से थे और उनमे कोई ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न था। वे अपने-अपने काम-धन्धो मे लग गये और आम लोगो से उनका सम्बन्ध हट गया। बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी कौम के आम लोगो के पास कभी गये ही नही। उनका तरीका अच्छे-अच्छे कमरो मे बैठकर मीटिंगे करके आपसमे राजीनामा कर लेने और पैक्ट करने का तरीका था और इस खेल मे उसके रकीब यानी फिरकेवाराना नेता उनसे कही ज्यादा होशियार थे। इन फिरकेवाराना नेताओ ने नेशनलिस्ट मुसलमानो को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से उन्हे हटाते गये और जिन उसूलो के लिए वे शुरू मे अडे थे उनको वे [illegible] करके छुडवाते गये। नेशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे न ज्यादा

हटना पडे इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की नीति को अख्त्यार करके अपनी हालत मजबूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हे हमेशा पीछे हटना पडा और हमेशा 'कम बुराई' के वाद उससे ज्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मजूर करनी पडी। फलस्वरूप ऐसा वक्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज नही रह गई जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तो मे भी एक के सिवा और कोई वाकी नही रहा। यह एक उसूल हमेशा से उनकी जमात का लगर रहा है और वह है शामलात चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और उस अग्नि-परीक्षा से तो वच आये लेकिन अपना लगर वही छोड गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलो या अमल की वुनियाद पर उन्होने अपनी जमात वनाई थी उन सवको वे खो वैठे। इन्ही उसूलो और अमल को उन्होने पहले वडे फख्र के साथ अपने जहाज के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अव उनमे से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नही रहा।

शख्सी हैसियत से तो ये लोग, विला शक, अव भी कॉग्रेस के अहम नेताओ मे से है, लेकिन जमात की हैसियत से नैशनलिस्ट मुसलमानो के गिरने और मिटने की कहानी वहुत ही दयनीय है। इसमे वहुत वरस लगे और उस कहानी का अखीरी अध्याय पिछले साल, १९३४ मे, ही लिखा गया है। १९२३ मे और उसके वाद उनकी जमात वहुत मजवूत थी और वे फिरकेवाराना लोगो के मुकावले मे लडाकू ढग भी अख्त्यार किया करते थे, और सच वात तो यह है कि कई मौको पर गाधीजी तो सम्प्रदायवादी मुसलमानो की कुछ मॉगो को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गाधीजी को ऐसा करने मे रोकते और उन मॉगो की मुखालफत वडी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के वीच के सालो मे आपस मे वात-चीत और वहस-मुवाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलो को हल करने की कई कोशिशे की गई। ये कोशिशे एकता-सम्मेलनो के नाम से मशहूर है। इन सम्मेलनो मे सवसे ज्यादा मशहूर वह था जो १९२४ मे मौलाना मुहम्मदअली ने कॉग्रेस के सदर की हैसियत से बुलाया और जो गाधीजी के इक्कीस दिन के अनशन की छाया मे दिल्ली मे हुआ। इन सम्मेलनो मे वहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होने समझौता करने की वहुत सख्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये, लेकिन असली मसला हल हुए विना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नही सकते थे, क्योकि समझौता वहुमत से नही हो सकता था। वह तो

वास्तविक एक-राय से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहो आने हमारी बात मान ले। सचमच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी नामी फिरकेवाराना नेता वाकई निपटारा चाहते भी है या नही? उनमे से बहुत-से राजनैतिक मामलो मे प्रतिगामी थे और उनमे तथा उन लोगो मे जो राजनीति मे काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किले तो ज्यादा गहरी थी और वे महज शख्सो की वजह की वजह से ही नही थी। अब तो सिक्ख भी अपने फिरके की मागे जोर-जोर से मॉगने लगे थे, जिसकी वजह से पजाब मे भी एक गैरमामूली और विकट तिकोना खिचाव पैदा हो गया था। सचमुच पजाब ही तमाम मामले की जड बन गया और वह हरेक फिरके मे दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायु-मण्डल बन गया। कुछ सूबो मे किसान और जमीदारो के व बगाल मे हिन्दू-जमीदार और मुसलमान किसानो के किस्से फिरकेवाराना बुरके मे सामने आये। पजाब और सिध मे साहूकार और रुपयेवाले लोग आम तौर पर हिन्दू है और कर्ज से दबे हुए लोग मुसलमान खेतीहर। वहाँ कर्ज से दबे हुए लोगो मे उनकी जान के गाहक बोहरो के खिलाफ जो भाव होते है उन तमाम भावो ने साम्प्रदायिक लहर को बढाया। आम तौर पर मुसलमान गरीब थे और मुसलमानो के फिरकेवाराना लीडरो ने गरीबो मे अमीरो के खिलाफ जो बुरे भाव होते है उसका इस्तैमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओ के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओ से गरीबो की भलाई का कतई कोई तात्लुक न था, लेकिन इसकी वजह से फिरकेवाराना मुसलमान लीडर कुछ हद तक जरूर आम लोगो के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हे ताकत भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओ के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारो और पेशेवर लोगो के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण मे उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौको पर जन-साधारण की सहानुभूति उन्हे मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक फिरकाबन्दी के मसलो मे हिलता-मिलता जा रहा है, हालाँकि रज की बात तो यह है कि लोगो ने अभी इस बात को महसूस नही किया। हो सकता है कि यह बात बढकर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गो के झगडो की शक्ल अख्त्यार करले, लेकिन अगर वह वक्त आया तो आजकल के फिरकेवाराना लीडर, जो फिरके के अमीरो के प्रतिनिधि है, दौडकर अपने भेद-भाव को मिटा देगे ताकि वे मिलकर अपने वर्ग के वैरी का मुकाबला कर सके। यो तो जुदा हालतो मे जातिगत झगडो को निपटाकर राजनैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल

होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बडी शर्त है—कि तीसरी पार्टी न मौजूद हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से खत्म हो पाया था कि इलाहाबाद मे न्दू-मुसलमानो मे दगा हो गया। यो और दगो को देखते हुए यह दगा कोई बडा दगा था, क्योकि उसमे हताहतो की तादाद बहुत न थी, लेकिन अपने घर के शहर मे इस रह के दगे के होने से मुझे रज जरूर होता था। मै दूसरे लोगो के साथ इलाहाबाद ाड पडा। लेकिन यहाँ पहुँचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दगा खत्म हो गया। हाँ, सके फल-स्वरूप जो आपसी बैर-भाव बढा और मुकदमेबाजी चली वह बहुत दिनो क बनी रही। मै यह भूल गया हूँ कि यह झगडा क्यो हुआ? उस साल या शायद सके बाद इलाहाबाद मे रामलीला के उत्सव के सिलसिले मे भी कुछ टण्टा हो गया ा। रामलीला के उत्सव मे बडे भारी-भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि सजिदो के सामने बाजा बजाने मे कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप, ोगो ने रामलीला मनाना ही छोड दिया। करीब- करीब आठ वर्ष से इलाहाबाद मे ामलीला नही हुई है। यह त्यौहार इलाहाबाद जिले के लाखो लोगो के लिए साल-र मे सबसे बडा त्यौहार था। लेकिन अब वहाँ उसकी दुखद याद-भर रह गई है। चपन मे जब मै रामलीला देखने जाया करता था तबकी याद मुझे अच्छी तरह बनी ई है। उसको देखकर हम लोगो को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और जिले-र से तथा दूसरे कसबो से लोगो की भारी भीडे उसे देखने को आती थी। त्यौहार न्दुओ का था, लेकिन वह खुलेआम मनाया जाता था इसलिए मुसलमान भी से देखने के लिए भीड मे शामिल हो जाते थे और चारो तरफ सब लोग खूब खुशियाँ नाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनो बाद बडा ो जाने पर जब मै रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया तथा जुलूस और स्वाँगो से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे मे मेरी रुचि का ाप-दड ऊँचा हो गया था। लेकिन उस वक्त भी मैने यह देखा कि आदमियो की भारी ीड उनको देख-देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके िए तो वह वक्त मौज करने का वक्त था, और अब आठ या नौ बरसो मे इलाहाबाद े बच्चो को—बच्चो को ही क्यो, बडे लोगो को भी—उस उत्सव को देखने का कोई ौका नही मिलता। उनकी जिन्दगी मे रोजमर्रा के नीरस काम मे खुशी के जोश का ो एक उज्ज्वल दिन साल मे उन्हे मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह ब बिल्कुल नाचीज बेकार के झगडे-टण्टो की वजह से। बेशक मजहब और मजहब ी स्पिरिट को ऐसी बहुतसी बातो के लिए जवाबदेह होना पडेगा। ओफ, वे कितने आनन्द नाशक साबित हुए है!

२०

म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मै इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन रोज-ब-रोज इस काम मे मेरी तबीयत उचटती-सी जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद कायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैने उस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुडाने की कोशिश शुरू कर दी। मै उस काम को पसन्द करता था और उसमे मैने अपना काफी वक्त और काफी ध्यान लगाया था। कुछ हद तक उसमे मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियो का भी सद्भाव मैने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामो को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामो की वजह से अपनी नाराजगी को भूलकर उनकी तारीफ की। लेकिन फिर भी मै पाता था कि मै चारो तरफ से घिरा हुआ हूँ और कोई वाकई कहने लायक काम करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते मे अडचने डाली जाती है।

इसके मानी यह नही है कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम मे अडगे लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगो ने राजी-खुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरो और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे मे जैसा ढाँचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारो को रोकने वाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पडता था। मौजूदा म्युनिसिपल कानूनो के मुताबिक सामाजिक विकास की और टैक्स लगाने सम्बन्धी कायापलट करने वाली योजनाओं की इजाजत न थी। जो योजनाये कानून के मुताबिक की जा सकती थी उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पडती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग माँग सकते थे तथा वही उसकी राह देख सकते थे जो बडे आशावादी हो और जिनके सामने बहुत बडी जिन्दगी पडी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनस्सगठन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पडता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-पोल के साथ चलती है, लेकिन जब किसी राजनैतिक मुखालिफ को दबाना हो या गिराना हो तब जरा भी ढील और गफ्लत नही होती थी। इन दोनो कामो मे सरकार के रुख की दुभाँत देखने लायक होती थी।

स्थानीय स्वराज्य से ताल्लुक रखने वाली सूबे की सरकार के महकमे मिनिस्टर के तहत होते है, लेकिन आम तौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलो मे नही बल्कि पब्लिक मामलो मे भी बिल्कुल कोरे थे। सच बात तो यह है कि उनको ई पूछता ही न था। खुद उनके महकमे के कारकुन ही उनका कोई खयाल नही करते । उसे तो इडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमो पर न्दुस्तान के ऊँचे हाकिमो की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार काम तो खास तौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारी-। और माँ-बाप-पन के थोडे-से खयाल ने भी इस धारणा पर कुछ हद तक असर डाला ा। लेकिन बडे पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यो की जरूरत को कोई भी महसूस ही करता था।

म्युनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के कर्ज से दबी रहती है और इसलिए लिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती वह है कर्ज देने वाले बोहरे की निगाह। आया कर्ज की किस्ते वायदे पर अदा हो ही है ? आया म्युनिसिपैलिटी कर्ज अदा करने की ताकत भी रखती है ? उसके पास ाफी रोकड-बाकी है या नही ? ये सब सवाल जरूरी और माकूल है, लेकिन अक्सर ह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ खास काम भी करने है—जैसे ालीम, सफाई वगैरा, और वह महज एक ऐसी अजुमन नही है जिसका काम रुपये र्ज लेकर उन्हे तयशुदा मियादो पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसि-पलिटियाँ शहर की भलाई के लिए जो काम करती है वे वैसे ही बहुत कम है, लेकिन े थोडे-से काम भी रुपये की तगी होते ही फौरन कम कर दिये जाते है और आम ौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पडती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसो म हाकिम लोगो की कोई जाती दिलचस्पी नही, उनके बाल-बच्चे तो उन बिलकुल अलहदा और खर्चीले प्राइवेट स्कूलो मे पढते है जिन्हे अक्सर सरकार से ग्रान्ट मिलती है।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरो को दो हिस्सो मे बाटा जा सकता है। एक तो घना बसा हुआ खास शहर, दूसरा लम्बा-चौडा फैला हुआ बगले-बगलियो का रकबा। उन [illegible] बगलो मे काफी बडा अहाता या बाग भी होते है। इस रकबे को अग्रेज आम तौर पर 'सिविल लाइन्स' कहकर पुकारते है। अग्रेज अफसर और व्यापारी तथा ऊँची मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमो के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्ही सिविल-लाइनो मे रहते है। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज्यादातर शहर खास से होती है न कि सिविल-लाइन्स से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियाँ खर्च जितना शहर खास पर करती है उससे कही

ज्यादा सिविल-लाइनो पर करती है, क्योकि सिविल-लाइनो के कही बडे ज्यादा सडको की जरूरत होती है। उन सडको की सफाई और उनपर करना होता है। उनपर रोशनी का इन्तजाम करना होता है तथा उनकी भी करानी पडती है। इसी तरह उनमे नालियो का, पानी पहुँचाने का का इन्तजाम भी ज्यादा जगह मे करना होता है। मगर शहर खास की हमेशा तरह से लापरवाही की जाती है और, बिला शक, शहर के गरीबो की गलियो अक्सर कोई परवाह ही नही की जाती। शहर खास मे अच्छी सडके तो बहुत होती है और उसकी तग गलियो मे रोशनी का इन्तजाम ज्यादातर बहुत होता है। उसमे नालियो और सफाई का भी काफी माकूल इन्तजाम नही है शहर खास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातो को बरदाश्त कर कभी कोई शिकायत नही करते, और जब वे शिकायत करते है तब भी ऐसा नतीजा नही निकलता, क्योकि करीब-करीब सभी बडे और छोटे-छोटे शोर मचा लोग तो सिविल-लाइनो मे ही रहते है।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक गरीबो और अमीरो पर बराबर-बराबर के लिए और कुछ सुधारो के कुछ काम करने के लिए मै जमीनो की कीमत के पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योही मैने यह तजवीज पेश की त्योही सरकारी अफसर ने उसकी मुखालफत की। मै समझता हूँ कि वह अफसर मजिस्ट्रेट था जिसने यह कहा कि ऐसा करना जमीन के कब्जे के बारे मे जो शर्ते व कानून है उनके खिलाफ पडेगा। जाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल-ला बगलो मे रहनेवालो को ज्यादा देना पडता। लेकिन सरकार उस चुगी को पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है, तमाम चीजो की—जिनमे चीजे भी शामिल है—कीमते बढ जाती है और जिसका बहुत ज्यादा बोझ गरी- आकर पडता है। और सामाजिक दृष्टि से सबसे ज्यादा अनुचित और हानिकारक टैक्स हिन्दुस्तान की ज्यादातर म्युनिसिपैलिटीयो की आमदनी की खास बुनियाद है— यद्यपि मै समझता हूँ, वह धीरे-धीरे बडे-बडे शहरो से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सनातन सरकारी मशीन से काम लेना पडता था जो बडी मशक्कत के साथ पुरानी पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अडियल टट्टू की तरह ज्यादा तेजी से या तरफ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमे ज्यादातर लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमे से कुछ तो आदर्शवादी लोगो ने अपने काम मे उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरो ने न

कल्पना-शक्ति ही थी न तबदीली या बेहतरीन करने की धुन। पुराने तरीके काफी अच्छे है, फिर क्या जरूरत है कि ऐसे प्रयोगो से काम लिया जाय जो मुमकिन है कि फेरे न पडे? आदर्शवादी ओर जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन नीरस रोजमर्रा की बातो के नशीले असर के शिकार हो गये। लेकिन हाँ, एक बात ऐसी जरूर थी जिस-पर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरो मे नया जोश पैदा कर देगी, और वह थी नोकरियो तथा ठेके वगैरा देने के मामले। लेकिन इसमे दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम मे अच्छाई नही बढती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग ओर कुछ अखबार म्युनिसिपैलिटियो और जिला बोर्डो की नुक्ताचीनी करते है ओर उनकी बहुत-सी कमियो की तरफ इशारा करते है, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री सस्थाये हिन्दुस्तान के लिए मोजू नही है। उनकी कमिया तो जाहिर है, लेकिन उस ढाँचे की तरफ कतई ध्यान नही दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हे अपना काम करना पडता है। यह ढाँचा न तो लोक-तन्त्री ही है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनो की दोगली सन्तान है ओर उसमे दोनो की ही खराबिया मोजूद है। यह बात तो मजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को मुकामी या स्थानिक सस्थाओ पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख्त्यार जरूर होने चाहिएँ, लेकिन स्थानीय लोक-सस्थाओ के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार खुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की जरूरतो का खयाल रखने वाली हो। जहाँ ऐसा न होगा, वहा या तो केन्द्रीय सरकार ओर स्थानीय शासन-सस्था मे रस्साकशी होगी या मुकामी सस्था चुपचाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल मे स्थानिक सस्थाओ से जो चाहेगी सो करायगी। लेकिन तारीफ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए जिम्मेदार नही होगी। अख्त्यार तो उसीको होंगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी। जाहिर है कि यह हालत सन्तोष-जनक नही कही जा सकती, क्योकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डो के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को खुश रखने की जितनी कोशिश करते है उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालो को खुश रखने की नही

स्थानिक सस्थाओ के लिए वोट देने का हक भी थोडे ही लोगो तक म[illegible] है। वोट देने का यह अख्तियार और भी ज्यादा बढाया जाना चाहिए, जो वोटर[illegible] की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कार्पोरेशन जैसे बडे-बडे [illegible] के कार्पोरेशन तक के मेम्बरो का चुनाव भी बहुत महदूद वोटरो द्वारा होता है। [illegible] समय पहले खुद कार्पोरेशन मे वोट देने का अख्तियार ज्यादातर लोगो को द[illegible] प्रस्ताव गिर गया था। जाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से खुश थे [illegible] वे उसमे हेर-फेर करने या उसे खतरे मे डालने की कोई जरूरत नही समझते थे।

वजह कुछ भी हो, लेकिन यह बात जरूर है कि हमारी स्थानिक सस्था[illegible] आम तौर पर कामयाबी और क्षमता के चमकते हुए नमूने नही है, यद्यपि वे जैसी वैसी हालत मे भी बहुत आगे बढे हुए लोकतन्त्री देशो की कुछ म्युनिसिपैलिटियो[illegible] टक्कर ले सकती है। आमतौर पर उनमे भ्रष्टता नही है। महज सुव्यवस्था क[illegible] कमी है। उनकी खास कमजोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब गलत है। [illegible] सब स्वाभाविक है, क्योकि लोकतन्त्र तो तभी कामयाब हो सकता है जब उसके पी[illegible] सुविज्ञ लोकमत और जिम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह पर हमे हुकूमत का स[illegible] व्यापी वायुमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातो की जरूरत है वे न[illegible] पाई जाती। आम जनता को तालीम देने का कोई इतजाम नही है, न इस बात [illegible] कभी कोशिश की गई है कि जानकारी की बुनियाद पर पब्लिक की राय बनाई जाय। लाजिमी तौर पर ऐसी हालत मे पब्लिक का खयाल शख्सी या फिरकेवाराना या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलो की तरफ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इतजाम मे सरकार की दिलचस्पी इस बात मे रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से हमदर्दी रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्यौरियाँ चढ जाती है। जिन पाठ्[illegible] पुस्तको मे राष्ट्रीयता की बू हो उन्हे म्युनिसिपैलिटी के मदरसो मे नही पढाने दिया जाता। इतना ही नही, उनमे राष्ट्रीय नेताओ की तस्वीरे भी नही लगाने दी जाती। म्युनिसिपैलिटियो से राष्ट्रीय झण्डा उतारना पडता है, न उतारे तो म्युनिसिपैलिटी तोड दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही मे कई सूबो की सरकारो ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशनो और म्युनिसिपैलिटियो मे जितने कांग्रेसी नौकर हो उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन सस्थाओ पर सरकारी दबाव काफी होता है, क्योकि उनपर [illegible] थ-साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हे न निकाला गया तो सरकार म्युनिसि[illegible] [illegible] को तालीम वगैरा के लिए जो इमदाद देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन

कही-कही तो—खास तौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—कानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगो को जो असहयोग या सरकार के खिलाफ किसी और सियासी हलचल मे जेल गये नौकरी न मिलने पावे। इस मामले मे सरकार का मतलब महज राजनैतिक होता है। काम के लिए उस शख्स की लायकी या नालायकी का कोई सवाल नही।

इन थोडी-सी मिसालो से यह जाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियो और हमारे जिला-बोर्डो को कितनी आजादी मिली हुई है और उसमे लोकतन्त्रता की कितनी कमी है। यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नही चाहते। ऐसी हालत मे अपने इन राजनैतिक मुखालिफो को तमाम म्युनिसिपल और जिला-बोर्डो की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ गौर करने की जरूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षो मे करीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौको पर जेल हो आये है और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखे तो इसमे किसीको शक नही हो सकता कि इन तीन लाख लोगो मे हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा सज्जन और आदर्शवादी, सबसे ज्यादा सेवा-व्रती और स्वार्थ-हीन शख्स शामिल है। इन लोगो मे जोश है, आगे बढने की ताकत है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की सस्था के लिए अपने काम के लिए आदमी ढूँढने का सबसे अच्छा सामान इन्हीमे मिल सकता था। फिर भी सरकार ने कानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नोकर न होने पावे, जिससे न सिर्फ उन्हीको सजा मिले बल्कि उन लोगो को भी जो उनसे हमदर्दी रखते है। सरकार खुद ऐसे लोगो को पसन्द करती है और आगे बढाती है जो बिलकुल जी-हुजूर हो, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक सस्थाये ठीक तरह से काम नही करती, और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक सस्थाओ के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात मे कोई ऐतराज नही कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति मे हिस्सा ले। स्थानीय बोर्डो के स्कूलो के मास्टरो को यह डर दिखाकर, कि उन्हे नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गावो मे जाकर सरकार के पक्ष मे प्रचार करे।

पिछले पन्द्रह वर्षो मे कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओ को कई मुश्किलो का सामना करना पडा है। उन्हे बडी भारी-भारी जिम्मेदारिया झेलनी पडी है और आखिर उन्होने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बडी ताकतवर और सुरक्षित है। और यह नही कि उनमे कुछ गलतिया भी न हुई हो। लेकिन तालीम के इन कडे क्रम ने उन्हे

आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताकत दी है। जिन गुणों का हुकूमत की स्पिरिट से भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द करने वाली ताकत छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलों ने हिन्दुस्तानियों में फिर से डाल दिया हां, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनों की तरह कांग्रेस की हलचलों में भी से नामाकूल, बेवकूफ, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आये और हैं। लेकिन बात में भी मुझे कोई शक नहीं है कि औसतन कांग्रेस-कार्यकर्ता अपनी योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख्स के मुकाबले में ज्यादा होशियार और साबित होगा।

इस मामले का एक और भी पहलू है, जिसको शायद सरकार और सलाहकारों ने नहीं समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस का खुशी से स्वागत करते हैं जो सरकार कॉंग्रेस-कार्यकर्ताओं को ही कोई नौकरी न मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्तों को रोक देती है। औसत कॉंग्रेसी इस बात के लिए बदनाम है कि वे क्रान्तिकारी नहीं होते और कुछ वक्त अर्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की जिन्दगी और हालतों को शुरू कर देते हैं। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या मुकामी राजनैतिक मामलों में फँस जाते हैं। बडे-बडे मामले उनके दिमाग से ओझल होने लगते हैं और उनमें जो थोडा-बहुत क्रान्तिकारी जोश था वह ठंडा पड़ जाता है। उनके पुट्ठों पर चरबी चढने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षितता चाहती है। मध्यश्रेणी के कार्यकर्ताओं के इस लाज़िमी झुकाव की वजह से ही आगे बढे हुए तथा क्रान्तिकारी सवालों के कांग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बातों और कौंसिलों के विधानों के जंजाल में पूरे समय के कामों में न फंसने पावें जो उन्हें कॉंग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हों।

मगर अब खुद सरकार ही कुछ हद तक मदद कर रही है, क्योंकि वह कांग्रेसियों के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनका क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा जरूर कायम रहेगा या हो सकता है कि बढ़ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज्यादा दिनों तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मैं यह महसूस करने लगा कि मैं यहां अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नहीं कर रहा हूँ। मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि [illegible] बढे और बन्द पहले से ज्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मैं कोई [illegible] [illegible] ना करा नहीं सकता था। इसलिए मैं चेयरमैनी से इस्तीफा [illegible]

हता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरो ने मुझपर जोर दिया कि मै चेयरमैन बना । मेरे इन साथियो ने मेरे साथ हमेशा शराफत व मेहरबानी का बर्ताव किया था। ा कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल हो गया। लेकिन अपनी चेयरमैनी दूसरे साल के अखीर मे मैने इस्तीफा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल वसन्त-ऋतु मे मेरी पत्नी बहुत बीमार पड ई। कई महीनो तक वह लखनऊ के अस्पताल मे पडी रही। उस साल कॉग्रेस ानपुर मे हुई थी। मुझे मुद्दत तक दुखी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर ौर कभी लखनऊ तथा वहाँ से वापस चक्कर लगाने पडे थे। (मै इन दिनो भी कॉग्रेस ा प्रधान-मंत्री था।)

डाक्टरो ने सिफारिश की कि कमला का इलाज स्वीजरलैण्ड मे कराया ाय। मुझे यह बात पसद आई, क्योकि मै खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना हता था। मेरा दिमाग साफ नही था। कोई साफ रास्ता नही दिखाई देता था। ैने सोचा कि अगर मै हिन्दुस्तान से दूर पहुँच जाऊँ तो चीजो को और अच्छी दृष्टि ा देख सकूँगा और अपने दिमाग के अन्धेरे कोनो मे रोशनी पहुँचा सकूँगा।

मार्च १९२६ के शुरू मे हम लोग जहाज मे बम्बई से वेनिस के लिए रवाना ए। मै, मेरी पत्नी और हमारी बेटी। उसी जहाज मे हमारे साथ मेरी बहन और हनोई रणजीत एस० पण्डित भी गये। उन लोगो ने अपनी योरप-यात्रा का इतजाम म लोगो के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

योरप में

मुझे योरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल
और क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को
जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी बीभत्सता मे डूब चुकी थी और एक
दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि योरप मे छ या सात महीने
या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग व
ठहरे एक साल और नो महीने।

यह वक्त मेरे शरीर और दिमाग दोनो के लिए चैन व आराम का वक्त
ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीजरलैण्ड के जिनेवा मे और मोन्टाना के पहाडी सेने
रियम मे विताया था। मेरी छोटी वहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियो के शुरू
हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जवतक हम लोग योरप मे रहे तवतक हमारे
साथ रही। मै अपनी पत्नी को ज्यादा अर्से के लिए नही छोड सकता था, इसलिए
दूसरी जगहो मे मै वहुत थोडे वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनो वाद जव मेरी
पत्नी की तवियत कुछ ठीक हो गई तव हम लोगो ने कुछ दिनो तक फ्रास,
और जर्मनी की सैर की। जिस पहाडी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके
पास चारो ओर वरफ थी। वहाँ मै यह महसूस करता था कि मै हिन्दुस्तान
यूरोपियन ससार से विलकुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान मे होनेवाली वाते
तौर पर वहुत दूर मालूम होती थी। मै महज दूर से देखने वाला एक तमाशवीन
वन गया था जो अखवार पढता था, जो वाते होती थी उन्हे समझकर उनपर गौर
करता था, नये योरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं
ज्यादा आजादाना मानव-सम्वन्धो को देखा करता था। जव मै जिनेवा मे था तव
स्वभावत मुझे राष्ट्र-सघ के कामो मे और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ्तर मे भी दिलचस्पी
रही थी।

लेकिन जाडा आते ही, जाडे के खेलो मे मेरा मन लग गया। कुछ महीने त
खेलो मे ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हीमे मै लगा रहा। वरफ पर
के खडाऊँ पहनकर तो मै पहले भी चलता तथा खिसकता था, लेकिन लकडी के
फीट लम्बे और चार इच चौडे जोडे को पैरो से वाँध कर वरफ पर चलने
के लिए विलकुल नया था और मै उसपर मुग्ध हो गया। वहुत दिनो तक तो

झे इस खेल मे काफी तकलीफ मालूम हुई, लेकिन वार-बार गिरने पर भी मैं म्मत के साथ जुटा रहा और अखीर मे मुझे खूब मजा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनो हमारी जिन्दगी मे कोई खास घटना नही हुई। दिन ीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताकत व तन्दुरस्ती हासिल करती गई। वहाँ हम ोगो को बहुत कम हिन्दुस्तानियो से मिलने का मौका मिला। सच बात तो यह है क उस पहाडी वस्ती मे रहनेवाले थोडे-से लोगो को छोडकर और किसीसे हमे मिलने ा मौका नही मिला। लेकिन हम लोगो ने योरप मे जो एक और तीन-चौथाई साल ब्ताया उसमे हमे बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मले जिनके नामो से मै वाकिफ था।

उनमे से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा मे एक मकान की सबसे ऊँची मजिल पर नपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनो बुड्ढे मियाँ-बीवी अकेले ही रहते थे। उनके ाथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पडे रहते े, जिनमे दम-सा घुटता था। हर चीज के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने मे विश्वास नही करते े। वह ट्राम मे बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इसकी उल्टी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट है या उनके धन के गाहक है। उनकी जेबे उनके 'इण्डियन सोशियॉलोजिस्ट' नाम के अखबारो की पुरानी कापियो से भरी रहती थी। वह उन्हे खीच-र निकालते और वह कुछ जोश के साथ उन लेखो को दिखाते जो उन्होने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने वक्तो की बाते किया करते थे। हैम्स्टीड म इण्डिया-हाउस मे क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन ोग भेजे और उन्होने किस तरह उन्हे पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरो की दीवारे पुरानी किताबो से भरी अलमारियो से सटी हुई थी। उन किताबो को पढता-पढाता कोई नही था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे जो कोई वहा जा पहुँचता उसकी तरफ दुखभरी निगाहो से देखती-सी मालूम होती थी। किताबे और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पडे रहते थे। ऐसा मालूम पडता था मानो वे कई दिनो और हफ्तो से, मुमकिन है महीनो से, इसी तरह पडे हुए है। उस तमाम जगह मे शोक की छाप-सी, ह्रास की हवा-सी छाई हुई थी। जिन्दगी वहा ऐसा मालूम पडती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अँधेरे और ...अँधेरो मे चलते हुए ऐसा डर-सा मालूम पडता था कि किसी कोने मे कही

योरप में

मुझे योरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल ल-
ओर क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को
जानता था वह लडाई के खून ओर उसकी वीभत्सता मे डूब चुकी थी और एक न
दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि योरप मे छ या सात महीने
या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहाँ
ठहरे एक साल और नो महीने।

यह वक्त मेरे शरीर ओर दिमाग दोनो के लिए चैन व आराम का वक्त था
ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीजरलैण्ड के जिनेवा मे और मोन्टाना के पहाडी सेनेटो-
रियम में विताया था। मेरी छोटी वहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियो के शुरू मे
हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जबतक हम लोग योरप मे रहे तबतक हमारे
साथ रही। मै अपनी पत्नी को ज्यादा अर्से के लिए नही छोड सकता था, इसलिए
दूसरी जगहो मे मै वहुत थोडे वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनो वाद जब मेरी
पत्नी की तवियत कुछ ठीक हो गई तव हम लोगो ने कुछ दिनो तक फ्रास, इग्लै-
और जर्मनी की सैर की। जिस पहाडी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके आस
पास चारो ओर वरफ थी। वहाँ मै यह महसूस करता था कि मै हिन्दुस्तान तथा
यूरोपियन ससार से विलकुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान मे होनेवाली बाते खास
तौर पर वहुत दूर मालूम होती थी। मै महज दूर से देखने वाला एक तमाशबीन
वन गया था जो अखवार पढता था, जो बाते होती थी उन्हे समझकर उनपर गौर
करता था, नये योरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं
ज्यादा आजादाना मानव-सम्बन्धो को देखा करता था। जव मै जिनेवा मे था तब
स्वभावत मुझे राष्ट्र-सघ के कामो मे और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ्तर मे भी दिलच-
रही थी।

लेकिन जाडा आते ही, जाडे के खेलो मे मेरा मन लग गया। कुछ महीने त
खेलो मे ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हीमे मै लगा रहा। वरफ पर ग
के खडाऊँ पहनकर तो मै पहले भी चलता तथा खिसकता था, लेकिन लकडी
फीट लम्बे और चार इच चौडे जोडे को पैरो से वाँध कर वरफ पर चलने
मेरे लिए विल्कुल नया था और मै उसपर मुग्ध हो गया। वहुत दिनो तक

मुझे इस खेल मे काफी तकलीफ मालूम हुई, लेकिन वार-वार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अखीर मे मुझे खूब मजा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनो हमारी जिन्दगी मे कोई खास घटना नही हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताकत व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहाँ हम लोगो को वहुत कम हिन्दुस्तानियो से मिलने का मौका मिला। सच वात तो यह है कि उस पहाडी वस्ती मे रहनेवाले थोडे-से लोगो को छोडकर और किसीसे हमे मिलने का मौका नही मिला। लेकिन हम लोगो ने योरप मे जो एक और तीन-चौथाई साल विताया उसमे हमे वहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामो से मैं वाकिफ था।

उनमे से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा मे एक मकान की सबसे ऊँची मजिल पर अपनी वीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनो वुड्ढे मियाँ-वीवी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पडे रहते थे, जिनमे दम-सा घुटता था। हर चीज के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने मे विश्वास नही करते थे। वह ट्राम मे वैठकर जाने के वदले कुछ पैसे वचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जवतक इसकी उल्टी वात सावित न हो जाय तवतक यही मान वैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट है या उनके धन के गाहक है। उनकी जेवे उनके 'इण्डियन सोशियॉलोजिस्ट' नाम के अखवारो की पुरानी कापियो से भरी रहती थीं। वह उन्हे खीच-कर निकालते और वह कुछ जोश के साथ उन लेखो को दिखाते जो उन्होने कोई वारह वरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने वक्तो की वाते किया करते थे। हैम्स्टीड मे इण्डिया-हाउस मे क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन जासूस भेजे और उन्होने किस तरह उन्हे पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरो की दीवारे पुरानी किताबो से भरी अलमारियो से सटी हुई थी। उन किताबो को पढता-पढाता कोई नही था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे जो कोई वहाँ जा पहुँचता उसकी तरफ दुःखभरी निगाहो से देखती-सी मालूम होती थी। किताबे और अखवार फर्श पर भी इधर-उधर पडे रहते थे। ऐसा मालूम पडता था मानो वे कई दिनो और हफ्तो से, मुमकिन है महीनो से, इसी तरह पडे हुए है। उस तमाम जगह मे शोक की छाप-सी, ह्रास की हवा-सी छाई हुई थी। जिन्दगी वहाँ ऐसी मालूम पडती थी जैसे कोई अनचाहा अजनवी घुस आया हो। अँधेरे और सुनसान वरामदो मे चलते हुए ऐसा डर-सा मालूम पडता था कि किसी कोने मे कहीं

मौत की छाया तो नही छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान मे से निकलकर [illegible] की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा मे खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तजाम, पब्लिक के कामो के लिए [illegible] ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशो मे शिक्षा पाने वाले हिन्दुस्तानियो [illegible] लिए कुछ इन्तजाम करना पसन्द करते थे। उन्होने मुझसे कहा कि मै भी उनके [illegible] ट्रस्ट का एक ट्रस्टी हो जाऊँ। लेकिन मैने उस जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने [illegible] कोई ख्वाहिश नही जाहिर की। मै नही चाहता था कि मै उनके आर्थिक मामलो [illegible] चक्कर मे फँसूँ। इसके अलावा मैने यह भी महसूस किया कि अगर मैने कही [illegible] से ज्यादा दिलचस्पी जाहिर की तो उन्हे फौरन ही यह शक हो जायगा कि उन[illegible] दौलत पर मेरा दाँत है। यह तो किसीको नही मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। यह अफवाह भी उडी थी कि जर्मनी मे सिक्के की कीमत गिरने पर उनका बहुत नुकसान हुआ था।

कभी-कभी नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा मे होकर गुजरते थे। जो [illegible] राष्ट्र-सघ मे शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाकिमी किस्म के लोग होते [illegible] और यह जाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगो के पास तक नही फटक सकते थे। लेकिन मजदूर-दफ्तर मे कभी-कभी नामी गैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमे मशहूर काँग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगो से मिलने की कोशिश करते। श्याम जी से मिलकर उन लोगो पर जो असर होता वह बडा ही दिलचस्प होता था। लाजिमी तौर पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ पब्लिक मे ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी मे भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफी माँग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक रखने या उनके साथ देखा जाने मे खैर नही है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी जिन्दगी बितानी पडती थी। उनके न तो बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही, उनका कोई साथी भी नही था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नही था। वह तो पुराने जमाने की एक यादगार थे। सचमुच उनका जमाना गुजर चुका था। मौजूदा जमाना उनके लिए मौजूँ नही था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ से मुह फेरकर [illegible] चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आँखो मे पुराना तेज था, और [illegible] उनमे और मुझमे एक-सी कोई चीज नही फिर भी उनके प्रति मै अपनी हमदर्दी [illegible] नही रोक सकता था।

[illegible] ही मे अखबारो मे खबर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन [illegible]

ो वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्को मे देश-निकाले मे भी जिन्दगी-ार उनके साथ रही थी, मर गई। अखबारो की खबरो मे यह भी कहा गया था क उन्होने (उनकी पत्नी ने) विदेशो मे हिन्दुस्तान की औरतो की तालीम के लिए ाहुत-सा रुपया छोडा है।

एक ओर मशहूर शख्स जिनका नाम मैने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे ाहले-पहल स्वीजरलैण्ड मे मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता आन-ददायिनी थी। मेरा खयाल है कि अब भी वह आशावादी है। वह बिलकुल हवा मे रहते हैं और असली हालत से कतई कोई ताल्लुक रखने से इन्कार करते है। मैंने जब उन्हे पहले-पहल देखा तो थोडा-सा चौक पडा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊँचे मैदानो के लिए भले ही मौजू हो या साइबेरिया के मैदानो मे भी लेकिन वह उन दिनो की गर्मियो मे वहाँ बिलकुल बेमौजूँ थी। वह पोशाक एक किस्म की आधी फौजी पोशाक-सी थी। वह ऊँचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट मे बहुत-सी बडी-बडी जेबे थी जो फोटो तथा अखबार इत्यादि से भरी हुई थी। इन चीज़ो मे जर्मनी के चान्सलर बेथमैनहॉलवेग का एक खत था। कैसर की एक तस्वीर थी, जिसपर उसके अपने दस्तखत थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक खूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत कागजात और तस्वीरे थी। उन जेबो मे कितनी चीजे भरी हुई थी, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होने हमसे कहा कि एक दफा चीन मे उनका एक डिस्पैच-बक्स खो गया, जिसमे उनके बडे कीमती कागजात भरे हुए थे, तबसे उन्होने इसीमे ज्यादा सुरक्षितता समझी है कि वह हमेशा अपने कागजात को अपनी जेबो मे ही रक्खे। इसीसे उन्होने इतनी ज्यादा जेबे बनवाई थी।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफगानिस्तान की और उन यात्राओ मे जो घटनाये हुई उनकी कहानियो की भरमार थी। उनको अपनी जिन्दगी तरह-तरह की हालतो मे बितानी पडी, जिनका हाल बडा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश "आनन्द-समाज" (A Happiness Society) के लिए था, जो खुद उन्होने कायम की थी और जिसका मूल-मन्त्र था—"खुश रहो"। मालूम पडता है कि इस सस्था को लटाविया (या लिथुवानिया) मे बहुत काम-याबी मिली।

उनका प्रचार का तरीका यह था कि वह वक्तन-फवक्तन जिनेवा या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेन्सो के मेम्बरो के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डो पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो

नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्ह
प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिये ग
जो जाहिरा तौर पर जिन देशों की उन्होंने सैर की थी उनमें से उनके मनचाहे दे
नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर जोर देते थे कि वह अपनेको जाति
मजहब और कौम के बन्धनों से ऊपर समझते हैं। इस विचित्र नाम के सबसे
आखिरी विशेषता "मनुष्य-जाति का सेवक" बिलकुल मौजूं था। महेन्द्रप्रताप की
बातों को ज्यादा महत्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासों के
पात्र-से, डॉन क्विजोट-से, मालूम होते थे, जो गलती से बीसवीं सदी में आ भटके
थे। लेकिन वह थे सोलहों आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बुढ़िया मैडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर
उन्होंने हमारे चेहरे की तरफ गौर से देखा, और हमारी तरफ अँगुली उठाकर —
एक हमसे यह पूछा कि आप कौन हैं, तब वह कुछ-कुछ खूँखार और डरावनी
मालूम हुईं। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता, शायद उन
इतना ऊँचा सुनाई देता है कि वह आपकी बात सुन ही नहीं पातीं। वह अपनी
धारणायें बना लेती हैं, और फिर उन्हींपर अड़ी रहती हैं, चाहे वाकयात उन धारणाओं
के खिलाफ ही हों।

इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझे कुछ वक्त के लिए इटली में मिले।
वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाकत पुराने जमाने की राजनैतिक चालबाजि
में जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान
की 'संयुक्त राज्यों' या 'हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातन्त्र' की उन्होंने एक स्कीम बनाई थी,
जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफी अच्छी कोशिश
थी। उन्होंने इस्ताम्बूल में, जो उन दिनों तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी
कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्व
नहीं दिया, इसीलिए मैं जल्दी ही उन सब बातों को भूल गया। कुछ महीने बाद वह
लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें भी उन्होंने वही बात
कह सुनाई। लालाजी पर उनका बहुत असर पड़ा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो
गये थे। यहाँतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलों के चुनाव में उन बातों का
बड़ा अहम हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले
गये। इसके बाद मौलवी उबेदुल्ला हेजाज चले गये और कई पिछले सालों से मुझे
उन कोई खबर नहीं मिली।

बिलकुल दूसरी किस्म के मौलवी बरकतउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन में

मेला। वह बडे मजेदार और बूढे थे। बडे उत्साही और बहुतही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये खयालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ मे सेनफ्रान्सिसको मे उनकी मौत हुई। जबकि हम लोग स्वीजरलैंड मे थे। उनकी मौत की खबर सुनकर मुझे बहुत रंज हुआ।

बर्लिन मे ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होने लडाई के वक्त मे हिन्दुस्तानियो का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकडे-टुकडे हो गया। उन लोगो की आपस मे नही बनी और वे एक-दूसरे से लड पडे, क्योंकि हर शख्स दूसरे पर विश्वास-घात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश से निकाले हुए राजनैतिक कार्यकर्ताओ का यही हाल होता है। बर्लिन के इन हिन्दुस्तानियो मे से बहुत-से तो मध्यश्रेणी के लोगो के उन बैठे-बिठाये पेशो मे लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी मे इस तरह के पेशे अक्सर नही मिल सकते थे। अब जो उनमे हिलग गये उनमे क्रान्तिकारी-पन का कोई चिन्ह नही रहा। यहाँतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लडाई के जमाने के इस पुराने दल की कहानी मनोरंजक है। इनमे ज्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की उन मनहूस गर्मियो मे जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयो मे पढ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियो के साथ उन्हीकी-सी जिन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) संस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लडाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफान आया उससे विचलित हुए बिना नही रह सके। उनकी भावना तो वास्तव मे ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनो की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हे ब्रिटेन के दुश्मनो की ओर झुका दिया। लडाई शुरू होने के बाद फौरन ही कुछ और थोडे-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कही ज्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीजरलैण्ड से जर्मनी मे जा पहुँचे। इन लोगो ने अपनी एक कमिटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनो संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आ गये, लेकिन इस वक्त तक यह कमिटी काफी महत्वपूर्ण हो गई थी। कमिटी पर यह महत्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार कुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी जज़बात को अपने फायदे के लिए इस्तैमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने कौमी मकसदो को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फायदा उठावे। वे यह नही चाहते थे कि महज़ जर्मनी के ही फायदे के लिए अपनेको इस्तै-

मौल होने दे। इस मामले मे उनकी बहुत चल नही सकती थी, लेकिन वे यह ...
करते थे कि उनके पास कोई ऐसी चीज जरूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सर...
बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हे जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार ...
गया। उन्होने इस बात पर बहुत जोर दिया कि हिन्दुस्तान की आजादी का ...
सरकार अहद करे और इत्मीनान दिलाये कि उस अहद पर कायम रहेगी। ऐसा मालू...
होता है कि जर्मनी के वैदेशिक दफ्तर ने इन लोगो से बाकायदा मुल्हनामा किया, जिसमे
उन्होने यह वादा किया कि अगर जर्मन लोगो की फतह हुई तो जर्मन-सरकार हिन्दु-
स्तान की आजादी को मजूर कर लेगी। इसी अहद और इसी शर्त तथा कई ...
शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लडाई मे जर्मनी
की मदद करेगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमिटी की इज्जत करती थी,
और उसके प्रतिनिधियो के साथ करीब-करीब विदेशी राजदूतो की बराबरी का ...
किया जाता था।

खास तौर पर बेतजुर्बा नौजवानो के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना
महत्व मिल गया, उससे उनमे से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि
हम कोई बहुत बडा ऐतिहासिक कार्य कर रहे है, वे बहुत ही बडी और युगान्तरकारी
कार्रवाइयो मे लगे हुए है। उनमे से बहुतो को बडे जोशीले मौको का सामना करना
पडा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लडाई के पिछले हिस्से मे उनकी अहमियत खुल्लम-
खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गई। हरदयाल को, जो अमेरिका
से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमिटी से उनकी बिलकुल न...
बनी, और कमिटी तथा जर्मन सरकार दोनो ही उनको विश्वास-पात्र नही मानते थे।
उन्होने उन्हे चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ मे मैं
योरप मे था, तब मुझे यह देखकर अचम्भा हुआ कि योरप मे रहनेवाले ज्यादातर
हिन्दुस्तानियो के दिलो मे हरदयाल के खिलाफ कितनी कटुता और कितनी नाराजगी
है। उन दिनो वह स्वीडन मे रहते थे। मै उनसे नही मिला।

लडाई खत्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमिटी का बुरी तरह खातमा हो
गया। उन लोगो की तमाम उम्मीदो पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए
जिन्दगी बिलकुल नीरस हो गई थी। उन्होने बहुत बडा जुआ खेला था, और उसमे
हार गये थे। लडाई के सालो मे उन्हे जो महत्त्व मिला, और जैसे बडे-बडे वाकयात
हुए, उनके बाद तो हर हालत मे जिन्दगी भारभूत मालूम होती। लेकिन उन बेचारो को
... ... गो इस तरह की बेफिक्री की जिन्दगी भी नही नसीब हो सकती थी। ...
... ... नही सकते थे, और लडाई के बाद के हारे हुए जर्मनी मे रहने ...

लिए कोई आराम की जगह थी नही। उन बेचारो को बडी मुश्किल का सामना करना पडा। उनमे से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद मे हिन्दुस्तान मे आने की इजाजत दे दी, लेकिन बहुतो को तो जर्मनी मे ही रहना पडा। उनकी हालत बडी नाजुक थी। जाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नागरिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नही थे। जर्मनी के बाहर तो सफर करना मुमकिन था ही नही, जर्मनी मे रहने मे भी बहुतसी मुश्किले थी, वे वहाँ की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी जिन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। रोज-ब-रोज उन्हे कोई-न-कोई फिक्र सवार रहती थी। हर वक्त उन्हे इसी बात के लिए परेशान रहना पडता था, कि क्या खायें और कैसे जिये?

१९३३ के शुरू से नाजियो के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढा दिया। अगर वे सोलहो आने नाजियो के मत को मान ले तो दूसरी बात है। जो लोग नॉर्डिक नही है, और खास तौर पर एशियायी है, ऐसे विदेशियो का आजकल जर्मनी मे स्वागत नही होता। उन लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा उस वक्त तक वहाँ ठहरने भर दिया जाता है जब तक कि वे ठीक तरह से रहे। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान मे ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफदार है। इसमे शक नही कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है, इसीलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नही देना चाहता जिसने ब्रिटिश सरकार को नाराज़ कर दिया हो।

बर्लिन मे हमे जो देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमे से एक चम्पकरमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे। वह कुछ धूमधाम-पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियो ने उन्हे एक बुरासा खिताब दे रक्खा था। वह सिर्फ राष्ट्रीयता की भाषा मे ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेल्मेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी मे उन थोडे-से हिन्दुस्तानियो मे से थे, जिनकी नाज़ियो से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल मे मैने खबर पढी कि बर्लिन मे उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी किस्म के आदमी थे। आम तौर पर लोग उन्हे चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही काबिल और बडे मज़े के आदमी थे। हमेशा मुसीबतो मे रहते। उनके कपडे बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हे अपने खाने का इन्तजाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मजाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नही

छोडा। जब मैं इग्लेण्ड मे पढ रहा था, तब वह मुझसे कुछ साल आगे थे। हैरो मे दाखिल हुआ, तब वह ऑक्सफोर्ड मे थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान न लौटे। कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते। उनके तमाम पारिवारिक बन्धन खत्म हो चुके थे। यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फौरन ही वह दुखी होने लगेंगे और यह पावेगे कि यहाँ उनका मेल नही मिलता। लेकिन इतने वर्षों के बीच ... और लम्बे-लम्बे सफर करने के बावजूद घर का खिचाव तो रहता ही है। देश-निकाला हुआ कोई भी शख्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैजिनी 'आत्मा का तपेदिक' कहता था, नही बच सकता।

मैं यह जरूर कहूँगा कि मुझे दूसरे मुल्को मे जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमे ज्यादातर लोगो का मेरे ऊपर अच्छा असर नही पडा, यद्यपि मैं उनकी कुर्बानियो की तारीफ करता था और जिन वाकई और असली मौजूदा मुसीबतो मे वे फँसे हुए थे और उन्होने जो तकलीफे सही थी और जो सहनी पड रही थी, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी। मैं उनमे से ज्यादा लोगो से नही मिला, क्योकि उनकी तादाद बहुत काफी है और वे दुनिया-भर मे फैले हुए है। उनमे से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने है, बाकी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये है और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयो की खिदमत करने की उन्होने कोशिश की वे उन्हे भूल गये है। उनमे से जिन थोडे-से लोगो से मैं मिला उनमे वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा असर पडा। राय से मैं कोई आध घण्टे तक मास्को मे मिला था। उन दिनो वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इटर-नेशनल ब्राड के कट्टर कम्यूनिजम से बाद के उनके कम्यूनिजम मे फर्क हो गया था। मैं समझता हूँ कि चट्टो बाकायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ उनका झुकाव कम्यूनिजम की तरफ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलो मे पडे हुए तीन साल से भी ज्यादा हो गये है।

इनके अलावा और भी बहुत-से हिन्दुस्तानी थे जो योरप के मुल्को मे घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियो की जुबान मे बात-चीत करते, बडे-बडे जीवट की और अजीब बाते सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पडता था कि इन लोगो पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस (खुफिया महकमे) की छाप लगी हुई थी।

हाँ, हम बहुतसे यूरोपीयनो और अमेरिकनो से भी मिले। जिनेवा से हम कई बार ... न ... व मे रोमा रोला को देखने के लिए विला ऑल्गा गये। उनके पास पहली वक्त हम गाधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि

ोर नाटककार की याद भी मै बहुत बहुमूल्य समझता हूँ। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। ब नाजियो के शासन मे वह जर्मन नही रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक-वाधीनता-सघ के रोजर वाल्डविन के लिए है। जिनेवा मे नामी लेखक धनगोपाल कर्जी से भी हमारी दोस्ती हो गई थी। वह अमेरिका मे बस गये है।

योरप जाने से पहले मै हिन्दुस्तान मे फ्रैंक बुशमेन से मिला था। यह आक्सफोर्ड-प-मूवमेट के है। इन्होने अपनी हलचल के सम्बन्ध मे कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे ढकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। यकायक मजहब बदल देना या गुनाहो का इकबाल रते फिरना और आम तौर पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह मे ऐसी बाते जिनका बुद्धि-वाद के साथ मेल नही खाता। मै यह नही समझ सका कि जो शख्श ज़ाहिरा तौर पर साफ-साफ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीब मनोभावो के शिकार कैसे हो जाते हैं और उनपर इन मनोविकारो का इस हद तक असर कैसे पड जाता है? मेरा कौतूहल बढा। जिनेवा मे फ्रैंक बुशमैन मुझे फिर मिले और उन्होने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया मे उनकी जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-पार्टी होनेवाली है उसमे मै शामिल होऊँ। मुझे अफसोस है कि मै वहाँ नही जा सका और नजदीक से इस नई भावपूर्णता को नही देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभीतक अतृप्त ही है और मै इस आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेट की बढती की जितनी खबरे पढता हूँ उतना ही आश्चर्य करता हूँ।

२२

आपसी मतभेद

हमारे स्वीजरलैण्ड मे पहुँचने के बाद फौरन ही इग्लैण्ड मे आम हड़ताल ह थी, जिसमे मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हड़तालिय साथ थी। कुछ दिनो के बाद जब हड़ताल बुरी तरह खत्म हुई तब मुझे ऐसा मा पडा मानो खुद मुझपर चोट पडी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनो के लिए इं जाने का मौका मिला। वहाँ कोयले की खानो के मजदूरो की लडाई अभीतक च रही थी और रात मे लन्दन आधे अन्धेरे-से मे रहता था। एक खान मे भी मै कु समय के लिए गया। मेरा ख्याल है कि वह जगह डरबीशायर मे होगी। औरतो और बच्चो के पीले और पिचके हुए चेहरे मैने अपनी आँखो से देखे। भी ज्यादा आखे खोलनेवाली बात यह हुई कि मैने हड़ताल करनेवाले मजदूरो उनकी औरतो पर मुकामी या काउण्टी की अदालतो मे मुकदमे चलते हुए देखे। अदालतो के मजिस्ट्रेट खुद उन कोयलो की खानो के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन की अदालतो मे मजदूरो का मुकदमा हुआ और उन्हे जरा-जरा-से जुर्मो के लिए ख खास तौर पर बनाये गये कानूनो के मुताबिक सजा दे दी जाती थी। एक मुकदमे मुझे खास तौर पर गुस्सा आया। अदालत के कटघरे मे तीन या चार औरते लाई गई जिनकी गोद मे बच्चे थे। उनका जुर्म यह था कि उन्होने हड़ताल करनेवा की जगह पर काम करने जानेवाले मजदूर-द्रोहियो को धिक्कारा था। ये नौजवान माताये और उनके नन्हे-नन्हे बच्चे दुखी है और उन्हे भरपेट भोजन नही मिलता, यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी। लम्बी लडाई से वे बहुत ही कमज़ोर हो गई थी। उनकी हालत बहुत बिगड गई थी। उनमे उन मजदूर-द्रोहियो के प्रति कटु आ गई थी जो उनके मुँह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

अमीर श्रेणी के लोग गरीब दर्जे के लोगो के साथ कैसा इन्साफ करते है, इस बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बाते पढा करते है, और हिन्दुस्तान मे तो इस तर के इन्साफो के किस्से रोजमर्रा की बाते है। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मै उम्मीद नही करता था कि इग्लैण्ड मे भी ऐसे 'इन्साफ' का इतना बुरा नमूना म देखने को मिलेगा। इस वजह से उसमे मेरे मन मे भारी धक्का लगा। एक और बा देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ यह थी कि हड़ताल करनेवालो मे फैली हुई थी। निश्चित रूप से पुलिस और हाकिमो ने उन्हे बुरी तरह

देया था जिससे वे बेचारे सब बातो को, मै समझता हूँ कि उनके साथ जो बेइज्जती ा वर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही हे कि एक लम्बी डाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोडने को ही ो। दूसरे मजदूर-सघो के उनके साथी मजदूरो ने उनका साथ छोड ही दिया था। किन गरीब हिन्दुस्तानी मजदूरो के मुकाबिले मे फिर भी दुनिया-भर का फर्क था। ब्रिटिश खानो के मजदूरो का सगठन तो अभीतक बहुत मजबूत था। सचमुच मुल्क-र के मजदूरो की ही नही, दुनिया-भर के मजदूर-सघो की हमदर्दी उनके साथ थी। नके विषय मे काफी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह साधन थे। हिन्दुस्तानी मजदूरो को इनमे से एक भी वात नसीब नही। लेकिन फिर भी दोनो मुल्को के मजदूरो की उस डर-भरी, भयभीत, निगाह मे एक अजीव कसापन था।

उस साल हिन्दुस्तान मे असेम्वली और प्रान्तीय कौसिलो का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावो मे कोई दिलचस्पी नही थी, लेकिन वहाँ जो घमासान वाग्युद्ध हुआ उसकी कुछ आवाजे स्वीजरलैण्ड मे भी पहुँच गई। स्वराज-पार्टी इन दिनो तक कौसिलो मे वाकायदा काग्रेस-पार्टी हो गई थी। इसकी मुखालिफत करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, प० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नई पार्टी वनाई थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नैशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ मे यह नही आया और अभीतक मै नही समझ सका कि नई पार्टी और पुरानी पार्टी मे किन बुनियादी उसूलो का फर्क था। सच वात तो यह है कि आजकल कौसिलो की ज्यादातर पार्टियो मे कोई कहने लायक फर्क नही है—उतना ही फर्क है जितना ईसरी और ईसरिया के नामो मे। कोई असली उसूल उन्हे एक-दूसरे से अलग नही करता था। स्वराज-पार्टी ने पहले-पहल कौसिलो मे एक नया और लडाकू रुख अख्त्यार किया और दूसरो के मुकाबिले मे वह ज्यादा गरम नीति से काम लेने की पक्ष-पाती थी। लेकिन यह फर्क तो मात्रा का फर्क था, किस्म का नही।

नई नैशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित रूपसे स्वराज-पार्टी से ज्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी। इसके अलावा वह सोलहो आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू सभा के घनिष्ठ सह-योग के साथ काम करती थी। प० मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ मे आ सकता था, क्योकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक प्रदर्शित करती थी। पुराने ताल्लुकात की वजह से वह कॉग्रेस मे जरूर वने हुए थे, लेकिन उनका दिमागी दृष्टि-कोण लिवरलो या माडरेटो के दृष्टि-कोण

से ज्यादा भिन्न न था। कॉंग्रेस ने असहयोग और सीधी लड़ाई के जो नये ढग अख्तियार किये थे, वे उन्हे पसन्द न थे। कॉंग्रेस की नीति को तय करने मे भी उनका कोई खास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बड़ी इज्जत करते थे और कांग्रेस मे हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल वह नई कांग्रेस के नही थे। वह उसकी कार्य-कारिणी,—कार्य-समिति—के मेम्बर नही थे। और वह कांग्रेस के आदेशो पर अमल नही करते थे, खासकर उन आदेशो पर जो कौसिलो के बारे मे दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोकप्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानो के मामले मे उनकी नीति कॉंग्रेस की नीति से जुदा थी। कॉंग्रेस के प्रति उनकी वैसी भावुकतापूर्ण आसक्ति थी, जैसी किसी एक सस्था से किसीका करीब-करीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हद तक इसलिए भी उन्हे कॉंग्रेस से प्रेम था, क्योकि आजादी की लडाई की दिशा मे भी उनकी भावुकता उन्हे खीच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कॉंग्रेस ही एक ऐसी सस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन वजूहात से उनका दिल अक्सर कॉंग्रेस के साथ रहता था, खास तौर पर लड़ाई के वक्त मे, लेकिन उनका दिमाग दूसरे कैम्पो मे था। लाजिमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि खुद उनके भीतर लगातार एक अन्तर्द्वन्द्व होता रहता था। कभी-कभी वह एक-दूसरे के खिलाफ दिशाओ मे, पूर्व-पश्चिम दोनो तरफ, एकसाथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगो की बुद्धि गड़बडी मे पड जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालो की खिचडियो से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नेशनलिस्ट है, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो से उनका कोई वास्ता नही। वह पुराने कट्टर पथ के समर्थक थे और है। सामाजिक, आर्थिक और सॉस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म के माननेवाले है। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुकेदार तथा बड़े-बड़े जमीदार ठीक ही उन्हे अपना हितचिन्तक मित्र समझते है। वह सिर्फ एक ही तबदीली चाहते है, पर उसे जरूर तहेदिल से चाहते है। वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का कतई हट जाना। उन्होने अपनी जवानी मे जो कुछ पढा और जो राजनैतिक तालीम पाई थी उसका अब भी उनके दिमाग पर बहुत असर है और वह लडाई के बाद की, बीसवी सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-स्थिर उन्नीसवी सदी के चश्मे से, टी० एच० ग्रीन और जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मार्ले की निगाहो से तथा हिन्दू-सस्कृति और समाज-विज्ञान के तीन-चार वर्ग पुराने पृष्ठ-भाग से, देखते है। यह एक विचित्र मेल है जिसमे परस्पर-विरोधी बाते भरी हुई है। लेकिन परस्पर-विरोधी बातो को हल ... अपनी खुद की शक्ति मे उनका विश्वास आश्चर्य-जनक है। उठती जवानी

ही विविध क्षेत्रो मे उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवाये होती आई है। काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय जैसी विशाल सस्था कायम करने मे उन्होने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन बिलकुल साफ दिखाई देती है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही बा-असर है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व दिल को अपनी तरफ कर लेनेवाला है। इन सब बातो से हिन्दुस्तान के लोगो को, खास तौर पर हिन्दुओ को, वह बहुत प्यारे है, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति मे उनसे सहमत नही है, न उनके पीछे ही चलते है, लेकिन वह उनसे प्रेम तथा उनकी इज्जत जरूर करते है। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के नेस्टर या वृद्ध-वशिष्ठ है, लेकिन एसे जो समय से पीछे मालूम देते है और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से है। उनकी आवाज़ की तरफ लोगो का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते है उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही है न उसकी परवाह ही करते है।

इन बातो से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी मे शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज्यादा आगे बढी हुई थी, और उसमे काग्रेस की नीति पर डटे रहने का कडा अनुशासन जरूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज्यादातर उग्र न हो और जिसमे राजनैतिक और फिरकेवाराना दोनो मामलो मे मन-मुताबिक काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनो बाते उन्हे उस नई पार्टी मे मिल गई जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ मे नही आती कि लाला लाजपत राय क्यो नई पार्टी मे शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ दाहिनी तरफ और ज्यादा फिरकेवाराना नीति की तरफ था। उस साल गर्मियो मे मै जिनेवा मे लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बाते वहाँ हुई उनसे तो यह नही मालूम पडता था कि वह काग्रेस-पार्टी के खिलाफ लडाकू रुख अख्त्यार करेगे। यह क्यो हुआ, इस बात का अभीतक मुझे कुछ पता नही। लेकिन चुनाव की लडाई के दौरान मे उन्होने कुछ अस्पष्ट इल्जाम लगाये, जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन मे क्या-क्या चल रहा था। उन्होने काग्रेस के नेताओ पर इल्जाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान से बाहर के लोगो के साथ साज़िश कर रहे है। उन्होने एक यह भी इल्जाम लगाया कि काबुल मे काग्रेस की शाखा खोलकर इन्होने कुछ साजिश की है। मेरा खयाल है कि उन्होने अपने इन इल्ज़ामो की बाबत कोई खास बात कभी नही बताई। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफसील मे कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैने स्वीजरलैण्ड मे हिन्दुस्तानी अख़बारो मे लालाजी के

इलजामो को पढा तो मैं दग रह गया। काग्रेस के मत्री की हैसियत से मैं बावत सब बाते जानता था। काबुल की काग्रेस-कमिटी का काग्रेस से सम्बन्ध मे मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरुआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे वक्त यह नही मालूम था, अब भी नही मालूम है, कि लालाजी के पास इलजामो की क्या तफसील थी, फिर भी मै उनके स्वरूप को देखकर यह कह हूँ कि जहाँतक काग्रेस से ताल्लुक है इन इलजामो की कोई बुनियाद नही हो मै नही जानता कि इस मामले मे लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन तरह-तरह की अफवाहो का उन्होने ऐतबार कर लिया हो, और मेरा खयाल हालही मे मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उसमे उनके जरूर असर पडा होगा। हालाकि उस बातचीत मे मुझे कोई बात ऐसी गैर-म नही मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक्त मे गैरमामूली हालत पैदा हो जाती उनमे एक ऐसी अजीब बात होती है कि लोगो का मिजाज बिगड जाता है और मामूली पैमानो के मुताबिक काम नही करते। इन चुनावो को मैं जितना ही देखता हूँ उतनी ही ज्यादा मेरी हैरत बढती जाती है, और मेरे मन मे उनके खि एक ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतत्री भाव के कतई खिलाफ है।

लेकिन, शिकायतो की बात जाने दीजिए, मुल्क के बढते हुए फिरकेवार मिजाज को देखकर, नैशनलिस्ट-पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का उठना लाजिमी था। एक तरफ मुसलमानो के दिलो मे हिन्दुओ की ज्यादा तादाद का डर दूसरी तरफ हिन्दुओ के दिलो मे इस बात पर बहुत नाराजगी थी कि मुसलमान पर धौस जमाते है। बहुत-से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानो का रुख कुछ 'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दे नही तो ठीक कर दूँगा' जैसा है और वे दू तरफ सरकार की तरफ मिलने की धमकी देकर जबरदस्ती खास रिआयते ले लेने भी बहुत ज्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह से हिन्दू-महासभा को कुछ अहमि यत मिल गई, क्योकि वह हिन्दू राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओ की हि साम्प्रदायिकता मुसलमानो की साम्प्रदायिकता के मुकाबले पर आ डटी थी। महासभा की लडाकू हरकतो का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानो की यह साम्प्रदायिकता भी जोर पकड गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया मे मु का फिरकेवाराना पारा बहुत चढ गया। खास तौर पर यह सवाल देश के अल्पसं दल और बहुसख्यक दल के झगडे का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी मुल्क के कुछ हिस्सो मे बात बिल्कुल उलटी थी। पजाब और सिन्ध मे हिन्दू इन दोनो की तादाद मिलकर भी मुसलमानो से कम थी। और इन सूबो के

ाक हिन्दू और सिक्खो को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसख्या से कुचले जाने का ना ही डर था जितना मुसलमानो को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबो मे। या अगर ठकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यो कहिए कि दोनो दलो के मध्यश्रेणी वाले करी की फिराक मे लगे हुए लोगो को यह डर था कि कही ऐसा न हो जाय कि करियाँ मिलने ही न पावे, और कुछ हद तक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले जमीदारो र साहूकारो वगैरा को यह डर था कि कही ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायँ समे हमारे स्वार्थो का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढती से स्वराज-पार्टी को बहुत नुकसान पहुँचा। सके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोडकर चले गये और मुसलमानो की फिरके-राना जमातो मे जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नैशनलिस्ट-पार्टी जा मिले। जहाँतक हिन्दू लीडरो से ताल्लुक था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय ा मेल बहुत ताकतवर मुकाबिला था और साम्प्रदायिकता के तूफान के केन्द्र पजाब मे नका बहुत असर था। स्वराज-पार्टी या काग्रेस की तरफ चुनाव लडने का खास बोझ रे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबधु दास भी अब ही रहे थे। उन्हे लडाई मे मजा आता था। किसी भी हालत मे वह लडाई से जी नहीं चुराते थे, और मुखालिफ की ताकत को बढ़ते हुए देखकर उन्होने चुनाव की लडाई में अपनी तमाम ताकत लगा दी। उन्होने गहरी चोटे खाई और दी। दोनो पार्टियो मे से किसीने भी किसीका कुछ लिहाज़ नही किया। शिष्टता भी छोड दी। इस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बडी कड़वी बनी रही।

नैशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफी मात्रा मे कामयाबी मिली। लेकिन इस काम-याबी ने निश्चित रूप से असेम्बली के राजनैतिक लहजे को नीचा कर दिया। आकर्षण-केन्द्र ओर भी ज्यादा दाहिनी ओर चला गया। स्वराज-पार्टी खुद काग्रेस का दाहिना पक्ष था। अपनी ताकत बढाने के लिए उसने बहुत-से सदिग्ध लोगो को पार्टी मे घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता मे कमी हो गई। नैशनलिस्ट-पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। खिताबधारी लोगो, बडे जमीदारो, मिल-मालिको तथा दूसरे लोगो का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमे आ इकट्ठा हुआ। इन लोगो का भला राजनीति से क्या ताल्लुक? उस साल १९२६ के अखीर मे हिन्दु-स्तान मे एक भारी दु खद घटना से अन्धेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान भर घृणा व रोष से काँप उठा। उससे पता चलता था कि फिरकेवाराना जोश हमारे लोगो को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी से चार पाई पर पडे हुए थे, एक मजहब के अन्धे ने कत्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखो

की सगीनो के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियों का सामना था उसकी ऐसी मौत ! करीब-करीब आठ बरस पहले इसी आर्य-समाजी ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओ और मुस- की एक बहुत बड़ी जमात को एके का और हिन्दुस्तान की आजादी का उपदेश दिया उस विशाल भीड ने 'हिन्दू-मुसलमानो की जय' के शोर मे उनका स्वागत किया और मसजिद से बाहर गलियो मे उन्होने उस ध्वनि को अपने खून की एक शामिल लगादी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू गये ! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो बहिश्त को ले जायगा।

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम मे शारीरिक तकलीफ और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का, मै हमेशा से प्रशसक रहा हूँ मेरा खयाल है कि हममे से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते हैं स्वामी श्रद्धानन्द मे इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा कद, शाही सन्यासी के वेश मे बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आँखे चेहरे पर कभी-कभी दूसरो की कमजोरियो पर आनेवाली चिडचिडाहट या गुस्से की छाया का गुजरना, मै इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ ? अक्सर वह मेरी आँखो के सामने आ जाती है।

२३

ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर मे मै इत्तिफाक से बर्लिन मे था और वही मुझे यह मालूम हुआ कि हाल ही मे ब्रसेल्स शहर मे पददलित कौमो की एक कान्फ्रेंस होनेवाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैने घर यानी हिन्दुस्तान को लिखा कि कांग्रेस को ब्रसेल्स-कांग्रेस मे अधिकारी-रूप से हिस्सा लेना चाहिए। कांग्रेस ने मेरी यह बात पसन्द की और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह कांग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू मे हुई। मुझे पता नही कि यह खयाल पहलेपहल किसको सूझा ? उन दिनो बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देशनिकाले हुए राजनैतिक लोगो और दूसरे मुल्को के उग्र विचार के लोगो को अपनी तरफ खीचता था। इस मामले मे बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुँच रहा था। वहाँ कम्यूनिस्ट-दल भी काफी मजबूत था। पददलित कौमो मे आपस मे तथा इन कौमो मे और मजदूर उग्र-दलो मे एक-दूसरे के साथ मिलकर सयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनो लोगो मे फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्य-वाद नाम की चीज़ के खिलाफ आज़ादी की लडाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लडाई की बाबत मिलकर गौर किया जाय और जहाँ हो सके वहाँ मिलकर कम करने की कोशिश भी की जाय। इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा जिन राष्ट्रो के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के खिलाफ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लडाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नही थे, इसलिए जर्मनी की सरकार दूसरी ताकतो के उपनिवेशो और आधीन देशो मे आन्दोलन की इस बढती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणो मे से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगो मे सबसे ज्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहाँ की क्यूमिनटेंग-पार्टी के बाये दल (गरमदल) के थे। यह पार्टी उन दिनो चीन में तूफान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी बेरोक गति के आगे पुराने ज़माने की ज़मीदारियाँ वगैरा ज़मीन मे लुढकती नज़र आ रही थी। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताकतो ने भी अपनी तानाशाही आदतो को और धौस-डपट को छोड दिया था। ऐसा मालूम पडता था कि अब चीन के एके और उसकी आजादी के मसले के हल हो जाने मे ज्यादा देर नही

लगेगी। क्यूमिनटेग ख़ुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके मा
मुश्किले आने को थी उन्हे भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचा
अपनी ताकत बढाना चाहती थी। गालिब्रन इस पार्टी के बाये दल के लोगो ने
दूसरे मुल्को के कम्यूनिस्टो या कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोगो से मिलकर काम
थे, इस तरह के प्रचार पर जोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्को मे चीन की ना
परिस्थिति को और घर पर पार्टी मे अपनी स्थिति को मजबूत कर सके। उस व
पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर प्रतिस्पर्धी और कट्टर शत्रु-दलो मे नही बँट गई थी।
उस वक्त वह बाहर से देखने वाले सब लोगो को सयुक्त सामना करती हुई
होती थी।

इसलिए क्यूमिनटेग के यूरोपियन प्रतिनिधियो ने पद-दलित कौमो की का
करने के ख़याल का स्वागत किया, शायद उन्होने ही कुछ और लोगो से मिलकर
ख़याल को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्युनिस्ट और कम्यूनिस्टो से मिलते-जुल
लोग भी शुरू से इस ख़याल के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्युनिस्ट लो
कान्फ्रेस के मामले मे अलग, पीछे ही, रहे। लेटिन अमेरिका से भी क्रियात्मक मदद
और सहायता आई, क्योकि उन दिनो वह सयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद के
मारे कुडमुडा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल
का था। वह इस बात के लिए उत्सुक था कि सयुक्तराज्य के ख़िलाफ लटिन
अमेरिका के गुट्ट की रहनुमाई करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स काग्रेस मे बड़ी
दिलचस्पी ली। वहाँ की सरकार एक सरकार की हैसियत से तो कॉग्रेस मे हिस्सा नही
ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहाँ वह एक
हितैषी दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

ब्रसेल्स मे जावा, इण्डो चाइना, फिलस्तीन, सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफरीका
अरब और अफरीका के हब्शी लोगो की कौमी सस्थाओ के प्रतिनिधि भी मौजूद थे।
इनके अलावा बहुत-से मज़दूरो के उग्रदलो ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-
से ऐसे लोग भी जिन्होने एक युग से मजदूरो की लडाइयो मे खास हिस्सा लिया था,
वहाँ मौजूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहा थे। उन्होने कॉग्रेस की कारवाई मे काफी हिस्सा
लिया, लेकिन वे वहा कम्यूनिस्टो की हैसियत से न आकर कई मजदूर-सघ या वैसी
ही सस्थाओ के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जार्ज लेन्सबरी उस कॉग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होने बहुत ही जोरदार
दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि कॉग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी
उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टो के साथ जोड दिया था। लेकिन इस बात म

शक नही कि वहा एकत्र लोग कम्यूनिस्टो के प्रति मित्र-भाव रखते थे और पि उनमे और कम्यूनिस्टो मे कई वातो मे समझौता भले ही न हो सकता हो फिर काम करने के लिए कई वाते ऐसी भी थी जिनमे मिलकर काम किया जा ता था ।

वहाँ जो स्थायी सस्था साम्राज्यवाद-विरोधी लीग कायम की गई उसका भी ापतित्व लेन्सवरी साहव ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फौरन ही उन्हे अपनी इस दवाजी पर पछताना पडा, या शायद ब्रिटिश मजदूर-दल के उनके साथियो ने की इस वात को पसन्द नही किया । उन दिनो यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी ' था और जल्दी ही वढकर 'सम्राट-सरकार' वनने को था । अब भला मत्रि-मण्डल भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति मे कैसे पैर फँसा सकते थे ? स्टर लेन्सवरी ने पहले तो काम मे वहुत मशगूल रहने का वहाना करके लीग की दारत से इस्तीफा दे दिया, वाद को उन्होने उसकी मेम्वरी भी छोड दी । मुझे इस त से वहुत अफसोस हुआ कि जिस शख्स के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैने तनी तारीफ की थी उसमे यकायक ऐसी तव्दीली हो गई ।

कुछ भी हो, काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के सरक्षक हैं । नमे एक तो आइन्स्टीन साहव है और दूसरी श्रीमती सनयातसेन, और मेरा खयाल कि रोमा रोलाँ भी । कई महीने वाद आइन्स्टीन ने इस्तीफा दे दिया, क्योकि फलस्तीन मे अरवो और यहूदियो के जो झगडे हो रहे थे उनमे लीग ने अरवो का क्ष लिया था और यह वात उन्हे नापसन्द थी ।

ब्रसेल्स-कॉग्रेस के वाद लीग की कमिटियो की कई मीटिगे वक्तन-फवक्तन भिन्न-भिन्न जगहो मे हुई । इन सवसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशो की कुछ समस्याओ को समझने मे वडी मदद मिली । उनकी वजह से पश्चिमी ससार मे मजदूरो जो भीतरी सघर्ष चल रहे है उनकी तह तक पहुँचने मे भी मुझे आसानी हुई । नकी वावत मैने वहुत-कुछ पढा था, और कुछ तो मै पहले से ही जानता था, किन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नही थी, क्योकि उनसे मेरा कोई ाती ताल्लुक नही पडा था । लेकिन अव मै उनके सम्पर्क मे आया और कभी-कभी झे उन मसलो का भी सामना करना पडा जो इन भीतरी सघर्षो मे प्रकट होते है । सरी इटरनेशनल और तीसरी इटरनेशनल नाम की मजदूरो की जो दो दुनिया है नमे मेरी हमदर्दी तीसरी के साथ थी । लडाई से लेकर अवतक दूसरी इटरनेशनल ने ो कुछ किया उसमे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान मे इस इटरनेशनल ी सवसे जवर्दस्त हिमायती ब्रिटिश मजदूर दल के तरीको का जाती तजुर्वा हो चुका

था। इसलिए लाजिमी तौर पर कम्यूनिज्म की बाबत मेरा ख़याल अच्छा हो गया कि उसमे कितने भी ऐब क्यो न हो, कम्यूनिस्ट कम-से कम साम्राज्यवादी और तो न थे। कम्यूनिज्म से मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तो की वजह से क्योकि मैं कम्यूनिज्म की कई सूक्ष्म बातो की बाबत ज्यादा नही जानता था। उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातो तक ही महदूद थी। और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टो से मैं उनके डिक्टेटराना ढग तथा उनके नये लड़ाकू कुछ हदतक गँवारू तरीके से और जो लोग उनसे सहमत न हो उन सबकी करने की उनकी आदतो की वजह से चिढ जाता था। उनके कहने के मुताबिक तो मेरा यह मनोभाव मेरी बुर्जुआओ की-सी, अमीराना, तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह भी थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमिटियो की बैठकों मे बहस के छोटे-छोटे मामलो मे मैं मामूली तौर पर एग्लो-अमेरिकन मेम्बरो की तरफ रहता था। किस तरीके से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले मे तो हम लोगों के दृष्टि-कोण एक-से ही थे। मैं और वे लोग ऐसी सब तजवीजो के खिलाफ थे जो लम्बी-चौडी और आलकारिक हो और जो घोषणापत्रो जैसी मालूम पडती हो। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी-सी चीज़ चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशो की परम्परा इसके खिलाफ थी। अक्सर कम्यूनिस्टो मे और गैर-कम्यूनिस्टो में भी मत-भेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राजी हो जाते थे। इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमिटियो की मीटिगो मे शामिल नही हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियो के वैदेशिक और औपनिवेशिक दफ्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ खौफ खाते थे। ब्रिटिश वैदेशिक विभाग के नामी लेखक 'अगुर' ने अपनी एक किताब मे इस कान्फ्रेन्स का कुछ सनसनीदार और कही-कही हास्यास्पद हाल दिया है। गालिबन खुद काग्रेस मे खुफियाओ की भरमार थी। बहुतसे प्रतिनिधि भी खुफियादलो के प्रतिनिधि थे। इसकी हमें एक मजेदार मिसाल मिली। मेरे अमेरिकन दोस्त उन दिनो पेरिस मे रहते थे। उनसे एक दिन फ्रास की खुफिया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज कुछ मामलो की बाबत दोस्ताना तरीके से कुछ बाते पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बाते पूरी कर चुके तब उन अमेरिकन सज्जन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नही, मैं तो आपसे भी मिल चुका हूं। अमेरिकन ने उन्हे बडे गौर से देखा, लेकिन उन्हे यह मालूम

...रना पडा कि मुझे याद नही आता कि मैंने आपको कब और कहाँ देखा। तब ...किया पुलिस के उन साहब ने उन्हे बताया, कि मैं आपसे ब्रसेल्स-कॉंग्रेस मे नीग्रो ...तिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक्त मैंने अपना चेहरा और अपने हाथ वगैरा ...ब बिलकुल काले कर लिये थे।

साम्राज्य-विरोधी-सघ की एक बैठक कोलोन मे हुई और मैं भी उसमे शामिल ...आ। जब कमिटी की बैठक खत्म हो गई तब हमसे यह कहा गया कि चलो, नजदीक ...ो डुसेल्डॉर्फ मे सेक्को-वेन्जेटी के सिलसिले मे जो जलसा हो रहा है उसमे चले। जब हम ...उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पास-...ोर्ट दिखाइए। हममे से ज्यादातर लोगो के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन ...ैं अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल मे छोड गया था। क्योकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ ...ो सिर्फ कुछ घण्टो के लिए ही आये थे। इसपर मुझे पुलिस-थाने मे ले जाया गया। मेरी खुशकिस्मती से इस मुसीबत मे मुझे दो साथी भी मिल गये। वे थे एक अग्रेज और उनकी बीवी। ये दोनो भी अपने पासपोर्ट कोलोन मे छोड आये थे। हमे वहाँ कोई एक घण्टा ठहरना पडा होगा, इस बीच मे शायद फोन से सब बाते दर्यापत कर ली गई। इसके बाद पुलिसवालो ने बडी महरबानी करके हमे जाने की इजाजत दी।

पिछले सालो मे यह साम्राज्य-विरोधी-लीग कम्यूनिज्म की तरफ ज्यादा झुक गई। लेकिन जहॉतक मुझे मालूम है, उसने किसी भी वक्त अपनी अलग हस्ती को नही खोया। मैं तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रो द्वारा ही रख सकता था। १९३१ मे कॉंग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली मे जो समझौता हुआ और उसमे मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज्यादा नाराज हो गई और उसने मुझे बिल्कुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यो कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मैं यह मजूर करता हूँ कि मैंने उसे नाराजी का काफी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ करने का कुछ मौका दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियो मे मेरे पिताजी योरप आये। मैं उनसे वेनिस मे मिला और उसके बाद के कुछ महीनो तक अक्सर हम लोग साथ-साथ रहे। हम सब लोगो ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहन और मैंने—नवम्बर मे थोडे दिनो के लिए मास्को की यात्रा की। उन दिनो सोवियट सरकार की दसवी सालगिरह मनाई जा रही थी। हम लोग मास्को मे बहुत ही थोडे दिनो के लिए, सिर्फ तीन-चार दिन के ही लिए, गये थे, क्योकि हमने यकायक वहाँ जाना तय किया था। लेकिन हमे इस बात की

खुशी है कि हम वहाँ गये, क्योंकि उसकी इतनी झाकी भी काफी थी। इतनी न मे किया गया वह दौरा हमे नये रूस की बाबत न तो ज्यादा सिखा ही सकता था उसने सिखाया ही, लेकिन उसने हमे अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दी पिताजी के लिए ये सब सोवियट और समष्टिवादी विचार बिल्कुल नये थे। उन तमाम तालीम कानूनी और विधान-सम्बन्धी थी और वे उस ढाचे मे से आमतौर नही निकल सकते थे। लेकिन मास्को मे उन्होने जो कुछ देखा उसका उनके ऊ निश्चित रूप से असर पडा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को मे ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अखबार मे पढा। इसके कुछ दिनो बाद पिताजी लन्दन मे—प्रिवी-कौसिल मे—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील मे सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी जमींदारी का मुकदमा था जिसमे शुरू-शुरू मे बहुत साल पहले मैने भी पैरवी की थी। उस मुकदमे मे मुझे कुछ दिलचस्पी नही थी। लेकिन एक मर्त्तबा मै सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशवरे मे शामिल होने के लिए साइमन साहब के चेम्बर मे गया था।

१९२७ का साल भी खत्म हो रहा था, और योरप मे हम बहुत ज्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी योरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक्त कुछ समय दक्षिण पूर्वी योरप, टर्की और मिश्र मे भी बितावे। लेकिन उस वक्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मै इस बात के लिए उत्सुक था कि कॉंग्रेस का जो अगला जलसा मदरास मे बडे दिन की छुट्टियो मे होने को था उसमे शामिल हो सकूँ। इसलिए मै, मेरी पत्नी, मेरी बहन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू मे मारसेलीज से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और योरप मे ही रहे।

२४

हिन्दुस्तान में वापसी और फिर राजनीति में

योरप से मै वहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक हालत लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चगी तो नही हुई थी, लेकिन वह पहले से वहुत बेहतर थी। इसलिए मुझे उनकी तरफ से किसी किस्म की फिक्र नही रही थी। मै ऐसा महसूस करता था कि मुझमे शक्ति और जीवन लवालव भरा हुआ है, और इससे पेश्तर भीतरी द्वन्द्व और मनसूवो के विगड जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, यह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-विन्दु व्यापक हो गया था और वजात खुद राष्ट्रीयता का मकसद मुझे निश्चित रूप से तग और नाकाफी मालूम होता था। इसमे कोई शक नही कि राजनैतिक स्वतन्त्रता, आजादी, लाज़िमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा मे कदमभर है। जवतक सामाजिक आजादी न होगी और समाज का तथा राज का वनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो मुल्क ही ज्यादा तरक्की कर सकता है, न उसमे रहनेवाले लोग ही। मै यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामलात ज्यादा साफ दिखाई दे रहे है। आजकल की दुनिया को जोकि हर वक्त वदलती रहती है, मैने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलो और राजनीति के वारे मे ही नही, लेकिन सास्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयो पर जिनमे मेरी दिलचस्पी थी, मैने खूव पढा। योरप और अमेरिका मे जो वडे-वडे राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन मे मुझे वडा लुत्फ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नही मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे ज़ोरो से अपनी ओर खीचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास योरप एक तरीके से एक जगह जमकर वैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक सकट तो उसके वाद ही आने को था। लेकिन मै वहाँ से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर वैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य मे योरप मे और दुनिया मे भारी उथल-पुथल होने वाली है, तथा वडे-वडे विस्फोट होनेवाले है।

मुझे फौरन ही सवसे पहले करने का काम यह दिखाई देता था कि हम देश को दुनिया मे होनेवाली इन घटनाओ के लिए शिक्षित व उद्यत करे, उसे उनके लिए जहातक हमसे हो सके वहाँतक तैयार रक्खे। यह तैयारी ज्यादातर खयालो की तैयारी थी, जिसमे सवसे पहली वात तो यह थी कि हमारी राजनैतिक आज़ादी के

मकसद के बारे मे किसीको कुछ शक नही होना चाहिए। यह बात सबको साफ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए सम्भवनीय एकमात्र राजनैतिक ध्येय हो सकता है और यह औपनिवेशिक-पद के बारे मे जो अस्पष्ट और गोलमाल की जाती है उससे बिलकुल जुदा है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था महसूस किया कि काग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ वह ज्यादा द सकेगी बहुत ज्यादा होगा। काग्रेस तो महज एक राजनैतिक राष्ट्रीय सस्था है दूसरे तरीको पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा मे भी आत की जा सकती है। काग्रेस से बाहर मजदूर-मडलो मे ओर नौजवानो मे ये खया कॉग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे। इसके लिए मै अपनेको काग्रे दफ्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन मे कुछ-कु खयाल भी था कि मै कुछ महीने सुदूर भीतर के गाँवो मे रहकर उनकी हालत अध्ययन करने मे बिताऊँ। लेकिन होनहार ऐसा न था और घटनाओ ने तय लिया था कि वे मुझे कॉग्रेस की राजनीति मे घसीट लेगी।

हम लोगो के मदरास मे पहुँचने के बाद फौरन ही मै कॉग्रेस के भँवर मे फ गया। कार्य-समिति के सामने मैने कई प्रस्ताव पेश किये। आजादी के बारे मे, ल के खतरे के बारे मे, साम्राज्य-विरोधी-सघ के बारे मे ओर ऐसे ही कुछ ओर प्रस्ता पेश किये। करीब करीब ये सब प्रस्ताव मजूर हुए ओर वे कार्य समिति के सरकार प्रस्ताव बना लिये गये। कॉग्रेस के खुले अधिवेशन मे भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश कर पडे और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब करीब-करीब एक राय पास हो गये। आजादी के प्रस्ताव का तो मिसेज एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इस चारो ओर के समर्थन से मुझे बडी खुशी हुई, लेकिन मेरे दिल मे यह खया बेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगो ने उन प्रस्तावो को समझा ही नही है कि क्या है या उन्होने उनके मानी तोड-मरोडकर बिलकुल दूसरे लगा लिये है। काग्रेस बाद फौरन ही आजादी के प्रस्ताव के बारे मे जो बहस उठ खडी हुई उससे यह जाहिर हो गया कि असल मे यही बात थी।

मेरे ये प्रस्ताव कॉग्रेस के हस्बमामूल प्रस्तावो से कुछ भिन्न थे। वे एक न दृष्टिकोण को व्यक्त करते थे। इसमे शक नही कि बहुत-से कांग्रेसी उन्हे पसन्द कर थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हे नापसन्द करते थे लेकिन इतना नापसन्द नही करते थे कि उनकी मुखालिफत करे। गालिबन ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव मह त्वक है, उनके पास होने न होने से कोई खास फर्क नही पडता, और उनसे निप सबसे अच्छा तरीका यही है कि उनको पास कर दिया जाय और

ा महत्वपूर्ण काम की तरफ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनो आजादी का
व कांग्रेस मे उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नही करता था
कि उसने एक या दो साल वाद किया। उस वक्त तो वह एक बहु-व्यापी और
जानेवाले भाव को ही व्यक्त करता था।

गाधीजी मदरास मे ही थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन मे आते थे, लेकिन
ने कांग्रेस के नीति-निर्माण मे कोई हिस्सा नही लिया। वह जिस कार्य-समिति
म्बर थे उसकी बैठको तक मे भी शामिल न हुए। जबसे कांग्रेस मे स्वराज-पार्टी
ोर हुआ तबसे कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था।
न हाँ, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्वपूर्ण बात
ो वताये बिना नही की जाती थी। मुझे नही मालूम कि मैंने कांग्रेस मे जो प्रस्ताव
किये उन्हे वह कहाँ तक पसन्द करते थे। मेरा झुकाव तो इस खयाल की तरफ है
वह उन्हे नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावो मे जो कुछ कहा गया था उसकी वजह
इतना नही जितना उनकी आम प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होने
ी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नही की। मेरे पिताजी तो उन दिनो योरप
थे।

आजादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो कांग्रेस की उसी बैठक मे उसी वक्त
हिर हो गई थी जबकि साइमन-कमीशन की निन्दा और उसके बायकाट के लिए
ील करने सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप यह
जवीज़ की गई कि सब दलो की एक कान्फ्रेन्स बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए
क शासन-विधान बनावे। यह जाहिर था कि जिन माडरेट दलो का सहयोग लेने की
ोशिश की गई थी, वे आजादी के लिहाज से कभी बातो को देख ही नही सकते थे।
तो ज्यादा-से-ज्यादा उपनिवेशो के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर कांग्रेस का सेक्रेटरी होना पड़ा। इसके कुछ कारण तो जाती थे। उस
ाल के प्रेसिडेंट डाक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी ख्वाहिश थी
कि मै ही सेक्रेटरी बनूँ और मुझे भी यह खयाल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए
तब मेरा फर्ज है कि मै यह देखूँ कि उनके मुताबिक काम हो। यह सच है कि सर्व-
दल-सम्मेलन के सम्बन्ध मे जो प्रस्ताव पास हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावो
के असर को मार दिया था, फिर भी बहुत कुछ रह गया था। इसके अलावा मेरे
मन्त्रि-पद मंजूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि कांग्रेस सब दलो
की कान्फ्रेंस के जरिये या दूसरी वजह से कही माडरेट स्थिति की तरफ, राजीनामे
और समझौते की तरफ, न झुक जाय। उन दिनो ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस

दुविधा मे पडी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ बढती तो कभी नरमी हटती । मै चाहता था कि जहातक मुझसे हो सके वहाँतक इस दुविधा मे कांग्रेस को नरमी की तरफ न झुकने दूं और उसे आजादी के ध्येय पर डटा
राष्ट्रीय कांग्रेस के सालाना जलसो के मौको पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हुआ करते है । मदरास मे इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स' हुआ । इसका पहला (व आखरी) जलसा उसी साल वही हुआ । मुझसे कि मै उसका सभापति बन जाऊँ । मुझे यह खयाल पसन्द आया, क्योंकि को रिपब्लिकन (प्रजातन्त्र-वादी) समझता हूँ । लेकिन मुझे झिझक इस बात कि मुझे यह नही मालूम था कि इस कान्फ्रेन्स को करानेवाले साहब कौन है यो ही बरसाती मेढको की तरह पैदा होनेवाली चीज़ो से अपना सम्बन्ध नही चाहता था । अखीर मे जाकर मै उसका सभापति बना । लेकिन बाद को मुझे लिए पछताना पडा, क्योकि ऐसे बहुत-से मामलो की तरह यह रिपब्लिकन भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई । कई महीनो तक मैने इस बात की की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियाँ मुझे मिल जायँ । लेकिन सब कोशिश बेकार गई । यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग चीजे कायम करना पसन्द करते है और फिर उनकी तरफ से उदासीन होकर उनके भाग्य के भरोसे छोड देते है । इस समालोचना मे बहुत-कुछ सचाई है कि लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नही जानते।
कॉंग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नही हो पाये थे कि खबर मिली दिल्ली मे हकीम अजमलखॉं की मृत्यु हो गई । कॉंग्रेस के भूतपूर्व सभापति की से वह उसके बुजुर्ग राजनीतिज्ञो मे से थे । लेकिन वह उसके अलावा कुछ और कॉंग्रेस के नेताओ मे उनकी अपनी खास जगह थी । यद्यपि जिस पुराने अनुदार से उनका लालन-पालन हुआ, उसमे नयेपन का तो कही पता तक न था और के जमाने की शाही दिल्ली की सस्कृति मे वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफत देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बाते सुनकर, और उनके रूखे-सूखे मज़ाक सुनकर तबीयत खुश हो जाती थी । अपने शिष्टाचार मे वह पुराने जमाने के रईस नमूने थे । उनकी नजर और उनके तौर-तरीके शाही थे । उनका चेहरा भी सम्राटो की मूर्त्तियो से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था । ऐसे शख्स मामूली तौर राजनीति की धक्का-मुक्की मे शामिल नही होते और जबसे आन्दोलनकारियो ई नस्ल ने उन्हे परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान मे रहनेवाले अंग्रे डर्रे के लोगो की याद कर-करके लम्बी साँसे लेते है । अपनी शुरू की जि

। हकीम अजमलखा का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था। वह हकीमो के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे मे बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लडाई के पिछले सालो के जमाने की घटनाओ और उनके पुराने दोस्त और साथी डॉक्टर एम० ए० अन्सारी का असर उन्हे कॉग्रेस की तरफ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओ ने, पजाब के मार्शल-लॉ और खिलाफत के सवाल ने, तो उनके ऊपर गहरा असर डाला और वह राजी खुशी से गाधीजी के असहयोग के नये तरीके के हामी हो गये। कॉग्रेस मे अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई बहुमूल्य खूबियाँ लाये। वह पुराने ढर्रे के लोगो और नये लोगो के बीच मे दोनो को मिलाने-वाली कडी बन गये, और उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगो की मदद दिला दी। इस तरह उन्होने नयो और पुरानो मे एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढनेवाली टुकडी को ताकत और मजबूती पहुँचाई। हिन्दू और मुसलमानो को भी उन्होने एक-दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया, क्योकि दोनो ही उनकी इज्जत करते थे और दोनो पर ही उनकी मिसाल का असर पडता था। गाधीजी के लिए तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानो के मामले मे उनके लिए 'ब्रह्म-वाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी कुदरतन् एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओ ने मुझपर यह इलजाम लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फारसी सस्कृति के असर के कारण मै हिन्दुओ के भावो से अनभिज्ञ हूँ। मै किस सस्कृति से सम्पन्न हूँ या मेरे पास कोई सस्कृति है भी या नही, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। बदकिस्मती से फारसी जबान को तो मै जानता भी नही। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फारसी सस्कृति की आबोहवा मे बडे हुए थे। यह सस्कृति उत्तरी भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत मे मिली थी और इन बिगडे हुए दिनो मे भी दिल्ली और लखनऊ उसके खास केन्द्र है। कश्मीरी ब्राह्मणो मे समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान मे आने पर जब उन्होने उन दिनो यह देखा कि ऐसी सस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होने उसे अख्त्यार कर लिया और उनमे फारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होने उतनी ही तेजी के साथ बढनेवाली व्यवस्था के अनुसार भी अपनेको बदल लिया। जब अगेजी भाषा का जानना और यूरोपियन सस्कृति के अशो को ग्रहण करना जरूरी हो गया तब उन्होने इन्हे भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान मे कश्मीरियो मे फारसी के कई नामी विद्वान है। इनमे से दो के नाम लिये जा सकते है, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी मे ऐसी बहुत-सी बाते थी जो एक-
से मिलती-जुलती थी । इतना ही नही, उन्होने पुराने खानदानी रिश्ते भी ढूंढ निका
उन दोनो मे गहरी दोस्ती हो गई । वे एक-दूसरे को 'भाई साहब' कहकर पुका
थे । राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनो मे से सिर्फ एक और सबसे कम क
था । अपनी घर-गृहस्थी की आदतो मे हकीमजी बहुत ही पुराण-पथी थे । वह या
परिवार के लोग पुरानी आदतो को नही छोड सकते थे । उनके परिवार मे
विकट परदा किया जाता था वैसा मैने कभी कही नही देखा था । फिर भी हकी
साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरते आ
आजादी हासिल न करले तबतक वह मुल्क हर्गिज तरक्की नही कर सकता ।
सामने वह इस बात पर बहुत जोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आजादी
लडाई मे वहा की औरतो ने जो हिस्सा लिया है उसे मै बहुत ही काबिल-तारी
समझता हूँ । उनका कहना था कि खास तौर पर टर्की की औरतो की बदौलत
कमालपाशा को कामयाबी मिली ।

हकीम अजमलखॉ के शरीरान्त से कॉग्रेस को भारी धक्का लगा । उसके मा
थे कि कॉग्रेस का एक सबसे ताकतवर मददगार जाता रहा । तबसे लेकर अब
हम सब लोगो को दिल्ली जाने पर वहा किसी चीज की कमी मालूम होती है, क्य
हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बल्लीमारान मे उनके मकान से बहुत गह
सम्बन्ध था ।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था । देशभर मे तर
तरह की हलचलो की भरमार थी । ऐसा मालूम पडता था कि एक नई प्रेरणा,
नया जीवन, जो तरह-तरह के सभी समूहो मे एक-सा मौजूद था, लोगो को आगे
तरफ बढा रहा है । जिन दिनो मै देश से बाहर था शायद उन दिनो धीरे-धीरे
तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बडी तबदीली मालूम हुई
१९२६ के शुरू मे हिन्दुस्तान जैसा-का-तैसा शान्त और निष्कर्म बना हुआ था । शा
उस वक्त तक उसकी १९२१–२२ की मेहनत की थकान दूर नही हुई थी । १९२८
वह तरोताजा, क्रियाशील और रुकी हुई शक्ति से पूर्ण है, इस बात का सबूत हर ज
मिलता था । कारखानो के मजदूरो मे भी और किसानो मे भी । मध्यमवर्ग के नौजवा
मे भी और आमतौर पर पढे-लिखे लोगो मे भी ।

मजदूर-सघो की हलचल बहुत ज्यादा बढ गई थी । सात-आठ साल पहले आ
-इडिया ट्रेड-यूनियन काग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और प्रातिनिधि
थी । न सिर्फ उसकी तादाद और उसके सगठन मे ही काफी तरक्की हुई थी,

क उसके विचार भी ज्यादा लडाकू और ज्यादा गरम हो गये थे। हडतालें अक्सर ी थीं और मजदूरो मे वर्ग-चेतनता का खयाल जोर पकड रहा था। कपडे की मिलो ओर रेलो मे काम करने वाले मजदूर सबसे ज्यादा सगठित थे और इनमे से भी से ज्यादा मजबूत और सबमे ज्यादा सगठित सघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-नियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मजदूरो के सगठन के बढने के थ-साथ लाजिमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लडाई-झगडो के बीज भी ये। हिन्दुस्तान के मजदूर-सघो की हलचल को कायम हुए देर न हुई कि वे आपस मे ड करने और दुश्मनी रखनेवाले दलो मे बँट गये। कुछ लोग दूसरी इटरनेशनल के मी थे, कुछ तीसरी इटरनेशनल के कायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की रफ, सुधार-वादी, था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रांतिकारी था तथा मूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनो के बीच मे कई किस्म की राये थीं, जिनमे त्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के सगठन मे होता है इसमे मौका-रस्ती भी आ घुसी थी।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जागृति सयुक्तप्रान्त मे और खास-र पर अवध मे दिखाई देती थी, जहाँ अपने ऊपर होनेवाले अन्यायो का विरोध रने के लिए किसानो की बडी-बडी सभाये आये दिन होने लगी थी। लोग यह महसूस रने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस कानून ने किसानो को हीन-हयाती मौरूसी दी थी और जिससे बहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानो की दु खमय जिन्दगी मे कोई फर्क नही पडा था। गुजरात के किसानो ने तो एक बडे पैमाने पर सघर्ष शुरू कर दिया, क्योकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुजारी बढा दी जाय। गुजरात मे किसान खुद अपनी जमीन के मालिक है, जहाँ सरकार सीधे किसानो से ताल्लुक रखती है। यह सघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व मे हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लडाई मे किसानो की बहादुरी की विजय हुई जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह वाह करने लगा। बारडोली के किसानो को बहुत काफी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लडाई की असली कामयाबी तो इस बात मे थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानो पर बडा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानो के लिए बारडोली आशा और शक्ति और विजय का प्रतीक और चिन्ह हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत खास बात थी नौजवानो के आन्दोलन की बढती। हर जगह युवक-सघ कायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेन्से की जा रही थी। ये सघ और कान्फ्रेन्स तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारो और उनके शास्त्रो पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी

उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका आधिपत्य किसीके हाथ मे हो, युवकों की सभायें हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थी और आम तौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम उलट-पलट करदी जाय।

महज राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए और (बायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जाने वाले) सर्व-दल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस बायकाट मे नरम-दलवालों ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमे गजब की कामयाबी हुई। जहां-जहां कमीशन गया वहां-वहां विराट जन-समूहों ने "साइमन गो बेक" (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका स्वागत किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगो की बहुत बडी तादाद न सिर्फ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गई बल्कि अंग्रेजी के "गो बैक" ये दो शब्द भी उसे याद हो गये। बस, अँग्रेजी के इन्ही दो शब्दो मे उनका ज्ञान खतम हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दो से कमीशन के मेम्बरो के कान भडकते थे और अपनी इस भडकन की वजह से वे चौक पडते थे। कहते है कि एक मर्तबा जब वे नई दिल्ली के वेस्टर्न होस्टल मे ठहरे हुए थे तब उन्हे रात के अंधेरे मे "साइमन गो बैक" का नारा सुनाई देने लगा। इस तरह रात मे भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े, जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज उन गीदडो की थी जो शाही राजधानी के ऊजड प्रदेशो मे रहते है।

विधान के खास-खास उसूलो के तय करने मे सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ मुश्किल नही हुई। ये उसूल लोकतत्रीय पार्लमेन्टरी ढग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था। असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमत वाली कौमो के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेन्स मे तमाम कट्टर-से-कट्टर फिरकेवाराना जमात के नुमाइन्दे थे, उनमे किसी तरह का राजीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल मे वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेन्सो की नकल ही थी। पिताजी जो उस वक्त योरप से लौटे थे, उन्होने इस सम्मेलन मे खूब दिलचस्पी ली। अन्त मे आखिरी तरकीब के तौर पर एक छोटी-सी कमिटी मुकर्रर कर दी गई। पिताजी इस कमिटी के सभापति बनाये गये। इस कमिटी का काम यह था कि वह विधान का मसविदा तैयार करे और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट दे। इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमिटी' कहने लगे और कमिटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमिटी के मेम्बर थे, वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए जिम्मेदार भी थे।

मैं इस कमिटी का मेम्बर नही था, लेकिन कॉग्रेस के मत्री की हैसियत से मुझे
क लिए बहुत काम करना पडा। मैं बडे असमजस मे था, क्योकि मैं समझता था
जब असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तब तफसीलवार कागजी विधान
र करना बिलकुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस
बडी कमिटी ने हमारा ध्येय लाजिमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक ही
दूद कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नजर मे
कमिटी की असली अहमियत इस बात मे थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन मे से
कलने का कोई रास्ता ढूँढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नही थी कि किसी पैक्ट या
मझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी
सकेगा जब कि लोगो का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलो की
रफ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनो तरफ के लोगो
काफी तादाद थोडे वक्त के लिए भी कोई पैक्ट करले तो हालत कुछ सुधर जाती
ौर लोगो का ध्यान दूसरे मसलो की तरफ लग जाता। इसलिए मैंने कमिटी के काम
रोडे अटकाने के बजाय उसको जितनी मदद मैं दे सकता था उतनी मदद दी।

एक बार तो यह मालूम पडा कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ दो-तीन बात तय
रने को रह गई थी और इनमे असली महत्वपूर्ण सवाल पजाब का था, जहाँ हिन्दू-
स्लिम और सिक्खो का तिकोना तनाव था। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट मे पजाब के
वाल पर बिलकुल नये ढग से गौर किया और उसने इस मामले मे जो सिफारिशे
ी उनकी पुष्टि जन-सख्या के बँटवारे सम्बन्धी कुछ नये अको से की। लेकिन यह सब
बलकुल बेकार था। दोनो तरफ डर और शक का राज रहा और दोनो मे जो थोडा-
ा फर्क रह गया था उसे पूरा करने लिए दो-एक कदम आगे तक नही बढा गया।

अपनी कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल-सम्मेलन लखनऊ
हुआ। इसमे हम लोग फिर एक दुविधा मे पड गये, क्योकि इधर तो हम यह
ाहते थे कि हमारी वजह से फिरकेवाराना सवाल के हल होने मे किसी किस्म
ी अडचन न पडे, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो और उधर हम इस बात
 लिए तैयार न थे कि आज़ादी के सवाल पर झुक जायँ। हमने अर्ज किया कि
म्मेलन इस सवाल के बारे मे अपने हरेक अग को पूरी आजादी दे दे, जिससे इस
ामले मे जिसका जो जी चाहे सो करे। कॉग्रेस आजादी पर डटी रहे, और जो लोग
ससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते है वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन
ेताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह जरा भी दबने को तैयार न थे।
ायद उन परिस्थितियो मे वह झुकना चाहते तो भी नही झुक सकते थे। सम्मेलन

मे आजादी चाहनेवालो का एक बड़ा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं उ
तरफ से सम्मेलन मे एक बयान दूँ, जिसमे यह कहूँ कि आजादी के ध्येय को
करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सबमे हमारा कोई सरोकार न
लेकिन हमने यह बात भी और साफ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते में
अटकावेगे, क्योकि हम फिरकेवाराना समझौते के रास्ते मे अड़चने नही डालना चा
ऐसे बड़े सवाल पर उस तरह का रुख अख्त्यार करना बहुत कारग
साबित हो सकता था। ज्यादा-से-ज्यादा यह रुख नकारात्मक था। हमने उसी
हिन्दुस्तान का आजादी संघ (इंडिपेण्डेन्स फार इण्डिया लीग) कायम करके अपन
रुख को विधेयात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान मे जो मौलिक अधिकार कायम किये गये थे, उनमे
के ताल्लुकेदारो के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गई कि उनके ता
उनके स्थापित अधिकारो की गारण्टी रहेगी कि वे नही छीने जायँगे। सर्व-दल
लन की इस बात से मुझे एक और ज्यादा बड़ा धक्का लगा। इसमे कोई शक ही
कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के ख्याल की बुनियाद पर बनाया गया
लेकिन बड़ी-बड़ी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतो मे उनकी मिलकियत के हकूक को चिर
की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ होगा
कि कॉग्रेस के नेता और उनसे भी ज्यादा गैर-कॉग्रेसी अपने ही साथियो मे सामाजि
दृष्टि से जो ज्यादा आगे बढे हुए समूह थे उनके मुकाबिले मे बड़े-बड़े जमीदारो का सा
पसन्द करते थे। यह साफ था कि हमारे नेताओ के और हमारे बीच मे एक
बड़ी खाई है। और ऐसी हालत मे मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मा
होती थी कि मैं प्रधान-मन्त्री का काम करता रहूँ। मैंने इस बुनियाद पर अप
इस्तीफा दे देना चाहा कि मैं हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए जो संघ कायम किया
गया है उसके सचालको मे से एक हूँ। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न
हुई। उसने मुझसे और सुभाष बाबू से, जिन्होने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफा
दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग संघ का काम मजे से कर सकते है, उस
काम मे और कॉग्रेस की नीति मे कोई विरोध नही है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस
ने तो पहले ही आजादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मैं फिर राज़ी हो
गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनो मुझे अपना इस्तीफा वापस करने के लिए
कितनी जल्दी राज़ी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्तबा हुई और क्योकि कां
पार्टी वास्तव मे एक-दूसरे से अलग हो जाने के ख्याल को पसन्द नहीं करती थी,
उससे बचने के लिए हमे जो बहाना मिलता उसीका हम आश्रय ले लेते।

गाधीजी ने इन तमाम पार्टियो की कान्फ्रेन्सो और कमिटियो की मीटिंगो मे कोई हिस्सा नही लिया था। यहाँतक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेन्स के वक्त वहाँ मौजूद भी नही थे।

इस बीच मे साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान मे दौरा कर रहा था और काले झडे लिये हुए "गो वैक" के नारे लगानेवाली मुखालिफ भीड हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड और पुलिस मे मामूली झगडा भी हो जाता था। लाहौर मे बात बहुत बढ गई और यकायक मुल्कभर मे गुस्से की लहर-सी दौड गई। लाहौर मे साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व मे हुआ। जब वह सडक के किनारे हजारो प्रदर्शन-कारियो की ओर खडे हुए थे तब एक नौजवान अंग्रेज पुलिस अफसर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डडे लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड की तरफ से भी किसी किस्म का झगडा खडा करने की कोई कोशिश नही हुई थी। फिर भी जबकि वह एक तरफ शान्ति से खडे हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियो को बहुत बुरी तरह मारा। गलियो मे अथवा सडको पर होनेवाले आम प्रदर्शनो मे हिस्सा लेनेवाले हर शख्स को यह खतरा रहता है कि पुलिस मे मुठभेड हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन करीब-करीब हमेशा ही सोलहो आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस खतरे को जरूर जानते होगे और उन्होने जान-बूझकर वह खतरा उठाया होगा, लेकिन फिर भी जिस ढग से उनपर हमला किया गया उससे और उस हमले की अनावश्यक पाशविकता से हिन्दुस्तान के करोडो लोगो को धक्का लगा। वे दिन वे थे जब हम पुलिस द्वारा लाठियो की मार खाने के आदी न थ। उस वक्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम उससे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बडे नेता, पजाब के सबसे बडे और सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिलकुल पैशाचिकता मालूम पडी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर मे, खासकर उत्तरी हिन्दुस्तान मे, एक निर्जीव क्रोध फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने घृणा-योग्य है, कि हम अपने नेताओ की इज्जत की भी रक्षा नही कर सकते!

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नही लगी, क्योकि उनकी छाती पर लाठियाँ मारी गई थी और वह बहुत दिनो से दिल की बीमारी से पीडित थे। गालिबन अगर ये चोट किसी तन्दुरुस्त नोजवान के लगी होती तो इतनी घातक न साबित होती। लेकिन लालाजी न तो नोजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्तो बाद लालाजी की जो मौत हुई उनपर इन शारीरिक चोटो का क्या असर पडा निश्चित रूप से यह बताना

तो मुमकिन नहीं है, हालाँकि उनके डाक्टरों की यह राय थी कि इन चोटों के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस बात में कोई शक नहीं कि शारीरिक चोटों से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुँचा उसका उनके ऊपर बहुत ज्यादा असर पड़ा। वह बहुत ही नाराज और सन्तप्त हो गये—इसलिए नहीं कि उनका जाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान का ख्याल काम कर रहा था और जब उसके कुछ दिनों बाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तब लोगों ने लाजिमी तौर पर उसका ताल्लुक उनपर किये गये हमले से जोड़ा और इस ख्याल से लोगों के दिल में जो गुस्सा और रोष आया वह खुद-ब-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप में बदल गया। इस बात को समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इस बात को समझ कर ही हम पीछे होने वाली बातों को, भगतसिंह की कहानी, उत्तरी भारत में भगतसिंह को यकायक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको, समझ सकेंगे। उन कामों की तह में जो मूल स्रोत होते हैं, उनको जो बातें प्रेरित करती हैं, उनको समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहले भगतसिंह को लोग अच्छी तरह नहीं जानते थे और उन्हें जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतंकवाद का काम करने की वजह से नहीं मिली। आतंकवादी तो हिन्दुस्तान में करीब-करीब तीस बरस से रह-रह कर अपना काम कर रहे हैं और बंगाल में आतंकवाद के शुरू के दिनों को छोड़कर और कभी किसी भी आतंकवादी को, भगतसिंह को जो लोकप्रियता हासिल हुई उसका सौवाँ हिस्सा भी नहीं मिला। यह एक ऐसी जाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। उसे तो मानना ही पड़ेगा। इसी तरह साफ और जाहिर बात यह है कि यदि आतंकवाद बीच-बीच में कभी-कभी जोर पकड़ जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानों के लिए अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर जोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फल-स्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लड़ाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के ख्याल के पहले से कहीं ज्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गये हैं। जिस दर्जे के लोगों में से आम तौर पर आतंकवादी निकलते हैं उस दर्जे के लोगों पर यानी निचली सतह के मध्यम श्रेणी के लोगों पर और पढ़े-लिखों पर भी [illegible]

[illegible] कांग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पड़ा है। [illegible]

[illegible] शक्तियाँ जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें [illegible]

...्री तरह महसूस करने लगी है कि क्रान्ति आतकवाद के जरिये से नही हो सकती ... आतकवाद तो एक ऐसा बेकार ओर जर्जरित तरीका है जो असली क्रान्तिकारी ...ई के रास्ते मे रोडे अटकाता है। हिन्दुस्तान मे ओर दूसरे मुल्को मे भी अब तो ...कवाद मरा-सा हो रहा है। ओर वह सरकारी दमन की वजह से नही, बल्कि ...रभूत कारणो ओर ससारव्यापी घटनाओ की वजहो से। सरकारी दमन तो ... दबाना या बोतल मे बन्द कर देनाभर जानता है, वह जड से उखाडकर नही फेक ...ता। मामूली तोर पर आतकवाद किसी देश मे होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा के ...पन का द्योतक होता है। वह अवस्था गुजर जाती है और उसके साथ-साथ अहम ...ना के रूप मे आतकवाद भी गुजर जाता है, मुकामी कारणो या वैयक्तिक ज्यादतियो ...कारण कभी-कभी कुछ आतकवादी कार्य भले ही होते रहे। बिलाशक हिन्दुस्तान ...क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमे कोई शक नही कि उसके फलस्वरूप यहाँ ...ी-कभी हो जानेवाली आतकवादी घटनाये भी धीरे-धीरे बन्द हो जायँगी। लेकिन ...के मानी यह नही है कि हिन्दुस्तान मे सब लोगो ने हिसात्मक साधन मे विश्वास ...ना छोड दिया है। यह ठीक है कि उनमे से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिसा ...र आतकवाद मे विश्वास नही करते, लेकिन इसमे भी कोई शक नही कि बहुत-से ...व भी यह सोचते है कि एक समय ऐसा आ सकता है जब सगठित हिसात्मक साधनो ... काम लेना आजादी हासिल करने के लिए जरूरी हो जाय—ठीक वैसे ही जैसे कि ...सरे मुल्को मे जरूरी हो गया था। आज तो यह सवाल महज एक तात्त्विक विवाद ...ा सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो, आतकवादी ...ाधनो से इसका कोई सरोकार नही।

...स तरह भगतसिंह ने अपने हिसात्मक कार्य के लिए लोकप्रियता प्राप्त नही ...ी, बल्कि इसलिए प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगो को ऐसा मालूम हुआ ...क उसने लालाजी की और लालाजी के रूप मे कौम की इज्जत रक्खी है। भगतसिह ...क प्रतीक बन गये। उनके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन मे रह ...ाया, जिसके फलस्वरूप पजाब के हरेक गाँव व कस्बे मे और उससे कुछ कम बाकी ...ि उत्तरी भारत मे उनका नाम घर-घर मे गूँजने लगा। उनकी बाबत बेशुमार गीत ...बने और उन्होने जो लोकप्रियता पाई वह सचमुच अजीब थी।

...साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन मे होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनो बाद ...ाला लाजपतराय दिल्ली मे अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक मे ...ामिल हुए। उनके शरीर पर चोटो के निशान बने हुए थे और उनसे होनेवाली ...तकलीफों को वह भुगत रहे थे। यह मीटिंग लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन के बाद हुई

थी और किसी-न-किसी रूप मे उसमे आजादी के सवाल पर वहस उठ खडी हु मुझे यह तो याद नही रहा कि ठीक-ठीक वहस किस वात पर उठ खडी हुई थी,- मुझे यह याद है कि मै वहाँ देर तक वोला और मैने यह कहा कि अव समय है जव कॉग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि आया वह उस क्रान्तिकारी को पसन्द करती है जिसमे हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन मे कायापलट की जरूरत है, या सुधारवादियो के ध्येय और साधनो को। उस भाषण मे महत्व की वात नही थी। मै उस भाषण की वात को भूल भी गया होता, लेकि इसलिए याद वनी रही कि लालाजी ने कमिटी मे मेरे उस भाषण का जवाव और उसके कुछ हिस्सो की नुक्ताचीनी की। उन्होने एक चेतावनी इस आशय की हम लोगो को ब्रिटिश मजदूर-दल मे कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहातक ताल्लुक है, इस चेतावनी की कोई जरूरत न थी, क्योकि मै ब्रिटिश-मजदूरो के अधिकारी नेता है उनका प्रशसक नही हूँ। अगर मै उन्हे हिन्दुस्तान की आजादी लडाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा कारगर काम देखता जो समाजवाद की तरफ ले जानेवाला होता तो मुझे तो आश्चर्य होता।

कॉग्रेस कमिटी की बैठक मे मैने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लाला ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होने अपने हफ्तेवार अखवार 'पीपुल' मे स्पीच से उठनेवाली वहुत-सी वातो के सम्वन्ध मे एक लेखमाला लिखनी शुरू इस लेखमाला का सिर्फ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ्ते के अक मे जा से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण दिलचस्पी विषय था।

२५

लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला और बाद मे उनकी मृत्यु हो जाने से साइमन-कमीशन आगे जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसके खिलाफ प्रदर्शनो का जोर और
। बढ गया। वह लखनऊ मे आनेवाला था, और वहाँ भी कॉग्रेस-कमिटी ने उसके
वागत' की भारी तैयारिया की थी। कई दिन पहले से ही बडे-बडे जुलूस, सभाये
ार प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के
ार पर थे। मै भी लखनऊ गया और इनमे से कई कार्यो मे मौजूद भी रहा। इन
ारंभिक प्रदर्शनो की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने
धिकारियो को झुंझला दिया, और उन्होने खास-खास जगहो मे जुलूसो को रोकना
ार उनके निकाले जाने के खिलाफ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले मे मुझे
या अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डे और लाठी की मार पडी।

जुलूस, आमद-रफ्त मे रुकावट पडने न देने का सबब जाहिर करके, बन्द किये
ये थे। हमने फैसला किया कि इस मामले मे शिकायत का कोई मौका न दिया जाय,
ार जहांतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियो की छोटी-छोटी टुकडियाँ बनाकर
न्हे अलग-अलग एकान्त रास्तो से सभा की जगह पर भेजने का इन्तजाम किया।
ानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोडना ही था, क्योकि झण्डा
ेकर सोलह आदमियो का निकलना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियो के एक झुण्ड
ा आगे-आगे मै था, और एक बडे फासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया,
जसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सडक सुनसान-सी थी। मेरा
ल शायद दोसो गज ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोडो के टापो की टपटपाहट
ुनी। जब हमने पीछे मुँह किया तो देखा कि घुडसवारो का एक दल, जिसमे शायद
ो या तीन दर्जन व्यक्ति थे, हमारे ऊपर तेजी से चढा चला आ रहा है। वे फौरन
ीक हमारे पास आ पहुँचे, और उनके घोडो की जुडी हुई कतार ने सोलह आदमियो
ा हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुडसवारो ने हमारे स्वय-
ेवको को बडे डण्डो से मारना शुरू किया, और स्वयसेवक सहसा सडक की बाजू
ी तरफ भागे, और कुछ तो छोटी दुकानो मे भी घुस गये। सवारो ने उनका पीछा
िया, और उन्हे पीट-पाटकर गिरा दिया। जब मैने घोडो को ऊपर चढते हुए देखा,
ब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मै बच जाऊँ। वह हिम्मत

तोडनेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा खयाल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक
ने मुझे अपनी जगह पर ही खडा रक्खा, और मैं पहले हमले को बर्दाश्त कर
जिसे मेरे पीछे के स्वयसेवको ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सडक
बीच मे अकेला हूँ, मुझसे कुछ ही गज की दूरी पर सब तरफ पुलिसवाले थे, जो
स्वयसेवको को पीट गिराते थे। अपने-आप ही मैं, कम नुमायाँ होने के खातिर,
की बाजू की तरफ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने
दिल मे कुछ विचार किया, और यह फैसला किया कि हट जाना मेरे लिए
होगा। यह सब सिर्फ कुछ ही पल मे हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार
और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय मे मेरे उस स्वाभि
का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करने नहीं देख सकता था। फिर
कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मैं कायरता की तरफ
जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुडकर देखा कि एक घुडसवार
मेरे ऊपर घोडा छोडता चला आ रहा है और अपना नया लम्बा डण्डा घुमा रहा है।
मैंने उससे कहा—'लगाओ', और अपना सिर जरा हटा लिया। यह भी सिर और
मुँह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो
प्रहार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर
मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खडा ही रहा। फौरन ही
पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सडक रोकने को कहा
गया। हमारे स्वयसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमे से कई के खून निकल रहा
था और कई की खोपडियाँ फूटी हुई थी। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला,
वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक
घण्टे तक बैठे रहे और अँधेरा हो गया। एक तरफ तो कई बडे-बडे अफसर इकट्ठे हो
गये, और दूसरी तरफ जैसे-जैसे खबर फैली वैसे-वैसे लोगो की बडी भीड इकट्ठी होने
लगी। आखिरकार अधिकारी हमे अपने रास्ते से जाने देने पर राजी हो गये, और
उसी रास्ते से हम गये, और हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस के घुडसवार
भी चले, जिन्होने हमपर हमला किया था और हमे मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ तफसील मे लिखा है, क्योकि इसका
मुझपर खास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी उस खुशी के खयाल
से आगे याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारो को बरदाश्त करने और उनके
टिके रहने के लायक मजबूत हूँ। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह
सारी घटना मे, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी मेरा दिमाग ठीक

ठीक काम करता रहा, और मैं अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बडी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था, और उसी वक्त हमारा बडा प्रदर्शन होनेवाला था।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद मे थे, और मुझे अदेशा था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अखबारो मे मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढेगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित हो जावेगे। इसलिए मैंने रात को उन्हे टेलीफोन कर दिया कि सब खैरियत है और आप लोग किसी किस्म की फिक्र न करे। मगर उन्हे फिक्र तो हुई। और जब वह चैन से न रह सके तो, आधी रात के करीब, उन्होने लखनऊ आना तय किया। आखरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते मे मोटर मे कुछ गडबड हो गई, और वह १४६ मील का सफर पूरा करके सवेरे करीब ९ बजे बिलकुल थके-माँदे लखनऊ पहुँचे।

यह करीब-करीब वह वक्त था जबकि हम जुलूस मे स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से जितना लखनऊ उभड न सकता था, उतना कल की घटनाओ से उभड गया, और सूरज उगने से भी पहले बडी तादाद मे लोग स्टेशन पर पहुँच गये। शहर के मुख्तलिफ हिस्सो से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और काग्रेस-आफिस से बडा जुलूस चार-चार की लाइन मे रवाना हुआ, जिसमे कई हजार आदमी थे। हम बडे जुलूस मे थे। ज्योही हम स्टेशन के पास पहुँचे, हमे पुलिस ने रोक दिया। वहाँ स्टेशन के सामने करीब आध मील लम्बा और इतना ही चौडा बडा भारी खुला मैदान था (यहाँ अब नया स्टेशन बन गया है), और उस मैदान की एक बाजू पर हमे कतार मे खडा कर दिया गया। हमारा जुलूस वही खडा रहा, हमने आगे बढने की बिलकुल कोशिश नही की। उस जगह सब दूर पैदल और घुडसवार पुलिस, और फौज भी, आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनो की भीड भी बढ गई थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी खुली जगह मे जा खडे हुए थे। अचानक दूर पर हमे एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुडसवारो की दो या तीन लम्बी लाइने थी, जो सारे मैदान को घेरे हुए थी और हमारी तरफ दौड रही थी, और मैदान मे जो कई लोग जा खडे हुए उन्हे मारती-कुचलती हुई आ रही थी। घोडे को छोडते हुए सवारो का हमला एक बडा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते मे पडे हुए बेचारे बेखबर तमाशबीनो के साथ, जो घोडो के पैरो-तले आ गये दर्दनाक वाकया न हो जाता। इन हमला करनेवाली लाइनो के पीछे वे लोग जमीन पर पडे हुए थे, जिनमे कुछ तो उठ भी नही सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे।

उस मैदान का सारा नजारा जग के मैदान का-सा हो गया था। मगर उस नजारे को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज्यादा वक्त नही मिला, घुडसवार हमारे ऊपर आ गये और उनकी आगे की कतार हमारे जुलूस के आगे खड़े हुए से एक ही छलाग मे टकरा गई। हम वही डटे रहे, और चूंकि हम हटते हुए दिखाई दिये, उन्हे उसी दम घोडो को रोक देना पडा। घोडे पिछले पैरो पर खड़े गये, उनके अगले पैर हमारे सिरो पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर पैदल और घुडसवार दोनो की मार और लाठियाँ खटाखट पडने लगी। वह भयकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग की विचार-शक्ति कायम रही वह जाती रही। मुझे सिर्फ इतना ओसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नही चाहिए। मार मे मै आधा अन्धा-सा हो गया और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और उलटकर मारने का खयाल भी मुझको आता। मैने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफसर को गिराकर घोडे पर खुद चढ जाना यह कितना आसान है। मगर लबे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैने, अपने सिर को मार से बचाने के सिवा, हाथ तक नही उठाया। इसके अलावा, मै अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ से कुछ भी मुकाबिला हुआ तो एक भीषण दुर्घटना हो जायगी, जिसमे हमारे आदमी बडी तादाद मे गोलियो से भून दिये जायंगे।

हमे वह समय भयकर रूप से लम्बा मालूम पडा, मगर शायद वह सिर्फ कुछ ही मिनटो का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक कदम हमारी लाइन, टूटे बगैर, पीछे हटने लगी। इससे मै कुछ-कुछ अलग और दोनो तरफ से ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पडी और फिर मै अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहाँ से दूर ले जाया गया, जिससे मुझे बडी झुझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियो ने यह कयास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से करीब एक सौ फीट पीछे फिर कतार से खडे हो गये। पुलिस भी पीछे हट गई और हमसे पचास फीट के फासले पर एक लाइन मे खडी हो गई। इस तरह हम खडे रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगडे की जड था, हमसे बहुत दूर करीब आधे मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झडो या प्रदर्शन करनेवालो से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही, हम पूरा जुलूस बनाकर काग्रेस-दफ्तर आये, वहाँ से अलग-अलग चले गये। मै अपने पिताजी के पास गया, जो बडी चिन्ता से इन्तजार कर रहे थे।

अब जब सामायिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर मे दर्द और थकान मालूम होने लगी। जिस्म का करीब-करीब हर हिस्सा दर्द करता था, सब जगह अधी चोटो और मार के निशान हो गये थे। मगर खैर थी कि मेरे ी नाजुक जगह पर चोट नही आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने खुशकिस्मत । उन्हे बुरी तरह चोटे आई थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खडे थे, दा मार पडी, क्योकि वह छ फीट से भी ज्यादा ऊँचे-पूरे थे, और उस वक्त जो उनके आई उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हे इतना दर्द और तकलीफ रही कि कमर भी सीधी नही कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते । उसके बाद मुझे अपनी जिस्मानी हालत और बरदाश्त की ताकत का कुछ ज्यादा ण्ड हो गया। मगर मार पडने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिस-ों, खासकर अफसरा, के चेहरो की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली ठोक-पीट यूरोपियन सारजेण्टो ने की, हिन्दुस्तानी मामूली सिपाही तो हलके-हलके ही काम रहे थे। उन चेहरो मे हिकारत और खून की प्यास करीब-करीब पागलपन की द तक भरी हुई थी, और उनमे हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। क उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ के चेहरे भी देखने मे उतने ही नफरत-भरे होगे, र हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियो के लिए हमारे दिल और माग मे कोई प्रेम भर नही गया होगा, और न हमारे चेहरो की सुन्दरता बढ गई गी। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ हमे कोई शिकायत न थी, हमारा कोई ती झगडा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और जबरदस्त ताकतो प्रतिनिधि थे, जो हमे अपने अधीन बनाये हुए थी और जो हमे इधर और उधर ाती जाती थी और जिन्होने हमारे दिलो और दिमागो पर बडी खूबी से कब्जा रक हमारी अभिलाषाओ और भावनाओ को उभाड दिया था और हमे अपना अन्धा थियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह जद्दोजहद करते थे, और यह नही जानते कि यह किस लिए करते है या कहाँ चले जा रहे है? कार्य की उत्तेजना ने हमे कार्य रक्खा था, मगर जब वह चली गई तो फौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर ह सब किस लिए किया जा रहा है?—किस मकसद के लिए?

ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस

उस साल देश की राजनीति मे ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर तरफ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्ही दिशाओ मे किया। कॉंग्रेस के कार्य प्रधान-मत्री की हैसियत से मै उसके सगठन की देखभाल करने और उसे मजबूत मे लगा रहा। खास तौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात मे थी कि मै लोगो का सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो की तरफ खीचू। आजादी के सिलसिले म मे हम जिस हद तक पहुँच गये थे उस स्थिति को भी पुष्ट रखना था। खास तौर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगो को पीछे खीचने की था। इस उद्देश को सामने रखकर मैंने देश मे बहुत सफर किया और कई बडी आम सभाओ मे व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८ मे मै चार सूबो की रा नैतिक कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण मे मलाबार और उत्तर पजाब, दिल्ली और सयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बगाल मे मै युवक और विद्यार्थियो की कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। वक्तन-फवक्तन् म सयुक्तप्रान्त देहात मे भी गया और कभी-कभी कारखानो के मजदूरो की सभाओ मे भी व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानो मे सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, य उसका रूप मुकामी हालतो के मुताबिक बदल जाता था, और जिन, बातो पर मै देता था वे उस तरह की होती थी कि जिस किस्म के लोग सभाओ मे आते थे। जगह मैने राजनैतिक आजादी और सामाजिक स्वाधीनता पर जोर दिया और यह कि राजनैतिक आजादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने के लिए यह जरूरी है कि पहले राजनैतिक आजादी हो। खास तौर काग्रेस के कार्यकर्ताओ और पढे-लिखे लोगो मे मै समाजवाद की विचार-धारा फैला चाहता था। क्योकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ थे और ज्यादातर निहायत सकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानो प्राचीन काल के गौरव पर बहुत जोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदे सरकार ने हमे क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियाँ पहुँचाई है। हमारे घोर कष्ट सहने पड रहे है, हमारे ऊपर दूसरो का राज्य रहना बडी बेइज्जती है, इसलिए हमारी कौमी इज्जत यह चाहती है कि हम आजाद हो और

आवश्यक है कि हम लोग मातृभूमि की वेदी पर अपनी वलि चढावे। ये बाते सुपरि-
थी। हर हिन्दुस्तानी के दिल मे उनकी आवाज गूज उठती थी। मेरे मन मे भी
ीयता का यह भाव भडक उठता था और मै उससे गद्‌गद् हो जाता था—यद्यपि मै
ुस्तान के ही नही, कहीके भी पुराने जमाने का अन्धा प्रशसक कभी नही रहा।
िन यद्यपि उनमे सच्चाई जरूर थी, फिर भी वार-बार इस्तेमाल मे आने की वजह
े बासी और लचर होती जाती थी और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने
नतीजा यह होता था कि हम अपनी लडाई के सबसे ज्यादा जरूरी पहलुओ तथा
रे मसलो पर गौर नही कर पाते थे। इन बातो से जोश जरूर आता था, लेकिन
से विचारो को प्रोत्साहन नही मिलता था।

हिन्दुस्तान मे मै समाजवाद के मैदान मे सबसे पहले नही आया बल्कि सच
त तो यह है कि मै कुछ पिछडा हुआ रहा। जहॉ और बहुत-से लोग सितारे की तरह
मकते आगे बढ गये वहॉ मै तो वहुत-सी तकलीफ के साथ कदम-कदम आगे बढा।
चार-धारा की दृष्टि से मजदूरो की ट्रेड यूनियनो का आन्दोलन निश्चित रूप से
माजवादी था और ज्यादातर युवक-सघो की भी यही बात थी। जब मै दिसम्बर
१२७ मे योरप से लौटा तब एक किस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद
न्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो
ससे भी पहले हिन्दुस्तान मे बहुत-से थे। ये लोग ज्यादातर स्वप्नदर्शी थे। लेकिन
ीरे-धीरे उनपर मार्क्स के उसूलो का असर बढता जाता था और उनमे से कुछ तो
पनेको सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। योरप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान
मे भी, सोवियट यूनियन मे जो कुछ हो रहा था उससे और खासकर पॉच-साला
योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्ता की हैसियत से मेरी अहमियत सिर्फ इस बात मे थी
कि मै एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस मे बडे ओहदो पर था। मेरे अलावा और
भी बहुत-से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे
ज्यादा युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस कमिटी मे पाई जाती थी, जिसमे हमने १९२६
मे ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे
मे जमींदारी और ताल्लुकेदारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमे जिस सवाल का सामना
करना पडा वह था जमीन का सवाल। हम लोगो ने ऐलान किया कि मौजूदा जमीं-
दारी-प्रथा रद्द होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच मे किसी दूसरे की कोई
जरूरत नही है। हम लोगो को फूंक-फूंक कर कदम रखना पडा, क्योकि हमे एक ऐसी
आबोहवा मे काम करना था जो उस वक्त तक इस तरह के खयालात की आदी नही थी।

उसके बाद, १९२९ मे, युक्तप्रान्त की सूबा काग्रेस कमिटी एक कदम आ ...
बढ गई और उसने निश्चित रूप मे समाजवाद के ढग पर अ० भा० काग्रेस क... न
एक सिफारिश की, जिसके फल-स्वरूप जब १९२९ की गर्मियो मे बम्बई म ...
काग्रेस-कमिटी की बैठक हुई तब उसमे युक्तप्रान्त की तजवीज का दीबाचा म...
लिया गया और इस तरह उस तजवीज मे समाजवाद का जो उसूल मौजूद था ...
मजूर कर लिया गया। युक्तप्रान्त की तजवीज मे जो तफर्सीलवार कार्यक्रम दिया ...
था उसपर विचार करने की बात अगली बैठको के लिए मुल्तवी करदी गई। ...
मालूम पडता है कि ज्यादातर लोग अ० भा० काग्रेस-कमिटी और सयुक्तप्रान्तीय का...
कमिटी के इन प्रस्तावो को बिलकुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे है कि पिछ...
दो सालो से साम्यवाद की चर्चा काग्रेस मे यकायक उठ खडी हुई है। फिर भी ...
तो सही ही है कि अ० भा० काग्रेस-कमिटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी त...
विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्बरो ने शायद ...
महसूस नही कर पाया कि वे क्या कर रहे है ?

'इण्डिपेण्डेन्स फॉर इण्डिया लीग' (हिन्दुस्तान की आजादी चाहनेवालो का स...
की सयुक्तप्रान्त वाली शाखा मे सूबे के खास-खास काग्रेसियो के अलावा और का...
था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी, इसलिए ...
साम्यवाद की तरफ और काग्रेस-कमिटी से, जिसमे सब तरह के लोग थे, कुछ ...
चली गई। बल्कि सच बात तो यह है कि 'आजादी-सघ' का एक ध्येय यह भी ...
कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर मे सघ को मजबू...
बनाकर यह चाहते थे कि आजादी और समाजवाद का प्रचार करने मे उस सगठन ...
काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हद तक युक्त-प्रान्त को छोडकर और कही स...
का कार्य ठीक तौर से नही चला और इससे मुझे बहुत मायूसी हुई। इसका सबब...
यह नही था कि देश मे हमारे मददगारो की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे
ज्यादातर कार्यकर्ता काग्रेस मे भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूंकि काग्रेस ने कम...
से-कम उसूलन् तो आजादी को अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम काग्रेस
के सगठन के जरिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगो ने शुरू-शुरू ...
आजादी-सघ कायम किया उनमे से कुछ ने गभीरता-पूर्वक यह नही सोचा कि सस्था ...
रूप मे हमे इस सघ को मजबूत बनाना है, वे तो यह समझते थे कि यह सस्था तो म...
इसलिए है कि काग्रेस-कार्य-समिति पर इसका दबाव पडता रहे और कार्य-समिति ...
... पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तैमाल किया जाय। इसलिए 'आजा...'
... रखा गया और ज्यो-ज्यो काग्रेस ज्यादा लडाकू होती गई त्यो-त्यो उसकी नम...

जदा-दिल लोगो को अपनी ओर खीच लिया और सघ कमजोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लडाई आई तब यह सघ कांग्रेस मे मिलकर गायब हो गया।

१९२८ के पिछले छ महीनो मे और १९२९ मे मेरी गिरफ्तारी की चर्चा अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नही कि इस सिलसिले मे अखबारो मे जो कुछ छपता था उसके पीछे, और ऐसे दोस्तो से जो मालूम पडता था कि जिस बात को वे कहते ह उसके बाबत अच्छी तरह जानते है, मुझे जो निजी चेतावनियाँ मिला करती थी उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियो ने मेरे दिल मे एक किस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मै यह महसूस करने लगा कि मे किसी भी वक्त गिरफ्तार किया जा सकता हूँ। मुझे खास तौर पर दूसरी कोई चिन्ता न थी, क्योकि मे यह जानता था कि भविष्य मे मेरे लिए कुछ भी हो, लेकिन मेरी जिन्दगी रोजमर्रा के कामो की निश्चित जिन्दगी नही हो सकती। इसलिए मे सोचता था कि मै अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरो का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊँ उतना ही अच्छा है। और मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मै इस खयाल का आदी होने मे सफल हुआ। मेरे घरवालो ने भी इस खयाल के आदी होने मे कामयाबी हासिल की, हालाकि जितनी कामयाबी मुझे मिली उन्हे उससे बहुत कम मिली। इसीलिए जब-जब मै गिरफ्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमे खास बात मालूम नही हुई। हाँ, अगर मे एकाएक गिरफ्तार होने के खयाल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ्तारी की खबरो मे नुकसान-ही-नुकसान न था, फायदा भी था। उन्होने मेरी रोजमर्रा की जिन्दगी मे कुछ जोश और तीखापन पैदा कर दिया। आजादी का हरेक दिन बेशकीमत मालूम होने लगा, मानो वह एक दिन मुनाफे मे मिला हो। सच वाकया तो यह है कि १९२८ और १९२९ मे मै जी भरकर काम करता रहा और अखीर मे मेरी गिरफ्तारी १९३० के अप्रैल मे जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोडे-से दिन मैने कई बार बिताये उनमे अवास्तविकता की काफी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पडता था कि मै अपने ही घर मे एक अजनबी हूँ, जो थोडे दिनो के लिए वहाँ आया हूँ। इसके अलावा मेरे हर काम मे अनिश्चितता रहने लगी, क्योकि कोई यह नही कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है। यह आशका तो हर वक्त बनी रहती थी कि न जाने जेल मे वापस जाने का बुलावा कब आ जाय।

ज्यो-ज्यो १९२८ का अखीर आता गया, त्यो-त्यो कलकत्ता-कांग्रेस नजदीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिलो-दिमाग उस वक्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होने जो रिपोर्ट तैयार की थी उसमे सराबोर

था। वह चाहते थे कि उसे कॉग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जान...
कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था, क्योंकि मैं आजादी के प्रश्न पर कोई स...
झौता करने को राजी न था। इस बात पर वह नाराज थे। इस मामले पर ...
लोगो ने बहुत बहस नहीं की। लेकिन हम दोनो के मन मे मानसिक सघर्ष
निश्चित-रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक
खिलाफ जा रहे है। मत-भेद तो हम लोगो मे इससे भी पहले अक्सर हुआ कर
ऐसा भारी मत-भेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षो मे रहते थे,
मेरा खयाल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौके पर हम
मे इतनी तनातनी नही हुई जितनी कि इस वक्त थी।

हम दोनो ही इस बात से कुछ हद तक दुखी थे। कलकत्ते म तो मामला ...
हद तक बढ गया कि पिताजी ने यह बात साफ-साफ कहदी कि अगर कॉग्रेस म उनकी
बात नही चली, यानी अगर कॉग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष म जो
तजवीज पेश की जायगी उसे, कसरत राय से मजूर नहीं किया, तो वह कांग्रेस ...
सभापति रहने से इन्कार कर देगे। यह बात बिलकुल वाजिब थी और विधान ...
दृष्टि से उन्हे यह तरीका अख्त्यार करने का पूरा हक था। फिर भी उनके बहु...
उन मुखालिफो के लिए वह बहुत-ही परेशानी की बात थी जो यह नही चाहते थे
इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ जाय। मेरा खयाल है कि कॉग्रेस म ...
दूसरी सस्थाओ मे भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और
बुराई तो करते है, लेकिन खुद जिम्मेदारी लेने से जी चुराते है। हमे हमेशा यह
उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे माफिक
अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की जिम्मेदारी हमारे सिर नहीं पड़ेगी।
जहाँ जिम्मेदारी हम लोगो को सौपी ही नही जाती और जहाँ कार्य-कारिणी को न
तो हम हटा ही सकते है न उससे जवाब ही तलब कर सकते है, जैसा कि आजकल
हिन्दुस्तान की सरकार के मामले मे है, वहाँ बिलाशक सीधी मार को छोडकर हमारे
पास सिवा नुक्ताचीनी करने के कोई मार्ग नही और वह नुक्ताचीनी लाजिमी तौर
पर नकारात्मक होगी, फिर भी अगर हम इस नकारात्मक आलोचना को कारगर
बनाना चाहते है तो उसके पीछे हमारे मन मे यह इरादा होना चाहिए, हमे इस बात
के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब-कभी हमे मौका मिलेगा तब सब इन्तजाम और
जिम्मेदारी हम अपने हाथ मे ले लेगे—फिर चाहे वे महकमे मुल्की हो या फौजी,
...ी हो या बाहरी। महज़ आशिक अख्त्यार माँगना, जैसा कि लिबरल लोग
... मामले मे करते है, इस बात का इकबाल करना है कि हम सरकार ...

म नही चला सकते। इस इकबाल से हमारी नुक्ताचीनी का वज़न घट जाता है।

गाधीजी के आलोचको मे यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उनकी नुक्ताचीनी रते है, बुराई करते है, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि हर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड जाते है। कॉंग्रेस मे से बहुत-से शख्स रहे है जो उनके बहुत-से कामो को नापसद करते है और इसलिए डे जोरो के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते है, लेकिन जो इस बात के लिए तैयार ही है कि उन्हे कांग्रेस से निकाल दे। यह रुख समझ मे तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इसाफ नही करता।

कलकत्ता-कांग्रेस मे भी कुछ-कुछ इसी किस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनो दलो ने समझौते की बात-चीत चली और यह जाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन अखीर मे वह गिर गया। ये सब बाते बडे गोल-माल मे डालनेवाली थी और बहुत अच्छी भी नही थी। कॉंग्रेस के खास प्रस्ताव मे, जैसा कि वह अखीर मे पास हुआ, सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मजूर कर लिया गया, लेकिन उसमे ब्रिटिश सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मजूर नही किया तो कांग्रेस फिर अपने आजादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल मे इस प्रस्ताव ने सरकार को एक शाइस्ता चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी। इसमे कोई शक नही कि यह प्रस्ताव हमे आज़ादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योकि सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की भी मॉग नहीं की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ मे बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त मे कांग्रेस मे फूट नही होने दी जब कि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने १९३० मे जो लडाई शुरू हुई उसके लिए सब कांग्रेसियो को एकसाथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार सालभर के अन्दर सब दलो द्वारा बनाये गये विधान को मजूर नही करेगी। सरकार से लडाई होना लाज़िमी था, और उस वक्त मुल्क की जैसी हालत थी उसमे सरकार से किसी किस्म की लडाई उस वक्त तक कारगर नही हो सकती थी जबतक उसे गाधीजी की रहनुमाई न मिले।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे मे इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुख़ालिफत मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी, ताहम इस बार भी मुझे प्रधानमत्री चुना गया। कुछ भी हो, मैं मंत्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र मे ऐसा मालूम पडता था कि मै वही काम कर रहा हूँ जो ब्रे का नामी 'विकार' करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभापति बैठे, मैं हमेशा उस सगठन को सम्हालने के लिए उसका मत्री बनाया जाता था।

झरिया कोयले की खानो के क्षेत्र के बीचो-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यही हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैं उसमे हाजिर रहकर उसकी कार्रवाई मे भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ता चले आना पडा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन-कॉंग्रेस मे शामिल होने का यह पहला ही मौका था और मैं वस्तुत एक नया आदमी था, यद्यपि किसानो मे मैंने जो काम किया था और हाल ही मे मजदूरो मे जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से मैं जनता मे काफी लोक-प्रिय हो गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा कि सुधारवादियो मे और उन आगे बढे हुए तथा क्रान्तिकारी लोगो मे पुरानी कशमकश जारी है। बहस की बाते ये थी कि किसी इन्टरनेशनल मे तथा साम्राज्य-विरोधी सघ मे और अखिल विश्व-शान्ति-सघ से अपना ताल्लुक जोडा जाय या न जोडा जाय और जिनेवा मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आफिस की जो कान्फ्रेन्स होने जा रही है उसमे अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नही ? इन सवालो से भी कही ज्यादा जरूरी यह बात थी कि कॉंग्रेस के दोनो हिस्सो के दृष्टिकोण मे बहुत भारी फर्क था। एक हिस्सा तो मजदूर-सघ के पुराने लोगो का था, जो राजनीति मे माडरेट था और जो सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धन्धो के मजदूरो और मिल-मालिको के झगडो मे राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मजदूरो को अपनी शिकायते दूर करने मे आगे नही जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हे फूंक-फूंक कर कदम रखना चाहिए। इन लोगो का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मजदूरो की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा मे अक्सर हिन्दुस्तान के मजदूरो के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनमे कही ज्यादा लडाकू था। राजनैतिक लडाई मे उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टो का या कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलने लोगो का इस दल पर असर था। हाँ, यह दल उनके नियत्रण मे नही था। बबई मे कपडो के कारखानो के मजदूर इस दल के हाथ मे थे। और उनकी रहनुमाई मे बम्बई के कपडे के कारखानो मे मजदूरो की एक बहुत बडी हडताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई मे गिरनी कामगार यूनियन नाम की एक नई और जबरदस्त यूनियन कायम हुई थी, जिसका बम्बई के मजदूरो पर प्राधान्य था। आगे बढे हुए दल के असर मे एक और ताकतवर सघ जी० आई० पी० रेलवे के मजदूरो का था।

जबसे ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस कायम हुई है तभीसे उसकी कार्यकारिणी और दफ्तर एन० एम० जोशी और उनके नजदीकी साथियो के हाथ मे रहा है और

मजदूर-सघो के आन्दोलन को पैदा करने का श्रेय उन्हीको है। यद्यपि उग्र दल का मजदूर जनता पर ज्यादा जोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हे कोई मौका नही मिला। । यह हालत सतोषजनक नही कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनके आपस मे बडा असन्तोष और झगडा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन-कॉग्रेस की ताकत को अपने काबू मे करले। इसके साथ ही साथ मामलो को बहुत ज्यादा बढाने की अनिच्छा भी थी, क्योकि लोगो को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान मे अभी अपनी जवानी की तरफ बढ रहा था। वह कमजोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमे से ज्यादातर खुद मजदूर नही थे। ऐसी हालतो मे हमेशा बाहरवालो मे यह प्रवृत्ति होती है कि मजदूरो को इस्तैमाल करके अपना मतलब गाँठे। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कॉग्रेस मे और मजदूर-सघो मे यह प्रवृत्ति साफ-साफ दिखाई देती थी। ताहम, सालो काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मजदूर-सघो के सच्चे और उत्साही हितैषी है और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हे नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मजदूरो के आन्दोलन मे उन्होने जो सेवाये की है वे कद्र के लायक है। नरम या आगे बढे हुए दोनो दलो मे से बहुत ही कम आदमियो के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया मे मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढे हुए दल के साथ थी। लेकिन मै नया-नया ही वहाँ पहुँचा था इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इस घरेलू लडाई मे मेरा दिमाग चकराता था, अतएव मैने यही तय किया कि मै इन झगडो से अलग रहूँ। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कॉग्रेस के ओहदेदारो का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते मे मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मै उसका सभापति चुना गया हूँ। मेरा नाम नरम दलवालो ने पेश किया था, गालिबन इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौका मेरा नाम पेश करने मे ही था। इन महाशय ने रेलो के कर्मचारियो मे वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मै चुनाव के दिन झरिया मे मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मै उन कार्यकर्ता उम्मीदवार के मुकाबिले मे अपना नाम वापस लेलेता। मुझे यह बात खास तौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख्स को जिसने कुछ काम नही किया और नया-नया ही आया यकायक सभापति की गद्दी पर पटक दिया जाय। यह बात खुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान मे मजदूर-सघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन मे है और कमजोर है।

१९२८ के साल मे मजदूरो के झगडो और हडतालो की भरमार रही। १९२९ मे

भी यही हाल रहा। बम्बई के कपडो के कारखानो के मजदूर बहुत दुखी और न
थे। उन्होने इन हडतालो की रहनुमाई की। बगाल के सन के कारखाना म
एक बहुत बडी हडताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानो मे, और मेरा ख्या
कि रेलो के मजदूरो मे भी, हडताले हुई। जमशेदपुर के टीन की चद्दरो के कार
मे तो बहुत दिनो झगडा रहा। यह हडताल मजदूरो ने बहादुरी के साथ कई म
तक चलाई। यद्यपि इन मजदूरो के साथ लोगो की बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फि
जो जबरदस्त कम्पनी इन कारखानो की मालिक थी उसने मजदूरो को कुचल दिय
इस कम्पनी का ताल्लुक बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनो साल मजदूरो मे बेचैनी के साल थे और मजदूरो की हाल
दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान मे लड़ाई के बाद के साल धन्ध
धन्धो के लिए मोज के साल थे। इन दिनो उन्होने अनाप-शनाप मुनाफा कमाया।
सन या रुई के कारखानो ने पाँच या छ साल तक अपने हिस्सेदारो को जो मुनाफ
बाँटा वह सौ फीसदी सालाना था—अक्सर वह डेढ सो फीसदी सालाना तक पहुँचा।
ये अनाप-शनाप मुनाफे सबके सब कारखानो के मालिको और हिस्सेदारो की जेब म
गये। मजदूरो की हालत जैसी-की-तैसी बनी रही। उनकी मजदूरी मे जो थोडी-बहु
तरक्की हुई, वह आम तौर पर चीजो की कीमते बढ जाने से बराबर हो गई। इन दिनो
मे जब लोग धडाधड कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मजदूर बहुत ही बुरे घरो म
रहते थे और उनकी औरतो तक को कपडा तक पहनने को नही मिलता था। बम्बई
के मजदूरो की हालत बहुत बुरी थी, लेकिन सन के कारखानो मे काम करनेवाल
उन मजदूरो की हालत तो और भी बुरी थी, जिनके पास आप मोटर मे कलकत्ते क
महलो से घटेभर के अन्दर पहुँच सकते थे। वहाँ बाल बिखेरे और फटे-पुराने मैले-
कुचैले कपड़े पहने हुए अधनगी औरते महज रोटियो पर काम करती थी, इसलिए कि
दौलत का एक लम्बा-चौडा दरिया लगातार ग्लासगो और डडी की तरफ बहता रह
और उसमे से कुछ हिस्सा कुछ हिन्दुस्तानियो की जेबो मे भी चला जाय।

तेजी के इन सालो मे कारखाने मजे से चलते रहे, यद्यपि मजदूरो की हालत पहले-
जैसी ही बनी रही और उन्हे कुछ भी फायदा नही हुआ। लेकिन जब धूम का वक्त
चला गया और अनाप-शनाप मुनाफा कमाना उतना आसान नही रह गया तब नाग
बोझ मजदूरो के सिर पटक दिया गया। कारखाने के मालिक पुराने मुनाफे को भू
गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हे काफी मुनाफा नही होता है तो यह रोज-
गार किस तरह चले? इसीके फल-स्वरूप मजदूरो मे बेचैनी फैली, झगडे खडे हुए और
ई मे ऐसी भारी-भारी हडताले हुईं कि देखनेवाले दग रह गये और निगा

कारखानो के मालिक और सरकार दोनो ही डर गये। मजदूरो के आन्दोलन मे वर्ग-चेतनता आने लगी थी और विचार-धारा तथा सगठन दोनो ही दृष्टियो से वह लड़ाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेजी के साथ बिगड रही थी और यद्यपि मजदूरो का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस मे कोई सबन्ध न था, फिर भी वे कुछ हद तक एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशका-रहित नही समझती थी।

मार्च १९२९ मे सरकार ने आगे बढे हुए दल मे से उनके कई सबसे ज्यादा नामी-नामी कार्यकर्त्ताओ को गिरफ्तार करके सगठित मजदूरो पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बगाल, युक्तप्रान्त और पजाब के मजदूर-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इनमे से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते, और बाकी महज मजदूर-सघोवाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढे चार वर्ष के करीब चला।

मेरठ के मुल्जिमो की मदद के लिए एक सफाई-कमिटी बनी। मेरे पिताजी इस कमिटी के सभापति थे तथा डाक्टर अन्सारी, मै तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगो का काम मुश्किल था। मुकदमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगो को कम्यूनिस्टो और समाजवादी आन्दोलन करनेवालो से कोई हमदर्दी नही थी, और वकील लोग पूरा महनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जो कि किसीका खून चूसकर ही दिया जा सकता था। हमारी कमिटी मे कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक्त हमे सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमे हमारा कुछ भी खर्च नही पडता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनो लगातार मेरठ मे ही बने रहे। उनके अलावा जिन वकीलो के पास हम गये वे, मालूम होता है, यह समझते थे कि यह मुकदमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाने का एक जरिया है।

मेरठ के मुकदमे के अलावा कुछ और डिफेंस कमिटियो से भी मेरा ताल्लुक रहा है—जैसे एम०एन० राय के तथा दूसरे मुकदमो मे। हर मौके पर मुझे अपने पेशे के लोगो के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले मे मुझे सबसे पहला बडा धक्का उस वक्त लगा जब १९१९ मे पजाब मे फौजी कानून की रु से मुकदमे चल रहे थे। उन दिनो वकीलो के एक बहुत बडे लीडर ने इस बात पर ज़िद की कि उन्हे पूरी फीस दी जाय। यह रकम बहुत बडी थी। उन्होने इस बात का कोई खयाल नही किया कि उनके मुवक्किल वे लोग है जो फौजी कानून के शिकार हुए है और उनमे उनका साथी एक वकील भी है। इनमे से बहुत-से लोगो को कर्ज लेकर या अपनी

जायदादे बेच-बेचकर इन वकील साहब की फीस देनी पडी। उसके बाद मुझे ज
तजुर्बे हुए वे तो और भी दु खदायी थे। हम लोगो को गरीब-से-गरीब लोगो से नाबे
पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पडते थे और वे बडे-बडे चैको के रूप मे वकीला
दे देने पडते थे। यह बात हमे बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिल्
बेकार मालूम पडता था, क्योकि एक राजनैतिक मामले मे या मजदूरो के मामले
हम सफाई दे या न दे, नतीजा गालिबन वही होता है। लेकिन मेरठ के मुकदमे
मुकदमे मे, बिलाशक, सफाई देना कई दृष्टियो से लाज़िमी था।

मेरठ-षडयन्त्र-डिफेन्स-कमिटी की मुल्जिमो के साथ आसानी से नही पटी।
मुल्जिमो मे तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफाई भी अलग-अलग किस्म की थी,
कभी-कभी तो उनमे आपसी मेल कतई गायब रहता था। कुछ महीनो के बाद ह
बाकायदा कमिटी को तोड दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। र
नैतिक हालात जिस तरह सूरत से बदलने जा रहे थे उसकी तरफ हमारा
अधिकाधिक खिचने लगा और १९३० मे तो हम सबके सब जेलो मे बन्द हो गये।

२७

विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कॉग्रेस लाहोर मे होनेवाली थी। वह दस साल के वाद फिर पंजाब मे आई थी, और लोग दस वर्ष पहले की वाते याद करने लगे—१९१९ की घटनाये, जलियाँवालाबाग, फौजी कानून और उसके साथ होनेवाली वेइज्जतियाँ, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन, और उसके बाद असहयोग की शुरुआत। इन दस वर्षो मे वहुत घटनाये हुई थी और हिन्दुस्तान की सूरत ही वदल गई थी, मगर फिर भी उस समय मे और इस समय मे समानताओ की कमी न थी। राजनैनिक विक्षोभ बढ़ रहा था, संघर्ष का वातावरण तेजी से वनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड रही थी।

असेम्वली और प्रान्तीय कौंसिलो मे वहुत समय से लोगो की दिलचस्पी न रही थी, सिवा उन मुट्ठीभर लोगो के जो उनके पवित्र घेरो मे ही चक्कर काटा करते थे। असेम्वली और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थी, जिनसे सरकार को सत्ता-लोलुपी और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा मिल जाता था, और लोगो को हिन्दुस्तान की पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्वरो को भत्ता मिलने की बात करने का एक वहाना। असेम्वली का आखिरी सफल कार्य, जिसकी तरफ लोगो का ध्यान गया, १९२८ मे हुआ था, जवकि उसने साइमन-कमीशन मे सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके वाद असेम्वली के प्रेसीडेण्ट और सरकार के वीच मे एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्वली के स्वराजिस्ट प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल मे कॉटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की वहुत कोशिश की गई। ऐसी वातो की तरफ ध्यान तो जाता था, मगर आम तौर पर जनता का ध्यान वाहर की घटनाओ की ही तरफ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलो के वारे मे कोई भ्रम नही रह गया था और वह अक्सर यह राय जाहिर करते थे कि इस अवस्था मे अब कौंसिलो से ज्यादा फायदा नही उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौका आ जावे तो वह उनमे से खुद भी वाहर निकल आना चाहते थे। हालाकि उनका दिमाग वैधानिक था और कानूनी तरीको और जाब्तो का आदी था, मगर हालात से मजबूरन उन्हे यही नतीजा निकालना पडा कि हिन्दुस्तान मे तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीके वेकार और फुजूल है। वह अपने कानूनी दिमाग को

यह कहकर तसल्ली दे देते थे कि हिन्दुस्तान मे विधान ही नही है, और न यहाँ कानून की हुकूमत ही है, जबकि यहाँ किसी एक व्यक्ति या दल की मर्जी जिस तरह जादूगर के पिटारे मे से अचानक कबूतर निकल पडते है उसी तरह, वगैरा निकल पडते है। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिल्कुल न थे, अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज होती तो वह बिलाशक विधान वडे भारी स्तम्भ होते। मगर, जैसी कि हालत थी, हिन्दुस्तान मे नकली का नाटक होने के कारण, यहाँ वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा मे वह ज्यादा चिढने लगे थे।

गाधीजी अब भी राजनीति मे अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता कॉग्रेस मे उन्होने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओ की जानकारी रखते और कॉग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह-मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षों मे खास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होने सारे हिन्दुस्तान मे लम्बे चौडे दौरे किये थे। उन्होने वारी वारी से एक-एक प्रान्त को लिया, और वह उसके हर जिले और करीब-करीब हर महत्वपूर्ण कस्बे मे गये, और दूर के और देहाती हिस्सो मे भी गये। हर जगह उनके लिए लोगो की भारी-भारी भीड जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पडती थी। इस तरह से उन्होने वार-वार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पहाडो से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होने देख लिया। मैं नही समझता कि और किसी इन्सान ने कभी हिन्दुस्तान मे इतना सफर किया होगा। प्राचीन काल मे वडे-वडे भ्रमण करनेवाले थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे। सैलानी तबीयत के यात्री थे, मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफर का मुकाबिला नही कर सकेगा। गाधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ उन्ही से बधे हुए नही थे, वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होने हिन्दुस्तान और यहाँ के लोगो का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीके से करोडो लोगो ने उन्हे देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क मे आये।

वह १९२९ मे अपने खादी-सम्बन्धी दौरे मे युक्तप्रान्त मे आये, और उन्होने निहायत गरम मौसम मे इस प्रान्त मे कई हफ्ते बिताये। मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनो तक लगातार रहता, और हालाकि उनके आने पर इससे पहले भी बडी-बडी भीड देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए एकत्र इन भीडो को देखकर ताज्जुब किये बगैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी जिलो मे

..ऋ तौर पर देखा जाता था, जहाँ कि आदमियो का मजमा देखकर टिड्डी-दल याद आ जाती थी । जब हम देहात मे मोटर से गुजरते थे, तो कुछ-कुछ ..शे के फासले पर ही दस हजार से लेकर पच्चीस हजार तक की भीड हमे मिला ..ती थी, और सभाओ मे तो अक्सर लाख-लाख से भी ज्यादा तादाद हो ..ती थी। सिवाय किसी-किसी बडे शहर के, सभाओ मे ब्रॉडकास्टिंग का इन्तजाम न था, ..र जाहिरा सब आदमियो को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था । शायद वे कुछ ..ने की उम्मीद भी नही करते थे, वे महात्माजी के दर्शन करके ही सतुष्ट हो जाते । गाधीजी अपने पर आवश्यक बोझ न पडने देते हुए, आम तौर पर, छोटा-सा भाषण ..ा थे । नही तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज काम चलाना बिलकुल असम्भव .. जाता ।

मै सारे युक्तप्रान्त के दौरे मे उनके साथ न रहा, क्योकि मेरा उनको कोई खास ..पयोग नही हो सकता था, और दौरे के दल मे मेरे एक के और बढ जाने से कोई ..तलब न था । यो मजमो से मुझे परहेज न था, मगर गाधीजी के साथ चलनेवालो ..ा आम तौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ..मुझे ललचाने को काफी न थे । मेरे पास करने को दूसरा काम काफी था, और ..र्फ खादी के प्रचार मे ही, जो मुझे बढती हुई राजनैतिक हालत मे एक अपेक्षाकृत ..ोटा ही काम नजर आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी । किसी हद तक मै ..ैर-राजनैतिक कामो मे लगे रहने से नाराज था, और मै उनके विचारो का आधार ..भी नही समझ सका । उन दिनो वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और ..वह अक्सर कहते थे कि उन्हे 'दरिद्र-नारायण' अर्थात् 'गरीबो के नारायण' या 'गरीबो मे रहनेवाले नारायण' के लिए धन चाहिए । उनका यही मतलब था कि उससे वह गरीबो की मदद करेगे, उन्हे घरेलू धन्धो द्वारा काम दिलायेगे । मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप मे दरिद्रता—गरीबी—का गौरव बढता दिखाई देता था, क्योकि नारायण खास-कर गरीबो का नारायण है, गरीब उसके प्यारे है । मै समझता हूँ कि सब जगह धार्मिक भावना यही है । मै इस बात को पसन्द नही कर सकता था, क्योकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज मालूम होती थी, जिससे लडकर उसे उखाड फेकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढावा देना चाहिए । इसके लिए लाजिमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते है उन्हे मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह ..चित ठहराना ही पडता था । वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया मे सदा चीजो ..की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नही कर सकते थे कि जिसमे सबको

जीवन की आवश्यक चीजे भरपूर मिल सके। शायद उनके विचारानुसार हमार मे गरीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेगे।

जब कभी मुझे इस बारे मे गाधीजी से बहस करने का मौका मिला त इस बात पर जोर देते थे कि अमीर लोगो को अपनी दौलत जनता की अमा तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफी पुराना है और यह हिन्दुस्तान म मध्यकालीन योरप मे भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मै तो बिलकुल इस बा नही समझ सका हूं कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सक या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी।

असेम्बली, जैसा कि मैने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली स थी और उसकी बेलुत्फ कार्रवाइयो मे शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। भगतसिंह और बी० के० दत्त ने दर्शको की गैलरी से उस सभा-भवन के फर्श प बम फेक दिये, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नीद खुली। कि को सख्त चोट नही आई, और शायद बम इसी इरादे से फेके गये थे, जैसा कि मु ने बाद मे बयान किया था, कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसी चोट पहुँचाई जाय।

उनसे सचमुच असेम्बली मे और बाहर खलबली मच गई। आतककारिया दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अग्रेज पुलिस अफसर को, जिसके बा मे कहा गया है कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर मे गोली स मार दिया गया। बगाल और दूसरी जगहो पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतककारिया क हलचले फिर से शुरू हो गई। षड्यन्त्र के बहुत-से मुकदमे चलाये गये, और नजरबन्द की—यानी बगैर मुकदमा चलाये और सजा सुनाये जेल मे रक्खे जानेवाले या दूसर तरह से रोके हुए लोगो की—तादाद जल्दी बढ गई।

लाहौर-षड्यन्त्र के मुकदमे मे अदालत मे पुलिस ने कई असाधारण काम कि और इस कारण भी इस मुकदमे की तरफ लोगो का ध्यान बहुत गया। अदालत औ जेल मे मुल्जिमो के साथ जो बर्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज्यादात कैदियो ने भूख-हडताल करदी। वह ठीक किन कारणो से शुरू हुई, यह तो मै भू गया हूँ, मगर अन्त मे यह बडा सवाल बन गया कि कैदियो, खासकर राजनैतिक कैदिया के साथ आम तौर पर कैसा बर्ताव होना चाहिए। यह हडताल हफ्तो तक चलती र और इससे सारे देश मे खलबली मच गई। मुल्जिमो की शारीरिक कमजोरी के कार वे अदालत मे न ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्त पडी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा कानून बनाने का सूत्रपात किया, जिसक

ुल्जिम या उनके पैरोकारो की गैर-मौजूदगी मे भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी ख सके। उन्हे जेल के वर्ताव के प्रश्न पर भी गौर करना पडा।

जव हडताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक्त मैं इत्तफाक से लाहौर ाहुँचा। मुझे कुछ कैदियो से जेल मे मिलने की इजाजत दे दी गई, और मैने इसका ायदा उठाया। भगतसिह से यह मेरी पहली मुलाकात थी। मै जतीन्द्रनाथ दास वगैरा से भी मिला। भगतसिह का चेहरा आकर्षक था और उसमे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमे गुस्सा नही दिखाई देता था। उसकी दृष्टि और बात-चीत मे वडी मृदुता थी। मगर मेरा खयाल है कि कोई भी शख्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और मृदुल दिखाई देने लगेगा। जतीन्द्र दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और मुलायम, मालूम पडा। जब मै उससे मिला, उसे काफी दर्द हो रहा था। वाद मे वह, उपवास से ही, भूख-हडताल के ६१वे रोज, मर गया।

भगतसिह की खास हसरत, अपने चाचा सरदार अजीतसिह से, जो १९०७ मे लाला लाजपतराय के साथ जिला-वतन कर दिये गये थे, मिलना या कम-से-कम उनकी खवर पाना मालूम हुई। वह कई वरसो तक विदेशो मे जिला-वतन रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका मे वस गये है, मगर मुझे खयाल नही है कि उनके वारे मे कोई भी निश्चित खवर हो। मुझे यह भी पता नहीं कि वह मर गय हैं या जीते है।

जतीन्द्र दास की मृत्यु से सारे देश मे सनसनी पैदा हो गई। इससे राजनैतिक कैदियो के वर्ताव का सवाल आगे आ गया, और इसपर सरकार ने एक कमिटी मुकर्रर करदी। इस कमिटी के विचारो के फलस्वरूप नये कायदे जारी किये गये, जिनसे कैदियो के तीन दर्जे कर दिये गये। इन कायदो से कुछ सुधार होने की सूरत नजर आई, मगर असल मे कुछ भी फर्क नही पडा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक रही, और अव भी है।

धीरे-धीरे गरमी और वरसात की ऋतु वीतकर ज्योही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय कांग्रेस कमिटियां कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम मे लग गई। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त मे अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ मे गांधीजी को अध्यक्ष वनाने के पक्ष मे करीव-करीव [illegible] था। उन्हे दूसरी वार सभापति वनाने की इस इच्छा से, वास्तव मे, कांग्रेस के नेताओ मे उनका पद और ऊँचा नही हो जाता था, क्योकि वह तो कई वरसो से एक [illegible] के सभापतियो के दादा वने हुए थे। उस वक्त सबको यही लगा कि चूंकि लडाई

अनकरीब है और उसकी सारी बागडोर यो भी उन्हीके हाथो मे रहनेवाली है, तो कि कांग्रेस के 'विधियुक्त' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हींको क्यो न बनाया जाय इसके सिवा, इतना बडा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमिटियो ने सभापति-पद के लिए गाधीजी की सिफारिश की। मगर उन्होने मजूर न किया। हालाकि उन्होने जोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमे दलील करने की गुजाइश रही हुई मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा गौर कर लेगे। लखनऊ मे इसका आखिरी फैसला करने के लिए अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग की गई, और आखिरी घडी तक करीब-करीब हम सभीका यह खयाल था कि वह राजी हो जायँगे। मगर ऐसा न हुआ और आखिरी घडी मे उन्होने मेरा नाम पेश किया और उसपर जोर दिया। उनके आखिरी इन्कार से अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के लोग तो कुछ-कुछ भाचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति मे डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज भी हुए। किसी दूसरे शख्स के उपलब्ध न होने की दशा मे, लाचारी के भाव से, उन्होने आखिर मुझको चुन लिया।

मुझे तबतक कभी इतनी झुझलाहट और जिल्लत महसूस न हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नही थी कि मुझे इस इज्जत बख्शे जाने का—क्योकि यह एक बडी भारी इज्जत की बात है—अहसास न हो, और अगर मै मामूली तरीके से चुना जाता तो मुझे खुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह इज्जत तो सीधे रास्ते या बगल के रास्ते से भी नही मिली, मै तो गोया किसी पोशीदा रास्ते से आ खडा हुआ और अनायास लोगो को मुझे मजूर कर लेना पडा। उन्होने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुंची और मुझे करीब-करीब यह महसूस हुआ कि मै इस इज्जत को लौटा दूं। मगर खुशकिस्मती से मैने अपने भावो को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहाँ से चुपचाप चला आया।

इस फैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नही करते थे, मगर वह मुझे तो काफी ज्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हे खुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे खिलाफ कुछ नही कह सकता था।

यह चुनाव मेरे लिए एक बडी इज्जत और जिम्मेदारी की बात थी, और

ह चुनाव खुसूसियत इसलिए रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही टा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मै कॉग्रेस का सबसे कम-उम्र सभापति ा—उस वक्त मेरी उम्र ठीक चालीस की थी। मगर यह गलत है। मेरा खयाल है क गोखले की भी करीब-करीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आजाद हालाँकि वह मुझसे कुछ बडे है) की उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जबकि ह सभापति बने थे। मगर गोखले, जबकि वह ३५—४० के अन्दर ही थे, तब भी ोग्यता के लिहाज से बडे राजनीतिज्ञो मे माने जाते थे, और अबुलकलाम आज़ाद की मूरत-शक्ल ऐसी बन गई थी जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी। अब चूँकि मुझमे राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बडा विद्वान् होने का इलजाम भी किसीने नही लगाया, इसलिए मै बडी उम्र के होने क इलज़ाम से बच गया हूँ—भले ही मेरे बाल पक गये है और मेरा चेहरा भी उसकी चुगली खा देता है।

लाहौर-कॉग्रेस नजदीक आती जाती थी। इस बीच घटनाये एक-एक करके ऐसी घटती जाती थी, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताकत से आगे बढती जा रही है। व्यक्ति कितने ही बडे क्यो न थे, मगर उनका बहुत ही थोडा भाग था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बडी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढती हुई चली जा रही थी, सिर्फ एक पुर्जे की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद, रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक कदम आगे बढी, और वाइसराय लार्ड अर्विन ने एक गोल-मेज-कान्फ्रेन्स करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बडी चालाकी-भरे थे, जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नही' भी हो सकता था, और हम कईको तो यह साफ मालूम होता था कि 'कुछ नही' ही निकलेगा। और अगर उसमे ज्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके करीब तक भी वह नही पहुँच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फौरन, और बडी जल्दी से, दिल्ली मे 'लीडरो की कान्फ्रेन्स' बुलाई गई, और कई दलो के लोग उसमे बुलाये गये। उसमे गाँधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वगैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक संयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमे वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों पर माना, जिनके बारे मे लिख दिया गया कि ये जरूरी है और पूरी की जानी चाहिए, मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेती तो सहयोग

दिया जाता। ये शर्तें[१] काफी वजनदार थीं, और उनसे कुछ तो फर्क होता
नरम और प्रगतिशील सभी दलों के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मंजूर किया
एक बड़ी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हां,
बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊंची चीज थी। मगर उसमें एक खतरा
भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण थे। कांग्रेस
तो उन्हें सारभूत अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग न
सकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थीं। यह बात कॉंग्रेस-कार्य-
की एक बाद की बैठक में साफ कर दी गई और उसमें यह भी कह
गया कि यह तजवीज सिर्फ अगली कॉंग्रेस तक के ही लिए है। मगर नर
के लिए ये ज्यादा-से-ज्यादा मांगें थीं, जिनका बयान किया जाना अच्छा था
जिनपर इतना जोर नहीं दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर
जाय। उनकी दृष्टि में वे शर्तें, महत्वपूर्ण कहलाते हुए भी, वास्तव में कोई शर्तें नहीं
और बाद में हुआ यह कि, जब कि इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई और
से ज्यादातर लोग बीसियों हजार दूसरे आदमियों के साथ जेल में पड़े हुए थे,
वक्त हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे
दस्तखत किये थे, हमें जेल में डालनेवालों को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर
उम्मीद नहीं थी कि इस हद तक होगी। लेकिन हमें कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी
इस संयुक्त कार्य से, जिसमें कॉंग्रेस के लोगों ने अपने-आपको इतना दबाया है,
भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना
एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज आवेंगे। हम कई लोगों की निगाह में
जो इस समझौताकारी प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, इसका ज्यादा जबरद
कारण यह था कि इससे हमारे कॉंग्रेस के लोगों को आपस में एक बनाये रक्खा जा
एक बड़ी लड़ाई की शुरुआत में हम कॉंग्रेस में फूट होना बरदाश्त नहीं कर सकते

१. शर्तें ये थीं :—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेन्स में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनि
शिक-पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेन्स में कॉंग्रेस के लोगों का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए

३—राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई हो।

४—अभी से आगे हिन्दुस्तान की शासन, मौजूदा हालात में जहांतक मुमकि
स्व-शासन की लाइन पर चलना चाहिए।

ह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश हुई शर्तो को सरकार नही मान सकेगी, और इस तरह हमारी स्थिति और भी मजबूत हो जायगी, और हम अपने बहुमत को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेगे। यह सिर्फ कुछ ही हफ्तो का सवाल था। दिसम्बर आया, कि लाहौर-कॉग्रेस नजदीक आई।

फिर भी वह सयुक्त वक्तव्य हममे से कुछ लोगो के लिए एक कडवी घूट थी। स्वाधीनता की माँग को छोड देना, चाहे सिर्फ कल्पना मे ही और सिर्फ थोडी देर के लिए क्यो न हो, एक गलत और खतरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके, वह कोई सारभूत चीज न थी, जिसके बगैर हमे कभी तसल्ली ही न हो सके। इसलिए मै दुविधा मे पड गया और मैने वक्तव्य पर दस्तखत नही किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित-रूप से दस्तखत करने से इन्कार कर दिया), मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मै नरम पड गया और मैने दस्तखत कर दिये। मगर फिर भी मै बडी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैने काग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गाधीजी को लिख भेजा। मै नही समझता कि मैने यह गम्भीरता से लिखा था, हालाकि मै विक्षुब्ध तो काफी हो गया था। फिर गाधीजी का एक सान्त्वनाप्रद पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से अन्त को मै शान्त हो गया।

लाहौर-कॉग्रेस से कुछ ही समय पहले, कॉग्रेस और सरकार के बीच मे समझौते का कोई आधार ढूँढने की एक आखिरी कोशिश की गई। वाइसराय लार्ड अर्विन के साथ एक मुलाकात का इन्तज़ाम किया गया। मुझे नही मालूम कि इस मुलाकात के इन्तजाम मे पहला कदम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह खास तौर पर किया होगा। इस मुलाकात मे गाँधीजी और मेरे पिताजी काग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे ख़याल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेन्ट पटेल भी थे। इस मुलाकात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया, और यह पाया गया कि दो खास पार्टिया, सरकार और काग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फासले पर थी। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाकी न रहा कि कॉग्रेस अपना कदम आगे बढावे। कलकत्ते मे दी हुई एक साल की मियाद खतम हो रही थी, अब काग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्रवाई करने को थी।

लाहौर-काग्रेस से पहले के इन आखिरी हफ्तो मे मुझे एक दूसरे क्षेत्र मे भी जल्दी

काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर मे होनेवाली थी, और इस साल उ
प्रेसीडेन्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही गैरमा
बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कांग्रेस दोनो का
कुछ हफ्तो के अन्तर पर, सभापतित्व करे। परन्तु मैने यह उम्मीद की थी कि म दो
कॉग्रेसो को जोडनेवाली कडी बन जाऊंगा, और दोनो को ज्यादा नज़दीक ले आऊं
जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज्यादा समाजवादी और ज्यादा श्रमिक-पक्षीय हो जाय
सगठित मजदूर-पक्ष राष्ट्रीय सग्राम मे साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योकि राष्ट्रीयता समाजवादी और श्रमिकपक्ष
दिशा मे दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा
हालॉकि कॉग्रेस का दृष्टिकोण मध्यमवर्गीय है, फिर भी देश मे वही एक काम
क्रान्तिकारी ताकत है। इस हालत मे मजदूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए
उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने असर मे लाना चाहिए, मगर
साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग कायम रखनी चाहिए।
मुझे उम्मीद थी कि जैसे-जैसे घटनाये घटती जायँगी और कॉग्रेस सीधे सघर्ष मे पड़ती
जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाज़िमी तौर पर ज्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण
पर आती जायगी और सामाजिक और आर्थिक प्रश्नो को अपने हाथ मे लेती जायगी।
पिछले बरसो मे कॉग्रेस का काम किसानो और गॉवो की तरफ बढा है। अगर इसी
तरफ इसका कदम बढता रहा तो किसी दिन यह किसानो का एक बडा सगठन बन
जायगी, वर्ना ऐसा सगठन तो हो ही जायगा जिसमे किसान-वर्ग प्रधान हो। युक्त
प्रान्त की कई जिला-कमिटियो मे इस वक्त भी किसानो की तादाद बहुत थी, हालांकि
नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो ने अपने हाथ मे ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरो के निरन्तर सघर्ष का राष्ट्रीय कॉग्रेस के और
ट्रेड यूनियन कॉग्रेस (टी० यू० सी०) के सम्बन्ध पर असर होने की सम्भावना थी।
मगर यह सम्भावना दूर थी, क्योकि मौजूदा राष्ट्रीय कॉग्रेस मध्यमवर्गीय लोगो के
हाथो मे है और उसपर शहरवालो का कब्जा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता
का सवाल हल नहीं हो जाता है तबतक उसकी राष्ट्रीयता ही मैदान मे प्रधान रहेगी
और वही देश की सबसे जबरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखाई दिया
कि कॉग्रेस को सगठित मजदूर-वर्ग के नजदीक लाना स्पष्ट तौर पर अच्छा है, और युक्त
मे तो हमने अपनी प्रान्तीय कॉग्रेस कमिटी मे ट्रे० यू० का० की प्रान्तीय शाखा के
धि बुलाये थे। कांग्रेस के कई लोगो ने भी मजदूरो की हलचलो मे भाग लिया
। ।

मगर मजदूरो के कुछ आगे वढे हुए दल राष्ट्रीय कॉग्रेस से झिझकते थे। वे इस-के नेताओ पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्श को मध्यमवर्गीय ओर प्रतिगामी समझते थे, और मजदूर दृष्टिकोण से सचमुच ऐसा था भी। जैसाकि इसके नाम से जाहिर होता है, कॉग्रेस तो एक राष्ट्रीय सगठन था।

१९२९ ईस्वी भर हिन्दुस्तान के मजदूर-सघ एक नये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मजदूरो के विपय मे नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले-कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध रहे थे। वायॉ-पक्ष (left wing) कमीशन का वहिष्कार करने की राय रखता था, और दाहिना पक्ष (Right wing) सहयोग देने की तरफ था, और चूँकि दाहिने पक्ष के कुछ नेताओ को कमीशन मे मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्ति-गत मामला भी बन गया था। और कई बातो की तरह इस बात मे भी मेरी हमदर्दी बाये-पक्ष की तरफ थी, और खासकर इसलिए कि यही राष्ट्रीय काग्रेस की भी नीति थी। जबकि हम सीधे हमले की लडाई चला रहे है या चलानेवाले है उस वक्त सरकारी कमीशनो से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रे० यू० काग्रेस मे व्हिटले-कमीशन के बहिष्कार का यह सवाल एक बडा सवाल बन गया, और इसपर और दूसरे भी कई बहस-तलब सवालात पर बाये-पक्ष को कामयाबी मिली। इस कॉग्रेस मे मैने बहुत ही कम नुमायॉ हिस्सा लिया। मै मजदूर-क्षेत्र मे बिलकुल नया था। अभी मै रास्ता ही ढूढता रहा था, इसलिए मै थोडा झिझकता रहा। आम तौर पर मै अपनी राय ज्यादा आगे बढे हुए दलो की तरफ जाहिर करता था, मगर मैने किसी भी जमात के साथ हो जाने से अपनेको बचाया। मैने सचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज्यादा काम किया। इस तरह ट्रे० यू० का० के टुकडे हो जाने और एक नये नरम सगठन के कायम हो जाने मे मै प्राय एक खामोश तमाशबीन बना रहा। जाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलो का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर बाये पक्ष के कुछ नेताओ ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हे अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बाये पक्षो के झगडो मे बीच के बडे भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनो दलो को सयम मे रक्खा होता और ट्रे० यू० का० मे फूट पडने से बचा ली होती, और अगर अलग-अलग टुकडे भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि हुए।

इस समय जो कुछ हुआ उससे मजदूर-सगठन के आन्दोलन को एक जबरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभीतक सम्हल नहीं सका है। सरकार ने मजदूर-आन्दोलन

के आगे बढे हुए दलो पर पहले ही से हमला शुरू कर दिया था, और उसका प
फल हुआ मेरठ वाला मुकदमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिको ने भी
कि अपने लाभ की पूर्त्ति के लिए यही ठीक मौका है। १९२९-३० के जाडे में ससा
व्यापी मन्दी शुरू हो ही गई थी। आर्थिक मन्दी के धक्के मे, सब तरफ से हमला कि
जाने से, और अपने ट्रेड-यूनियन-सगठन की हालत उस समय बहुत ही कमजोर हो
के कारण, हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग के लिए बडी कठिनाई का जमाना आ गया।
लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इस
बाद ही पहले या दूसरे साल एक और टुकडा—कम्यूनिस्ट हिस्सा—ट्रेडयूनियन-कांग्रे
से अलहदा हो गया। इस तरह उसूलन हिन्दुस्तान मे मजदूर-सघो के तीन सगठन ब
गये—एक नरम दल, एक मुख्य टी०यू० सी० दल, और एक कम्यूनिस्ट दल। अस
शकल मे ये सभी कमजोर और बेकार हो गये, और उनके आपसी झगडो से आम कारीग
ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मैं इन सबसे अलग था, क्योकि मैं तो ज्यादातर ज
मे रहा, जब कभी बीच-बीच मे मैं जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता थ
कि सबमे एकता होने की कोशिशे की जा रही है। मगर वे कामयाब न हुई
नरम दल के यूनियनो के साथ रेलवे कारीगरो के रहने से उनकी ताकत बढ गई
दूसरे दलो के मुकाबिले मे उनको एक फायदा यह था कि सरकार उनको तसली
करती थी, और जिनेवा की मजदूर-कान्फ्रेन्सो के लिए उनकी सिफारिशो को मजूर क
लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मजदूर-नेता उनकी तरफ खिच गए
और वे अपने साथ अपनी यूनियनो को भी उधर खीच ले गये।

१. इसके बाद ट्रेड यूनियनों में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामया
हुई है, और मुख्तलिफ दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

जवाहरलाल नेहरू

स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति मे लाहौर-काग्रेस की तस्वीर आज भी साफ खिची हुई है। यह कुदरती भी है, क्योकि मैने उसमे सबसे बडा हिस्सा लिया था, और थोडी देर के लिए मै रग-मच के केन्द्र मे ही था, और उन भीड-भम्भड के दिनो मे मेरे दिल मे जो-जो भावनाये पैदा हुई उनपर खयाल करना कभी-कभी मुझे अच्छा लगता है। लाहौर के लोगो ने मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, जो लोगो की तादाद और दिल की गहराई दोनो मे बहुत बढा-चढा था, उसे मै कभी नही भूल सकता। मै अच्छी तरह जानता था कि यह अथाह उत्साह मेरे लिए व्यक्तिगत नही था, बल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नही है कि वह, थोडे समय के लिए ही सही, बहुत लोगो की आँखो मे और दिलो मे वैसा प्रतीक बन जाय और मै अपनेको बडा आनदित और उठा हुआ अनुभव कर रहा था। मगर मुझपर क्या असर हुआ, इसकी कोई अहमियत नही है। क्योकि वहाँ तो बडे-बडे सवालात सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का खयाल सब ओर छाया हुआ था। हमे सिर्फ नुक्ताचीनी या विरोध या राय के इज़हार के ही ठहराव नही करने थे, मगर हमे ऐसी लडाई का आवाहन करना था जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखो की जिन्दगी पर पडनेवाला था।

दूर भविष्य मे हमारे और हमारे देश के लिए क्या होनेवाला है, यह तो कोई भी नही कह सकता था, मगर निकट-भविष्य मे क्या होगा, यह तो साफ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियो के लिए लडाई और तकलीफे सामने नजर आती थी। इस खयाल ने हमारे उत्साह मे गभीरता ला दी थी, और हमे अपनी जिम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमने जो हरेक वोट दिया वह अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रो के मिलने-जुलने को विदाई का पैगाम था, और थी एकान्त के दिनो और रातो और शारीरिक और मानसिक पीडा को दावत।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लडाई चलाने के लिए किये जानेवाले काम के मुताल्लिक असल ठहराव तो करीब-करीब एकमत से पास हो गया, कई हजारो मे से मुश्किल से तीन आदमियो ने इसके खिलाफ वोट दिया था मगर असली वोटिंग पर

छोटे मामले पर हुआ, जो एक तरमीम की शकल मे आया था। यह तरमीम गिर
ओर दोनो तरफ की रायो की तादाद जाहिर कर दी गई। खास ठहराव इत्तफ़ाक़
३१ दिसवर की आधीरात के घटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुज़र रहा
उसकी जगह नया साल आ रहा था, मजूर हुआ। इस तरह ज्योंही कलकत्ता
काग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत खत्म हुई त्योंही नया फैसला किया गया
ओर लडाई की तैयारियाँ शुरू की गई। चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम
नही जानते थे कि हमे कैसे ओर कब शुरुआत करनी चाहिए। अ० भा० काग्रेस कमिटी
को हमारी लडाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अख्त्यार दिया गया
मगर सब जानते थे कि असली फैसला तो गाँधीजी के हाथ है।

लाहौर-काग्रेस मे नजदीक के ही सीमाप्रान्त से वहुत लोग आये थे। इस प्रान्त
से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो काग्रेस की बैठको मे हमेशा आया ही करते थे। पिछले
कुछ बरसो से खान अब्दुलगफ्फारखा हमारे अधिवेशनो मे आया और हिस्सा लिया
करते थे। मगर लाहौर मे पहली वार सीमा-प्रान्त से सच्चे नौजवानो का एक बड़ा
दल आकर अखिल-भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क मे आया। उनके ताज़ा दिमाग
पर वडा असर पडा, और वे यह खयाल और जोश लेकर गये कि वे आजादी की
लड़ाई मे सारे हिन्दुस्तान के साथ है। वे सीधे-सादे मगर वडा काम करनेवाले लोग
थे। उन्हे हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तो के लोगो की तरह महज वात-चीत करने और
वाल की खाल खीचने की आदत कम थी। उन्होने अपने लोगो को सगठित करना
और उनमे नये खयालात फैलाना शुरू किया। उन्हे कामयावी भी मिली, और सीमा-
प्रान्त के स्त्री-पुरुप, जोकि हिन्दुस्तान की लडाई मे सवसे पीछे शामिल हुए थे, १९३०
से नुमायाँ और वडा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कॉंग्रेस के वाद ही, और उसकी हिदायत के मुताबिक, मेरे पिताजी ने
असेम्वली के कॉंग्रेसी मेम्वरो को अपनी-अपनी जगह से इस्तीफा दे देने को कहा।
करीव-करीव सभी एक-साथ वाहर आ गये। कुछ इने-गिने लोगो ने ही वाहर आने से
इन्कार किया, हालाकि इससे उनके चुनाव के इकरारो की खिलाफवर्जी होती थी।

फिर भी आगे के वारे मे हमे कुछ साफ सूझता न था। हालाकि कॉंग्रेस-अधिवेशन
मे वडा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लडाई के कार्यक्रम
का कहाँतक साथ देगा। हम इतने आगे वढ गये थे कि अब पीछे नही जा सकते थे।
मगर देश का रुख क्या होगा, इसका करीब-करीव बिल्कुल पता न था। अपनी लडाई की
के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को आजादी-
। तय हुआ। दस दिन देशभर मे आजादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम के बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम रने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओ के इन्तज़ार मे रहे। जनवरी के शुरू मे इलाहाबाद मे था, मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बडे भारी सालाना र, माघ मेले, का वक्त था। शायद वह खास कुभ का साल था, और लाखो स्त्री-रुष लगातार इलाहाबाद मे, या यात्रियो की भाषा मे प्रयागराज मे, आ रहे थे। वे व तरह के लोग थे। खासकर किसान थे, और मज़दूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, द्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव मे हिन्दुओ मे से सभी तरह के लोग ााये थे। जब मै इस बडी भीड को और नदी पर जाते और आते हुए लोगो की टूट धारा को देखता, तो मै सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण ीधे हमले की पुकार का कितना साथ देगे? इनमे से कितने लोग लाहौर के हरावो को जानते है या उनकी परवा करते है? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्य-जनक और मजबूत था कि जिससे वे और उनके बुजुर्ग हजारो बरसो से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गगा मे स्नान करने के लिए चले आते थे। क्या वे इस बेहद ताकत को अपनी ही जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य मे नही लगा सकते? या क्या उनके दिमागो मे अपने धर्म का ताना-बाना और परम्परा इतनी भर चुकी है कि उसमे दूसरे खयालात की गुंजाइश ही नही रही? मै तो यह जानता ही था कि ये दूसरे खयालात उनमे पहुँच चुके है, जिनसे सदियो की शान्त निश्चिन्तता मे खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारो और आकांक्षाओ की हलचल के जनता मे फैलने से ही पिछले बारह बरसो मे बडे-बडे उतार-चढाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारो के अस्तित्व के विषय मे और उनकी बडी भारी ताकत के बारे मे तो कोई शक ही नही था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवालात उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये खयालात कितने फैल चुके है? उनके पीछे कितनी ताकत है, सगठित काम करने की कितनी काबलियत है, लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है?

हमारे घर को देखकर यात्रियो के झुण्ड आ जाते थे। वह एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पडता था, जहाँ पुराने ज़माने मे एक विश्वविद्यालय था। मेले के दिनो मे सुबह से शाम तक बेशुमार लोग हमसे मिलने को आते रहते थे। मेरे खयाल से ज्यादातर लोग तो कौतूहल से, और जिन बडे आदमियो का नाम उन्होने सुन रक्खा है उन्हे, खासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालो मे ऐसे भी बहुत-से लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की तरफ था, ... कांग्रेस के बारे मे, उसमे क्या तय हुआ, और आगे क्या होने वाला है, ये

सवालात पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ सुनाते थे और पूछते थे कि... बाबत उन्हे क्या करना चाहिए ? हमारे राजनैतिक नारे उन्हे खूब याद थे, और... दिन मकान उन्हीसे गूँजता रहता था। उस दिन मैने पहले तो, जैसे-जैसे बीस,... या सौ आदमियो का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोडे शब्द कहना... किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और फिर वे जब आते थे... चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैने छिप... की कोशिश की। मगर यह सब फिजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज लगने... मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगो से भर गये और हरेक दरवाजे और खिड़... मे से बहुत-से लोग हमे झाँकने लगे। कुछ काम करना या बातचीत करना या भोजन... करना भी मुश्किल हो गया। इससे सिर्फ परेशानी ही नही होती थी बल्कि झुंझला... और चिढ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी... चमकती आँखो से देख रहे थे, जिनमे पीढियो की ग़रीबी और मुसीबते झलक रही थी, और हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले मे सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नही माँगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता मे नम्र और भयभीत हुए बिना रहना असम्भव था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थी, उस वक्त हमारे यहा ठहरी हुई थी। अक्सर उनसे बातचीत करना भी कठिन हो गया था, क्योकि चार-चार पाच-पाच मिनट मे मुझे आये हुए झुड को कुछ-न-कुछ कहने के लिए बाहर जाना पडता था, और बीच-बीच मे हमे बाहर के नारे और शोरगुल सुनाई देता था। मेरी परेशानी से उन्हे कुछ हँसी-सी आई, और साथ ही, मेरा खयाल है यह समझकर कि मै जनता मे बहुत लोक-प्रिय हूँ, वह प्रभावित भी हुई। (सच बात तो यह थी कि लोग खास-कर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूँकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगो के सामने जाना पडता था।) उन्होने अचानक मेरी तरफ मुडकर मुझसे पूछा, कि मै इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूँ और क्या इसका मुझे फख्र नही होता ? जवाब देने से पहले मै थोडा झिझका और इससे उन्होने समझा कि शायद इस बिलकुल जाती सवाल से उन्होने मुझे परेशानी मे डाल दिया है। उन्होने इसके लिए माफी चाही। उनके सवाल से मुझे परेशानी बिलकुल नही हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूँढना बडा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग बहुत बाते सोचने लगा और मै अपनी भावनाओ और विचारो का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे।

था कि, प्राय इत्तफाक से ही, मै जनता मे बड़ा लोकप्रिय हो गया था। लोगो मे मेरी कदर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषो का तो एक प्रकार से

वीर—सूरमा—बन गया था और उनकी निगाह मे मेरे आसपास कुछ अद्भुतता दिखाई पडती थी। मेरे बारे मे गाने तैयार हो गये थे और ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियाँ घड ली गई थी जिन्हे सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय जाहिर करते थे, और बुजुर्गाना ढग से कहते थे कि मुझमे काबलियत और ईमानदारी की कमी नही है।

शायद किसी महात्मा या बडे भारी हैवान पर ही इन सब बातो का असर नही हो सकेगा। मगर मै तो अपनेको दोनो मे से एक भी नही मानता। बस, ये बाते मेरे दिमाग मे बैठ गई। उन्होने मुझपर थोडा नशा चढा दिया और मुझको हिम्मत और ताकत दी। मेरा यह अन्दाज है, (क्योकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है,) कि मै अपने काम-काज मे थोडा एक-तन्त्री और कुछ हाकिमाना बन गया। मगर फिर भी, मेरा खयाल है कि, मेरा गरूर कुछ ज्यादा नही बढा। मुझे खयाल था कि मुझमे भी काफी बातो की लियाकत है और उनके सम्बन्ध मे मै ऐसा नाचीज नही हूँ। मगर मै यह भी खूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नही है, और मुझे अपनी कमजोरियो का भी बहुत खयाल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने मे मदद दी और इसीसे मै अपने सम्बन्ध की कई घटनाओ पर अनासक्त दृष्टि से गौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के तजुर्बे ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवाञ्छनीय व्यक्तियो के पास रहती है, वह यकीनन भलाई या अक्लमन्दी का ही आवश्यक चिन्ह नही होती। तो क्या मै अपनी कमजोरियो के सबब से लोकप्रिय था, या अपने गुणो के सबब से? मै लोकप्रिय हुआ ही क्यो?

इसका सबब मुझमे दिमागी काबलियत का होना नही था। क्योकि मुझमे दिमागी काबलियत कोई गैरमामूली नही थी और कम-से-कम इसीसे ही लोकप्रियता नही मिलती, और 'कुर्बानी' कहे जानेवाले कामो मे भी मेरी लोकप्रियता नही थी, क्योकि यह सभी जानते है कि हमारे ही समय मे हिन्दुस्तान मे सैकडो और हजारो आदमियो ने मुझसे बेहद ज्यादा तकलीफे उठाई है और आखिरी कुर्बानी तक की है। मै बडा वीर या सूरमा हूँ, यह शोहरत बिलकुल झूठी है। मै अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नही समझता और जीवन मे वीरो का-सा ढग या उसकी नकल और दिखावा करना मुझे बिलकुल वाहियात बात मालूम होती है। अद्भुतता के बारे मे तो मुझे कहना पडेगा कि मै सबसे कम अद्भुत व्यक्ति हूँ। यह नही है कि मुझमे कुछ शारीरिक और दिमागी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद गरूर—अपना, अपने समूह का और अपने राष्ट्र का गरूर, और किसीके दबाव से कुछ करने की [illegible]।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। तब मैं दूसरे ही ढंग से उसकी खोज मे लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे में बहुत प्रचलित कहावत यह है कि हम हर हफ्ते अपने कपडे पैरिस की किसी लांड्री में धुलने को भेजते थे। हमने इसकी कई बार तरदीद की है, फिर भी यह बात प्रचलित ही है। इससे ज्यादा अजीब और वाहियात बात की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बडप्पन के लिए इस तरह की फिजूलखर्ची करे, तो मैं समझता हूँ कि वह अव्वल दर्जे का उल्लू ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि तरदीद करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मैं प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ स्कूल मे पढता था। यह भी कहा जाता है कि जब १९२१ मे वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होंने मुझे बुलाया था, पर उस वक्त मैं जेल में था। सच बात तो यह है कि मैं न तो स्कूल मे ही उनके साथ पढा हूँ, न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौका हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि मेरी शोहरत या लोक-प्रियता इन या ऐसी कहानियो के बदौलत ही है। उसकी ज्यादा मजबूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नहीं कि इसमे बडप्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियों से जाहिर है। कुछ भी हो। भावना यह है कि पहले मैं बडे-बडे लोगो से मिलता-जुलता था, और बडे ऐश-आराम की जिन्दगी गुजारता था, और फिर मैंने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी शोहरत हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मुझे निष्क्रिय गुणो की बनिस्बत सक्रिय गुण ज्यादा पसन्द है, और केवल त्याग और बलिदान को मैं अच्छा नहीं समझता। मैं उनकी दूसरे ही दृष्टिकोण से कदर करता हूँ—यानी मानसिक और आध्यात्मिक तालीम के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना जरूरी है। और जो लोग महान् कार्यों मे पडना चाहते है उनमे सख्त आघातो के होने पर भी सहन और धैर्य की क्षमता होना जरूरी है। मगर जीवन के त्यागमय दृष्टिकोण, जीवन के निषेध, उसके आनन्दो और अनुभूतियो से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ मुझे रुचि या आकर्षण नहीं है। मैंने किसी भी चीज को, जिसका मैंने वास्तव मे महत्व समझा, जानबूझकर नहीं छोडा है, मगर, हाँ, चीजों का मूल्य अलबत्ते बदलता रहता है।

उन महिला-मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नहीं मिला। भीड की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नहीं करता ? मैं तो इसे नापसन्द करता र इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मैं इसका आदी हो गया था।

ेर जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी मालूम होता था। दोनो ही
ह से मुझे तसल्ली नही थी। मगर कुल मिलाकर, भीड ने मेरी एक अन्दरूनी जरूरत
ी कर दी। मै उनपर असर डाल सकता हूँ और उनसे काम करवा सकता हूँ, इस
याल से मुझमे उनके दिल और दिमाग पर अधिकार होने की एक भावना आ गई थी।
नसे किसी हद तक मेरी सत्ता की इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ
मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे, क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा
न्तस्तल हिल जाता था, और उसके जवाब मे मेरे दिल मे भी भावुकता का सचार हो
ाता था। हालाकि मै व्यक्तिवादी हूँ, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारे
ी टूट-सी जाती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगो के साथ-साथ
ुसीबतो मे रहना, अलग रहकर बचे रहने की बनिस्बत, अच्छा है। मगर वे दीवारे
टनेवाली न थी, और मै उन्हीके ऊपर से आश्चर्य-भरी आँखो से इस दृश्य की तरफ
ेखा करता था, जिसे मै समझ न सकता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढती है।
यह जिस आदमी पर चढती है उसे पता नही पडता कि रोजाना कितनी चढती जाती
है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटो से वह कम भी हो जाती
है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान मे तो पिछले बरसो मे हमपर इन सख्त
चोटो की कोई कमी नही रही है। जिन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है,
और कष्ट-सहन दरअसल बडा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात मे भी मै खुशकिस्मत रहा हूँ। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और
साथी ऐसे रहे है, जिन्होने मुझे ठीक निगाह रखने मे और अपना दिमाग बिगडने न देने मे
मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवो, म्युनिसिपैलिटियो, स्थानिक बोर्डो और दूसरी सार्वजनिक
संस्थाओ की तरफ से अभिनन्दनो और जुलूसो वगैरा से मेरे दिमाग, मेरी विनोद-प्रियता
और वास्तविकता की भावना पर बडा बोझ पडता था, इन मौको पर बहुत लम्बी-चौडी
और शानदार भाषा इस्तैमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गभीर और पुण्यात्मा
बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह जबरदस्त ख्वाहिश होती थी कि मै हँस
पडूँ या अपनी जबान बाहर निकाल दूँ या सिर के बल उलटा खडा हो जाऊँ, सिर्फ
इसलिए कि उस गभीर सम्मेलन मे लोगो के चेहरो पर इसका कैसा धक्का लगता और
क्या असर होता है यह मै देखूँ और इसका मजा लूँ। मगर खुशकिस्मती से अपनी शोहरत
[illegible] से, और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन मे गभीरता ही आदर-
भाव समझी जाती है, मै अपनी इस अनियन्त्रित इच्छा को रोक लेता था और आम तौर
पर ठीक आचरण ही किया करता था। मगर, हमेशा नही। किसी-किसी बार

मीटिंग में, या ज्यादातर अक्सर जुलूसों में, जिनसे मैं बहुत परेशान हो जाता हूँ, कभी-कभी कोई प्रदर्शन कर दिया है। कभी-कभी हमारे सम्मान में निकाले गये जुलूसों को मैं अचानक छोड़ देता था और भीड़ में अनजाने शामिल हो जाता था। अपनी पत्नी को या और किसीको जुलूस की गाड़ी में ही बैठा छोड़ देता था।

अपनी भावनाओं को हमेशा दबाये रखने की इस कोशिश और लोगों के किसी खास ढंग से बर्ताव करने के कारण दिमाग पर बड़ा जोर पड़ता है, और यह होता है कि सार्वजनिक मौकों पर आदमी गंभीर चेहरा बनाये रहता है। शायद लिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख में एक दफा लिखा गया था कि मैं हिन्दू-विधवा की तरह हूँ। हालाकि मैं पुराने ढंग की हिन्दू विधवा की बड़ी इज्जत करता हूँ, फिर मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का जाहिरा मतलब यह था कि उसके खयाल से मुझमें अपने-आपको नम्रता-पूर्वक समर्पित कर देने, त्याग, और बिना कभी हँसी-मजाक किये हमेशा काम में लगे रहने के कुछ गुण थे, जिनकी वह तारीफ करता था। मेरा तो खयाल था कि, मुझमें अधिक क्रियाशीलता और तेजी है, और मजाक करने और हँसने की योग्यता भी है। और निःसंदेह मैं चाहता हूँ कि ये गुण हिन्दू-विधवा में भी होने चाहिएँ। गांधीजी ने एक बार एक मिलनेवाले से कहा था, कि अगर मुझमें विनोद का माद्दा न होता तो शायद खुदकुशी या ऐसा ही कुछ कर गुजरता। मैं इतनी हद तक तो जाना नहीं चाहता, मगर जिन्दा रहना मेरे लिए तो प्रायः असह्य हो जाता अगर मेरी जिन्दगी में कुछ लोग हँसी-मजाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोकप्रियता पर और बड़े-बड़े मान-पत्रों पर, जो मुझे मिला करते थे, जिनमें (जैसा कि वास्तव में हिन्दुस्तान के सभी मान-पत्रों में होता है) बड़ी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौड़ी तारीफ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बड़ा मजाक उड़ाया करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख आदमियों के लिए जैसे ऊँचे और शानदार लफ्ज और अलकाब अक्सर इस्तैमाल होते हैं, वैसे शब्दों को मेरी पत्नी और बहनें और दूसरे लोग पकड़ लेते थे और उनका मौके-बेमौके मेरा किसी तरह लिहाज किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्त्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण प्रयोग से मुझे भी तसल्ली मिलती थी, और उन गंभीर सार्वजनिक सभाओं की, जहां मुझे बहुत शिष्टता का बर्ताव कर दिखाना पड़ता था, थकावट धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मजाक में मेरी छोटी-सी लड़की भी शामिल हो जाती थी। सिर्फ मेरी माता ही इस बात पर जोर दिया करती थीं कि मुझसे गंभीरता का व्यवहार किया जाय। प्यारे पुत्र के साथ ज्यादा मजाक या दिल्लगी होने का वह कभी पूरा समर्थन

ा करती थी । इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरंजन हो जाता था। वह अपने
ारो और भावो को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक खास तरीका रखते थे।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमो, बेलुत्फ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवो
र अनन्त बहसो और राजनीति के धूम-धक्को का मुझपर सिर्फ ऊपरी असर होता
, हालाकि यह असर भी कभी-कभी तेज और गहरा होता था। मगर मेरा असली
र्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारो और इच्छाओ और निष्ठाओ मे सघर्ष
र रहा था । मेरे मस्तिष्क की अन्तर्भावनाये बाहरी परिस्थितियो से झगड रही
। मेरी आन्तरिक भूख बुझी न थी। मै एक लडाई का मैदान बन गया था, जहॉ
रह-तरह की ताकते एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थी । मै इससे
टकारा चाहता था। मैने सामञ्जस्य और चित्त की समता ढूँढने की कोशिश की, और
भी प्रयत्न मे लडाई मे कूद पडा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी सघर्ष ने भीतरी
घर्ष की तेजी को कम कर दिया।

मै जेल मे बैठा हुआ यह सब क्यो लिख रहा हूँ? मै चाहे जेल मे होऊँ या जेल
के बाहर, लेकिन मेरी तलाश फिर भी वही है, और मै अपने पिछले विचार और
अनुभव इस आशा मे लिख रहा हूँ कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक सतोष मिल सके।

२९

सविनय भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह से उसने हमे बता दिया कि देश मे सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन जगह जगह बडी-बडी सभाये हुई जिनमे बगैर भाषणो या विवेचनो के, शान्ति और गम्भीरता से, लोगो ने आजादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभाये और जुलूस बडे प्रभावशाली थे। गांधीजी को इस दिवस से आवश्यक बल मिल गया, और जनता की नब्ज की ठीक पहचान के कारण उन्होने समझ लिया कि लडाई छेडने का यह ठीक वक्त है। इसके बाद घटनाये एक के बाद एक जल्दी-जल्दी घटित होने लगी, जैसाकि किसी नाटक मे उसकी पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भग नजदीक आता गया और लोगो मे जोश बढता गया वैसे-वैसे हमारे खयालात इस बात की तरफ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था और चौरीचौरा के बाद वह यकायक मुल्तवी कर दिया गया था। तबसे अब देश मे अनुशासन ज्यादा था और अब लोग ज्यादा साफ तौर पर समझ गये थे कि यह लडाई किस किस्म की है। उसका तरीका तो किसी हद तक समझ लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गांधीजी अहिंसा पर भयकर रूप से जोर देते है, और यह बात गांधीजी के दृष्टिकोण से ज्यादा जरूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगो के दिमागो मे शायद इस बाबत शक रहा हो मगर अब तो वैसा शक नही हो सकता था। फिर भी, हमे इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी साजिश से हिसा का कोई काण्ड न हो जायगा ? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भंग आन्दोलन पर क्या असर होगा ? क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा ? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गाधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने खास ढग से विचार किया, हालांकि जिस समस्या की उन्हे चिन्ता मालूम होती थी, जहाँतक मै कभी-कभी बातचीत से समझ सका, वह दूसरे ही ढग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढग की लडाई करना ही उनकी निगाह में तरीका था, और अगर ठीक तरह से उसपर अमल किया जाय तो वही अ

१—यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट न० १ मे दी हुई है।

है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस तरीके को अमल में लाने और काम-
ब बनाने के लिए खास तोर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए, और अगर
हरी हालतें इसके माफिक न हों तो इसको काम में नहीं लाना चाहिए ? इससे
यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक तरीका हर हालत के लिए ठीक नहीं है,
[illegible]र इस तरह यह न तो सार्वभौम तरीका रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा
[illegible]धीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि यह तरीका सार्व-
[illegible]ौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के नामाफिक होने पर भी, और
[illegible]गडों और हिंसा के होते रहते भी, यह तरीका अवश्य काम में आ सकता है। बदलती
[illegible]ई हालतों में उसके अमल का ढंग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया
[illegible]ाना तो खुद उस तरीके की विफलता को मान लेना होगा।

शायद वह इस प्रकार से सोचते होंगे, मगर मैं उनके विचारों को निश्चय से
[illegible]हीं कह सकता। उन्होंने हमें यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-
[illegible]द्धति में थोड़ा फर्क हो गया है, और जब सविनय भंग आवेगा तो किसी एकाध
[illegible]हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना जरूरी नहीं है। मगर यदि हिंसा किसी
आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय-भंग-आन्दोलन न
रहेगा और उसकी हलचलों को बन्द करना या बदलना पड़ेगा। इस आश्वासन से हम
बहुतेरों को बहुत हद तक संतोष हुआ। अब सबके सामने बड़ा सवाल यह था, कि
यह किया कैसे जाय ? शुरुआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भंग हम
चलावें, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता में लोकप्रिय हो ?
लेकिन गांधीजी ने ही इसकी तरकीब बताई।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण शब्द, एक बलपूर्ण शब्द बन गया। नमक-कर पर
[illegible] करना चाहिए। नमक-कानून को तोड़ना चाहिए। हम हैरत में पड़ गये।
नमक का राष्ट्रीय संग्राम हमें कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य में डालने-
वाली बात हुई गांधीजी का अपने ११ मुद्दों का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और
सामाजिक सुधारों की, चाहे वे अच्छे ही क्यों न हों, फेहरिस्त उस समय पेश करना
[illegible] हम आजादी की दृष्टि से बात कर रहे थे, क्या मतलब रखता था ? गांधीजी
[illegible] 'आजादी' शब्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था, या क्या हम
[illegible] अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग कर रहे थे ? मगर हमें बहस करने का मौका
[illegible], क्योंकि घटनायें तो आगे जा रही थीं। वे हिन्दुस्तान में तो हमारी निगाहों के
[illegible] राजनैतिक रूप से दिन-ब-दिन आगे बढ़ ही रही थीं, मगर, शायद हम नहीं
[illegible] दुनिया में भी तेजी से बढ़ रही थीं और दुनिया को एक भयंकर मन्दी

मे जकडे हुए थी। चीजो के भाव गिर रहे थे, और शहर के रहनेवालो ने समझा कि अब सम्पन्नता का जमाना आ रहा है। मगर किसानो ने तो इसमे खतरा ही देखा।

इसके बाद गाधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढने का हाल जैसे लोग पढते थे, देश मे जोश का पारा बढता जाता था। अहमदाबाद मे अ० भा० कॉग्रेस कमिटी की बैठक इस लडाई की बाबत, जो प्राय हमारे सिर पर आ चुकी थी, आखिरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक मे हमारे सग्राम का नेता मौजूद न था, क्योकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहाँ से लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० कॉ० कमिटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ्तारियाँ हो तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमिटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ से कार्य-समिति के गिरफ्तार-शुदा लोगो की जगह कुछ नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अख्त्यारात रखनेवाले दूसरे शख्स को नामजद कर देने के बडे-बडे अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय कॉग्रेस कमिटियो ने भी अपने-अपने सभापतियो को ऐसे ही अख्त्यारात दे दिये।

इस तरह से वह जमाना शुरू हुआ जब कि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग कायम हो गये और उन्होने काग्रेस की तरफ से सग्राम का सचालन किया। इसपर भारत मत्री और वाइसराय और गवर्नरो ने बडी नफरत जाहिर की और वे चीख-चीखकर कहने लगे कि काग्रेस कितनी खराब और पतित हो गई है कि वह डिक्टेटरो को मानने लगी है, जबकि वे खुद तो मानो प्रजातन्त्र-वाद के पक्के माननेवाले ही थे! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अखबारो ने भी हमे प्रजातन्त्र के लाभो का उपदेश दिया। हम यह सब खामोशी से (क्योकि हम तो जेल मे थे) और हैरत मे होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज्यादा क्या हो सकती थी? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बलपूर्वक शासन हो रहा था, जिसमे आर्डिनेन्स कानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी, और उधर हमारे शासक नफरत दिखाकर प्रजातन्त्रवाद की बाते कर रहे थे! और क्या, मामूली हालत मे भी, हिन्दुस्तान मे प्रजातन्त्र की छाया भी कहीं थी? अंग्रेजी हुकूमत अपनी ताकत और हिन्दुस्तान मे स्थापित स्वार्थों की हिफाजत करे और उसकी सत्ता को हटानेवालो का दमन करे, यह तो बेशक उसके लिए कुदरती बात थी। मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीका था, ऐसी बात है जो अगली पीढियो के गौर करने तारीफ करने के लिए लिखकर रख ली जाय!

[का]ग्रेस ऐसी हालत मे जानेवाली थी कि जब उसका मामूली ढग पर काम करना

-मुमकिन हो जायगा, जब वह गैर-कानूनी करार देदी जायगी, और गुप्त रूप के वा और किसी ढग से उसकी कमिटियाँ किसी परामर्श या किसी काम के लिए ट्ठा न हो सकेगी। हमने पोशीदगी को बढावा नही दिया, क्योकि हम अपनी लडाई विलकुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज ऊँचा रहे और हम जनता असर डाल सके। मगर पोशीदगी से भी ज्यादा काम नही चल सकता। केन्द्र मे, न्तो मे और स्थानीय हलको मे हमारे सब बडे-बडे स्त्री-पुरुष तो गिरफ्तार होने- ले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता ? इस सूरत मे हमारे सामने एक ही रास्ता ा, जिस तरह जग करती हुई फौज मे होता है, कि पुराने सेना-नायको के हटते ही नये ना-नायक बनाने की व्यवस्था करना। लडाई के मैदान मे बैठकर कमिटियो की बैठके रना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव मे, कभी-कभी हमने ऐसा किया भी था, गर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमिटी एक-साथ गरफ्तार हो जाती। हमे यह भी सुभीता नही था कि लडनेवाली लाइनो के पीछे जनरल टाफ सुरक्षित बैठा रहता, या कही दूसरी जगह और भी ज्यादा हिफाजत से मुल्की त्रि-मडल बैठा रहता। यह लडाई ही इस तरह की थी कि हमारे कर्मचारियो और त्रि-मण्डलो को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहो मे रखना पडता था, और तो सब शुरू मे ही गिरफ्तार कर लिये गये। और हमने अपने 'डिक्टेटरो' को भी या सत्ता देदी थी ? राष्ट्रीय सग्राम चलाने को दृढ निश्चय के सकेत-रूप मे उन्हे ह सम्मान दिया जाता था। मगर असल मे तो उन्हे ज्यादातर खुद जेल मे चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जबकि किसी बडी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमिटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिग नही कर सकती थी, और जब या जहा उस कमिटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर को जो कुछ भी सत्ता थी वह अपने-आप नही रहती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या उसूल के बारे मे कुछ फैसला नही कर सकता था, वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातो के विषय मे ही कुछ कर सकता था। कांग्रेस की 'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव मे जेल पहुचने की सीढी थी। और रोज-ब-रोज वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह, अपनी आखिरी तैयारियां करके, अहमदाबाद मे हमने अ० भा० [illegible] कमिटी के अपने साथियो से विदा मागी, क्योकि यह किसीको मालूम न था कि [illegible] कब और कैसे इकट्ठे हो सकेगे, या इकट्ठे हो भी सकेगे या नही। हम [illegible] जगहो पर जाकर अ० भा० का० कमिटी की हिदायतो के मुताबिक [illegible] सूबो के इन्तजाम को आखिरी तौर पर ठीक-ठीक करने और, जैसा कि

सरोजिनी नायडू ने कहा, जल-यात्रा के लिए बिस्तर बाधने को जल्दी-जल्दी चल...

लौटते वक्त पिताजी और मैं गाधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्रि... साथ जम्बूसर मे थे। वहा हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे, और फिर वह अपने ... साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पडाव के लिए पैदल चल पडे। वह हाथ मे डण्डा लिए अपने अनुयायियो के आगे-आगे, जा रहे थे। उनके कदम मजबूत थे और ... चेहरा शान्तिपूर्ण किन्तु निर्भयता लिये हुए था। इस तरह उस समय मैंने ... आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर मे मेरे पिताजी ने गाधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देगे, और उसका नाम बदल स्वराज-भवन रख देगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होने इसकी घोषणा कर दी, ... कॉग्रेसवालो को उसका कब्जा भी दे दिया। उस बडे मकान का एक हिस्सा अस्पता... बना दिया गया। उस वक्त तो वह उसकी कानूनी कार्रवाई पूरी न कर सके, पर ... साल बाद मैंने उनकी इच्छा के मुताबिक उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गाधीजी समुद्र-तट पर पहुँच गये और हम नमक-कानून ... तोडकर सविनय भग करने की उनकी हिदायत का इन्तजार करने लगे। कई महीनो से हम अपने स्वयसेवको को क्वायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और ... (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमे शामिल हो गई थी और उन्होने इस काम के लिए मर्दाना ड्रेस पहन लिया था। स्वयसेवको के पास कोई भी हथियार, लाठिया तक न था। उनको तालीम देने का मकसद यह था कि वे अपने काम मे ज्यादा ... और कुशल हो जायँ और बडी-बडी भीडो को नियत्रण मे रख सके। राष्ट्रीय सप्ताह १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियाँवाला बाग तक की घटनाओ की यादगार मे, हर साल मनाया जाता है, और ६ अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इस दिन गाधीजी ने दाडी मे समुद्र के किनारे नमक-कानून को तोडा, और तीन-चार दिन बाद सारे काग्रेस-सगठनो को इजाजत दे दी गई कि वे भी नमक-कानून तोडे और अपने-अपने क्षेत्र मे सविनय भग शुरू करे।

ऐसा मालूम हुआ कि कोई बटन अचानक दबा दिया गया, और सारे देश मे शहरो मे और गाँवो मे, जिधर देखो रोज नमक बनाने की ही चर्चा थी। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबे निकाली गई। इस बारे मे हमारी जानकारी बहुत ही थोडी थी, इसलिए जहाँ इस बारे मे कुछ भी लिखा मिला वह हमने ... ा, और इस बाबत हिदायते देने के लिए कई पत्रिकाये प्रकाशित की, और ... डाइयाँ इकट्ठी की और अन्त मे एक भद्दी-सी चीज बना ही डाली, जिसे ...

ड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते थे और अक्सर बहुत ऊँची कीमत पर नीलाम भी करते थे। वह चीज अच्छी है या बुरी, इसका तो सचमुच कोई महत्त्व न था, क्योकि खास चीज तो उस बेहूदे नमक-कानून को तोडना था। इसमे हम जरूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी खराब क्यो न हो। जब हमने देखा कि लोगो मे उत्साह उमड रहा है, और नमक बनाना जगली आग की तरह चारो तरफ फैल रहा है, तो हमे कुछ शर्म मालूम हुई, क्योकि जब गाधीजी ने इस तरीके की तजवीज पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी के बाबत शक किया था। हमे ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति मे लोगो पर असर डालने और उनसे सगठित रूप मे काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है!

मै १४ अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मै रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ्रेन्स मे शामिल होने के लिए रेलगाडी मे सवार हो रहा था। उसी दिन जेल मे मेरा मुकदमा भी हो गया, और मुझे नमक-कानून के मातहत छ महीने की सजा दी गई। अपनी गिरफ्तारी की सभावना से मैने (अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार) पहले ही मेरी गैरहाजिरी मे कॉंग्रेस के सभापति की जगह के लिए गाधीजी को नामजद कर दिया था, मगर, अगर वह मजूर न करे तो, मेरी दूसरी नामजदगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा खयाल था, गाधीजी राजी न हुए, और इसलिए पिताजी ही कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नही थी, फिर भी वह बडे जोर-शोर से लडाई मे कूद पडे। उन शुरू के महीनो मे उनके जबरदस्त सचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गई।

उन दिनो बडी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे—जुलूसो का निकलना, लाठी-प्रहारो का होना और गोलियॉं चलना, नामी-नामी आदमियो की गिरफ्तारियो पर अक्सर हडताले होना, पेशावर-दिवस, गढवाली-दिवस आदि का खास तौर पर मनाया जाना वगैरा। उस वक्त तो विदेशी कपडे और तमाम अग्रेजी माल का बहिष्कार पूरा-पूरा हो गया था। जब मैने सुना कि मेरी बूढी माताजी और बहने भी गर्मी की तेज धूप मे विदेशी कपडे की दूकानो के सामने धरना देने मे हिस्सा ले रही है, तो इसका मेरे दिल पर बडा गहरा असर हुआ। कमला ने भी इसमे भाग लिया। मगर उसने कुछ और ज्यादा भी किया। मेरा खयाल था कि कितने सालो से मै उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूँ मगर उसने इस आन्दोलन के लिए [illegible] जिस ने ऐसी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मै भी

दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नहीं की। कड़ी
दिन धूप में घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दि
मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी भी वहां मेरे पा
गये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी संगठन
की, कितनी ज्यादा कदर करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियां
धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे, मगर सिवा सिर्फ कभी-कभी
मना करने के उन्होंने उन्हें रोका नहीं।

उन शुरू के दिनों में जो खबरें हमारे पास आया करती थीं, उनमें से सबसे
खबर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमा-प्रान्त में होत
घटनायें थीं। हिन्दुस्तान में कहीं भी मशीन-गनों की गोलियों के सामने इस
अनुशासन-पूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत बताई जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उ
मगर सीमा-प्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्व रखती थी, क
पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर
थे। इन्हीं पठानों ने वह मिसाल कायम कर दी जो हिन्दुस्तान में अद्वितीय थी। न
प्रान्त में ही वह मशहूर घटना हुई जिसमें गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता
गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि सिपा
को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि लोग
उन्हें हमदर्दी थी। मगर सिर्फ हमदर्दी ही आम तौर पर सिपाही को अपने अफसर
हुकुम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नहीं कर सकती। क्योंकि इस
बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढ़वालियों ने यह बात शायद इसलिए की
उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टों को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल न
पाई) यह गलत खयाल हो गया था कि अंग्रेजों की हुकूमत तो अब जाने ही वा
है। जब सिपाहियों में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति अ
इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते हैं। शायद कुछ दिनों या हफ्ता त
आम हलचल और सविनय-भंग से लोगों में यह खयाल पैदा हो गया था कि
अंग्रेजी हुकूमत के आखिरी दिन आ गये हैं, और इसका असर कुछ फौज पर भी पड़ा
मगर जल्दी ही यह भी जाहिर हो गया कि निकट-भविष्य में ऐसा होने की सूरत नह
है, और फिर फौज में हुकुम-उदूली नहीं हुई। फिर तो इस बात का भी खयाल रखा
गया कि सिपाहियों को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।

दिनों बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुईं, मगर सबसे ज्यादा ताज्जुब की बा
का राष्ट्रीय संग्राम में हिस्सा लेना। स्त्रियां बड़ी तादाद में अपने घर के

घरो से बाहर निकल आई, और हालाकि उन्हे सार्वजनिक कार्यो का अभ्यास न था फिर भी वे लडाई मे पूरी तरह कूद पडी। विदेशी कपडे और शराब की दुकानो पर धरना देने का काम तो उन्होने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरो मे सिर्फ स्त्रियो के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आम तौर पर स्त्रियाँ पुरुषो की निस्बत ज्यादा मजबूत साबित हुई। अक्सर प्रान्तो मे या स्थानीय क्षेत्रो मे वे कांग्रेस-'डिक्टेटर' भी बनती थी।

अकेला नमक-कानून ही नही तोडा गया बल्कि दूसरी दिशाओ मे भी सविनय-भग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेन्सो के, जिनमे कई कामो की मुमानियत की गई थी, निकाले जाने से भी इस काम मे मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और मुमानियते बढती गई, वैसे-वैसे उन्हे तोडने के मौके भी बढते गये। और सविनय भग की यह शक्ल हो गई कि आर्डिनेन्स से जिस काम की मुमानियत की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात करना निश्चित रूप से कांग्रेस और लोगो के हाथ मे रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्नमेण्ट की निगाह मे परिस्थिति न सम्हली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुकाबिले मे कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए, ऐसी हिदायते जारी करती थी। इन हिदायतो पर देश मे आश्चर्यजनक समानता से अमल होता था। हाँ, अलबत्ता, अखबारो के प्रकाशन-सम्बन्धी हिदायत पर पूरा अमल नही हुआ।

जब प्रेस को ज्यादा नियन्त्रित करने और अखबारो से जमानत माँगने के बारे मे आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय अखबारो से यह कहा कि वे जमानत देने से इनकार कर दे और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दे। अखबारवालो के लिए तो यह एक कडवी घूँट थी, क्योकि उसी समय तो लोगो मे खबरो की बहुत ज्यादा माग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अखबारो को छोडकर ज्यादातर अखबारो ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह-तरह की अफवाहे फैलने लगी। मगर वे ज्यादा वक्त तक न टिक सके, प्रलोभन बहुत भारी था, और अपना धन्धा नरम-दल के अखबार छीने लिये जा रहे है यह खयाल उन्हे बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमे से ज्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गांधीजी ५ मई को गिरफ्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद

समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारखानो और गोदामो पर धावे कि
इन धावो मे पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनाये हुईं। उन दिनो भारी
हडतालो, जुलूसो और लाठी-प्रहारो के कारण बम्बई सबमे ज्यादा प्रसिद्ध हो
था। इन लाठी-प्रहारो के घायलो के इलाज के लिए कई आरजी अस्पताल कायम
गये थे। बम्बई मे कई बाते ऐसी हुई जो मार्के की थी, और बडा शहर होने
कारण बम्बई मे प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे कस्बो और देहाती हिस्सा
ऐसी ही बाते हुईं, मगर वे सब प्रकाश मे न आ पाई।

जून के अन्त मे मेरे पिताजी बबई गये, और उनके साथ माताजी और कमला
गईं। उनका बडा स्वागत किया गया। जब वह वहाँ ठहरे हुए थे, तभी कुछ
जबरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव मे, यह तो बम्बई मे मामूली बात-सी हो गई थी
करीब दो हफ्ते बाद ही वहाँ सारी रात एक असाधारण अग्नि-परीक्षा हुई, जब
मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बडी भारी भीड के साथ पुलिस
सामने, जिसने कि उनका रास्ता रोक रक्खा था, सारी रात डटे रहे।

बम्बई से लौटने पर ३० जून को पिताजी गिरफ्तार कर लिये गये, और उन
साथ सैयदमहमूद भी पकडे गये। वे कार्य-समिति के, जो गैरकानूनी करार दे दी
थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मत्री की हैसियत से गिरफ्तार हुए। दोनो को छः
महीने की सजा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ्तारी शायद एक बयान प्रकाशित क
पर हुई थी, जिसमे उन्होने सैनिको या पुलिसमैनो को निहत्थी जनता पर गोली चल
की आज्ञा मिलने की सूरत मे उनका क्या फर्ज है यह बताया था। यह बयान
कानूनी था, और उसमे बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डियन कानून मे
बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भडकानेवाला और खतरनाक समझा ग

बबई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पडी। बडे सवेरे से बहुत
तक उन्हे काम करना पडता था और हर जरूरी काम का फैसला उन्हे ही क
पडता था। वह बहुत दिनो से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल ही थक
लौटे, और अपने डाक्टरो की जरूरी सलाह से उन्होने फौरन पूरी तरह आराम
का फैसला कर लिया। उन्होने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वगैरा
लिया, मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही
नैनी सेन्ट्रल जेल की हमारी बैरक मे हमारे सामने आ पहुचे।

३०

नैनी-जेल में

मैं करीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ-कुछ धुधली हो गई थी। मै नैनी सेण्ट्रल जेल मे रक्खा गया था, जोकि प्रान्त का एक बडा जेलखाना है। वहाँ मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बडे अहाते से, जिसमे कि २२०० या २३०० कैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एकसौ फीट था और जिसके चारो तरफ करीब पद्रह फीट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचोबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमे चार कोठरिया थी। मुझे इनमे से दो कोठरिया, जो एक-दूसरे से मिली हुई थी, दी गई। एक मे नहाने-धोने वगैरा की जगह थी। दूसरी कोठरियाँ कुछ वक्त तक खाली रही।

मेरे बाहर के विक्षोभ और सक्रिय जीवन के बाद, यहाँ मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मै इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मै बहुत सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तग जगह मे, खुले मे सोने की इजाजत मिल गई थी। मेरा पलग भारी-भारी जजीरो से कस दिया गया था, ताकि मै कही उसे लेकर भाग न जाऊँ, या शायद इसलिए कि पलग कही अहाते की दीवार पर चढने की सीढी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाजे आया करती थी। खास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाजे लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लबी आवाजे लगाते थे जो जगल मे दूर पर चलती हुई तेज हवा के कहराने की-सी आवाज मालूम होती थी। बैरको के अन्दर से चौकीदार बराबर जोर-जोर से अपने कैदियो को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात मे कई बार कोई-न-कोई जेल-अफसर अपना राउण्ड लगाता हुआ हमारे अहाते मे भी आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे हाल-चाल पूछता था। चूकि मेरा अहाता दूसरे अहातो से कुछ दूर था, ये आवाजे ज्यादातर साफ सुनाई न देती थी, और पहले-पहल मै समझ न सका कि ये क्या है। पहले-पहल तो मुझे ऐसा लगा कि मै किसी जगल के पास हूँ और किसान [illegible] अपने खेतो से जगली जानवरो को भगाने के लिए चिल्ला रहे है और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो रात को [illegible] के जानवर सब [illegible] आवाज लगा रहे है।

मैं सोचता हूँ कि आया यह मेरा महज खयाल ही है, या यह सचाई है चोकोनी दीवार की बनिस्वत गोलाईदार दीवार में आदमी को अपने कैद होने ज्यादा भान होता है ? कोनो और मोडो के न होने से यह भाव हमारे मन में भी बढ जाता है, कि हम यहाँ दबाये जा रहे हैं। दिन के वक्त वह दीवार आ को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हे नीले वितान पर
जिसे कहे बदी आकाश—
उडते हुए मेघ-खडो पर
जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास, [१]

अपनी उदास और चिन्तित निगाह डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे भी ज्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएँ के तले में कभी-कभी तारो से भरा हुआ आस्मान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता था मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल का एक हि लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आम तौर पर, सारे जेल में कुत्ताघर कहलाता था यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक नहीं था। यह छोटी बैरक सबसे अलग, इसलिए बनाई गई थी कि इसमें खास तौर पर खतरनाक अपराधी, जि अलग रखने की जरूरत हो, रक्खे जायँ। बाद में वह राजनैतिक कैदियो, नज बन्दो वगैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जोकि यहाँ सारे जेल से अल रक्खे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूरी पर एक ऐसी चीज थी जिसे पहले-पह अपनी बैरक से देखकर मुझे बडा धक्का-सा लगा। वह एक बडा भारी पिजरा-सा था जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि य पानी खीचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमें एकसाथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज मामूली हो जाती है। इसीलिए मैं भी उसके देखने का आदी हो गया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खता-पूर्ण और जगली तरीका मालूम हुआ है, और जब कभी मैं उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शिनी की याद आ जाती।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

'Upon that little tent of blue
Which prisoners call the sky,
And at every drifting cloud that went
With sails of silver by"

कुछ दिनो तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर ाने की इजाजत न मिली। बाद मे मुझे बडे सवेरे, जबकि प्राय अँधेरा ही रहता था, ाधा घटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड गाने की इजाजत मिल गई। यह बडो सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजवीज किया या था कि मै दूसरे कैदियो के सम्पर्क मे न आ सकूँ, या वे मुझे देख न ले। मुझे उस मय बडी तरो-ताजगी आ जाती थी। मुझे मिले हुए इस थोडे-से वक्त से ज्यादा-से-यादा खुला व्यायाम करने की गरज से मै दौड लगाया करता था। दौड के अभ्यास ो मैने धीरे-धीरे बढा लिया था, और मै रोज दो मील से ज्यादा दौड लिया करता था।

मै सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढे तीन बजे ही जबकि बिलकुल अँधेरा हना था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, योकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज्यादा पढने के लिए ठीक नही थी। मुझे तारो ो देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारा-गण की स्थिति देखकर मुझे मय का अन्दाज हो जाता था। जहाँ मै लेटता था वहाँ से मुझे ध्रुवतारा दीवार के पर झाँकता हुआ दिखाई देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके ारो तरफ का आस्मान गोल चक्कर काटता था, मगर वह वही कायम था। वह झे प्रसन्नता-पूर्ण अचलता और दृढता का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मै अकेला नही था, योकि मेरे अहाते मे वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफाई करने-ाला एक कैदी था। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे कैदी, ज्यादातर कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सजाये भुगत रहे थे, आ जाते थे। नमे जन्म-कैदी, आजीवन सजा पाये हुए कैदी, ज्यादा थे। आम तौर पर समझा ाता था कि जन्म-कैद बीस साल या कम मे खत्म हो जाती है, मगर जेल मे ऐसे हुत कैदी थे जिन्हे बीस साल से भी ज्यादा हो गये थे। नैनी मे मैने एक बडी अजीब मिसाल देखी। कैदियो के कन्धो पर कपडो मे लगी हुई लकडी की एक पट्टी रहती है, जिनमे उनकी सजाओ का हाल और रिहाई की तारीख लिखी रहती है। एक कैदी की पट्टी पर मैने पढा कि उसकी रिहाई १९९६ मे होगी। १९३० मे ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड था। शायद उसे कई सजाये दी गई थीं और वे सब एक के बाद एक जोड दी गई थीं। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सजा थी।

बरसों बीत जाते हैं और कई जन्म-कैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवर को भी नहीं देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और

कोई मानवी सम्पर्क नहीं रहता। वे मन-ही-मन हमेशा कुछ घुटघुटाया करते हैं, उनका दिमाग भय, बदले और नफरत के रोगपूर्ण विचारों से भर जाता है दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते हैं, और सिर्फ बुरा जीवन बिताते हैं। फिर धीरे-धीरे उनमें से नफरत की तेजी चली जाती और जीवन एक जड यन्त्रवत् बन जाता है। अपने-आप चलनेवाले यन्त्रों की वे अपने दिन गुजारते हैं, जोकि सब बिलकुल एक-से ही गुज़रते हैं। उन भय के सिवा और कोई भावना भी नहीं होती। वक्तन-फवक्तन कैदियों की और नाप होता है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तोलना है? लोग मौत की के खिलाफ दलीलें देते हैं और वे मुझे बहुत जँचती हैं। मगर जब मैं जेल का यातना-पूर्ण जीवन देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के तो मौत की सजा ही अच्छी है। एक दफा एक जन्म-कैदी मेरे पास आकर मुझसे लगा—"हम जन्म-कैदियों का क्या होगा? क्या स्वराज हमें इस नरक में से निकाल दे

और ये जन्म-कैदी कौन होते हैं? इनमें से बहुतेरे तो मजमूई मुकदमों में हैं, जिनमें कि बहुत लोगों को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों एक-साथ सजायें होती हैं। इनमें कई तो शायद कुसूरवार होते हैं, मगर ज्याद लोग सचमुच कुसूरवार होते हैं इसमें मुझे सन्देह है। ऐसे मुकदमों में लोगों को देना बड़ा आसान है। किसी मुखबिर की शहादत और थोडी शनाख्त हो चाहिए, बस इतना ही जरूरी है। आजकल डकैतियाँ बढ रही हैं, और जेल आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है। जबकि लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे करें? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर कहते नहीं थकते। म उनकी निगाह जाहिरा आर्थिक कारणों पर नहीं जाती।

इनके अलावा काश्तकार लोग आते हैं। किसी जमीन के टुकड़े की बाबत में झगड़ा हो जाता है, लाठियाँ चल जाती हैं, और कोई मर जाता है—नतीजा होता है कि जन्मभर या लंबी मियादों के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष कैद कर दिये जाते हैं और पीछे स्त्रियाँ रह जाती जो जैसे-तैसे करके पेट पालती हैं। इनमें एक भी व्यक्ति जरायम-पेशा नहीं होता साधारणतः ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक, ग्रा ग्रामीणों से कहीं ऊपर उठे हुए, होते हैं। यदि इन्हें थोडी तालीम मिले, और उन [illegible]र कामों की तरफ इनकी रुचि थोडी बदल दी जाय, तो यही लोग देश [illegible]न बन सकते हैं।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलों में पक्के मुजरिम भी है, जिनमें सामाजिकता के भाव नहीं होते हैं और जो समाज के लिए बहुत खतरनाक हैं। मगर मुझे जेल में ऐसे कितने ही और आदमी बहुत मिले है जो अच्छे नमूने के थे और जिनपर मैं बिला झिझक विश्वास कर सकता हूं। मुझे यह नहीं मालूम कि असली जरायमपेशा और गैर-जरायमपेशा कैदी कितने-कितने अनुपात में है, और शायद इस तरह विभाजन करने का खयाल तक जेल-महकमे में किसीको नहीं आया होगा। न्यूयार्क के सिंगसिंग-जेल के वार्डन लीविस ई० लावेज ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आँकड़े दिये हैं। वह अपने जेल के कैदियों के बारे में कहता है कि मेरी राय में ५० फीसदी तो बिलकुल जरायम-मनोवृत्ति के नहीं है, २५ फीसदी परिस्थितियों और मजबूरियों के कारण अपराधी बने हैं, और बाकी २५ फीसदी में से शायद आधे, यानी १२½ फीसदी, ही समाज में न रहने लायक हैं। यह तो सभी जानते हैं कि असली अपराधी-वृत्ति बड़े शहरों और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में ज्यादा होती है, और पिछड़े हुए इलाकों में कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियाँ तो मशहूर है, और सिंगसिंग-जेल भी खास तौर पर मशहूर है, जहाँ कुछ भयंकर-से-भयंकर मुजरिम भेजे जाते हैं। मगर, उसके वार्डन की राय के मुताबिक, उसके सिर्फ १२½ फीसदी कैदी ही सचमुच बुरे हैं। मेरे खयाल से यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलों में तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोड़ी और अच्छी हो जाय, लोगों को रोजगार कुछ ज्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ़ जाय तो हमारी जेलें खाली की जा सकती हैं। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए एक बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, जरूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है— हिन्दुस्तान में पुलिस की तादाद और जेलों का बढ़ाना। हिन्दुस्तान में कितनी तादाद में लोग जेल भेजे जाते हैं, यह देखकर सिर ठनकने लगता है। अखिल-भारतीय कैदी-सहायक समिति के मंत्री की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है कि १९३३ में सिर्फ बम्बई प्रान्त में ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बंगाल की संख्या १,८,००० थी।[1] मुझे सब प्रान्तों के आंकड़े तो मालूम नहीं किन्तु यदि दो प्रान्तों का जोड़ ढाई लाख है, तो बहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड़ करीब दस लाख तो होगा। मगर इसे वास्तव में जेल में हमेशा रहनेवालों की तादाद नहीं समझने क्योंकि बहुत लोगों को तो थोड़ी-थोड़ी सजायें मिलती हैं। रोज़ जेल में रहनेवालों की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बड़ा

[1] 'स्टेट्समैन', ११ दिसम्बर, सन् १९३४।

भारी सख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ बडे प्रान्तो की जेल-व्यवस्था ससार की सबसे वडी जेल-व्यवस्था समझी जाती है। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तो मे माना जाता है जिसे यह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है। और, बहुत सभव, ससार का सवसे पिछडा हुआ और प्रतिगामी प्रबन्ध है या था। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता करने की कुछ भी कोशिश नही की जाती है। युक्तप्रान्त का जेल-प्रबन्ध जिस बात मे बढ़ा-चढा है वह है, अपने कैदियो को सुरक्षित रखना। वहां भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हजार मे से शायद ही एकाध कोई भागने मे सफल होता होगा।

जेलखानो की एक निहायत दु ख-जनक बात है, वहां १५ साल या इससे कम उम्र के लडको का वडी तादाद मे होना। इनमे से ज्यादातर तो तेज़ और होशियार दिखनेवाले लडके होते है, कि जो अगर मौका मिले तो वडी आसानी से अच्छे हो सकते है। कुछ अर्से से इन्हे मामूली पढना-लिखना सिखाने की कुछ शुरुआत की गई है, मगर, जैसा कि हमेशा होता है, वह बिलकुल ही नाकाफी और बेकार है। खेल-कूद या दिल-वहलाव का बहुत-कम मौका आता होगा, किसी किस्म के न अखबार की इजाजत नही है, और न किताबे पढने का प्रोत्साहन दिया जाता है। बारह घण्टे या इससे भी ज्यादा देर तक सब कैदियो को उनकी बैरको या कोठरियो मे ताले मे वन्द रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शाम का वक्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नही रहता।

मुलाकाते तीन महीने मे एक दफा हो सकती है, और यही खतो का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है। इसपर भी, कई कैदी तो इससे भी लाभ नही उठा सकते। अगर वे बे-पढे होते है, जैसाकि ज्यादातर होते ही है, तो किसी जेल-अफसर से ही चिट्ठी लिखवाते है, और ये लोग चूँकि अपना काम [illegible] बढाना नही चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते है, अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नही दिया जाता, और वह ठिकाने पर नही पहुचती। मुलाकात करना तो और भी मुश्किल है। करीब-करीब, अनिवार्य रूप से, किसी-न-किसी-जेल कर्मचारी को कुछ नजराना-शुक्रियाना देने से ही मुलाकात हो सकती है। अक्सर कैदी दूसरे-दूसरे जेलो मे बदल दिये जाते है, और उनके घर के लोगो को उनका पता नही लगता। मुझे कई ऐसे कैदी मिले है, जिनका ताल्लुक अपने परिवार से [illegible] [illegible] था, और उन्हे मालूम नही था कि उनका क्या हुआ। तीन या [illegible] बाद जब मुलाकाते होती भी है तो वे अजीब तरह मे होती है। [illegible]

। तरफ आमने-सामने बहुत-से कैदी और उनके मुलाकाती खडे कर दिये जाते है, वे सब एक-साथ बात-चीत करने की कोशिश करते है। एक-दूसरे से बहुत जोर चल्ला-चिल्लाकर बोलना पडता है, और मुलाकात मे जो थोडा-बहुत मानवी- र्क हो सकता है वह भी नही रहता।

हजार मे से किसी एकाध कैदी को (यूरोपियनो को छोडकर) अच्छा खाना ने या जल्दी-जल्दी मुलाकात करने या खत लिखने की खास सुविधा भी मिल ी है। राजनैतिक आन्दोलनो मे, जबकि लाखो राजनैतिक कैदी जेल जाते है, इन प दर्जे के कैदियो की तादाद कुछ थोडी-सी बढ जाती है, मगर फिर भी वह बहुत ी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष कैदियो मे से ९५ फीसदी कैदियो ाथ मामूली ढग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हे ऐसी सुविधाये भी मिलती।

कई व्यक्ति, जिन्हे क्रान्तिकारी हलचलो के कारण आजन्म या लम्बी सजाये दी ी है, लम्बे अर्से तक तनहाई कोठरियो मे रक्खे जाते है। मेरा खयाल है कि पी० मे तो ऐसे सब व्यक्ति आम तौर पर सीधे तनहाई कोठरियो मे बन्द रक्खे ा है। यो तो तनहाई जेल के किसी कुसूर के लिए सजा के तौर पर ही दी जाती है, र इन लोगो को तो, जो आम तौर पर नवयुवक होते है, शुरू मे तनहाई मे ही रक्खा ा है, चाहे उनका बर्ताव जेल मे बहुत अच्छा ही क्यो न हो। इस तरह अदालत सजा के अलावा, जेल महकमा उसमे बगैर किसी सबब के एक और भयकर सजा ा देता है। यह बडी असाधारण बात है, और कानून की किसी दफा के अनुसार नही थोडे वक्त के लिए भी तनहाई मे बन्द रक्खा जाना एक बडी दर्दनाक बात है, र जब यह बरसो तक रहे तब तो कितनी खतरनाक हो जाती है! इसमे मस्तिष्क शक्ति धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, जो अन्त मे पागलपन की हद तक प जाती है, और कैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता। यह मनुष्य की स्पिरिट को धीमे-धीमे खत्म करना या उसकी आत्मा को धीरे- र [illegible] करना है। अगर आदमी जिन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव [illegible] के लिए बे-काज बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही

ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी खत और मुलाकात की छूट दी जाती है। हर हफ्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातों के सम्पर्क में रहते हैं। पादरी उनके लिए सचित्र और हँसी-मजाक के विदेशी अखबार ले जाता है। जब जरूरत होती है तब उनके घरवालों से खतो-किताबत करता रहता है।

यूरोपियन कैदियों को ये सुविधायें क्यों मिली है इसकी किसीको शिकायत नहीं है, क्योंकि उनकी तादाद थोडी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—कैदियों के व्यवहार में मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर जरूर रंज होता है। कैदी का व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नही समझा जाता और इसलिए उसके साथ वर्ताव भी नही किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का नुपिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना काम करता रहता है, और उसकी पकड में जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के कायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए खास तौर पर बनाये गये हैं। भावना-शील स्त्री या पुरुष यहाँ आते हैं, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीडा प्रतीत होता है। मैंने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के कैदी जेल की उदासी से ऊबकर फूट-फूटकर बच्चे की तरह रोने लगते हैं, सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोडे-से शब्दो से, जोकि इस वातावरण में बहुत दुर्लभ होते हैं, उनके चेहरे खुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते हैं।

इतना होने पर भी, कैदियो मे एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखाई देते थे। एक बार एक अन्धा दुबारा तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहाँ न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी कैदी उसकी इमदाद करना चाहते थे, लेकिन वे ज्यादा नही कर सकते थे। एक ने जेल-दफ्तर मे जमा की हुई अपनी कमीज दी, दूसरे ने कोई और कपडा दिया। एक तीसरे को उसी दिन नई चप्पल की जोडी मिली थी, जिसे उसने कुछ अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल में यह चीज मिलना बडी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अन्धा नंगे-पैर बाहर जा रहा है तो उसने खुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैंने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज्यादा दानशीलता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गांधीजी की सारे राष्ट्र मे स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति मे एक मोहनी-सी मालूम होती थी ... के बारे मे जो बात गोखले ने कही थी वह हमें याद आई—उनमें मिट्टी ...

रमा बना लेने की ताकत है। शान्ति-पूर्ण सविनय भंग महान् राष्ट्रीय उद्देशों को पूर्ण रने के लिए, लडाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह से, काम में आ सकता है, यह ात सच मालूम हुई। और देश में, मित्रों और विरोधियों दोनों को, बिलकुल भरोसा-ा होने लगा कि हम कामयाबी की तरफ जा रहे हैं। आन्दोलन में क्रियात्मक रूप से ाम करनेवालों में एक अजीब उत्साह भर गया, और थोडा-थोडा जेल के भीतर भी ा पहुँचा। मामूली कैदी भी कहते थे कि "**स्वराज** आ रहा है।" और इस उम्मीद कि उससे उन्हें भी कुछ फायदा हो जायगा, वे आतुरता से उसका इन्तज़ार करते । बाजार की बात-चीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि **स्वराज** जदीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफसर कुछ और घबराहट में पड गये।

जेल में हमें दैनिक अखबार नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक खबार से हमें कुछ खबरें मिल जाया करती थीं, और ये खबरें ही अक्सर हमारी ल्पनाओं को तेज कर दिया करती थीं। रोजाना लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन ोली चलना, शोलापुर में फौजी कानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झण्डा ले जाने के ए ही दस साल की सजा दी गई थी, ऐसी खबरें आती थीं। सारे देश में हमें अपने ोगों, खासकर स्त्रियों, पर बडा अभिमान होने लगा। मुझे तो मेरी माताजी, पत्नी ौर बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनों और महिला-मित्रों के कार्यों के कारण विशेष न्तोष हुआ। और हालाँकि मैं उनसे दूर था, और जेल में था, फिर भी मुझे ऐसा गा कि हम सब एक ही महान् कार्य में साथ-साथ कार्य करने के नये नाते में एक-ूसरे के बहुत नजदीक आ गये हैं। परिवार तो उनसे भी बडे समुदाय में ऐसा मालूम ोने लगा मानो लुप्त हो गया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता नी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया, क्योंकि उसकी क्रिया-शीलता ौर उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए ा यह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चंगी बनी रही।

जिस वक्त बाहर दूसरे लोग खतरे का मुकाबिला कर रहे हैं, और कष्ट उठा रहे हैं, उस वक्त मैं जेल में आराम से समय बिता रहा हूँ, यह खयाल मुझे दिक करने ला। मैं बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नहीं जा सकता था। इसलिए मैंने [illegible] जीवन बडा सख्त, कार्यमय, बना लिया। मैं अपने चर्खे पर रोजाना करीब [illegible] पूनी [illegible] था। इसके अलावा दो या तीन घंटे मैं निवाड बुनता, जो मैंने [illegible] ने खास तौर पर माँग ली थी। मैं इन कामों को पसन्द करता था। [illegible] और [illegible] न [illegible] होती थी और [illegible]

[illegible] मैं बहुत [illegible]

था, या सफाई करने या कपडे धोने वगैरा मे लगा रहता था । मैं मशक्कत खुशी से ही करता था, क्योकि मुझे 'सादी' सजा मिली थी ।

इस तरह, बाहर की घटनाओ और अपने जेल-कार्यक्रम का विचार करते मैं नैनी-जेल मे अपने दिन गुजारने लगा । हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली कर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान मे अग्रेजी सरकार की प्रणाली से मिलती है । सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का कब्जा मजबूत होता है मगर जिसमे देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत कम या बिलकुल नही, की जाती है । ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रबन्ध सुचारु रूप से हो रहा है और यह किसी हद तक ठीक भी है । मगर शायद कोई यह खयाल नही करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए, उसमे आनेवाले लोगो को सुधारना और उनकी सहायता करना । यहाँ तो बस यह खयाल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकले तबतक उनमे ज़रा भी हिम्मत बाकी न रहे । और जेल का प्रबन्ध-सञ्चालन किस तरह होता है, कैदियो को कैसे काबू मे रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है ? यह सब ज्यादातर कैदियो की सहायता से ही होता है । कैदियो मे से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डबल्यू०) या कनविक्ट-ओवरसियर (सी० ओ०) बना दिये जाते है, और वे खौफ से या इनामो या छूट के प्रलोभन से अधिकारियो के साथ सहयोग करने लगते है । तनख्वाहदार गैर-कनविक्ट-वार्डर वैसे थोडे ही होते है । जेल के अन्दर की ज्यादातर हिफाजत और चौकीदारी कनविक्ट-वार्डर और सी० ओ० ही करते है । जेल मे मुखबिरी का भी खूब जोर रहता है । कैदियो को एक-दूसरे की चुगली और मुखबिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और कैदियो को एका करने या कोई भी सयुक्त कार्य करने की तो इजाज़त ही नही रहती है । यह सब आसानी से समझ मे आ सकता है, क्योकि उनमे फूट रखने से ही वे काबू मे रक्खे जा सकते है ।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन मे भी, यही प्रणाली एक व्यापक लेकिन कम जाहिर रूप मे दिखाई देती है । मगर यहाँ सी० डब्ल्यू० और सी० ओ० लोगो का नाम बदल गया है । उनके बडे-बडे शानदार नाम है, और उनकी वर्दियाँ ज्यादा तडक-भडकदार है । और अपने तर्ज की पाबन्दी के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है ।

आधुनिक राज्यो के लिए जेलखाना कितना जरूरी और लाजिमी है ? [illegible] तो यही सोचने लगता है । सरकार के प्रबन्ध आदि विषयक विविध [illegible] , पुलिस और फौज के मौलिक कार्यों के मुकाबिले मे थोथे मालूम होने लगे

। जेल मे आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की कदर करने लगता है, कि राज्य तो ास्तव मे उस दल की, कि जिसके हाथ मे शासन है, इच्छा को कार्यान्वित करने का ,क वल-प्रयोजक साधन है ।

एक महीने तक तो मैं अपनी बैरक मे अकेला ही रहा। फिर एक साथी— र्मदाप्रसादसिह—आ गये, और उनके मिलने से बडी राहत मिली। इसके ढाई महीने ाद, जून १९३० की आखिरी तारीख को, हमारे अहाते मे असाधारण खलबली मच ई। अचानक बडे सवेरे मेरे पिताजी और डॉ० सैयदमहमूद वहाँ लाये गये। वे ोनो आनन्द-भवन मे, जबकि अपने बिस्तरो मे सोये हुए थे, गिरफ्तार किये गये थे।

३१

यरवडा में संधि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्यसमि गैर-कानूनी करार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई—यदि कमि अपनी मीटिंग करे तो सब-के सब मेम्बर एकसाथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसी कार्यवाहक सभापतियों को जो अख्त्यार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थाना मेम्बर उसमें और जोडे गये और इस सिलसिले मे कई स्त्रियाँ भी मेम्बर बना कमला भी उनमे थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और जि हालात में वहाँ रक्खे गये थे उनमे उन्हे बडी तकलीफ थी। सरकार ने जान-बूझ यह स्थिति पैदा नही की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ से तो उनकी तकलीफ करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल मे वह अधिक नही कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियों मे हम चार आदमिया एक-साथ रख दिया गया। जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को कि दूसरी जगह रख दे, जहाँ उन्हे कुछ ज्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगों ने ए साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल सकते थे।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की जमीन मुश्किल से सू रहती थी, क्योंकि छतसे पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के रोज यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छो बरामदे मे, जो १० फीट लम्बा और ५ फीट चौडा था, कहाँ लगाया जाय, जि पानी से बचाव हो सके? कभी-कभी उन्हे बुखार आ जाता था। आखिर अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बडा बरामदा बनव तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज्यादा आराम भी मिलता, म पिताजी को उसका कुछ फायदा न मिला, क्योंकि उसके तैयार होने के बाद ही उन्हे रिहा कर दिया गया। तब हममे से जो लोग वहा पीछे रह गये थे उन ने उससे पूरा फायदा उठाया।

जुलाई के अखीर-अखीर मे यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेजबहादुर जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे है कि कांग्रेस और सरकार के

सुलह हो जाय। हमने यह खबर एक दैनिक अखबार मे पढी जो पिताजी को खास तौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमे हमने वह सारी खतो-किताबत पढी जो वाइसराय लार्ड अर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुई थी। और बाद मे हमे यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गाधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ मे यह नही आता था कि आखिर इनको सुलह की इतनी क्यो पडी है, या ये इमसे क्या नतीजा निकालना चाहते है ? बाद को हमे उनसे मालूम हुआ कि उन्हे इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होने बम्बई मे अपनी गिरफ्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब का (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के सवाददाता, जो उन दिनो हिन्दुस्तान मे थे) बनाया हुआ था, जो पिताजी से बातचीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य[1] मे यह बताया गया था कि अगर सरकार कुछ शर्ते मान ले तो सम्भव है कि कॉग्रेस सत्याग्रह को वापस ले ले।

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमे भी यह साफ कह दिया गया था कि उन अस्पष्ट शर्तो पर भी तबतक विचार नही किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गाधीजी और मुझसे मशवरा न करले। मुझसे जरूरत इसलिए पडती

१. यह वक्तव्य २५ जून १९३० को दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतों में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार, हालांकि इसका पहले से अन्दाज नहीं किया जा सकता कि गोल-मेज-कान्फ्रेन्स अपनी खुशी से क्या सिफ़ारिशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफारिशों के बारे में क्या रुख रहेगा, खानगी तौर पर यह आश्वासन दें या किसी तीसरे जिम्मेदार शख्स के मार्फत यह इशारा मिले कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा कि हम भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करेंगे, बशर्ते कि दोनों में आपसी घटा-बढी से काम लिया जाय और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें तय हों जो हिन्दुस्तान की खास जरूरतों और अवस्थाओं के लिए और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण जरूरी हों और जिनका निर्णय गोलमेज-कान्फ्रेन्स करे, तो पण्डित मोतीलाल नेहरू यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन गांधीजी या पं० जवाहरलाल नेहरू तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मजूर कर लिया गया तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय-भंग-आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी खत्म हो जायगी, राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर जो आपस में तय हो जायगी, गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शरीक होगी।"

थी कि मैं उस साल कॉंग्रेस का सदर था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ्तारी के बाद पिताजी ने इसका जिक्र नैनी मे मुझसे किया था, और उन्हे इस बात का दु:ख ही रहा कि उन्होंने जल्दी मे ऐसा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव है कि उसका गलत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी, क्योंकि जिन लोगो की विचार-धारा हमसे बिलकुल जुदा है उनके द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यो का भी गलत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब अचानक नैनी जेल मे हमसे मिलने आ पहुँचे। वे गाधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगो मे बडी देर तक बातचीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बातचीत से वह बहुत थक गये। हमारी बातचीत और बहस घूम-घामकर वहीं आ जाती थी जहाँ से शुरू होती थी। हम लोगो के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावो को समझ पाते थे। हमे यह साफ दिखाई देता था कि मौजूदा हालत मे काग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौका नही है। हमने अपने साथियो—कार्य-समिति के सदस्यो—और खासकर गाँधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गाँधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डाक्टर सप्रू वाइसराय का जवाब लेकर फिर हमसे मिलने आये। वाइसराय को इस बात पर कोई ऐतराज न था कि हम लोग यरवडा जावे (यरवडा पूना के पास है और यही की जेल मे गाँधीजी रक्खे गये थे), लेकिन वह तथा उनकी कौन्सिल हमे सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम आजाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरो से मिलने की इजाजत नही दे सकती थी, जोकि बाहर थे और सरकार के खिलाफ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे। डाक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत मे आप लोग यरवडा जाने को तैयार है या नहीं ? हमने कहा कि हमे तो कभी भी गाधीजी से मिलने जाने मे कोई उज्र नही है, न हो सकता है; लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियो से न मिल ले तबतक किसी अन्तिम निर्णय पर नही पहुँचा जा सकेगा। इत्तिफाक से उसी दिन या शायद एक दिन पहले हमने अखबार मे खबर पढी कि बम्बई मे भयकर लाठी चार्ज हुआ और सरदार वल्लभभाई, मालवीयजी, तसद्दुक शेरवानी वगैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये है। हमने डाक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना ने ... रा नही है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वाइसराय से ... करदे। फिर भी डाक्टर सप्रू ने कहा कि गाधीजी से तो जल्दी मिलने ...

[illegible]र्ज ही क्या है ? हमने उन्हे यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना [illegible]रवडा हुआ तो हमारे साथी डा० सैयदमहमूद भी, जो हमारे साथ नैनी मे ही थे, [illegible] हैसियत कांग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेगे ।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनो—पिताजी, महमूद और मैं—एक [illegible]पेशल ट्रेन मे नैनी से पूना भेजे गये । हमारी गाडी बडे-बडे स्टेशनो पर नही ठहरी, [illegible]म उन्हे झपाटे से पार करते हुए चले गये, कही-कही छोटे और किनारे के स्टेशनो [illegible]र ट्रेन ठहराई गई । फिर भी हमारे जाने की खबरे हमसे आगे दौड गई और लोगो [illegible]की बडी भीड स्टेशनो पर—जहाँ हम ठहरे वहाँ भी और जहाँ नही ठहरे वहाँ भी—इकट्ठी हो गई । हम ११ की बडी रात को पूना के नजदीक खिडकी स्टेशन [illegible]र पहुँचे ।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गाँधीजी की ही बैरक मे ठहराये जायँगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाकात हो जायगी । यरवडा के सुपरिटेडेट ने तो यही तजवीज कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक्त पर उन्हे अपना प्रबन्ध बदल देना पडा । जो पुलिस अफसर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडावालो को ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी । सुपरिटेडेट कर्नल मार्टिन ने तो हमे इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमे गाधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के रोबरू ही मिलने दिया जायगा । यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेगे तो हमारा [illegible]रुख कडा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायेगे । लिहाजा वह सारी रात और दूसरे दिनभर तथा रातभर हम दूसरी बैरक मे रक्खे गये । इसपर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ । वहाँ लेजाकर गाधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमे तरसाना और तडपाना था । आखिर १३ को दोपहर के पहले हमे खबर की गई कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ ले आये है और गाधीजी भी जेल के दफ्तर मे उनके साथ मौजूद है और आप सबको [illegible] बुलाया है । पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालो की तरफ [illegible] पूरी सफाइया दी गई और माफियाँ मागी गई और यह तय पाया कि हम पहले [illegible] गाधीजी से ही मिलाये जायँगे तब वह वहा जाने को राजी हुए । आगे चलकर [illegible] सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनो [illegible] आये गये थे, और सरोजिनी नायडू भी, जो हमारे सामने ही स्त्री-वैरक मे [illegible] भी हमारे साथ बातचीत मे शरीक किये गये । इसी तरह पिताजी, महमूद [illegible] गाधीजी [illegible] ले जाये गये और यरवडा मे [illegible]

रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहा लाये गये और वे भी वहीं रक्ख-
जिससे हमारे आपस मे सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३,१४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब मे हमारा मशवरा ज-
दफ्तर मे होता रहा और हमने आपस मे चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार
प्रदर्शित कर दिये, जिनमे हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गई जिनके
होने पर सविनय-भग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग कि
जा सकता था। बाद को ये चिट्ठिया अखबारो मे भी छाप दी गई थीं।[1]

इन बातचीतो का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता०
एकाएक उन्हे जोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम
की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बबई-सरकार ने स
मे हर तरह से पिताजी के आराम का खयाल रक्खा और यरवडा-जेल मे भी उ
आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुँचे उस दिन
मजेदार घटना हुई, जो मुझे अबतक याद है। सुपरिटेडेट कर्नल मार्टिन ने पिताजी
पूछा, कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेगे? पिताजी ने कहा कि मै बहुत स
और हलका खाना खाता हूँ, और उन्होने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक
सब जरूरी चीजे गिना दी। (नैनी मे रोज हम लोगो के घर से खाना आता
पिताजी ने सरल भाव से जो-जो चीजे लिखाई वे थी तो सब सादी और हलकी
मगर उन्हे देखकर कर्नल मार्टिन दग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिज और मे
होटल मे वे चीजे सादा और हलकी समझी जाती हो, जैसा कि खुद पिताजी भी
झते थे, लेकिन यरवडा-जेल मे ये अजीब और बेतुकी दिखाई दी। महमूद औ
बडी रगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढाव देखते रहे, ज
पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीजो के नाम सुनाते जा रहे
क्योकि कई दिनो से उनके यहाँ भारत का सबसे बडा और बहुत नामी नेता र
गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर और श
कभी-कभी नारगियाँ। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढग
और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बडे-बडे स्टेशन छलागते गये और ऐसी-वैसी
मामूली जगह गाडी ठहरती रही। मगर भीड अबकी और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भ
और कहीं-कहीं तो रेलवे लाइन पर भी भीड जम गई थी—खासकर हरदा,
और सोहागपुर मे। यहातक कि दुर्घटनायें होते-होते बची।

[1] जिन चिट्ठियों मे ये शर्तें दी गई थीं वे परिशिष्ट न० २ मे दी गई हैं।

पिताजी की हालत तेजी से गिरने लगी। कितने ही डाक्टर उन्हे देखने गये—
द उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ से भेजे हुए डाक्टर भी। जाहिर
। कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थी और वहाँ किसी तरह माकूल इलाज
ही हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अखबार मे लिखा कि बीमारी
सबब से उन्हे रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगडे और उन्होने कहा कि
ाग समझेगे कि मेरी तरफ से यह इशारा कराया गया है। यहाँतक कि उन्होने लार्ड
विन को तार दिया कि मै खास मेहरबानी कराके नही छूटना चाहता। लेकिन उनकी
ालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई। वजन तेजी से गिरता जा रहा था, और
नका शरीर एक छाया या ढाचा मात्र रह गया था। आखिर ८ सितम्बर को, ठीक
० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया। जब
ह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पडता था, उनके आराम के
ए छोटी-छोटी बातो का भी ध्यान रखना पडता था। और हम सब—महमूद,
र्मदाप्रसाद और मै—बडी खुशी-खुशी उनकी सेवा मे दिन बिताते थे। मैने निवाड
नना छोड दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था, और न किताबे पढने का
ी वक्त मिलता था। जब वह चले गये तो हमे फिर उन्ही कामो को शुरू करना
ा, मगर दिल पर भार बना रहता था और वह आनन्द नही रहा था। उनके रिहा
ोने पर तो दैनिक अखबार भी मिलना बद हो गया था। ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई
णजीत पडित गिरफ्तार हुए और हमारी बैरक मे ही रक्खे गये।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छ महीने की सजा पूरी हो जाने पर,
। छोड दिया गया। मै जानता था कि मै थोडे ही दिन आजाद रह सकूगा, क्योकि
ाई बहुत जमती और तेज होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतो'—सप्रू और जयकर
ाहबान—की कोशिशे बेकार हो चुकी थी। उसी दिन, जिस दिन मै छूटा, दो और
ार्डिनेन्स जारी किये गये थे। ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मै इस बात
। लिए उत्सुक था कि जितने दिन आजाद रहूँ कुछ अच्छा और जोरदार काम कर
गा।

लगान वसूल होने मे दिक्कत आनेवाली थी, क्योंकि नाज के भाव बुरी तरह गि थे। ससारव्यापी मदी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर मे दिखाई दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढकर उपयुक्त अवसर नहीं दिखाई था—दोनो तरह से, सविनय भग-आन्दोलन के सिलसिले मे भी और यो स्वतन्त्र रूप से भी। यह जाहिरा तौर पर असम्भव था कि जमींदार और काश्तकार उस माल पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दे। उन्हे या तो पिछले साल की बचत, अगर हो तो उसका, या कर्ज का सहारा लिये बिना चारा न था। जमींदार के पास ता भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता ही है, और उसे कर्ज भी आसानी से मिल सकता है मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नगा और कगाल होता है, का सहारा नही होता। किसी भी प्रजातत्री देश मे, या उस जगह जहाँ किसानो का सगठन और प्रभाव है, इन परिस्थितियो मे, किसानो से ज्यादा वसूल करना असम्भव होता। लेकिन भारत मे उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कहीं कॉंग्रेस उनकी हिमायत करती है और उनका साथ देती है। हाँ, एक बात और है। सरकार को यह डर जरूर लगा रहता है कि जब किसानो के लिए हालत असह नीय हो जायगी तो वे उठ खडे होगे और बुरी तरह उभड पडेगे। लेकिन, उन्हे युगो से यह तालीम मिलती चली आ रही है कि जो कुछ बिपत आवे उसे बिना चूँ तक किये करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तो मे उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे लेकिन वे प्राय. सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भग-आन्दोलन से जुडे हुए थे। ये वे प्रान्त थे जहाँ रैयतवारी तरीका था और किसानो का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरत सीधा सरकार पर पडता था। मगर युक्त प्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी। क्योकि हमारा इलाका जमींदारी और ताल्लुकेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द करदे तो उसका सीधा असर जमींदार पर होता है, इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कॉंग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय सस्था है। उसमे कितने छोटे-मोटे तथा कुछ बडे जमींदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कही कोई वर्ग का प्रश्न न बन जाय, या जमींदार लोग न बिगड बैठे। इस कारण सविनय भग शुरू होने से ठेठ छ महीने तक वे देहात मे ...न्दी-आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे, हालाकि मेरी राय मे उसके लिए बहुत ...अवसर था। मै इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी ... नहीं घबराता था, लेकिन मै इतना जरूर महसूस करता था कि कांग्रेस

अपनी मौजूदा हालत मे वर्ग-सघर्ष को नही अपना सकती। हॉ, वह दोनो से—काश्तकार और जमीदार दोनो से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत जमीदार बहुत करके मालगुजारी दे देते, लेकिन उस दशा मे कुसूर उनका होता।

अक्तूबर मे जब मै जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनो बातें मुझे ऐसी मालूम हुई मानो वे देहात मे करबन्दी-आन्दोलन छोड देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हो। किसानो की आर्थिक कठिनाइयाँ तो जाहिर ही थी। राजनैतिक क्षेत्र मे, हमारा सविनय भग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड गया था। हालाकि लोग थोडे-थोडे करके और कही-कही बडे दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण मे वह तेजी और गर्मी नही दिखाई देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हडतालो और जुलूसो से कुछ थकसा गये थे। सरेदस्त यह दिखाई देता था कि कुछ जिंदगी डालने की, नया खून लाने की, जरूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहॉ से आ सकता था? और यह खजाना तो अभी अखूट भरा पडा है। यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितो का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह तो यह कि इसके बदौलत समाज-व्यवस्था-सबधी प्रश्न उठ खडे होगे।

उस थोडे समय मे जब मै इलाहाबाद रहा, हमारे साथियो ने और मैने इन विषयो पर खूब गौर किया। जल्द ही हमने प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मजूरी देदी और हर जिले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने खुद सूबे के किसी हिस्से मे उसे शुरू नही किया, और कार्यकारिणी ने उसे जमीदार और काश्तकार दोनो पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-सबधी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हां, यह तो हम जानते ही थे कि इसमे मुख्य सहयोग किसानो की ही तरफ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे कदम बढाने की छुट्टी मिल गई, तो हमारे इलाहाबाद जिले ने [illegible] कदम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद जिले के किसानो का [illegible] [illegible] इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया। मेरे मन को इस [illegible] हुई कि जेल से छूटने ही पहले दिन मैने ठीक-ठीक काम कर [illegible] लिया। [illegible] साथ ही मैने इलाहाबाद मे एक बडी आम सभा का भी आयोजन किया [illegible] लम्बी तकरीर की। इसी तकरीर पर बाद को मुझे [illegible] [illegible]।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी के
मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि
उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और
आनन्द में बीते। मुझे अबतक याद आते हैं। फिर से अपने परिवार के साथ
रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लड़की इंदिरा और मेरी तीन नन्ही-नन्ही
भानजियाँ भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक
जुलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबमें छोटी लड़की जो
३—४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिये 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' यह
गान गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन
आखिरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हें
छीनकर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस ख्याल
से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति
और अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था
इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के
दूसरे दिन, १८ को, और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज की।

कमला और मेरे दोनों के लिए यह यात्रा जरा उत्तेजना-पूर्ण रही। देहरादून में
ज्योंही मैं रवाना होने लगा, जाब्ता फौजदारी की १४४ दफा के मुताबिक मुझपर
एक नोटिस तामील किया गया। लखनऊ में हम कुछ ही घण्टों के लिए ठहरे थे,
मालूम हुआ कि वहाँ भी १४४ दफा का एक नोटिस हमारी राह देख रहा है
लेकिन वह तामील न हो सका, क्योंकि भीड़ के कारण पुलिस अफसर मुझतक पहुँच
नहीं पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर
मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते में जगह-जगह ठहरकर किसानों की सभाओं में
व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद
पहुँचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफा का एक और नोटिस मुझे मिला। सरकार मेरे
पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ्तारी
के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊँ। इस सम्मेलन को हम खानगी कहते थे और
सिर्फ प्रतिनिधियों को ही बुलाया गया था। और ऐसा ही यह था भी। किसी
दर्शक के आने की इजाजत इसमें न थी। इलाहाबाद जिले के बहुत प्रतिनिधि आये
थे, और जहाँतक मुझे याद है उनकी संख्या १६०० के लगभग थी।

मेलन ने बडे उत्साह के साथ अपने जिलो मे करबन्दी शुरू करने का फैसला किया। कुछ मुख्य कार्यकर्ताओ को जरूर हिचकिचाहट थी। इस बात मे उन्हे कुछ शक कि कामयाबी होगी या नही, क्योकि किसानो को डराने-दबाने के साधन जमीदारो पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हे यह भी अन्देशा था कि सान इन सब कठिनाइयो मे कहाँतक टिक सकेगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के ,०० प्रतिनिधियो के दिलो मे, जो वहाँ मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न , कम-से-कम वहाँ तो दिखाई नही देता था। सम्मेलन मे मैने भी एक भाषण या था। लेकिन मै नही कह सकता कि मैने १४४ दफा का उल्लघन किया या ो, जो कि मुझपर सार्वजनिक सभा मे न बोलने के लिए लगाई गई थी।

वहाँ से मै, पिताजी और घर के दूसरे लोगो को लिवाने के लिए, स्टेशन गया। ड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मै उन्हे वही छोडकर एक सभा के लिए रवाना गया। इसमे शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के द रात को मै और कमला थके-माँदे सभा से घर लौट रहे थे। मै पिताजी से बाते रने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मै जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे गे, क्योकि उनके आने के बाद हमे शायद ही बातचीत करने का मौका मिला हो। रास्ते मे हमारी मोटर रोक ली गई—वहाँ से हमारा घर दिखाई दे रहा था, और गिरफ्तार करके जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक मे पहुँचा दिया गया। मला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगो को नई घटना की खबर सुनाई और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैने फिर उसी नी-जेल के फाटक मे प्रवेश किया।

३२
युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की गैरहाजिरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और मैंबदम नर्मदाप्रसाद और रणजीत पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मि[illegible]
कुछ दिनो के बाद जेल मे ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफाये लगाई ग[illegible] जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद म[illegible] था। उसीके अलग-अलग हिस्सो को लेकर जुदा-जुदा इलजाम लगाये गये थे। ह[illegible] मामूल मैंने कोई सफाई पेश नही की, सिर्फ थोडे मे अपना एक लिखित बयान अद[illegible] मे पेश किया। दफा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध मे मुझे १८ मास की [illegible] कैद और ५००) जुरमाना, १८८२ के नमक-कानून के मुताबिक ६ महीने की कैद [illegible] १००) जुरमाना तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मैं भूल गया हूँ कि [illegible] आर्डिनेन्स किस विपय का था) ६ मास कैद और १००) जुरमाना की सजाये दी गइ। पिछली दोनो सजाये एक-साथ चलनेवाली थी, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ [illegible] की कैद हुई और जुरमाना न देने की हालत मे ५ महीने और। यह मेरी ५ वीं [illegible] जेल-यात्रा थी।

मेरी फिर से गिरफ्तारी और सजायाबी का सविनय-भग-आन्दोलन की गति [illegible] कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमे एक नया जीवन और अधि[illegible] बल आ गया। इसका अधिकाश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हे एक बुरा-सा धक्का लगा, मगर फौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियो को बटोरा और सामने पडी हुई मेज को ठोक कर कहा—अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पडा नही रहूगा, अब अच्छा होकर एक जवाँमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को मुफ्त मे अपने पर हावी न होने दूँगा। यह निश्चय तो जवाँ मर्दों का-सा ही था। मगर अफसोस है कि उनका [illegible] सारा सकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कुतर-कुतर कर [illegible] रही थी, न दबा पाया। फिर भी, कुछ दिनो तक तो उनके स्वास्थ्य मे साफ-साफ तबदीली दिखाई देने लगी—इतनी कि जिसको देखकर लोगो को आश्चर्य होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये थे, उनके बलगम मे खून आने लगा था। इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिलकुल [illegible] खाई दिया। इससे उन्हे खुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल मे मिलने आ[illegible]

उन्होंने मुझसे इस बात का जिक्र कुछ फ़ख्र के साथ किया । लेकिन बदकिस्मती से तसल्ली थोड़े ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ़ गई और खून ज्यादा तादाद में आने लगा । इस अवधि में उन्होंने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम किया और देशभर में सविनय-भंग-आन्दोलन को एक जोर का सहारा दिया । जगह जगह के लोगों से वह बातचीत करते और उन्हें ब्यौरेवार हिदायतें भेजते । उन्होंने एक दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर में मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंश सभाओं में पढ़े जायँ जिनपर मुझे सजा दी गई थी । उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और सभायें बलपूर्वक तितर-बितर की गईं और यह अन्दाज़ किया गया था कि उस एक दिन सारे देशभर में कोई पाँच हजार गिरफ्तारियाँ हुईं । वह अपने ढंग का एक अनोखा जन्मोत्सव था ।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमें इतनी ज्यादा ताकत का सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत मुजिर हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिल्कुल आराम ही करें । मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान में तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नहीं, क्योंकि यहाँ उनका दिमाग लड़ाई के उतार-चढ़ाव में लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेंगे, इसलिए मैंने उन्हें सुझाया कि वह रंगून, सिंगापुर, और डच-इंडीज की तरफ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवें और उन्हें यह विचार पसन्द भी आया था । यह भी तजवीज की गई थी कि कोई डाक्टर मित्र यात्रा में साथ रहें । इस गरज से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहाँ उनकी तबीयत और भी खराब होती गई और वह आगे न बढ़ सके । कलकत्ते से बाहर एक स्थान में सात हफ्ते तक रहे । कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे । कमला इलाहाबाद में बहुत अर्से तक कांग्रेस का काम करती रही ।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मैं करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले में काम कर रहा था, मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी ने बदस्तूर उस

३२

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की गैरहाजिरी के बाद मै फिर नैनी आ गया और सैयद [illegible] नर्मदाप्रसाद ओर रणजीत पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक मे आ [illegible] कुछ दिनो के बाद जेल मे ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफाये लगाई ग[illegible] जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद मे [illegible] था। उसीके अलग-अलग हिस्सो को लेकर जुदा-जुदा इलज़ाम लगाये गये थे। [illegible] मामूल मैने कोई सफाई पेश नही की, सिर्फ थोडे मे अपना एक लिखित बयान अ[illegible] मे पेश किया। दफा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध मे मुझे १८ मास की [illegible] कैद और ५००) जुरमाना, १८८२ के नमक-कानून के मुताबिक ६ महीने की कैद [illegible] १००) जुरमाना तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मै भूल गया हूँ कि [illegible] आर्डिनेन्स किस विषय का था) ६ मास कैद और १००) जुरमाना की सजाये दी [illegible] पिछली दोनो सजाये एक-साथ चलनेवाली थी, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ [illegible] की कैद हुई और जुरमाना न देने की हालत मे ५ महीने और। यह मेरी ५ वी [illegible] जेल-यात्रा थी।

मेरी फिर से गिरफ्तारी और सजायाबी का सविनय-भग-आन्दोलन की गति [illegible] कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमे एक नया जीवन और [illegible] बल आ गया। इसका अधिकाश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको [illegible] गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हे एक बुरा-सा धक्का लगा, मगर फौरन ही [illegible] अपनी शक्तियो को बटोरा और सामने पडी हुई मेज को ठोक कर कहा—[illegible] निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पडा नही रहूगा, अब अच्छा हो[illegible] एक जवाँमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को मुफ्त मे अपने पर हावी न [illegible] दूँगा। यह निश्चय तो जवाँ मर्दो का-सा ही था। मगर अफसोस है कि उनका [illegible] सारा सकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कुतर-कुतर[illegible] रही थी, न दबा पाया। फिर भी, कुछ दिनो तक तो उनके स्वास्थ्य मे [illegible] [illegible]ली दिखाई देने लगी—इतनी कि जिसको देखकर लोगो को आश्चर्य होता था। [illegible] महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये थे, उनके बलगम मे खून आने लगा [illegible] इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक [illegible] दिखाई दिया। इससे उन्हे खुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल मे मिलने [illegible]

उन्होने मुझसे इस बात का जिक्र कुछ फख्र के साथ किया। लेकिन बदकिस्मती से तसल्ली थोडे ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ गई और खून ज्यादा कदार मे आने लगा। इस अवधि मे उन्होने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम या। और देशभर मे सविनय-भग-आन्दोलन को एक जोर का सहारा दिया। जगह ाह के लोगो से वह बातचीत करते और उन्हे ब्योरेवार हिदायते भेजते। उन्होने क दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर मे मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान मे -त्सव के रूप मे मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अश सभाओ मे पढे -यें जिनपर मुझे सजा दी गई थी। उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और भाये बलपूर्वक तितर-बितर की गई और यह अन्दाज किया गया था कि उस एक न सारे देशभर मे कोई पॉच हजार गिरफ्तारियॉ हुई। वह अपने ढग का एक नोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमे इतनी ज्यादा ताकत ा सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत मुजिर हुआ और मैने उनसे आग्रह किया क वह बिलकुल आराम ही करे। मैने सोचा कि हिन्दुस्तान मे तो उनको ऐसा विश्राम मेलेगा नही, क्योकि यहॉ उनका दिमाग लडाई के उतार-चढाव मे लगा रहेगा और ोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेगे, इसलिए मैने उन्हे सुझाया कि वह रगून, सिंगापुर, और डच-इडीज की तरफ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवे और उन्हे यह विचार पसन्द भी आया था। यह भी तजवीज की गई थी कि कोई डाक्टर मित्र यात्रा मे साथ रहे। इस गरज से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहॉ उनकी तबीयत और भी खराब होती गई और वह आगे न बढ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान मे सात हफ्ते तक रहे। कमला को छोडकर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद मे बहुत अर्से तक कॉग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मै करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले मे काम कर रहा था, मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढकर उस आन्दोलन को बढानेवाली और कोई घटना नही हो सकती थी—खासकर उस दिन गिरफ्तारी से जबकि किसान-सम्मेलन खतम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद मे ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ गया और वे जिले के करीब-करीब हर गॉव मे सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन मे ही जिले-भर मे खबर फैल गई कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमे शरीक होने लगे।

उन दिनो हमारी सबसे बडी मुश्किल खबर पहुँचाने की थी—लोगो

को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे है और उनसे क्या कराना चाह
अखबार हमारी खबरो को छापने के लिए तैयार नही थे, इस डर से कि स
उनको सजा देगी और दबा देगी; छापाखाने हमारे इश्तिहार और पत्रिकाये छा
तैयार नही थे, पत्रो और तारो को काट-छाँट दिया जाता था और अक्सर रा
लिया जाता था। खबरे पहुंचाने का काबिल-इत्मीनान तरीका जो हमारे पास र
था वह यह था कि हम हरकारो के मार्फत अपनी खबरे भेजे। इसमे भी हमा
कारो को कभी-कभी गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह तरीका खर्चीला था,
इसमे बडे सगठन की भी जरूरत थी। लेकिन इसमे कुछ सफलता मिली। प्रा
कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क मे रहते थे और अपने खास-खास जि
केन्द्रो के सम्पर्क मे भी। शहरो मे कोई खबर फैलाना मुश्किल नही था। कई महान
गैर-कानूनी खबरे रोजाना या हफ्तेवार साइक्लोस्टाइल के जरिये प्रकाशित होती र
थी और ऐसी खबरो की माँग बहुत रहती थी। आम लोगो मे इत्तिला करने के लि
शहर मे डोडी पिटवाने का भी एक तरीका था। इसमे अक्सर इत्तिला करनेवा
की गिरफ्तारी हो जाती थी। मगर इसकी कुछ परवा नही थी, क्योंकि ल
गिरफ्तारी को तो पसन्द ही करते थे, उससे बचना नही चाहते थे। ये सब तरीके श
मे अनुकूल पडते थे, परन्तु गाँवो मे आसानी के साथ काम मे नही लाये जा सकते थे।
हरकारो और साइक्लोस्टाइल से छापे हुए इश्तिहारो के जरिये से खास-खास गाँवो
केन्द्रो से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तो
जनक नही था, क्योकि दूर के गाँवो मे हमारी सूचनाओ को पहुँचाने मे काफी समय
लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह कठिनाई दूर हो गई। जिले के प्राय हर
खास-खास गाँव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानो
से सम्बन्ध रखनेवाले ताजा फैसलो और उनके कारण हुई मेरी गिरफ्तारी की खबर
को जिले के हरेक हिस्से मे ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी
करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दो
लन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमे कोई शक नही था कि
शुरू मे उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देगे, और उस वक्त त
बिलकुल नही देगे जबतक कि उनको देने के लिए और दबाया-डराया नही जायगा
निस्सन्देह कोई नही कह सकता था कि जमीदारो और अहलकारो की हिमायत
...य के बमुकाबिले उनकी सहन-शक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने जमीदारो और किसानो दोनो से की

द्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नही थी। मगर अमली रूप कई जमीदारो ने अपना कर दे दिया ओर राष्ट्रीय सग्राम के प्रति जिनकी सहानु- ति थी ऐसे भी कई लोगो ने कर दे दिया। उनपर दवाव वहुत भारी था और नके वहुत नुक्सान उठाने की सम्भावना थी। जहाँतक किसानो का सवाल है, वे तो जवूत रहे। उन्होने लगान नही दिया ओर इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करवन्दी- आन्दोलन ही हो गया। इलाहावाद ज़िले मे वह सयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे ज़िलो मे ी फैल गया। कई जिलो मे उसको वाजाव्ता अख्त्यार नही किया गया न उसका लान किया गया, परन्तु वास्तव मे किसानो ने कर देना रोक लिया और कई जगह ी भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नही सके। इसपर कई महीनो तक न तो रकार ने ओर न वडे जमीदारो ने उन सरकश क़िसानो को भयभीत करने के लेए कोई वडी कार्रवाई की। उन्हे अपनी कामयावी पर भरोसा नही था, क्योकि एक तरफ तो सविनय भग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक सग्राम था और दूसरी तरफ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दु खी थे। इन दोनो कठिनाइयो का समावेश एक-दूसरे मे हो गया ओर सरकार को वरावर यह डर रहा कि कही किसानो मे कोई तूफान न उठ खडा हो। उधर लदन मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष मे सरकार अपनी तकलीफे नही वढाना चाहती थी, ओर न "ज़ोरदार" हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहाँतक इस प्रान्त का सम्वन्ध है, करवन्दी-आन्दोलन का एक खास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे सग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशो मे चला गया, जिससे कि आन्दोलन मे नवजीवन आ गया और जिसने उसकी वुनियाद को अधिक व्यापक और मजवूत वना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम-श्रेणी के लोग किसी हदतक हतोत्साह हो गये, परन्तु सयुक्तप्रान्त मे आन्दोलन मजवूत था और पहले किसी भी समय किये गये आन्दोलन से मज़वूत रहा। शहर से देहात की तरफ परिवर्त्तन ओर राजनैतिक से आर्थिक समस्याओ की तरफ परिवर्त्तन दूसरे प्रान्तो मे इतनी हदतक नही हुआ और फलत उनमे शहरो की प्रधानता वनी रही और वे मध्यम- वर्ग के लोगो की थकावट से ज्यादा-से-ज्यादा नुकसान उठाते रहे। वम्वई शहर मे भी, जो कि शुरू से अख़ीर तक आन्दोलन मे खूव भाग लेता रहा, कुछ-कुछ निरुत्साह फैलने लगा। वम्वई मे और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ्तारियाँ भी जारी रही, परन्तु यह सव किसी कदर वनावटी दिखाई देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि जन-समूह को लम्वे समय तक

किसी क्रान्ति की स्थिति में रखना असम्भव है। आम तौर पर तो ऐसी स्थिति दिनों तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय भंग की यह अद्भुत शक्ति है कि यह कई महीनों तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी मन्दगति से अमर्यादित तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढ़ा। स्थानिक कांग्रेस कमिटियां, यूथ-लीग आदि, जोकि तक आश्चर्य के साथ चलती रही थीं, गैर-कानूनी करार दे दी गईं और दबा दी जेलों में राजनैतिक कैदियों के साथ ज्यादा बुरा बर्त्ताव होने लगा। सरकार करके इससे चिढ गई, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर चले जाते थे। सजा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने में असफल होने के शासकों का हौसला ढीला हो गया। जाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराध कारण संयुक्तप्रान्त में नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू में कुछ राजनैतिक कैदि को बेत की सजा दी गई थी। इसकी खबर हमको नैनी-जेल में पहुँची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तबसे हम हिन्दुस्तान में इसके तथा इससे भी खराब दृश्यों घटनाओं के आदी हो गये हैं—क्योंकि बेत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन आदी कैदियों के लिए भी मुझे एक अवाञ्छनीय यातना मालूम हुई, और नौजवा कोमल-हृदय बच्चों के लिए और सो भी नाममात्र के नियम-भंग के कुसूर तो बेत की सजा को बिलकुल जंगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चा ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ्ते तक उसका कोई जवाब आया तो हमने इस बेत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवा के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन— घंटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज से यह कोई बडी बात न थी, म हमें उपवास का अभ्यास नहीं था और न यही जानते थे कि हम उसमें कितने सकेंगे। इससे पहले २४ घंटे से ज्यादा का उपवास मैंने शायद ही कभी किया हो।

हमें उपवास के दिनों में कोई ज्यादा तकलीफ नहीं हुई, और मुझे यह जान खुशी हुई कि उसमें वैसी सख्त तकलीफ की कोई बात नहीं थी जैसा कि डर मगर एक बेवकूफी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कडी कसरत भी जारी थी, जैसे दौडना और हाथ-पाँव को झटके देने की कसरत वगैरा। मैं नहीं समझता उससे मुझे कोई ज्यादा फायदा हुआ। खासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ अलील थी। इन तीन दिनों में हम सब का वजन ७ से ८ पाण्ड तक घटा। में पहले महीने में कोई १५ से २६ पाण्ड तक वजन हम हरेक का घट चुका था ...ग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेत लगाने के खिलाफ खासा आन्दोलन रहा था, और मै समझता हूँ कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी ायते भेजी थी कि आयन्दा बेत न लगाये जायँ। मगर ये आज्ञाये ज्यादा दिन ाम नही रहने को थी और कोई १ साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तो जेलो मे बेतो की सजा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच मे यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओ से खलल न पडा होता तो हमारा ा-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मोसम अच्छा था ओर जाडा तो इलाहाबाद मे बहुत ही ादार होता है। रणजीत पण्डित क्या आये, हमारी बैरक को अलभ्य लाभ मिल ा, क्योकि वह बागबानी बहुत कुछ जानते थे ओर शीघ्र ही वह हमारा बीरान ाता फूलो ओर तरह-तरह के रगो से गुलजार हो गया। उन्होने तो उस तग ओर ़डी जगह मे छोटे पैमाने पर गोल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल मे हमारे सिर पर से हवाई-जहाज उडकर जाया करते थे ओर यह ारे लिए एक आनन्द ओर मनोरजन का विषय हो गया था। पूर्व ओर पश्चिम को ़ने-जानेवाले बडे-बडे हवाई-जहाजो के लिए इलाहाबाद एक खास स्टेशन है और ास्ट्रेलिया, जावा और फ्रेंच इन्डोचायना को जानेवाले बडे-बडे जहाज़ सीधे हमारे ार पर से गुजरा करते थे। उनमे सबसे बडे और शाही थे डच जहाज, जो बटेविया ाते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफाक से ओर हमारी खुशकिस्मती से जाडे मे अलस्सुबह, ़बकि कुछ-कुछ अधेरा रहता था ओर तारे चमकते दिखाई देते थे, कोई जहाज़ ऊपर गुज़रता था। उसमे खूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनो सिरो ़र लाल रोशनी होती थी। प्रात काल के स्वच्छ नीलाकाश मे ज़ब वह जहाज ऊपर ़डता तो उसका दृश्य बडा ही सुन्दर मालूम होता था।

पडित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। ़ह हमसे अलग दूसरी बैरक मे रक्खे गये थे, लेकिन हम रोज उनसे मिलते थे और ़ायद बाहर की बनिस्बत वहाँ मै उनका अधिक परिचय कर पाया। वह बडे खुश-मिजाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात मे एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजीत की सहायता से उन्होने जर्मन पढना शुरू किया और उस सिलसिले मे उन्होने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेते लगाने की खबर मिली तब वह नैनी मे ही थे ओर यह खबर सुनकर बहुत बिगडे थे और उन्होने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय मे लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार हो गये। जेल की सर्दी उन्हे बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गई और वह शहर के अस्पताल मे भेज दिये गये और कुछ दिन बाद

मीयाद से पहले ही वहा से रिहा कर दिये गये। खुशी की बात है कि अस्पताल वह चगे हो गये।

१ जनवरी १९३१ को, अगेजी साल के नये दिन, कमला की गिरफ्तार खबर हमे मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योकि वह बहुत दिनो से अपने दूसर- की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यो तो अगर वह मर्द होती तो वह [illegible] बहन दोनो तथा और भी दूसरी स्त्रियाँ बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गई होती, उस वक्त सरकार जहाँतक हो सकता था स्त्रियो को गिरफ्तार करना टाल्ती और इसीसे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके मन की मुराद आई। मैने सोचा, सचमुच उसे कितनी खुशी हुई होगी! मगर साथ ही मुझ खौफ भी हुआ, क्योकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा खराब रहती थी और मुझे अदा कि जेल मे कही उसे बहुत ज्यादा तकलीफ न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहाँ मौजूद था और उसने उसस सदेश माँगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा सदेश दिया, जो उसके स्वभा अनुकूल ही था—"आज मुझे बेहद खुशी है और मुझे फख्र है कि मै अपने पति क चिन्हो पर चल सकी हूँ। मुझे उम्मीद है कि आप लोग इस ऊँचे उठाये झडे को न झुकने देगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा सदेश न क्योकि वह अपनेको पुरुषो के जुल्मो से स्त्रियो के अधिकारो की रक्षा करने का मुवानी समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू स्त्रीत्व के सस्कार उसमे प्रबल हो और उनके प्रवाह मे मर्दो के जुल्म न जाने कहाँ बह गये।

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक न थी। लेकिन [illegible] की गिरफ्तारी और सजा के समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो गये और [illegible] इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होने इलाह रवाना किया और खुद घर के और लोगो के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ ज को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैने उन्हे कोई दो मास बाद देखा था, आ देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मै मुश्किल से छिपा सका। उनक को देखकर मेरे दिल मे जो दहशत बैठ गई उससे वह अनजान मालूम हुए, [illegible] उन्होने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मै बहुत अच्छा हूँ। उनके पर वरम आ गया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यो ही आ गया।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी [illegible] के चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्तबा मेरे दिल मे यह डर पैदा हुआ [illegible] के लिए खतरा सामने खडा है। मैने हमेशा उनकी कल्पना बल और [illegible]

ही की थी और उनके सम्बन्ध मे मौत का खयाल कभी मन मे नही आता था। के खयाल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे—उसे हँसी मे उडा दिया करते थे, हमसे कहा करते थे कि मै तो अभी बहुत दिन जीऊँगा। लेकिन इधर बाद मे मैं ा था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर जाता तब वह अपनेको ला-सा, अटपटे साथियो और लोगो मे छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आम तौर पर यह भाव आकर चला जाता और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना जोर जमाती। हम परिवार के लोग के इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के इतने यस्त हो गये थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बडा दु ख हुआ और मेरे मन मे तरह-तरह की शकाये छा गई। ताहम मुझे यह खयाल नही हुआ था कि खतरा इतना नज़दीक पहुँचा है। ठीक उन्ही दिनो, पता नही क्यो, खुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नही ती थी।

पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स के वे आखिरी दिन थे और उसके अन्तिम इशारे ार हाव-भाव हमारे मनोरजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस नोरजन मे कुछ हिकारत का भाव भी था। वहाँ के भाषण और लबी-चौडी बाते ार वादविवाद हमे अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे, पर हाँ, एक वास्तविकता ाफ दिखाई पडती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जब-क हमारे भाइयो और बहनो ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य मे डाल दया तब भी हमारे देश मे ऐसे लोग थे जो हमारे सग्राम की अवहेलना करते थे ौर हमारे विपक्षियो की तरफ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमे पहले से ी ज्यादा साफ नज़र आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी मे विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे है और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे है। गोलमेज-कान्फ्रेन्स इन स्थापित स्वार्थो के प्रतिनिधियो का ही एक सम्मेलन था। उनमे से कितनो ही ने हमारे सग्राम का विरोध किया था, कुछ खामोश होकर एक तरफ खडे देखते थे—हाँ, समय-समय पर हमें इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खडे होकर इन्तज़ार करते है वे एक तरह की सेवा ही करते हैं।" लेकिन ज्योही लन्दन से डोर हिली इस इन्तज़ारी का यकायक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितो की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकडे और मिल सकते है उनमे हिस्सा बँटाने के लिए एक के बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन मे यह जमीयत और भी जल्दी इसलिए की गई कि कांग्रेस

तेजी के साथ वाये पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का ... प्रभाव पडता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत मे आमूल ... परिवर्तन का दौर आ गया तो उसके मानी होगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्ति ... अशो का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्वपूर्ण बन बैठना। और ये ... तौर पर आमूल सामाजिक परिवर्तन पर जोर देगे और इस तरह स्थापित ... धक्का पहुँचा जावेगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफत ... कर सहम गये और इसके कारण उन्होने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनो का ... किया। उन्होने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहाँ वर्तमान सामाजिक ढाँचे को और ... स्वार्थों को कायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक-शक्ति के तौर पर कायम रहे ... निवेशिक पद पर जो इतना जोर दिया गया उसके मूल मे यही धारणा काम कर ... थी। एक दफा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिवरल नेता मुझपर इस बात के ... बिगड पडे थे कि मैने ग्रेट ब्रिटेन के साथ होनेवाले समझौते के अग-रूप ब्रिटिश ... हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा दिये जाने और उसकी जगह हिन्दुस्तानी फौज के ... के मातहत कर दिये जाने पर जोर दिया था। वह तो यहाँतक आगे बढ गये ... बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात पर रजामद हो भी जाय तो मैं अपनी ... ताकत से इसका विरोध करूँगा"। किसी भी तरह की कौमी आजादी के लिए ... माँग बहुत जरूरी थी। फिर भी उन्होने इसका जो विरोध किया वह इसलिए ... कि मौजूदा हालत मे वह पूरी नही की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि ... अवाञ्छनीय समझी गई। इसका आशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बा... शक्तिया हमारे देश पर धावा बोल देगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फौ... समय हमारी रक्षा के काम आवेगी। मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या ... हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह खयाल ही ... जलील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए ... मगर अँग्रेजो की सबल बाहु को हिन्दुस्तान मे कायम रखने की ख्वाहिश की ... असली बात यह नही थी। अँग्रेजो की जरूरत तो समझी गई थी खुद हिन्दुस्तानि... से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्ता... स्थापित स्वार्थो की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नही ... प्रतिनिधि भी जो अपनेको उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस ... ...टिश सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बाते पाते थे। ... ...प्रमुख हमे बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम ...

ा तरफ उसमे जहाँ वे लोग शामिल थे जो आजादी की लडाई मे जूझते हुए जेल थे, तो दूसरी तरफ उसमे उन लोगो का भी समावेश होता था जो हमे जेल नेवालो से हाथ मिलाते थे, उनकी कतार मे खडे होते थे और उनके साथ बैठकर क कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश मे थे—हादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाडते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-न्दोलन को बढावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसीमे स्वराज का सार छिपा हुआ। इसलिए कुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ, और तकदीर से इस आन्दोलन ी बदोलत उन्हे कुछ त्याग नही करना पडा। उलटा उनकी तिजारत ओर मुनाफा ड गया। और जब एक तरफ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुका-बला किया, तो दूसरी तरफ वे अपनी दुकानो मे बैठ बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद ो जब राष्ट्रवाद ने जरा उग्र रूप धारण किया ओर उसमे ज्यादा जोखिम दिखाई ी तो उन्होने अपने भाषणो का स्वर नीचा कर दिया, गरम दलवालो को बुरा कहने गे और मुखालिफो के साथ राजीनामे और ठहराव कर लिये।

हमे सचमुच इसका कुछ खयाल या परवा नही थी कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लडाई यहाँ मारे कस्बो और गाँवो मे हो रही थी। हमे इस बात मे कोई भ्रम नही था कि हमारी लड़ाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या खतरा सामने खडा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओ ने हमे अपने राष्ट्रीय बल और दमखम का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबिला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमे बहुत दुःख पहुँचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरो (जहाँ मै समझता हूँ कि उन्हे 'फ्रीडम आफ दि सिटी' उपाधि प्रदान की गई थी) के अपने एक भाषण मे उन लोगो के प्रति नफरत के भाव जाहिर किये जो सविनय भग-आन्दोलन के सिलसिले मे जेल जा रहे थे। उस भाषण ने और खासकर जिस मौके पर वह दिया गया उसने हमारे दिलो को जख्मी कर दिया। क्यो-कि यद्यपि राजनीति मे शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तोभी हम उनकी इज्जत करते थे।

रैम्जे मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज-कान्फ्रेन्स का उपसहार किया। उसमे कॉंग्रेसियो से ऐसी अपील की हुई दिखाई दी कि वे बुरे मार्ग को छोड दे और भले आदमियो की टोली मे मिल जायँ। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी के मध्य मे—इलाहाबाद मे कॉंग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातो के साथ-साथ इस भाषण और उसमे की गई

अपील पर भी विचार किया गया। उस वक्त मैं नैनी-जेल में था और [illegible]
मैंने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी हाल ही कलकत्ते से लौटे थे और [illegible]
वह बहुत बीमार थे तोभी उन्होंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि उनकी [illegible]
के पास ही मेंबर लोग आकर चर्चा करें। किसीने यह सुझाया कि मि० मैकडानल्ड
अपील के जवाब में हमारी तरफ से भी कोई इशारा किया जाय और [illegible]
कुछ ढीला कर लिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गये, अपने बिछौने
उठ बैठे और कहा कि मैं तबतक समझौता न करूंगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय [illegible]
नहीं हो जाता और अगर मैं अकेला ही रह गया तो भी मैं लड़ाई जारी रक्खूंगा।
उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ़ गया। आखिर डाक्टर
किसी तरह उन्हें राजी करके मेहमानों को वहाँ से हटाकर उन्हें अकेला रहने दि[illegible]

बहुत कुछ उन्हींके आग्रह से कार्य-समिति ने एक ऐसा प्रस्ताव पास किया
जिसके अनुसार समझौता नहीं हो सकता था। उसके अखबारों में छपने के पहले
सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, [illegible]
उनकी मार्फत कॉंग्रेस से यह दरख्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक
फैसला न करे जबतक कि उन्हें बात-चीत करने का एक मौका न दिया जा[illegible]
लन्दन से बिदा हो चुके थे। उन्हें इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-स[illegible]
एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहाँ न आ जायँगे
आपसे बात-चीत न हो जायगी तबतक वह प्रकाशित न किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इ[illegible]
जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये थे। हमें जिस [illegible]
सबसे अधिक खयाल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतंत्रता-दिवस का प्रथम वार्षि[illegible]
और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि
वह सारे देश में मनाया गया। सभायें की गईं और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का सम[illegible]
किया गया और सब जगह वह एकसा पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव'[1] [illegible]
जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि, न त[illegible]
अखबार न छापेखाने ही सहायता करते थे न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता
था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में, कई बड़ी-ब[illegible]
सभायें करके, करीब-करीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या कस्बे [illegible]
[illegible] पास किये गये। बहुतेरी सभायें तो कानून की अवहेलना करके की गईं [illegible]
के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गई थीं।

१. यह प्रस्ताव परिशिष्ट नं० ३ में दिया गया है।

२६ जनवरी ने हमको नैनी-जेल मे गुजिश्ता साल का सिंहावलोकन करते हुए
: आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देखते हुए पाया। इतने ही मे दोपहर को
।एक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाजुक हो गई है और मुझे फौरन
जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूँ। रणजीत भी
साथ थे।

उस शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलो से बहुत-से दूसरे लोग भी छोडे
। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमे आपस मे
ठकर हालात पर गौर करने का मौका देना चाहती थी। इसलिए, मैं उसी शाम
हर हालत मे छूट जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घण्टे पहले रिहाई
गई। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड
गई। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेंबर थी।

३३

पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैने दो हफ्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी मे जब वह आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज्यादा आ गया था। बोलने मे कुछ तकलीफ होती थी और दिमाग पर पूरा-पूरा काबू रहा था, लेकिन फिर भी उनकी सकल्प-शक्ति वैसी ही कायम रही थी और उनके शरीर और दिमाग को काम करने मे ताकत देती रही।

मुझे और रणजीत को देखकर वह खुश हुए। एक या दो रोज बाद रा (वह कार्य-समिति के सदस्यो की श्रेणी मे नही आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज गये। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है ! उनके इस आग्रह से डॉक्टर चिन्तित थे और यह जाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फायदा नही हो था। ३ या ४ दिन बाद, मै समझता हूँ डॉक्टरो के कहने से, युक्त-प्रान्त की सरका ने रणजीत को छोड दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मै छोडा गया, गाधीजी भी यरवडा से रिहा कर दिये गये। मै उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवे, और जब मैंने उन छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आ थे। एक जबरदस्त जन-समूह के द्वारा, जैसा कि बम्बई मे पहले कभी नही देखा ग स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गाधीजी बम्बई से चल पडे। वह इलाहाब रात को देर से पहुँचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तजारी मे जग रहे और उनके आने मे और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बडी शान्ति मिल उनके आने से मेरी माँ को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे बीच मे असमजस मे पडे हुए मीटिंग के लिए सूचनाओ का इन्तजार कर रहे कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आ जा थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फौरन मीटिंग के लिए इलाहाबा ल्या जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये और हमारे मकान

स ही स्वराज-भवन मे उनकी मीटिंगे होने लगी । कभी-कभी मै इन मीटिंगो मे चला
ाता था । लेकिन मै अपनी चिन्ताओ मे इतना मुब्तिला रहता था कि उनमे कोई
पयोगी हिस्सा नही लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नही है कि वहॉ क्या-क्या
ार्णय हुए थे । मेरा खयाल है कि वे सविनय-भग-आन्दोलन को जारी रखने के हक
हुए थे ।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमे से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे
ौर फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे
ौर उनके अन्तिम दर्शन करके अन्तिम विदा लेना चाहते थे । सुबह-शाम उनमे से
ो-तीन आते और पिताजी अपने इन पुराने साथियो का स्वागत करने के लिए आराम-
ुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे । उनका डीलडौल तो बडा मगर चेहरा भाव-शून्य
देखाई देता था, क्योकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नही हो
ाते थे । लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे, तैसे-तैसे उन्हे
पहचान-पहचानकर उनकी ऑखो मे चमक आ जाती थी । उनका सिर कुछ झुकता
जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड जाते थे । हालॉकि वह ज्यादा नही बोल
सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मजाक
कायम था । वह एक बूढे शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह जख्मी हो गया हो
और जिसकी ताकत शरीर से करीब-करीब चली गई हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत मे
भी उनकी शान तो सिहो या राजाओ जैसी ही थी । जब-जब मै उनकी तरफ देखता,
तो मै सोचता कि उनके दिमाग मे क्या-क्या खयाल आते होगे ? क्या वह हम लोगो
के काम-काज मे दिलचस्पी लेने की हालत मे नही रहे है ? यह साफ मालूम होता था
कि वह अक्सर अपने-आपसे लडते थे । चीजे उनकी पकड से निकलना चाहती थी
और वह उनपर काबू पाने की कोशिश करते थे । अखीर तक यह लडाई जारी रही ।
मगर वह हारे नही । जब-तब बडी ही स्पष्टता के साथ हमसे बाते करते थे—यहॉ
तक कि जब गले की सिकुडन से उनके मुँह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया था
तो वह कागज पर लिख-लिखकर अपना आशय जाहिर करते थे ।

कार्य-समिति की बैठको मे, जोकि हमारे पडौस मे ही हो रही थी, उन्होने,
कहना चाहिए कि, कुछ भी दिलचस्पी नही ली । १५ रोज पहले इनसे उनका उत्साह
जरूर बढा होता, मगर अब शायद उन्होने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर
निकल गये है । उन्होने गाधीजी से कहा—"महात्माजी ! मै जल्दी ही चला जानेवाला
हूँ, स्वराज देखने के लिए जिन्दा नही रहूँगा । लेकिन मै जानता हूँ कि आपने स्वराज
फतह कर लिया है और जल्दी ही उसे पा लेगे ।"

जो दूसरे शहरो और सूबो मे लोग आये थे उनमे से बहुतेरे चले गये। गा-
रह गये। कुछ और घनिष्ठ मित्र, करीबी रिश्तेदार और तीन नामी डाक्टर ना,
उनके पुराने मित्र थे और जिनको वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर -
हाथ मे महफूज रखने के लिए सोप दिया है। वे थे डाक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र
और जीवराज मेहता। ४ फरवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखाई पडी और
लिए यह तय किया कि उससे फायदा उठाकर उन्हे लखनऊ ले जाया जाय, जहा
डीप एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधायें हैं। उसी दिन उन्हे हम मोटर मे ले ग।
गाधीजी और कुछ और लोग भी साथ गये। हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फि-
वह बहुत थक गये। दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई। लेकिन फि-
कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखाई पडते थे। दूसरे दिन सुबह यानी छ फरवरी को
उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हे देख रहा था। रात उनकी तकलीफ और बेचैनी
मे बीती थी। यकायक मैंने देखा, उनका चेहरा शान्त हो गया और लडने की ताकत
खत्म हो गई। मैंने समझा कि उन्हे नीद लग गई है और इससे मुझे खुशी भी हुई।
मगर मा की निगाह तेज थी। वह रो पडी। मैंने उसकी तरफ देखा और कहा कि
उन्हे नीद लग गई है, वह जाग जायँगे। मगर वह नीद उनकी आखिरी नीद थी और
उसके बाद फिर जगना नही हो सकता था।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये। मैं उसके साथ बैठा।
रणजीत हॉक रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था। उसके पीछे
दूसरी मोटर थी जिसमे माँ और गाँधीजी थे और उसके बाद दूसरी मोटरें थीं। मैं
दिनभर भौचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और
एक के बाद एक हुई घटनाओ और बडी-बडी भीडो के कारण मै कुछ सोच ही न
सका। इत्तिला मिलते ही लखनऊ मे बडी भीड जमा हो गई। वहा से शव को लेकर
इलाहाबाद आये। शव हमारे राष्ट्रीय झडे मे लपेटा हुआ था और ऊपर एक बडा
झडा फहरा रहा था। मीलो तक जबरदस्त भीड उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित
करने जमा हुई थी। घर पर कुछ अतिम विधिया की गई और फिर गगा-यात्रा को
चले। जबरदस्त भीड साथ थी। जाडे के दिन थे। सध्या की किरणे गगा-तट पर
छिटक रही थी। और चिता की ऊँची-ऊँची लपटो ने उस शरीर को खाक कर दिया
जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट मित्रो के लिए और हिन्दुस्तान के लाखो लोगो के
लिए इतना मूल्य और महत्व था। गाधीजी ने लोगो को कुछ हृदयस्पर्शी शब्द सुना
-र हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान होकर
थे, तब आकाश मे तारे तेजी से चमक रहे थे।

माँ को ओर मुझे हजारो सहानुभूति के सदेश मिले। लार्ड ओर लेडी अर्विन ने ा मा को एक सौजन्यपूर्ण सदेश भेजा। इस बहुत भारी सद्‌भावना ओर सहानुभूति ने मारे दुख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा ओर ाश्चर्य-जनक शान्ति और तसल्ली तो मिली गाधीजी के वहा मोजूद रहने से, जिसने क मा को और हम सब लोगो को हमारे जीवन के उस विपतकाल का सामना करने ा बल दिया।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं हैं। तीन महीने ाद मैं, अपनी पत्नी ओर लडकी सहित, लका गया था। हम लोग वहा नुवारा एलीया ो शान्ति और आराम से कुछ दिन गुजार रहे थे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई ओर मुझे एकाएक ख़याल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफिक होगी। तो उन्हे यहा क्यो न बुला लूँ ? वह बहुत थक गये होगे ओर यहाँ आराम से उनको जरूर फायदा होगा। मैने उन्हे इलाहाबाद तार देने की तैयारी करली थी।

लका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्‌ठी मिली। लिफाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानो की मोहरे लगी हुई थी। मैने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख उसपर पडी थी २८ फरवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियो मे दिया गया था। इस तरह वह कोई साढे पाँच साल तक इधर-उधर सफर करता रहा। १९२६ मे मै जब कमला के साथ योरप रवाना हुआ तब पिताजी ने अहमदाबाद से वह ख़त लिखा था। इटालियन लॉयड स्टीमर के पते पर, जिससे कि मैं यात्रा करनेवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ है कि वह उस वक्त मुझे नही मिला और बहुतेरे स्थानो मे भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकघरो मे हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब सयोग है कि वह विदाई का पत्र था।

३४

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई उसी दिन और प्राय... समय बम्बई मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज मे त... श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जि... खयाल अब मुझे नही है, सीधे इलाहाबाद आये। गाधीजी तथा कार्य-समिति के ... और सदस्य वहाँ पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी मीटिंगे हुई, जि... यह बताया गया कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे क्या-क्या हुआ? मगर शुरू मे ही ... छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने खुद-बखुद अपने एडिनबरोवाले भाष... सम्बन्ध मे खेद प्रकट किया। उन्होने यह भी कहा कि अपने आसपास के वातावर... का मुझपर हमेशा असर हो जाता है और मै अत्युक्ति और शब्दाडम्बर म ... जाता हूँ।

इन प्रतिनिधियो ने हमे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सम्बन्ध मे ऐसी कोई मार्के की ... नही कही, जिसे हम पहले से नही जानते हो। हाँ, उन्होने यह अलबत्ते बताया कि वहाँ परदे के पीछे कैसी-कैसी साजिशे हुई, और फला 'लार्ड' या फला 'सर' ने खानगी ... क्या-क्या किया। हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तो की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओ की बनिस्बत इस बात को ज्यादा महत्व देते हु... दिखाई देते है कि बडे अफसरो ने खानगी बातचीत मे या गप-शप मे क्या-क्या कहा। लिबरल नेताओ के साथ हमारी जो कुछ बातचीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मजबूत हो गई कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स के निर्णयो ... कुछ भी वकत नही है। किसीने सुझाया—मै उनका नाम भूल गया हूँ—कि गाधीजी वाइसराय को मुलाकात के लिए लिखे और उनके साथ खुलकर बातचीत करले। ... इसपर रजामन्द हो गये। हालाकि मै नही समझता कि उन्होने फल-प्राप्ति की कोई आशा की हो। मगर अपने उसूल को सामने रखते हुए वह हमेशा मुखालिफो के सा... कुछ कदम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते है। ... चूँकि अपने पक्ष की सत्यता का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के ... ... कायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह ... से शायद कुछ ज्यादा था। वह हमेशा मानसिक परिवर्तन की कोशिश ... द्वेष के बन्धनो को तोडकर दूसरे की सदिच्छा और उच्च-भावनाओ ...

ने की कोशिश करते है। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्त्तन हो गया तो
ास का आना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी आ सका तो विरोध
हो जायगा और सघर्प की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारो
पने विरोधियो पर उन्होने इस तरह की वहुतेरी विजय प्राप्त की है, ओर यह
ा देने योग्य वात हे कि वह महज़ अपने व्यक्तित्व के जोर पर किसी विरोधी
ऱ्हसे अपनी तरफ कर लेते है। कितने ही आलोचक ओर निन्दक उनके व्यक्तित्व
- भावित होकर उनके प्रशसक वन गये, ओर हालाकि वह नुक्ताचीनी करते रहते
ागर उसमे कही उपहास या खिल्ली उडाने का नामोनिशान नही रहता।

चूंकि गाधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगो से मिलना
-द करते है जो उनसे मत-भेद रखते है। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलो
यक्तियो से व्यवहार करना एक वात है ओर ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी
ाज्यवाद की प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना विलकुल दूसरी वात है।
- वात को जानते हुए, गाधीजी कोई वडी आशा लेकर लार्ड अर्विन से मिलने नही
ये। सविनय भग-आन्दोलन अव भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड गया था,
-ाकि उधर सरकार से 'सुलह' करने की वातो का वडा जोर था।

- वातचीत का इन्तज़ाम फौरन हो गया और गाधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे
ह्ते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के वारे मे कोई वातचीत सजीदा
र पर हुई तो मै कार्य समिति के मेम्वरो को वुला लूंगा। कुछ ही दिनो वाद हमे
ल्ली का वुलावा आया। तीन हफ्ते तक वहाँ रहे। रोज मिलते और लम्बी-लम्बी
हस करते-करते थक जाते। गाधीजी कई वार लार्ड अर्विन से मिले। मगर कभी-
भी वीच मे तीन-चार रोज़ खाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार
न्दन मे इण्डिया-आफिस से सलाह-मशवरा किया करती थी। कभी-कभी देखने मे
रा-ज़रा-सी वात या कुछ शव्दो के कारण ही गाडी रुक जाती। एक ऐसा लफ्ज
ा सविनय-भग को स्थगित कर देना। गाधीजी वरावर इस वात को स्पप्ट करते
हे कि सविनय-भग आखिरी तौर पर न तो वन्द ही किया जा सकता है न छोडा
ा जा सकता हे, क्योकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगो के हाथ मे है।
ाँ, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड अर्विन को इस वात पर आपत्ति थी। वह
ेसा शव्द चाहते थे, जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भग छोड दिया गया। लेकिन
ह गाधीजी को मजूर नही होता था। आखिर 'रोक देना' शव्द इस्तैमाल किया
ाया। विदेशी कपडे और शराव की दूकानो पर धरना देने की वावत भी लम्वी-चौडी
हस हुई। हमारा वहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीजो पर गौर करने मे

लगा और मूलभूत बातो पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज-रोज की लडाई रोक दी जा। अधिक अनुकूल वातावरण मे आधार-भूत बातो पर गौर किया जा सकेगा। उस बातचीत को एक आरजी सुलह तक ले जानेवाली मान रहे थे, जिस असली विषयो पर आगे और बातचीत की जायगी।

उन दिनो दिल्ली मे हर तरह के लोग खिच-खिचकर आते थे। बहुत-से खासकर अमेरिकन, अखबार-नवीस थे और वे हमारी खामोशी पर कुछ नाराज वे कहते कि आपकी बनिस्वत तो हमे गांधी-अर्विन-बातचीत के बारे मे नई दि सेक्रेटरिएट से ज्यादा खबरे मिल जाती है। और यह बात सही थी। इनके बडे-बडे अल्कावधारी लोग थे जो गांधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने लिए दौड आते थे। क्योकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलंद जो हो गया था। लोगो को जो अबतक गांधीजी से और कांग्रेस से दूर रहे और जब-तब उनकी करते रहे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मजेदार लगता। कांग्रेस का बोलबोला होता हुआ दिखाई देता था, और कौन जाने आगे क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि कांग्रेस और उसके नेताओ के साथ मेल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमे दूसरे परिवर्तन की लहर आई दि दी। वे कांग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यों के प्रति जोरो के साथ अपनी प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे-इनसे कोई वास्ता नही है।

फिरकापरस्त लोग भी इन घटनाओ से जगे और उन्हे यह आशका पैदा हुई कही ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था मे उनके लिए कोई ऊँचा स्थान न रह जा और इसलिए कई लोग गांधीजी के पास आये और उनको यकीन दिलाया कि मसले पर हम समझौता करने को बिलकुल रजामन्द है। अगर आप शुरुआत कर दे तो समझौते मे कोई दिक्कत पेश न आयगी।

ऊँची और नीची सभी श्रेणियो के लोगो का सतत प्रवाह डा० अन्सारी के की ओर हो रहा था, जहाँकि गांधीजी और हममे से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फु के वक्त हम उन्हे दिलचस्पी से देखते और फायदा भी उठाते थे। कुछ सालो ने खास करके कस्बो मे और देहात मे रहनेवाले गरीबो के और उन लोगो के जो जेल ठूँस दिये गये थे, सपर्क मे आते रहते थे, लेकिन धनी-मानी और खुशहाल लोग गांधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। यह घटनाओ और स्थितियो के साथ अपना मेल मिलाना जानता है। क्योंकि उन्हे सत्ता और सफलता दिखाई दी वे उसी तरफ झुक गये और अपना

कान से उसका स्वागत करने लगे। उनमे कितने ही हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-सरकार के बूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत मे जो भी अन्य ई सरकार कायम होगी उसके भी उतने ही सुदृढ स्तम्भ वन जायँगे।

उन दिनो अक्सर मै सुबह गाधीजी के साथ नई दिल्ली मे घूमने जाया करता । यही एक ऐसा वक्त था कि मामूली तोर पर कोई आदमी उनसे वात करने का का पा सकता था, क्योकि उनका शेष सारा समय बटा हुआ था। एक-एक मिनट सी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहाँतक कि सुबह के घूमने का त भी किसीको वात-चीत के लिए, मामूली तोर पर किसी विदेश से आये हुए या सी मित्र को, दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते । हमने वहुत-से विषयो पर वात-चीत की। गुजिश्ता जमाने पर भी और मौजूदा लत पर भी, और खासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होने मुझे किस रह काग्रेस के भविष्य के वारे मे अपने एक विचार से आश्चर्य मे डाल दिया। मैंने ा खयाल कर रक्खा था कि आजादी मिल जाने पर काँग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट ायगी। लेकिन उनका विचार था कि काँग्रेस वदस्तूर रहेगी—सिर्फ एक शर्त होगी, क वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके मुताविक उसका कोई भी म्बर राज्य मे वैतनिक काम न कर सकेगा और अगर राज्य मे हुकूमत का पद ग्रहण रना चाहे तो उसे काग्रेस छोड देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नही है कि न्होने अपने दिमाग मे उसका कैसा ढाँचा विठाया था, मगर उसका तात्पर्य यह था क काग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और नि स्वार्थ भाव के कारण सरकार के वध तथा दूसरे विभागो पर जवर्दस्त नैतिक दवाव डाल सकेगी और उन्हे ठीक रास्ते र कायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे समझ लेना मुश्किल है और जिसमे बेशुमार दिक्कते पेश आती हैं। मुझे यह दिखाई पडता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ रख दे, तो इससे गाधीजी के विचारो का कुछ आधार समझने मे जरूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के विलकुल विपरीत है, क्योकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के मुताविक राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे को वनाने के लिए राज्यसत्ता पर कब्जा करने के खयाल पर वनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आज-कल अक्सर पाई जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दो मे "ज्यादा-से-ज्यादा गधो को ज्यादा-से-ज्यादा गाजरे खिलाना" है।

गाधीजी के लोक-तन्त्र का खयाल निश्चित रूप से आध्यात्मिक है। माप्न
मे उसका तादाद से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नही। उसकी
है सेवा और त्याग ओर वह नैतिक दबाव से ही काम लेनी है। हाल ही
अपने एक वक्तव्य मे (१७ सितबर १९३४) लोकतत्र की उन्होने व्याख्या
वह अपनेको 'पैदायशी लोकतन्त्र-वादी' मानते है और कहते है कि अगर 'मनुष्य
के निहायत गरीब-से-गरीब के साथ अपने-आपको बिल्कुल मिला देने मे, उनसे
हालत मे अपनेको न रखने की उत्कठा से और उनके समतल तक पहुँचने के
प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मै अपने लिए यह
करता हूँ।' आगे चलकर वह लोकतत्र की विवेचना इस प्रकार करते है—

"हमे यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के अपने लोकतत्री-स्वरूप
प्रभाव की इज्जत उसके वार्षिक अधिवेशन मे खिच आनेवाले प्रतिनिधियो या
की तादाद के कारण नही, बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी
रोज-ब-रोज बढती जा रही है। पश्चिमी लोकतत्र अगर अबतक विफल नही हु
तो कम-से-कम वह आजमाइश पर जरूर है। ईश्वर करे कि हिंदुस्तान मे
सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतत्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतत्र के अनिवार्य फल न होने चाहिएं जैसे
निसदेह हाल मे हो रहे है, और न बड़ी सख्या लोकतत्र की सच्ची कसोटी है।
थोडे-से व्यक्ति जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते है उनकी स्पिरिट, आशा
हौसले का प्रतिनिधित्व करते है, तो वह लोकतत्र के सच्चे भाव से असगत नही
मेरा यह मत है कि लोकतत्र का विकास बल-प्रयोग करके नही किया जा सकता है।
तत्र की भावना बाहर से नही लादी जा सकती, वह तो अदर से ही लाई जा सकती

यह निश्चय ही पश्चिमी लोकतत्र नही है, जैसा कि वह खुद कहते है।
कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्यूनिस्टो के लोकतत्र की धारणा से मि
जुलता है, क्योकि उसमे भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोडे-से कम्युनिस्ट
की असली आकाक्षाओ और आवश्यकताओ के प्रतितिधित्व का दावा कर
है, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक
हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते है। फिर भी वह समा
थोडी ही है और हमको बहुत दूर तक नही ले जाती है। जीवन को देखने और
तक पहुँचने के साधनो मे बहुत ज्यादा मतभेद है—मुख्यत उसे प्राप्त करने के
बल के सम्बन्ध मे।

गाधीजी चाहे लोकतत्री हो या न हो, वह भारत की किसान-जनता के प्रति

य है। वह उन करोड़ो की जाग्रत और सुप्त इच्छा-शक्ति के सार-रूप है। यह द उनका प्रतिनिधित्व करने से कही ज्यादा है, क्योकि वह करोडो के आदर्शो सजीव मूर्त्ति है। हाँ, वह एक औसत किसान नही है। वह एक अत्यन्त कुशाग्र-, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष है—बहुत दय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होने अपने विकारो और भावनाओ दमन करके उन्हे दिव्यत्व प्रदान किया है और आध्यात्मिक मार्गो मे प्रेरित किया उनका एक जबर्दस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर च लेता है और अपने प्रति भयकर वफादारी और ममता को दूसरो के हृदय मे डाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है ? और इतना ा पर भी वह एक महान् किसान है जो बातो को एक किसान दृष्टि-बिदु से देखते और जीवन के कुछ पहलुओ के बारे मे एक किसान की ही तरह अन्धे है। लेकिन रत किसान-भारत है, और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते है और उसके के-से-हलके कम्पनो का भी उनपर तुरत असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक र प्राय सहज-स्फूर्ति से जान लेते है और ऐन मौके पर काम करने की अद्भुत न रखते है।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नही, बल्कि खुद अपने लोगो और नजदीकी थियो के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए है। शायद दूसरे किसी ा देश मे आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम ता है पैगम्बरो जैसे धार्मिक पुरुषो को, जो पाप और मुक्ति और अहिसा की ति करते है, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी कदर करता है। भारत का धार्मिक ाहित्य बडे-बडे तपस्वियो की कथाओ से भरा पडा है, जिन्होने घोर त्याग और तप ा द्वारा बहुत पुण्य का सचय करके छोटे-छोटे देवताओ के प्राधान्य को हिला दिया तथा चलित व्यवस्था को उलट-पलट दिया। जब कभी मैने गाधीजी की अक्षय आध्यात्मिक ाण्डार से बहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथाये याद आ जाया करती है। वह सपष्टत दुनिया के मामूली नमूने के ाही है। वह तो विरले और और ही तरह के साचे मे ढाले गये है और उनकी आँखो न मानो एक अज्ञात हमारी तरफ घूरता रहता है।

हिन्दुस्तान पर, कस्बो के हिन्दुस्तान पर ही नही, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने इस पुत्र को अपने ही लायक और फिर भी अपनेसे इतना भिन्न एक देव-मूर्त्ति और एक प्रिय नेता बनावे। उन्होने पुरानी और धुधली स्मृतियो को फिर ताजा किया और

उसको खुद अपनी ही आत्मा की झलके दिखलाई। वर्तमान काल की घोर मुर्द-
कुचली जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य का ग-
स्वप्न देखने मे तसल्ली मालूम होती थी। मगर वह आया और उसने हमारे दि
आशा और हमारे जीर्ण-शीर्ण शरीर को बल दिया और भविष्य हमारे लिए एक
मोहक बन गया। इटालियनो के दोमुहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे
की तरफ और आगे भविष्यकाल की तरफ देखने लगा और दोनो के समन्व
कोशिश करने लगा।

हममे से कितने ही उस किसान दृष्टिकोण से कटकर अलग हो गये थे
पुराने आचार-विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी-से बन गये थे। हम अपनक
रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊँचे रहन सहन और समष्टीकर
भाषा मे सोचते थे। किसान के दृष्टिबिन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और
लोग, जिनकी सख्या बढ रही है, समाजवाद और कम्यूनिज्म को अनुकूल दृष्टि से
थे। ऐसी दशा मे यह प्रश्न है कि हमने कैसे गाधीजी की राजनीति मे उनका
दिया और किस तरह बहुतसी बातो मे उनके भक्त और अनुयायी बन गये?
सवाल का जवाब देना मुश्किल है और जो गाधीजी को नही जानता है उसे उस
से तसल्ली न हो सकेगी। बात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज है जिसकी व्या
नही हो सकती। वह एक अजीब बल है जिसका मनुष्य के अन्त करण पर अधि
हो जाता है और गाधीजी के पास यह शक्ति बहुत बडी तादाद मे है और जो
उनके पास आते हैं उन्हे वह अक्सर मुख्तलिफ रूप मे दिखाई पडते है। यह ठीक है
वह लोगो को आकर्षित करते है, मगर लोग जो उनतक गये हे और जाकर ठहर
सो तो अखीर मे अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही। यह ठीक है कि वे उनके जी
सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शो से भी सहमत न थे, कई बार तो वे
समझते भी न थे, मगर जिस कार्य को करने का उन्होने आयोजन किया वह एक
और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी कदर कर सकती
हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लबी परम्परा के बाद, जोकि हमारी मुर्दा
नीति मे पोषित चली आ रही थी, किसी भी कार्य का स्वागत ही हो सकता था।
एक बहादुराना और कारगर कार्य का तो, जिसके कि आसपास नैतिकता का तेज
भी जगमगा रहा हो, पूछना ही क्या! बुद्धि और भावना दोनो पर उसका असर
बिना नही रह सकता था। फिर धीरे-धीरे उन्होने अपने कार्य के सही होने का
कायल हमे कर दिया और हम उनके साथ हो लिये, हालाकि हमने उनके जीवन-
स्वीकार नही किया। कार्य को उसके मूलभूत विचार से अलग रखना

ात विधि नही है और उससे आगे चलकर तकलीफ ओर मानसिक सघर्ष हुए विना रह सकता। हमने मोटे तोर पर यह उम्मीद की थी कि गाधीजी चूँकि एक योगी है और वदलनेवाली हालतो का उनपर वहुत जल्दी असर होता है, इसलिए रास्ते पर आगे वढेगे जोकि हमे सही दिखाई देता था और हर हालत मे वह ता जिसपर वह चल रहे थे अवतक तो सही ही था और अगर आगे चलकर हमे -जुदे रास्ते चलना पडे तो उसका पहले से खयाल वनाना वेवकूफी होगी।

इस सवसे यह जाहिर होता है कि न तो हमारे विचार सुलझे हुए थे और न ‍ेचत। हमेशा हमारे दिल मे यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक तर्क-‍ हो मगर गाधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कही ज्यादा अच्छी तरह जानते है और शख्स इतनी जवरदस्त श्रद्धा भक्ति का अधिकारी वन जाता है उसके अन्दर कोई ी वात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओ और उच्च आकाक्षाओ माफिक हो। हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारो का कायल कर सके हम जनता को भी अपने मत का वना सकेगे, और हमे यह सभवनीय दिखाई ‍ता था कि हम उनको कायल कर सकेगे। क्योकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते ‍ भी वह एक पैदायशी वागी है, एक क्रान्तिकारी है, जो भारी-भारी परिवर्तनो के ‍ए कमर कसे रहते है और जिसे परिणाम की आशकाये रोक नही सकती।

किस तरह उन्होने इन सुस्त और पस्तहिम्मत लोगो को एक अनुशासन मे ‍ाँधकर काम मे जोत दिया—वल-प्रयोग करके या दुनयवी लालच देकर नही वल्कि ‍हज मीठी निगाह, कोमल शब्द और इनसे भी वढकर खुद अपने उदाहरण के द्वारा। ‍त्याग्रह की शुरुआत के दिनो मे, ठेठ १९१९ मे, मुझे याद है कि वम्वई के उमर ‍ोभानी उन्हे 'प्यारा स्लेव ड्राइवर' कहा करते थे। अव इस एक युग मे तो हालत और भी वदल गई है। उमर उन परिवर्तनो को देखने के लिए मौजूद नही है। मगर ‍म जो ज्यादा खुशकिस्मत रहे, १९३१ के शुरू महीनो से पीछे के जमानो को देखते है तो दिल उमग और अभिमान से भर जाता है। १९३१ का साल सचमुच हमारे लिए एक आश्चर्य का साल था और ऐसा मालूम होता था कि गाधीजी ने अपनी जादू की लकडी से हमारे देश का नकशा ही वदल दिया है। कोई ऐसा मूर्ख तो नही था जो यह समझता हो कि हमने व्रिटिश सरकार पर आखिरी विजय पा ली है। हमे जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई तात्लुक नही है। हमे तो अपने लोगो, अपनी वहनो, अपने नौजवानो और वच्चो पर, इस आन्दोलन मे जिस तरह उन्होने योग दिया उसपर, फख्र था। वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्ही भी लोगो के लिए कीमती था। मगर हमारे लिए तो जोकि गुलाम और दलित

है, दुहेरा उपकारी था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात ... जाय कि जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

खास मुझपर तो गांधीजी ने असाधारण कृपा और उदारता दिखाई ... मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें खास तौर पर मेरे नजदीक ला दिया है। मु... कुछ कहना होता था उसको वह बहुत ही धीरज के साथ सुनते थे और मेरी ... को पूरा करने के लिए उन्होंने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही ... सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना ... डालते रहे तो सम्भव है उन्हें समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकेंगे, और उन्होंने भी यह कहा था कि जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखाई देगा मैं एक-एक कदम ... जाऊँगा। उस वक्त मुझे यह लाजिमी-सा दिखाई देता था कि वह समाजवाद के सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था ... हिंसा, बेइन्साफी, खराबी और नाश से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखाई नहीं ... था। मुमकिन है कि साधनों से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नहीं। उस ... मैंने यही खयाल किया था। मगर अब मैं महसूस करता हूँ कि गांधीजी के आदर्श और समाजवाद के ध्येय में मूल भेद है।

अब हम फिर फरवरी १९३१ की दिल्ली में चलें। गांधी-अर्विन-बातचीत ... रहती थी। वह एकाएक रुक गई। कई दिनों तक वाइसराय ने गांधीजी को नहीं बुला... और हमें ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने ... सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी ... की रूप-रेखाओं और सविनय भंग पर (जोकि अभी उसूलन जारी था) विचार-विनिमय किया। हमें यकीन था कि ज्योंही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर ... जायगी त्योंही हमारे सबके लिए मिलकर बातचीत करने का मौका नहीं रह जायगा।

हम गिरफ्तारियों की अपेक्षा रखते थे। हमसे कहा गया था और यह ... भी दीखता था कि अबके सरकार कांग्रेस पर जोर का धावा बोलेगी। वह अबतक ... दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आखिरी तौर पर मिल लिये और ... ने आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव ... तौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने ... होने पर अपना वारिस मुकर्रर करदे और कार्य-समिति में जो स्थान खाली ... लिए भी मेम्बरों को नामजद करदे। स्थानापन्न कार्य-समितियों की ... बैठकें होती थीं और उन्हें किसी भी विषय में नई बात करने की बहुत कम ... । वे सिर्फ जेल जाने भर को थीं। और इसमें एक जोखम हमेशा ही लगी ...

। वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कार्रवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की
थति थोडी विषम हो जाय। इसमे स्पष्ट खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली मे कार्य-
मिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य
मिजद न किये जाने चाहिएँ। जबतक मूल कमिटी के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेगे
बतक वही पूरी कमिटी की हैसियत मे काम करेगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायँगे
ब कोई कमिटी नही रहेगी, और हमने जरा बढ-चढकर कहा कि कार्य-समिति की
त्ता उस अवस्था मे देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पास चली जायगी। और हम उनको
आवाहन करते है कि वे बिना किसी समझोते की भावना के लडाई को जारी रक्खे।

यह प्रस्ताव क्या था, सग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग इसमे दिखाया
या था और इसमे समझौते के लिए कोई गली-कूचा नही रक्खा गया था। इसके
ारा यह बात भी मजूर की गई थी कि प्रधान कार्यालय के लिए दिन-पर दिन यह
ुश्किल होता जाता था कि वह देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रक्खे और नियमित
रूप से हिदायते भेजे। यह लाज़िमी था। क्योकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्त्ता मशहूर स्त्री-
ुरुष थे और वे खुल्लमखुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते थे।
१९३० मे छिपे तौर पर हिदायते भेजने, रिपोर्टें मँगवाने और देखभाल करने के
लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह दिखा दिया
कि हम गुप्त खबरे देने के काम को बड़ी सफलता के साथ कर सकते है। लेकिन कुछ
हद तक यह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नही खाती थी और गाँधीजी इसके
खिलाफ थे। तो अब प्रधान कार्यालय से हिदायते मिलने के आभाव मे हमे काम की
जिम्मेदारी मुकामी लोगो पर ही छोडनी पडी थी। क्योकि नही तो वे ऊपर से हिदायते
आने की राह देखते बैठते और कुछ काम नही करते। हाँ, जब-जब मुमकिन होता
हिदायते भी भेजी जाती थी।

इस तरह हमने यह तथा दूसरे प्रस्ताव पास किये (इनमे से कोई न तो प्रकाशित
किया गया और न उनपर अमल ही किया गया। क्योकि बाद को हालात बदल
गये थे।) और जाने के लिए बिस्तर बाँध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड अर्विन की
तरफ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम
आधी रात तक गाँधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह
रात को कोई २ बजे आये, और हमे जगाकर कहा कि राजीनामा हो गया है। हमने
मसविदा देखा। बहुतेरी कलमो को तो मै जानता था, क्योकि अक्सर उनपर चर्चा
होती रहती थी। लेकिन कलम न० २ [1] जोकि ऊपर-ही-ऊपर थी और जो सरक्षण

[1] दिल्ली-समझौते की कलम न० २ (५ मार्च, १९३१) यह है:—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न

आदि के वारे मे थी, उसे देखकर मुझे जवरदस्त धक्का लगा। मै उसके लि
तैयार न था। मगर मै उस वक्त कुछ न वोला और हम सव सो गये।

अव कुछ कहने की गुजाइश भी कहाँ रह गई थी ? वात तो हो चुकी थी।
नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राजी न भी हो तो कर क्या सकते
क्या उनका विरोध करे ? क्या उनसे अलहदा हो जायँ ? अपने मतभेद की
करदे ? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय।
अन्तिम फैसले पर उसका क्या असर पड सकता था ? कम-से-कम अभी कुछ
लिए तो सविनयभग-आन्दोलन खतम हो चुका था। अव जवकि सरकार
घोषित कर सकती थी कि गाधीजी समझौता कर चुके है, तो कार्य-समिति
आगे नही वढा सकती थी।

मै इस वात के लिए तो विलकुल रजामद था, जैसे कि मेरे दूसरे साथी भी
कि सविनय भग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता
लिया जाय। हममे से किसीके लिए यह आसान वात न थी कि अपने साथियों
वापस जेल भेज दे या जो कई हज़ार लोग पहले से जेलो मे पडे हुए है उनको
पडा रहने देने के साधन वने। जेलखाना ऐसी जगह नही है जहा हम अपने दिन
रात गुजारा करे, हालाकि हम वहुतेरे अपनेको उसके लिए तैयार करते है और उन
कुचल डालनेवाले दैनिक क्रम के वारे मे वड़े हलके दिल से वाते करते है। इसके
अलावा तीन हफ्ते से ज्यादा दिन गाधीजी और लार्ड अर्विन के वीच जो वात
उनसे लोगो के दिलो मे ये आशाये वँध गईं कि समझौता होनेवाला है और
अगर उसके आखिरी तौर पर टूट जाने की खवर मिली तो उससे उनको निराशा
होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सव मेम्वर अस्थायी समझोते के (क्योंकि
इससे अधिक वह हो भी नही सकता था) हक मे थे, वशर्ते कि उसके द्वारा हमें
अपनी कोई अत्यन्त महत्व की वात न छोडनी पडती हो।

जहातक मुझसे ताल्लुक है, जिन दूसरी मदो पर काफी वहस-मुवाहिसा हुआ उनमें
मुझे इतनी ज्यादा दिलचस्पी नही थी, मुझे सवसे ज्यादा खयाल दो वातो का था।

पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध-शासन की
उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे पहले विचार हो
है। वहाँ जो योजना वनी थी, सघ-शासन उसका एक अनिवार्य अग है, इसी
भारतीय-उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक
, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और जिम्मेदारियों
दायगी जैसे विषयों के प्रतिवन्ध या सरक्षण भी उसके आवश्यक भाग है।"

तो यह कि हमारा स्वतत्रता का ध्येय किसी भी कदर नीचा न किया जाय, ओर
रा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानो की स्थिति पर क्या असर होगा ?
ारा लगानबन्दी-आन्दोलन अवतक बहुत कामयाव रहा था, और कुछ इलाको मे तो
श्कल से लगान वसूल होने पाया था। किसानो ने खूब मजबूती दिखाई थी, ओर ससार
कृषि-सम्बन्धी अवस्थाये ओर चीजो के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए
ान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक
र आर्थिक दोनो तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई आरजी समझौता हो
ता है तो सविनय-भग वापस ले लिया जायगा और उसका राजनैतिक आधार
कल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावो की इतनी गिरावट के ओर
सानो की मुकर्रर किस्त के मुकाबिले मे कुछ भी देने की असमर्थता के विषय मे
ा होगा ? गाधीजी ने लार्ड अर्विन से यह मुद्दा बिलकुल साफ कर लिया था। उन्होने
हा था कि यद्यपि करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानो को
ह सलाह नही दे सकते कि वे अपनी ताकत या हैसियत से ज्यादा दे। चूँकि यह प्रान्तीय
ामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नही हो सकी थी। हमे यह यकीन
लाया गया था कि प्रान्तीय-सरकार इस विषय मे खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी
ौर अपने बस-भर किसानो की तकलीफ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोल-
ोल आश्वासन था। लेकिन उन हालात मे इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था।
स तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खत्म ही कर दिया गया था।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे मकसद का महत्वपूर्ण प्रश्न बाकी रहा
ौर समझौते की कलम नम्बर २ से मुझे यह मालूम पडा कि यह भी खतरे मे जा
डा है। क्या इसीलिए हमारे लोगो ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई ? क्या
मारी बडी-बडी जोरदार बातो और कामो का खात्मा इसी तरह होना था ?
या कॉग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी ?
स तरह के विचारो मे डूबा हुआ मै मार्च की उस रातभर पडा रहा और अपने
दिल मे ऐसा खालीपन महसूस करने लगा कि मानो उसमे से कोई कीमती चीज सदा के
लिए निकल गई हो।

तरीका यह दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत वे बरसते नही।[1]

१. मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

"This is the way the world ends,
Not with a bang, but a whimper."

३५

कराची-कॉंग्रेस

गांधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन घूमने के वक्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक बात-चीत की, जिसमे उन्होने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो अत्यन्त महत्व की बात खो दी गई है और न सिद्धान्त ही छोडा गया है। ... कलम नम्बर २ का एक खास अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की ... मेल खा सके। उनका आधार था खासकर ये शब्द—"भारत के हित मे"। यह मुझे खीचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका कायल तो न हुआ, लेकिन उनकी ... चीत से मुझे कुछ तसल्ली जरूर हुई। तो भी मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण ... को एक तरफ रख दे, एकाएक कुछ कर डालने के आपके तरीके से मैं डर गया ... आपमे कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल के निकट-सम्पर्क के बाद भी ... कतई नही समझ सका हूँ और इसने मेरे मन मे भय पैदा कर दिया है। उन्होंने ... अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया, मगर कहा कि मैं खुद भी इस ... जवाब नही दे सकता, न यही पहले से बता सकता हूँ कि यह हमे किस ... ले जायगा।

एक-दो दिन तक मैं बडी दुविधा मे पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूँ ... अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वक्त गुजर चुका था और मैं जो-कुछ कर सकता था वह यह कि अमलन उसे म... करते हुए उसूलन अपनेको उससे अलग रक्खूँ। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्व... मिल जाती, लेकिन हमारे बडे प्रश्न पर इसका क्या असर पड सकता था? तब ... यह अच्छा न होगा कि मैं उसे खूबसूरती के साथ मजूर कर लूँ और उसका अ... से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊँ, जैसा कि गाधीजी ने किया? समझौते के बाद फौरन् अखबारवालो से बात-चीत करते हुए गाधीजी ने उसी अर्थ पर जोर दिया और कहा कि हम स्वतन्त्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल है। वह लॉर्ड अर्विन के ... गे और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे ... फहमी न होने पावे। उन्होने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेंस ... प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतन्त्रता ही हो सकता है और ... बढाने के लिए ही वहां जाया जा सकता है। अवश्य ही लार्ड अर्विन इस बात ...

न तो नही सकते थे, लेकिन उन्होने यह मजूर किया कि हॉं, कॉंग्रेस को उसे पेश ने का हक है ।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना ओर तहेदिल से उसके लिए काम करना किया । यह वात नही कि ऐसा करते हुए मुझे वहुत मानसिक ओर शारीरिक श न हुआ हो । मगर मुझे वीच का कोई मार्ग नही दिखाई देता था ।

समझौते के पहले तथा वाद मे लॉर्ड अर्विन के साथ वातचीत के दर्म्यान धीजी ने सत्याग्रही कैदियो के अलावा दूसरे राजनैतिक कैदियो की रिहाई की भी रवी की थी । सत्याग्रही कैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जाने ले ही थे । लेकिन दूसरे ऐसे हजारो कैदी थे जो मुकदमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नज़रवन्द भी थे जो विना मुकदमा चलाये, विना इलजाम लगाये या सजा दये ही जेलो मे भर दिये गये थे । इनमे से कितने ही नजरवन्द वर्षो से वहॉं पडे हुए और उनके वारे मे सारे देश मे नाराज़गी फैली हुई थी—खासकर वगाल मे जहॉं के विना मुकदमा चलाये कैद कर देने के तरीके से वहुत ज्यादा काम लिया गया । गेलीन टापू के (या शायद ड्रेफस के मामले मे) जनरल स्टाफ के मुखिया की तरह भारत-सरकार का भी मन्तव्य था कि सवूत का न होना ही वढिया सबूत का होना है । सवूत न होना तो गैर-सावित किया ही नही जा सकता । नजरवन्दो पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली या अप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी है । गाधीजी ने समझौते के अग-स्वरूप तो नही, परन्तु इसलिए कि वगाल मे राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति मे आ जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी । मगर सरकार इसपर रजामन्द न हुई ।

भगतसिह की फॉसी की सज़ा रद कराने के लिए गाधीजी ने जो जोरदार पैरवी की उसको भी सरकार ने मजूर नही किया । उसका भी समझौते से कोई सम्वन्ध न था । गाधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर जोर इसलिए दिया था कि इस विषय पर भारत मे वहुत तीव्र लोक-भावना थी । मगर उनकी पैरवी वेकार गई ।

उन्ही दिनो की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतकवादियो की मन स्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया । मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या वाद, यह घटना हुई है । हमारे स्थान पर एक अजनवी मुझसे मिलने आया । मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आजाद है । मैंने उसे पहले तो कभी नही देखा था । हॉं, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम जरूर सुना था जव कि १९२१ मे असहयोग-आन्दोलन के जमाने मे स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था । उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल का नियम

भग करने के अपराध मे जेल मे उसे बेत लगवाये गये थे। बाद को उत्तर।
वह आतकवादियो का एक मुख्य आदमी बन गया। इसी तरह का कुछ-कुछ ...
सुन रक्खा था। मगर इन अफ़वाहो मे मैने कोई दिलचस्पी न ली थी। इसलिए
आया तो मुझे ताज्जुब हुआ। वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि ...
छूट जाने से आम तौर पर ये आशाये बँधने लगी कि सरकार और कांग्रेस म...
न-कुछ समझौता होनेवाला है। वह मुझसे जानना चाहता था कि अगर कोई स...
झौता हो तो हमारे दल के लोगो को शान्ति मिलेगी या नही? क्या हमारे साथ...
भी विद्रोही का-सा बर्ताव किया जावेगा? जगह-ब-जगह हमारा पीछा इसी त...
किया जायगा? हमारे सिर के लिए इनाम घोषित ही होते रहेगे और हमारे सा...
फाँसी का तख्ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या हमारे लिए शान्ति के साथ का...
धधे मे लग जाने की भी कोई सभावना होगी? उसने कहा कि खुद मेरा तथा ...
दूसरे साथियों का यह विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीके बिलकुल बेकार
और उनसे कोई लाभ नही है। हाँ, वह यह मानने के लिए तैयार नही था कि शान्ति
मय साधनो से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी
सशस्त्र लडाई का मौका आ सकता है, मगर वह आतकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की
आज़ादी के लिए तो उसने आतकवाद को खारिज ही कर दिया था। पर उसने फिर
पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौका न दिया जाय, रोज-ब-रोज
मेरा पीछा किया जाय, तो मै क्या करूँगा? उसने कहा—इधर हाल मे जो आतकवादी
घटनाये हुई है वे ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए की गई है।

मुझे आजाद से यह सुनकर खुशी हुई थी और बाद मे उसका और सबूत
भी मिल गया कि आतकवाद पर से उन लोगो का विश्वास हट रहा है। एक दल के
विचार के रूप मे तो वह अवश्य ही प्राय मर गया है, और जो कुछ व्यक्तिगत
इक्की-दुक्की घटनाये हो जाती है वे या तो किसी वजह से या बदले मे या बचाव मे
या किसीकी लहर से हुई घटनाये है, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही
इसके यह मानी नही है कि पुराने आतकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी
बन गये है या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये है। हाँ, अब वे आतकवादियो की
भाषा मे नही सोचते, जैसा कि पहले किया करते थे। मुझे तो ऐसा मालूम होता है
उनमे से बहुतो की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फासिस्ट बन गई थी।

मैने चन्द्रशेखर आजाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की
... भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिबिन्दु का कायल हो जाय। लेकिन
असली सवाल का, कि 'अब मैं क्या करूँ?', मेरे पास कोई जवाब न था

ो कोई बात होती हुई नही दिखाई देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसो को
ई राहत या शान्ति मिले। मै जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि
, भविष्य मे आतकवादी कार्यो को रोकने की कोशिश करे। क्योकि उससे हमारे
े कार्य को तथा खुद उसके दल को भी नुकसान पहुँचेगा।

दो-तीन हफ्ते बाद ही जब गाधी-अर्विन-बातचीत चल रही थी, मैने देहली मे
ना कि चद्रशेखर आजाद पर इलाहाबाद मे पुलिस ने गोली चलाई और वह मर
गा। दिन के वक्त किसी एक पार्क मे वह पहचाना गया और पुलिस के एक बडे
र ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड के पीछे से उसने अपनेको बचाने की कोशिश
ा। दोनो तरफ से गोलियाँ चली। एक-दो पुलिसवालो को घायल कर आखिर
ोली लगने से वह मर गया।

आरजी सुलह होने के बाद शीघ्र ही मै दिल्ली से लखनऊ पहुँचा। हमने सारे
श मे सविनय भग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कार्रवाई की, और कॉग्रेस की
मामाम शाखाओ ने हमारी हिदायतो का पालन बडे ही नियम के साथ किया। हमारे
ाथियो मे ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज थे, ओर कितने ही तो आग-
बूला भी थे। इधर उन्हे सविनय भग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास
कोई साधन न था। मगर जहाँतक मुझे मालूम ह, बिना एक भी अपवाद के उस सारे
विशाल सगठन ने अमल के द्वारा इस नई व्यवस्था को स्वीकार किया, हालाकि कितने
ही लोगो ने उसकी आलोचना भी की थी। मुझे खास तौर पर दिलचस्पी इस बात पर
थी कि हमारे सूबे मे इसका क्या असर होगा ? क्योकि वहाँ कुछ क्षेत्रो मे करबदी-
आन्दोलन तेज़ी से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही
कैदी रिहा हो जायें। वे हज़ारो की तादाद मे छूटते थे और कुछ समय बाद सिर्फ वही
लोग जेल मे रह गये जिनका मामला वहम-तलब था —उन हजारो नजरबन्दो के
और उन लोगो के अलावा जो हिंसात्मक कार्यो के लिए सजा पाये हुए थे और जो
रिहा नही किये गये थे।

ये जेल से छूटे हुए कैदी जो अपने गॉवो और कस्बे मे गये तो स्वभावत लोगो
ने उनका स्वागत किया। कई लोगो ने सजावट भी की, बन्दनवारे लगवाई, जुलूस
निकाले, सभाये की, भाषण हुए और स्वागत मे मानपत्र भी दिये गये। यह सब कुछ
होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। मगर वह
ज़माना जबकि चारो ओर पुलिस की लाठियाँ-ही-लाठियाँ दिखाई देती थी, सभा और
जुलूस जबर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले ज़रा
बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित् हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालो मे विजय का

भाव भी आ गया था। यो अपनेको विजयी मानने का शायद ही कोई कारण ... लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल मे स्पिरिट कुचल न दी गई हो तो) स्वाभाविक आनन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुड-के-झुड लोगो के साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ जाता है।

मैने इस बात का जिक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बडा ऐतराज किया था, और हमपर इसके लिए इल्जाम लगाया था। हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण मे रहने और पाले-पोसे जाने के कारण शासन के सबन्ध मे ऐसे फौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का ... या समर्थन प्राप्त नही होता, उनके नजदीक उस चीज के कमज़ोर हो जाने से ... दुखदाई बात दूसरी नही हो सकती जिसे वे अपना रोब समझते है। जहातक ... पता है, हममे से किसीको इसका कोई खयाल न था और जब हमने बाद को यह ... कि सरकारी अफसर ठेठ शिमला-शैल से लेकर नीचे मैदान तक लोगो की इस ... पर सिर से पैर तक आग-बगूला होने लगे और ऐसा अनुभव करने लगे मानो ... अभिमान पर चोट पड़ी है, तो उसपर हम आश्चर्य से दग रह गये। जो अखबार ... विचारो की प्रतिध्वनि करते है वे तो अबतक भी इससे बरी नही हुए है। अब ... हालाँकि ३-३॥ साल हो गये है, उन साहसिक और बुरे दिनो का, जबकि उनके म... नुसार काग्रेसी इस तरह विजय-घोष करते फिरते थे कि मानो उन्होने कोई बडी ... फतह हासिल की हो, जिक्र भय से कांपते हुए करते है। अखबारो मे सरकार ने ... उनके दोस्तो ने जो क्रोध उगला वह हमारे लिए एक नई बात थी। उससे पता ... कि वे कितने घबरा गये थे, उन्हे अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पड़ा ... जिससे उनके मन मे तरह-तरह की विषमताये आ गई थी। यह एक अनोखी बात ... कि थोडे-से जुलूसो से और हमारे लोगो के कुछ भाषणो से उनके यहा इतना तहलका मच गया।

सच पूछो तो काग्रेस के साधारण लोगो मे ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने' ... कोई भाव नही था और नेताओ मे तो और भी नही। लेकिन हाँ, अपने भाइयो और बहनो के त्याग और साहस पर हम लोगो के अन्दर एक विजय की भावना जरूर थी। देश ने १९३० मे जो कुछ किया उसपर हमे फख्र जरूर है। उसने हमे अपनी ही निगाहो मे ऊँचा उठा दिया, हमे आत्म-विश्वास प्रदान किया, और इस बात ... से हमारे छोटे-से छोटे स्वयसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊंचा हो जाता है। ... यह भी अनुभव करते थे कि इस महान् आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान ... तरफ खीच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमा...

मजिलेमकसूद के ज्यादा नजदीक पहुँचाया । इन सबका 'सरकार को हराने' से ताल्लुक न था, और वास्तव मे तो हममे से बहुतो को यही खयाल रहा है कि ी-समझोते मे तो सरकार ही ज्यादा फायदे मे रही है । इसमे से जिन लोगो ने कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर है ओर एक बडा और मुश्किल म सामने आने को है, वे सरकार के मित्रो के द्वारा लडाई को उकसाने और ी-समझौते की स्पिरिट को तोडने के दोषी बताये गये ।

युक्तप्रान्त मे अब हमे किसानो के मसले का सामना करना था । हमारी नीति यह भी थी कि जहाँतक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय ओर, लेए, हमने तुरत ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू करदी । ा दिनो के बाद सूबे के कुछ आला अफसरो से—कोई बारह साल तक हमने इधर कारी तोर पर कोई व्यवहार नही रक्खा था—मै किसानो के मामले पर चर्चा करने लेए मिला । इस विषय मे हमारी लबी लिखा-पढी भी चली । प्रान्तीय कमिटी ने रे प्रान्त के एक प्रमुख व्यक्ति गोविन्दवल्लभ पन्त को एक मध्यस्थ के तौर पर त किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के सपर्क मे रहे । सरकार की तरफ से ातें मान ली गई कि हाँ, किसान वाकई सकट मे है, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह र गये है, और एक औसत किसान लगान देने मे असमर्थ है । सवाल सिर्फ यह था कितनी छूट दी जाय, लेकिन इस विषय मे कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के थ मे था । मामूल के मुताबिक तो सरकार जमीदारो से ही ताल्लुक रखती है, सीधा श्तकारो से नही, और लगान कम करना या उसमे छूट देना जमीदारो का ही काम । लेकिन जमींदारो ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया जबतक सरकार भी नको उतनी ही छूट न दे दे । और उन्हे तो किसी भी सूरत मे अपने काश्तकारो को ट देने की ऐसी पडी नही थी । इसलिए फैसला तो आखिर सरकार को ही करना था ।

प्रान्तीय काग्रेस कमिटी ने किसानो से कह दिया था कि कर-बन्दी की लडाई रोक ा गई है ओर जितना हो सके उतना लगान दे दो । मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत उसने काफी छूट चाही थी । बहुत दिनो तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नही की । ालिबन गवर्नर सर माल्कम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दक्कत महसूस कर रही थी । इसमे तुरन्त और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की जरूरत थी । ताहम कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी कार्रवाई करने मे हिचकते थे, और सर माल्कम हेली के आने तक (गर्मियो तक) मामले को आगे सकेलते रहे । इस देरी और ढील-पोल ने उस मुश्किल हालत को और भी खराब बना दिया, जिनसे काश्तकारो को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पडा ।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ खराब हो गई। जेल म न
तबीयत अलील रही। उसके बाद पिताजी की मृत्यु से धक्का लगा और फिर
ही दिल्ली मे सुलह की चर्चा का जोर पडा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए
साबित हुए। लेकिन कराची-काग्रेस जाने तक मै कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने मे है, जहाँकि पहुँचना
है। बीच मे बडा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सो से
जुदा पड जाता है। लेकिन फिर भी वहा दूर-दूर के हिस्सो से बहुत लोग आये
वे उस समय देश का जैसा मिजाज था उसको सही तौर पर जाहिर करते थे।
के दिलो मे शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताकत देश मे
थी उसके प्रति गहरा सन्तोष था। काग्रेस-सगठन के प्रति, जिसने कि देश की
पुकार और माँग का बडी योग्यता-पूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासित
त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलाई थी, उनके मन मे
था। अपने लोगो के प्रति विश्वास का भाव था और उसके उत्साह मे सयम दिख
पडता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले जबर्दस्त प्रश्नो और खतरो के प्रति जि
दारी का गहरा भाव भी था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर
जानेवाले कार्यों के मगलाचरण थे और वे यो ही बिना सोचे-विचारे न बोले जाते
न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौते को यद्यपि बडी बहुमति ने पास कर दिया
तो भी वह लोकप्रिय नही था, और न पसन्द ही किया गया था, और लोगो के
यह भय काम कर रहा था कि यह हमे तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थिति
लाकर पटक देगा। कुछ ऐसा-सा दिखाई पडता था कि देश के सामने जो सवा
उनको यह अस्पष्ट कर देगा। काग्रेस के अधिवेशन के ठीक पहले ही
और देश की नाराजगी का बाइस पैदा हो गया था—भगतसिह का फाँसी पर लट
जाना। उत्तर-भारत मे इस भावना की लहर तेज थी और कराची उत्तर मे ही
के कारण वहाँ पजाब से बडी तादाद मे लोग आये थे।

पिछली किसी भी काँग्रेस की बनिस्बत कराची-काँग्रेस मे तो गाधीजी की
भी बडी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल हिन्दु
के बहुत ही लोकप्रिय और जोरदार आदमी थे और उन्हे गुजरात के सफल ने
की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमे दौरदौरा तो गाधीजी का ही था।
गफ्फारखा के नेतृत्व मे सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालो का एक अच्छा दल
पहुँचा था। लालकुर्तीवाले बडे लोकप्रिय थे। जहाँ कही भी जाते लोग तालि
स्वागत करते। क्योकि अप्रैल १९३० से गहरी उत्तेजना दिखाई जाने पर

ने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर छोडी है। लालकुर्ती से कुछ लोगो को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्यूनिस्ट या वाम-पक्षीय दूर-दल के थे। सच पूछो तो उनका नाम खुदाई खिदमतगार था और वह सगठन ांस के साथ मिलकर काम करता था (बाद को १९३१ मे काग्रेस का एक अभिन्न बना लिया गया था)। वे लालकुर्ती वाले महज इसलिए कहलाते थे कि उनकी जरा पुराने ढग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम मे कोई आर्थिक नीति शामिल न वह तो राष्ट्रीय था और उसमे सामाजिक सुधार भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव मे दिल्ली-समझोता और गोलमेज-कान्फ्रेन्स का विषय। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप मे उसे पास किया था उसे मैने अवश्य ही मजूर लिया था। मगर जब गाधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन मे उसे पेश करने के लिए ा, तो मे जरा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ था। पहले मैने इन्कार दिया, मगर बाद को मुझे यह अपनी कमजोरी और असन्तोपजनक स्थिति दिखाई। या तो मुझे इसके हक मे होना चाहिए या इसके खिलाफ, यह मुनासिब न कि ऐसे मामले मे टालमटोल करूँ और लोगो को अटकले बाँधने के लिए स्वतन्त्र ड दूँ। अत बिलकुल आखिरी क्षण मे खुले अधिवेशन मे प्रस्ताव आने के कुछ ही नट पहले मैने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण मे मैने अपने हृदय भाव ज्यो-के-त्यो उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की वे उस प्रस्ताव को तहेदिल से मजूर कर ले। मेरा वह भाषण जो ऐन वक्त पर न्त स्फूर्ति से दिया गया और जो हृदय के अन्तस्तल से निकला था, जिसमे न कोई लकार था न सुन्दर शब्दावली, कदाचित् मेरे उन कई भाषणो से ज्यादा सफल हा जिनके लिए ज्यादा ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।

मै और प्रस्तावो पर भी बोला था। इनमे भगतसिह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय है। आखिरी प्रस्ताव मे मेरी खास दिलचस्पी थी। क्योकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस मे एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीयता की ही दिशा मे सोचती थी और आर्थिक प्रश्नो के मुकाबिले से बचती रहती थी। जहाँतक ग्राम-उद्योगो से और आम तौर पर स्वदेशी को बढावा देने से ताल्लुक था, उसको छोडकर कराची वाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगो और नौकरियो के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायो के प्रचार के द्वारा गरीबो का बोझा कम करके अमीरो पर बढाने के लिए एक बहुत छोटा कदम, समाजवाद की दिशा मे, उठाया गया, लेकिन वह समाजवाद कतई न था। पूँजीवादी राज्य भी उसकी प्राय हर बात को आसानी से मजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और नि सार प्रस्ताव ने भारत-सरकार के बड़े-बड़े [illegible] भारी और गहरे विचार मे डाल दिया। कदाचित उन्होंने अपनी सदा की [illegible] के मुताबिक यह भी कल्पना की कि बोल्शेविकों का रुपया लुक-छिपकर काग[illegible] पहुँचा है और कॉंग्रेस के नेताओ को नीति-भ्रष्ट कर रहा है। एक [illegible] राजनैतिक अन्त पुर मे रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे-हटे, गुप्त वातावरण [illegible] हुए उनके दिमाग को रहस्य और भेद की कहानियाँ और कल्पित कथाओं के [illegible] का बड़ा शोक रहता है। और फिर ये किस्से एक रहस्यपूर्ण ढग मे थोड़ा-थोड़ा [illegible] अपने प्रीति-प्राप्त अखबारो मे दिये जाते है और साथ मे यह झलकाया जाता [illegible] यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते है। उनके इस मान[illegible] लित तरीके से मौलिक अधिकार वगैरा सम्बन्धी कराची के प्रस्तावो का बार-बार [illegible] किया गया है और मै उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि वे इस प्रस्ताव [illegible] सरकारी सम्मतियो के निदर्शक है। किस्सा यहाँतक कहा जाता है कि एक [illegible] व्यक्ति ने, जिसका कम्यूनिस्टो से ताल्लुक है, प्रस्ताव का या उसके ज्यादातर हिस्[illegible] ढाचा बनाया है और उसने कराची मे वह मेरे मत्थे मढ़ दिया। उसपर मैंने गा[illegible] को चुनौती दे दी कि या तो इसे मजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरी मुखा[illegible] फत के लिए तैयार रहिए। और गॉंधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत [illegible] तथा आखिरी दिन जबकि विषय-समिति और कॉंग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उ[illegible] सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहातक मुझे पता है, यों साफ-साफ लिया न[illegible] गया है। लेकिन तरह-तरह के इशारो से मालूम हो जाता है कि उनकी मशा कि[illegible] है। मुझे छिपे तरीको और और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नही, इसलि[illegible] मैं सीधे ही कह दूँ कि उनकी मशा शायद एम० एन० राय से है। शिमला [illegible] दिल्ली के ऊचे आसनवालो के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा [illegible] एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-प्रवृत्ति रखनेवाले' कराची के उस सीधे-सा[illegible] प्रस्ताव के बारे मे क्या खयाल करते है। उन्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि उ[illegible] तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते है। क्योंकि उन[illegible] मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियो की मनोवृत्ति का एक नाम[illegible] उदाहरण है।

जहातक गाधीजी से ताल्लुक है, उनमे मेरी घनिष्ठता पिछले १७ सालो [illegible] मुझे उन्हे बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह खयाल कि मै [illegible] नी द, या उनसे सौदा करूँ, मेरी निगाह मे राक्षसी है। हा, हम एक दूसर[illegible]

। लिहाज रखते हैं और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते हैं,
कन हमारे आपस के व्यवहारों में बाजारू तरीकों से हरगिज काम नहीं लिया
सकता।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का ख्याल पुराना है। कुछ सालों
युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर
ो थी कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। १९२९
उसने अ० भा० का० कमिटी में कुछ हद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार करा लिया
। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली में, फरवरी १९३१ में, जबकि मैं गांधीजी के
थ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का जिक्र किया था और उन्होंने
र्थिक विषयों पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने मुझसे
ा था कि कराची में इस विषय को उठाना और इस विषय में एक प्रस्ताव बनाकर मुझे
खाना। कराची में मैंने मसविदा बनाया और उन्होंने उसमें बहुतेरे परिवर्तन सुझाये
ार सूचनायें कीं। वह चाहते थे कि कार्य-समिति में पेश करने के पहले हम दोनों
की भाषा पर सहमत हो जायँ। मुझे कई मसविदे बनाने पड़े और इससे इस मामले
कुछ दिन की देरी हो गई। आखिर गांधीजी और मैं दोनों एक मसविदे पर सहमत
गये और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति में पेश किया
या। यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और
मेम्बरों को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी वह कमिटी में और कांग्रेस
आसानी से पास हो गया और बाद में अ० भा० का० कमिटी को सौंप दिया गया
वह निर्दिष्ट दिशा में उसको और विषद और व्यापक बनावे।

हां, जब मैं इस प्रस्ताव का खर्रा बना रहा था तब कितने ही लोगों से, जो मेरे
रे पर आया करते थे, इसके बारे में मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था।
गर एम० एन० राय से इसका कतई कोई ताल्लुक नहीं था, और मैं यह अच्छी
रह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नहीं करेंगे और इसकी खिल्ली तक
उड़ावेंगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद में एम० एन० राय से
मेरी मुलाकात हुई थी। वह एक रोज शाम को अकस्मात हमारे घर आये। मुझे पता
नहीं था कि वह हिन्दुस्तान में हैं। ताहम मैंने उन्हें फौरन पहचान लिया, क्योंकि उन-
को मैंने १९२७ में मास्को में देखा था। कराची में वह मुझसे मिले थे, मगर शायद
पांच मिनट से ज्यादा नहीं। पिछले कुछ सालों में राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा
करते हुए मेरे खिलाफ उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है, और अक्सर मुझे चोट पहुँचाने

मे कामयाब भी हुए है। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद है, ताहम आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ्तार हुए और मुसीबत तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोडी थी) उनका करूँ। मै उनकी तरफ आकर्षित हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देख मै उनकी तरफ इसलिए भी खिचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, हर आदमी ने छोड दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पडी हुई थी ही। स्तान के राष्ट्रीय दल के लोगो की उनकी ओर दिलचस्पी नही थी। और ना हिन्दुस्तान मे अपनेको कम्यूनिस्ट कहते है वे विश्वासघाती समझकर उनकी करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालो तक रूस मे रहने और कोमिनटर्न के साथ सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड गये थे, या जुदा कर दिये गये थे। क्यो हुआ इसका मुझे पता नही है, और सिवा कुछ आभास के न अबतक जानता हूँ कि उनके मौजूदा विचार क्या है और पुराने कम्यूनिस्टो से किस बात उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्राय हरेक के द्वारा छोडे जाते देखकर मुझे पीडा हुई और अपनी आदत के खिलाफ मै उनके लिए बनी गई डिफेस कमिटी मे शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियो से, अबसे कोई तीन साल पहले से, वह जेल मे है, बीमार है और प्राय तनहाई मे रह रहे है।

कराची मे कांग्रेस-अधिवेशन का एक आखिरी कार्य था कार्य-समिति का चुनाव। यो तो उसका चुनाव अ० भा० कॉ० कमिटी द्वारा होता है, मगर ऐसा रिवाज पड गया था कि उस साल का सभापति (गाधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियो की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० का० कमिटी मे मजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची मे हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को खयाल नही हुआ था। अ० भा० कॉ० कमिटी के कुछ मुसलमान मेम्बरो ने चुनाव पर ऐतराज किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होने उसमे अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का उसमे कोई भी आदमी नही था। एक ऐसी अ० भा० कमिटी मे जिसमे केवल १५ ही मेम्बर हो, यह मगर असभव था कि सभी हितो के प्रतिनिधि उसमे रहे। और असली झगडा था, जिसके बारे मे हमे कुछ भी इल्म नही था, बिलकुल जाती और पजाब का मुकामी। और उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगो ने विरोध की आवाज उठाई थी ... मे) कॉग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार मे शरीक हो गये। कॉग्रेस के कुछ ... स्तेद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमे शामिल हो गये और पजाब के निम्न ... को उसने अपनी ओर खीच लिया। निचले मध्यमवर्ग के लोग उसने

र मुस्लिम जनता से उसका बहुत सपर्क था। इस तरह वह एक जबर्दस्त सगठन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम फिरकेवाराना लोगो के, जो कि या तो हवा मे या ानखाने मे या कमिटियो के कमरो मे इकट्ठा होते थे, लूज सगठन की बनिस्बत यह ो ज्यादा मजबूत था। अहरार लोग वैसे तो फिरकापरस्ती की तरफ चले गये, र मुस्लिम जनता के साथ उन्होने अपना सिलसिला बाँध रक्खा था। इसलिए वे ा जिन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुधलासा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यो मुसलमान-आन्दोलन मे, खासकर कश्मीर मे, उन्होने बडा काम किया है जिनमे कि थिक कष्ट और फिरकापरस्ती दोनो अजीब तरह से और बदकिस्मती से घुल-मिल ो है। कॉंग्रेस से अहरार-पार्टी के कुछ नेताओ का कट जाना पजाब मे कॉंग्रेस के ए बहुत ही मुज़िर हुआ। मगर कराची मे इसका हमे क्या पता था ? बाद मे जाकर रे-धीरे हमे इसका अहसास होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-मिति के चुनाव के कारण ही वे लोग कॉंग्रेस से अलग हो गये हो। वह तो एक नका था जिसने हवा के रुख को बताया। उसके असली कारण तो और ही है, और गहरे है।

हम सब कराची मे ही थे कि कानपुर के हिंदू-मुसलिम दगे की खबर हमे ली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशकर विद्यार्थी को कुछ जहबी दीवाने लोगो ने, जिनकी मदद के लिए वह वहाँ गये थे, कत्ल कर डाला। वे यकर और पाशविक दगे ही क्या कम बुरे थे ? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमे नकी भयकरता की वीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अकित कर दी वैसी और ोई चीज़ नही कर सकती थी। उस कॉंग्रेस-कैम्प मे हजारो आदमी उन्हे जानते थे ौर कुछ प्रान्त के हम सब लोगो के वह निहायत प्यारे साथी और दोस्त थे। जवामर्द ौर निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, ुपचाप काम करनेवाले, नाम, शोहरत, पद और प्रकाशन से दूर भागने वाले। अपनी नवानी के उत्साह मे झूमते हुए वह हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए, जो उन्हे इतनी यारी थी और जिसके लिए उन्होने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर ेकर खुशी-खुशी आगे बढे थे कि बेवकूफ हाथो ने उन्हे जमीन पर मार गिराया और ानपुर को और सूबे को एक अत्यत उज्ज्वल रत्न से महरूम कर दिया। जब यह ख़बर पहुँची तो कराची के यू० पी० कैम्प मे शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई। लेकिन फिर भी उसके दिल मे यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबिला किया और उन्हे ऐसी गौरव-पूर्ण मौत नसीब हुई।

३६

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरो ने मुझपर जोर दिया कि मुझे कुछ आराम लेना चाहिए, और हवा बदलनी चाहिए। मैंने लका द्वीप मे एक महीना गुजारना तय किया। हिन्दुस्तान वडा भारी देश होने पर भी, इसमे स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सभावना दिखाई न दी, क्योकि मै जहाँ भी जाता वहाँ राजनैतिक साथी मिल ही, और वही समस्याये भी मेरे पीछे-पीछे वहाँ आ जाती। लका ही हिन्दुस्तान के सबसे नजदीक की जगह थी, इसलिए हम लका ही गये—कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ मे योरप से लौटने के वाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौका था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक-साथ शान्ति से कहीं विश्राम किया हो, और हमे कोई चिन्ताये न रही हो। ऐसा विश्राम फिर नही मिला है, और मुझे सदेह है कि शायद मिलेगा भी या नही।

फिर भी, दरअसल, हमे लका मे सिवा नुवाया एलीया के दो हफ्तो के ज्यादा विश्राम भी नही मिला। वहाँ के सभी वर्गो के लोगो ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना बहुत अच्छी तो लगती थी, मगर परेशानी मे भी डाल देती थी। नुवाया एलीया मे बहुत-से श्रमिक, चाय-बागानों के मजदूर और दूसरे लोग रोज कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेट की चीजे—जगल के फूल, सब्जिया, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्राय वात भी नही कर सकते थे, एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुसकरा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेट की इन कीमती चीजो से, जो वे अपनी दरिद्र अवस्था मे भी हमे दे जाते थे, भर गया था। ये चीजें हम वहाँ के अस्पतालो और अनाथालयो को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजो और ऐतिहासिक खडहरो, बौद्ध मठो और घने जगलो को देखा। अनुराधापुर मे मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मैं देहरादून-जेल मे था, तब लका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी मे अपने छोटे-से टेबल पर रखता था। यह चित्र मेरा बडा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध के गभीर शान्त भावो से मुझे बडी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे उदासी के मौकों पर बडी मदद मिली।

वुद्ध हमेशा मुझे वहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं । इसका कारण बताना तो
श्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है, क्योंकि बौद्ध-धर्म के साथ-साथ जो सिद्धान्त
मत बन गये हैं उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है । उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे
कर्षित किया है । इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है ।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्खुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह,
हाँ कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था । करीब-करीब सभीके चेहरों पर शान्ति
और निश्चलता का, तथा दुनिया की फिक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था ।
आम तौर पर, उनके चेहरे से बुद्धिमत्ता नहीं झलकती थी, उनकी सूरत से दिमाग के
अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था । उन्हें जीवन महासागर की
ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था । मैं उनकी तरफ कुछ रश्क
के साथ, आंधी और तूफान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हलकी उत्कण्ठा
के साथ, देखता था । मगर मैं तो जानता था कि मेरी किस्मत में और ही कुछ है,
उसमें तो आँधी और तूफान ही है । मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है,
क्योंकि मेरे भीतर का तूफान भी उतना ही तेज है जितना बाहर का । और अगर मुझे
कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहाँ इत्तिफाक से आँधी की प्रचंडता न हो, तो भी
क्या वहाँ मैं सन्तोष और सुख से रह सकूँगा ?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था । वहाँ आदमी पड़ा रह
सकता था, स्वप्न देख सकता था, और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी
आनन्द अपने अन्दर भर सकता था । लंकाद्वीप उस समय भी मेरी वृत्ति के अनुकूल
था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया । विश्राम का हमारा
महीना जल्दी ही खत्म हो गया, और दिली अफसोस के साथ हम वहाँ से विदा हुए ।
उस भूमि और वहाँ के लोगों की कई बातों की याद मुझे अब भी आया करती है,
जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही । एक छोटी-सी
घटना मुझे स्मरण है, वह शायद जाफना के पास हुई थी । एक स्कूल के शिक्षकों और
लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे । दृढ और उत्सुक
चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया । उसने मुझसे हाथ
मिलाया । बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊँगा नहीं ।"
उस लड़के की उन चमकती हुई आँखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय
की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है । मुझे पता नहीं कि वह
कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है, मगर किसी-न-किसी प्रकार
मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की

विषम समस्याओ का मुकाबिला उसे करना होगा तब वह लडखडायगा नही, नही रहेगा।

लका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर वहाँ आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, हैदराबाद मे होकर गुजरे, जो ज्यादातर देशी रियासते है। इनमे से कुछ दूसरा प्रगतिशील है, कुछ बहुत पिछडी हुई है। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा मे भारत से भी बहुत आगे बढे हुए है। मैसूर शायद उद्योग-धन्धो मे आगे बढा है, और हैदराबाद करीब-करीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है। हर जगह, जनता से भी और अधिकारियो से भी, आदर और स्वागत मिला। मगर स्वागत मे अधिकारियो की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहा आने से लोगो के खयालात खतरनाक न हो जायँ। मालूम होता है, उस वक्त मैसूर त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया हैदराबाद मे इतनी आजादी न थी। और, हालाकि हमारे साथ आदर का व किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोटने और साँस रोकनेव मालूम हुआ। बाद मे मैसूर और त्रावणकोर की सरकारो ने उतनी नागरिक स्व और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बगलोर शहर मे, एक बडे मजमे के अन्दर, मैने लोहे के ऊँचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोडे दिनो बाद ही खम्भा तोडकर टुकडे-टुकडे कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन करार दे दिया। मैने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्जती होने से मुझे बडा रज हुआ।

आज त्रावणकोर मे काँग्रेस ही गैरकानूनी सस्था करार दे दी गई है काँग्रेस का मेम्बर भी कोई नही बन सकता, हालाकि ब्रिटिश भारत मे सविनय भंग जाने के बाद से वह कानूनी हो गई है। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनो मा शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही है, और उन्होने वे सुभीते भी लिये है जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासते पीछे हट रही है। किन्तु हैदराबाद को जाने या सुविधाये छीनने की जरूरत ही न हुई, क्योकि वह आगे कभी बढी ही और न उसने इस किस्म की कोई सुविधाये दी थी। हैदराबाद मे राजनैतिक स गी नही होती, और सामाजिक और धार्मिक सभाये भी सन्देह की दृष्टि से है, और उनके लिए भी खास इजाजत लेनी पडती है। वहाँ कोई भी नही निकलने, और बाहर से बुराई के कीटाणु न आने देने के लिए हिन्दु

...सरे हिस्सो मे छपनेवाले बहुत-से अखबारो की रियासत मे रोक कर दी गई है। ...र के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि माडरेट अखबारो की ...वहाँ मुमानियत है।

कोचीन मे हम 'सफेद यहूदी' कहानेवाले लोगो का मुहल्ला देखने गये, और ...के पुराने मन्दिर मे उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत ...चीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि ...चीन के जिस हिस्से मे वे रहते है, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह ...नी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कसबे देखे जिनमे ज्यादातर सीरियन मत ... ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगो को खयाल होगा कि ईसाई-...र्म हिन्दुस्तान मे ईसा के बाद पहली सदी मे ही आ गया था, जबकि योरप ने भी उसे ...ही ग्रहण किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान मे खूब मजबूती से जम गया था। हालाकि ...न ईसाइयो का बडा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी कसबे मे है, मगर ...नकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज ही है और उसका बाहर से ज्यादा ...ल्लुक नही है।

दक्षिण मे नेस्टेरियन मत के लोगो की भी एक बस्ती देखकर मुझे बडा ताज्जुब ...आ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हजार है। मेरा तो यह ...खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतो मे मिल चुके होगे, और मुझे यह पता न ...था कि कभी वे हिन्दुस्तान मे भी मोजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय ...हिन्दुस्तान मे उनके अनुयायी बहुत थे, और वे उत्तर मे बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लडकियो, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनो हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियाँ उन्हीके मकान पर इकट्ठा हो गई, और शायद कमला ने उनके सामने कोई भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवत पुरुषो के बनाये हुए कानूनो और रिवाजो के खिलाफ स्त्रियो के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे मे था, और उसने स्त्रियो से कहा कि वे पुरुषो से बहुत न दबे। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बडा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि, आपके यहाँ आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। वह पहले की तरह मेरी बात नही सुनती, न मेरी बात मानती है, बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्तियार कर लेती है।

बबई से लका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बबई आ गये,
मै फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भँवर मे कूद पड़ा। कार्य-समिति की बैठ
जरूरी मामलो पर विचार करने के लिए होनेवाली थी—हिन्दुस्तान की स्थिति
से बदलती और गभीर होती जाती थी, यू० पी० के किसानो का प्रश्न जटिल हो
था, खान अब्दुलगफ्फारखा के नेतृत्व मे सीमा-प्रान्त मे लालकुर्ती-दल की आश
प्रगति हुई थी, बगाल मे अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गई थी, और उसमे जोर
असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ गया था, सदा मौजूद साम्प्रदायिक समस्या तो थी
और कॉग्रेस के लोगो और सरकारी अफसरो के बीच मे कई तरह के मामलो मे
छोटे कई स्थानीय झगडे खडे हो गये थे, जिनमे दोनो पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-स
को तोडने का इलजाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता
क्या कॉग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे शामिल होगी ? क्या गाधीजी को वहां जाना चा

समझौता-काल में दिक़्क़तें

गांधीजी को गोलमेज-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन जाना चाहिए या नही ? यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नही मिलता ‌। आखिरी मिनट तक कोई भी नही जानता था, कॉग्रेस-कार्य-समिति और खुद ‌ीजी भी नही जानते थे । क्योकि, जवाब का आधार तो कई बातो पर था, और ‌-नई घटनाये परिस्थिति को निरन्तर बदल रही थी । इस सवाल और जवाब की ‌ मे असली और मुश्किल समस्याये खडी थी ।

ब्रिटिश-सरकार और उसके दोस्तो की तरफ से हमसे बराबर कहा गया कि ‌लमेज-कान्फ्रेस ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-‌टी रेखाये खिच चुकी है, और अब तो इनमे रग भरना ही बाकी रहा है । मगर ‌ग्रेस ऐसा नही समझती थी और उसकी निगाह मे तो अभी सारी तस्वीर ही ‌ना बाकी थी, सो भी करीब-करीब कोरे कागज पर । यह तो सच था कि दिल्ली ‌ समझोते के द्वारा सघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और सरक्षणो या ‌तिबन्धो का विचार भी मजूर कर लिया था । मगर हममे से बहुत-से तो बहुत ‌हले से ही हिन्दुस्तान के लिए सघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज्यादा उपयुक्त सम‌ते थे । और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नही था कि हमने खास ‌स तरह का सघ भी मान लिया जिसकी रचना पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने की ‌ा । राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्तन के साथ भी सघ-स्वरूप पूरी ‌रह मेल खा सकता है । हॉ, सरक्षणो या प्रतिबन्धो के विचार का मेल बैठाना ज्यादा ‌ुश्किल था और मामूली तौर पर उनके होने मे स्वाधीनता मे काफी कमी आ जाती ‌ी । मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दो से हम इस कठिनाई से कम-से-कम ‌ोडी हद तक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नही । कुछ भी हो, कराची-‌ॉग्रेस ने यह साफ कर दिया था कि हमे वही विधान मजूर हो सकेगा जिसमे फौज, ‌देशिक मामलो और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, ‌ौर हिन्दुस्तान को विदेशो की (अर्थात् अधिकाश ब्रिटिशो की) देनदारी मजूर करने ‌ पहले अपने कर्ज़े के प्रश्न की जॉच करने का हक हो । इसके अलावा मौलिक अधि‌ारो सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक ‌बदीलियो को करना चाहते है । ये सब बाते गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कई निश्चयो और ‌हिन्दुस्तान की हुकूमत के मौजूदा ढॉचे के भी खिलाफ पड़ती थी ।

कॉंग्रेस और ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोणों में भारी फर्क था, और इस अवस्था में उनका दूर होना बहुत ही नामुमकिन मालूम होता था। करीब-करीब कॉंग्रेसवालों को गोलमेज-कान्फ्रेन्स में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी ... एक-राय होने की उम्मीद नहीं थी, और गांधीजी को भी, हालांकि वह हमेशा आशावादी रहे हैं, कोई ज्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद होते थे, और आखिरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब ... करते थे, कि चाहे सफलता मिले या न मिले, मगर दिल्ली-समझौते के ... एक बार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो जरूरी बातें थीं, जिनके कारण ... गोलमेज-कान्फ्रेन्स में हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे ... हमें गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी ... रहे, और इसके लिए हमें यह कहकर कि वह मामला तो पहले ही तय हो चुका या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान में भी ऐसी परिस्थिति हो ... थी कि जिससे गोल-मेज-कान्फ्रेन्स में हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहां ऐसी ... पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से संघर्ष खड़ा हो जाता, या जिसमें हमें दमन का मुकाबिला करना पड़ता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा ... जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिलकुल नामुनासिब ... कि इस आग का खयाल न करके वह लन्दन में जाकर विधान आदि पर कोरे ... की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेजी से बदल रही थी। सारे देश में ऐसा ही ... था, खासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त में। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फर्क नहीं पड़ा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा ... गया। सविनय भंग के कुछ कैदी छोड़ दिये गये। लेकिन हजारों राजनैतिक कैदी, जो नाम के लिए सविनय भंग के कैदी नहीं समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे ... नजरबन्द भी जेलों या डिटेन्शन-कैम्पों में ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों ... दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के कारण नई गिरफ्तारियां अकसर हो जाती थीं, और ... तौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ से हमला अब भी बंद नहीं हुआ है, वह जारी है। कॉंग्रेस के लिए आतंकवाद के कारण बंगाल की समस्या हमेशा ... ही कठिन रही है। कॉंग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय भंग के मुकाबिले ... ...दी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी ही रही हैं। मगर उनसे ... मचता था, और उनकी तरफ ध्यान बहुत खिंच जाता था। इन हलचलों ... ...न्तों की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि ...

सा वातावरण पैदा हो जाता था कि जो शान्ति-पूर्ण लडाई के लिए माफिक न
। लाजिमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख्त-से-सख्त दमन किया, जोकि
कवादी और गैर-आतकवादी वहुत-कुछ दोनो पर निष्पक्ष समानता से पडा।

पुलिस ओर मुकामी इन्तजामी अफसरो के लिए यह मुश्किल था कि वे खास
नो और आर्डिनेन्सो का (जो आतकवादियो के लिए वनाये गये थे) कॉग्रेसवालो,
दूरो ओर किसानो के कार्यकर्ताओ और दूसरे लोगो पर, जिनकी प्रवृत्तियो
वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करे। यह मुमकिन है कि कई नजरवन्दो का,
हे अभीतक कई वर्षो से वगैर इलजाम लगाये, मुकदमा चलाये या सजा दिये वन्द
खा गया था, असली कुसूर आतकवादी प्रवृत्तियाँ नही थी, वल्कि दूसरी ही कोई
ल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हे इसका मौका तक नही दिया गया कि वे अपनी
ाई दे सके, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सके। उनपर
ालतो मे मुकदमे इसलिए नही चलाये जाते कि कदाचित पुलिस के पास उन्हे सजा
लाने लायक काफी सुवूत नही है, हालाकि यह सभी जानते है कि सरकार-विरोधी
र्मो के लिए व्रिटिश भारत के कानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे है
र उनके घने जाल मे से वच सकना मुश्किल है। यह अक्सर होता है कि कोई
ादमी अदालतो से तो वरी कर दिया जाता है, मगर फिर फौरन ही गिरफ्तार कर
लया जाता है और नज़रवन्द वना लिया जाता है।

वगाल के इस पचीदा सवाल के सवव से काग्रेस-कार्य-समिति के लोग अपनेको वडा
ाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी न-किसी शकल
ा वगाल का कोई-न-कोई मामला ज़रूर उनके सामने आता ही रहता था। जितना
उनसे वनता था उतना उस वारे मे वे जरूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि
इसमे असली सवाल हल न होगा। इसलिए, कुछ कमज़ोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहा
होता था उसे वैसा ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी
जैसी परिस्थिति मे, वे और कर भी क्या सकते थे। वगाल मे कार्य-समिति के इस
रवैये पर वडा रोष हो रहा था, और वहाँ यह खयाल पैदा हो गया कि कॉग्रेस कार्य-
समिति और दूसरे सव प्रान्त वगाल की परवा नही करते। मालूम होता था कि
मुसीवत के वक्त मे सवने वगाल का साथ छोड दिया है। मगर यह खयाल विलकुल
गलत था, क्योकि सारे हिन्दुस्तान मे वगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह
नही सूझता था कि इस सहानुभूति को असली मदद की शकल मे कैसे जाहिर करे।
इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टो का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त मे किसानो की स्थिति खराव होती जा रही थी। प्रान्तीय-सरकार

इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान
मालगुजारी के छूट के फैसले को आगे धकेल दिया, और जबरदस्ती लगान वसूल
करदी। मजमूई बेदखलिया और कुर्किया होने लगी। जब हम लका म य
जबरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन मुकामो पर कि
दगे हो गये थे। ये दगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदकिस्मती से उनमे जमीदा
उनके कारिन्दे मर गये थे। गाधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली से कि
की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मै उनके
था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नही निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा
तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात मे लगातार चिल्ल-पो मचने और बढने
ज्यो-ज्यो जमीदार और सरकार दोनो का मिलाकर दबाव बढता गया, और ह
किसान अपनी जमीन से बेदखल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कि
छीनी जाने लगी, त्यो-त्यो ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे
मे एक बडा किसान-विप्लव खडा हो सकता था। मेरा खयाल है कि यह कां
कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानो ने कोई हिसात्मक कार्य नही
मगर खुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना!

किसानो के इस उभाड और मुसीबत मे एक बात अच्छी थी। खेती की पैद
के भाव बहुत कम हो जाने से गरीब लोगो के पास, जिनमे किसान भी शामि
अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नही थी तो, पिछले कई सालो की बनिस्बत, ज्यादा
सामग्री मौजूद थी।

बगाल की ही तरह, सीमाप्रान्त मे भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति
हुई। वहा विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहा की हुकूमत विशेष
और आर्डिनेन्सो और छोटे-छोटे-से कुसूरो पर भारी-भारी सजाओ के कारण
फौजी प्रबन्ध जैसी हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अ
गफ्फारखा ने बडा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह मे वह बहुत ग
लगे। वह छ फीट तीन इच ऊँचे पूरे पठान, अपनी मर्दानगी के साथ, गाव-गाव
जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र कायम करते थे। जहा कही
या उनके खास-खास साथी जाते थे वहा-वहा वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसि
[illegible] छोड जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त मे 'खुदाई खिदमतगार' की शा
ई। ये बिलकुल शान्तिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ गोल-मोल आरोप
भी, आजतक हिसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नही ठहर सका।
[illegible] हे ने शान्तिपूर्ण रहे हो या नही, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा

था, और वे उपद्रवी सीमाप्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त ांदोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक था, तेजी से बढने ारण सरकार घबरा गई। मेरा ख्याल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और सा के दावे पर कभी विश्वास नही किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर ा होता, तो भी उसके हृदय मे इसके कारण दहशत और झुझलाहट ही पैदा हुई ो। इसमे उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह इसे शान्ति से ती नही रह सकती थी।

इस बडे आन्दोलन के मुखिया, विला उज्र, खान अब्दुलगफ्फारखा ही थे— हे 'फख्रे-अफगान', 'फख्रे-पठान', 'गाधी-ए-सरहद' वगैरा नामो से याद किया जाने ा। उन्होने सिर्फ अपने चुपचाप और इस्तकलाल-भरे काम के बल पर, जिसमे न वह कलो से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त मे हैरत-अगेज हरदिलअजीजी ेल कर ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आम तौर पर हुआ करते है, उस तरह के जनीतिज्ञ न वह थे, न है, वह सियासी चालाकियो और पैतरेबाजियो को नही नते। वह तो एक ऊचे और सीधे, शरीर और मन दोनो मे सीधे, आदमी है। वह र-गुल और वहून बकवास से नफरत करते है। वह हिन्दुस्तान की आजादी के ढॉचे अन्दर अपने सीमाप्रान्तीय लोगो के लिए भी आजादी चाहते है, मगर विधानो और ानूनी बातो के बारे मे उनका दिमाग स्पष्ट नही है और न उनमे उन्हे कोई दिल-स्पी ही है। किसी भी चीज को पाने के लिए जोरदार काम की जरूरत है, और ाधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढिया तरीका, जो उन्हे जॅच गया, ता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस मे न पडते हुए, और अपने सगठन के लिए ायदो के मसविदे के फेर मे न पडते हुए, उन्होने सीधा सगठन करना ही शुरू कर या और उसमे उन्हे खूब कामयाबी मिली।

गाधीजी की तरफ उनका रुझान खास तौर पर हो गया। पहले तो, अपने-ापको पीछे ही रखने के लजीलेपन के सबब से, वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद मे कई ामलो पर बहस करने के लिए उन्हे उनसे मिलना पडा, और उनका ताल्लुक बढा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिसा को उसूलन हममे से कई लोगो की ब्निस्बत ज्यादा कैसे मान लिया? और चूकि उनका अहिसा पर पक्का यकीन था, इसी कारण वह अपने लोगो को समझा सके कि उभाडे जाने पर भी शान्ति रखने का बडा भारी महत्व है। यह कहना तो बिलकुल गलत ही होगा कि सीमा-प्रान्त के लोगो ने कभी भी या छोटी भी हिसा करने का विचार पूरी तरह से छोड दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगो के बारे मे आम तौर पर यह कहना बिलकुल गलत

होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरों मे बहा करती है, और जब इस त
लहर उठ जाय तब वह क्या करेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता। मगर
आप पर काबू और जब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रान्त के लोगों ने १९.
और बाद के बरसो मे पेश की थी वह कुछ विलक्षण जरूर थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सीमा
गांधी' को शक की निगाह से देखते है। वे उनकी बातो का यकीन नही करते। उन
कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखाई देता है। मगर पिछले कुछ बरसो मे वह
सीमा-प्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो के कॉंग्रेसी कार्यकर्ताओ क
नजदीक आ गये है, और उनके बीच मे गहरा भाईचारा और परस्पर आद
कद्रदानी का भाव पैदा हो गया है। खान अब्दुलगफ्फारखा को कॉंग्रेस के लोग कई ब
जानते और चाहते है। मगर वह महज एक साथी ही नही है, उनसे कुछ
है। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाकी हिस्सो मे लोग उनको एक बहादुर और
लोगो के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध मे हमारे साथी है, साहस और बलिदान
प्रतीक समझने लगे है।

खान अब्दुलगफ्फारखा से पहचान होने के बहुत पहले ही मै उनके भाई
खानसाहब को जानता हूँ। जब मै केम्ब्रिज मे पढता था, तब वह लन्दन के
टॉमस अस्पताल मे शिक्षा पाते थे, और बाद मे जब मैं इनर टेम्पल के कानूनी वि
मे पढता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गई थी। जब मैं लन्दन मे रहत
तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस मे न मिलते हो।
हिन्दुस्तान चला गया, मगर वह इग्लैण्ड मे ही रह गये और महायुद्ध के ज़म
डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसो तक वही रहे। इसके बाद
उन्हे नैनी-जेल मे देखा।

सीमा-प्रान्त के लालकुर्तीवालो ने कॉंग्रेस के साथ सहयोग तो किया,
उनका सगठन अपना अलग ही था। यह एक विचित्र स्थिति थी। दोनो को
वाली कडी तो अब्दुलगफ्फारखा थे। १९३१ की गर्मियो मे इस सवाल पर कार्य
ने सीमा-प्रान्त के नेताओ के परामर्श से यह तय किया कि लालकुर्तीवाल
कॉंग्रेस का ही अग बना लिया जाय। इस तरह वे कॉंग्रेस के एक जुज बन गये

गाधीजी की ख्वाहिश थी कि वह कराची-कॉंग्रेस के बाद ही फौरन सीमा
...यें, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनो मे जब स
...रियो ने लालकुर्ती दल की कार्रवाइयो की शिकायत की, तो उन्होने जोर
... वहां इन बातो का खुद पता लगाने के लिए जाने की इजाजत दी

र उन्हे नही जाने दिया गया। न वहा मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नही समझा कि हम सरकार की स्पष्ट छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त मे चले जायँ।

इन सवालो के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक ओर मसला था, साम्प्र-यिक। यह कोई नई समस्या न थी, हालाकि वार-वार यह नई और अजीब क्ल मे सामने आती थी। गोलमेज कान्फ्रेन्स के सवव से इसे ओर भी महत्व मिल ा। क्योकि यह तो जाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और री सब समस्याओ को इससे कम महत्व देगी। इस कान्फ्रेन्स के मेम्वर, जो कि ी सरकार के नामजद किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि ससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थो को महत्व दिया जा सके, और सामान्य ार्थो के वजाय इन भेद-भावो पर जोर दिया जा सके। सरकार ने खास तौर पर, ार जोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानो के किसी भी नेता को नामजद करने से ही इन्कार र दिया। गाधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश सरकार के कहने से कान्फ्रेन्स लकुल शुरू मे ही साम्प्रदायिक सवाल मे उलझ गई, तो असली राजनैतिक और ार्थिक सवालो पर काफी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति मे उनके लन्दन ाने मे कोई फायदा न होगा। इसलिए उन्होने कार्य-समिति के सामने यह बात श की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जव कि सब सम्वधित दलो के बीच मे साम्प्रदा-यिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिलकुल ठीक थी, गगर कमिटी ने यह वात न मानी, और यह फैसला किया कि सिर्फ इसी आधार पर, के हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नही कर पाये है, उन्हे जाने से इन्कार न करना चाहिए। कमिटी ने विविध सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो की सलाह से इस समस्या का हल ढूढने की कोशिश भी की। मगर इसमे ज्यादा कामयावी न मिली।

१९३१ की गर्मियो मे, छोटे-मोटे कई मसलो के अलावा, यही कुछ बडे प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की मुकामी काग्रेस-कमिटियो से हमारे पास वरावर शिकायते आ रही थी कि मुकामी अफसरो ने फला-फला वात मे दिल्ली के समझौते को तोड दिया है। हमने उनमे से कुछ वडी-वडी शिकायते सरकार के पास भी भेज दी, ओर उधर सरकार ने भी काग्रेसवालो के खिलाफ समझौता तोडने के आरोप लगाये। इस तरह से एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप लगाये गये, और वाद मे वे अखवारो मे भी छाप दिये गये। यह कहने की जरूरत नही है कि इससे भी कॉग्रेस ओर सरकार के ताल्लुकात सुधरे नही।

फिर भी, इन छोटे-छोटे मामलो के सवध मे सघर्ष खुद कोई वडा महत्व नही

रखता था। उसका महत्व यही था कि इसमे एक दूसरे ही अधिक मौलिक म
बढने का पता लगता था। यह मौलिक संघर्ष व्यक्तियों पर निर्भर नहीं करता
मगर वह हमारे राष्ट्रीय संग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामो की
व्यवस्था मे असामञ्जस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस संघर्ष को बिना बुनि
परिवर्तन किये हटाना या कम करना मुमकिन नही था। हमारा राष्ट्रीय आं
मूल मे इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गो मे अपनी उन्नति
विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड मे राजनैतिक
आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम वर्गो मे फैल गया, और देश म
ताकत बन गया, और फिर उसने देहात की जनता को भी उठाना शुरू किया,
आम तौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि
दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह कायम रख सके। पुराने जमाने की स्वाव
ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के न
थे और जिनसे जमीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गये थे। कु
सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण कि वे मशीनो के व्यवसाय
मुकाबिला नही कर सके। जमीन का बोझ बढने लगा, और हिन्दुस्तान के कारख
की तरक्की इतनी धीमी हुई कि वह इसमे कुछ फर्क न कर सकी। और फिर य ग
जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझो से लदे हुए थे, सहसा, संसार
बाजारो के मुकाबिले मे डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे। प्रत
के नाते से वे विदेशो का मुकाबिला कर नही सकते थे। उनकी उत्पत्ति के ओजार पु
ढग के थे, और जमीन के बँटवारे का तरीका उनका ऐसा था जिससे खेत बरा
छोटे-छोटे टुकडो मे बँटते जाते थे। कोई भी आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इ
लिए कृषि करनेवाले वर्ग—जमीदार और काश्तकार दोनो ही—सिवा उन दिनो
जबकि भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। जमीदारो ने अपने बोझ
काश्तकारो पर उतारने की कोशिश की, और किसानो के, छोटे जमीन-मालिको
काश्तकारो दोनो ही के, मुफलिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की त
खिंच आये। खेत-मजदूर भी, अर्थात् देहातो के ऐसे लोग जिनके पास जमीन नहीं
और जिनकी तादाद बडी थी, इस तरफ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गो के लिए
'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि जमीन के बँटवारे की प्रणाली
मे परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमि
को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन मे पडे हुए किसानो या मध्यम-वर्गो
मे किसीने भी उनकी इन इच्छाओ को साफ तौर पर प्रदर्शित नहीं किया।

१९३० का सविनय भग-आन्दोलन उद्योग-धन्धो और कृषि की बडी ससार-व्यापी ...दी के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओ को भी ...गा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज्यादा पडा था, इसलिए ...भी कॉग्रेस ओर सविनय भग की तरफ झुक पडे। उनका यह लक्ष्य नही था कि ...दन मे या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय, ...र उनका लक्ष्य, खासकर जमीदारी प्रदेश मे, यह था कि भूमि-प्रथा मे बुनियादी ...दीली की जाय। वास्तव मे यह मालूम होने लगा कि जमीदारी तरीका अब इस ...ाने के लिए पुराना पड गया है, और उसमे कोई स्थिरता बाकी नही रही थी। ...र ब्रिटिश-सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति मे, इस भूमि-प्रणाली मे कोई बुनियादी ...दीली करने की हिम्मत नही दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन ...र्रर किया था, तब भी उसके निर्देशो मे जमीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली ... परिवर्तन पर विचार करने की मनाई कर दी गई थी।

इस तरह, उस समय, सघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति मे ही निहित था, ...र वह किसी प्रकार के मोहक शब्दो या समझौतो से दूर नही किया जा सकता था। ...रे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नो के अलावा जमीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने ... ही यह सघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार के मार्फत निकले, इसकी ...ई सभावना न थी। आरज़ी इलाजो से बीमारी चाहे थोडी देर के लिए कम हो सके, ...र सख्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इजहार करना बन्द कर दे, मगर दोनो ...तो से सवाल का हल नही निकल सकता था।

मगर, मेरा खयाल है कि, ज्यादातर सरकारो की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी ...ह विचार है कि हिन्दुस्तान मे ज्यादा गडबड 'आन्दोलनकारियो' के कारण है। मगर यह ...बलकुल ही वाहियात विचार है। पिछले पन्द्रह बरसो से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा ...ता तो रहा है, जिसे अपने करोडो देशवासियो से स्नेह-श्रद्धा और पूजा तक प्राप्त ...है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान ...तिहास मे बहुत ही महत्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज्यादा महत्वपूर्ण ...गो वे आम लोग ही रहे है जो उसके आदेशो को मानो ऑख बन्द करके मानते रहे है। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और उनके पीछे, उन्हे आगे धकेलनेवाली, बडी-बडी ऐतिहासिक प्रेरणाये थी, जिन्होने लोगो को तैयार कर दिया और अपने नेता की ...वाज़ सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओ के अभाव मे, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हे कोई भी ...ाम करने की स्फूर्ति नही दे सकते थे। गाधीजी मे नेतृत्व का यही खास गुण था कि

वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगो की नब्ज पहचान सकते थे, और जान ल
किस प्रगति और कार्य के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० मे हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की
सामाजिक शक्तियो के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, जिसमे उसे बडी ताकत मि
उसमे वास्तविकता मालूम होने लगी,और ऐसा लगने लगा कि मानो वह सचमुच
के साथ कदम-ब-कदम आगे बढ रहा है। कॉग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की
थी, और उसकी प्रतिष्ठा-वृद्धि मे मालूम होता था कि उसकी शक्ति जोर
रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज, कुछ अनिर्वचनीय-सा तो थ
फिर भी बहुत-कुछ मोजूद तो था ही। नि सन्देह किसान लोग कॉग्रेस की त
और उन्होने ही उसकी असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे
सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कॉग्रेस
बनाये रखने मे ही ज्यादा भलाई देखी। ज्यादातर सूती मिलो ने कॉग्रेस के बनाये
नामो पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगी जिनसे कॉ
पर नाराज हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन मे बैठे पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स म
अच्छे कानूनी मुद्दो पर बातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था
लोगो के प्रतिनिधि की हैसियत से कॉग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अ
असली ताकत जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढता
किन्ही अभिमान-भरे भाषणो के कारण नही, बल्कि १९३० और बाद की घट
कारण। इसमे शक नही कि शायद कॉग्रेस के नेताओ को ही सबसे ज्यादा
था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयॉ और खतरे आनेवाले है, ओर इसलिए
मामूली न समझने की उन्होने पूरी फिक्र रक्खी।

देश मे दो सस्थाओ के पास सत्ता होने की यह अस्पष्ट भावना कुदरती
सरकार को बहुत ही चुभनेवाली थी। असल मे, इस धारणा के लिए कोई
बुनियाद तो थी नही, क्योकि दृश्य सत्ता तो सोलहो आना सरकारी अधिकारि
हाथ मे ही थी, फिर भी, लोगो के दिमागो मे उसका अस्तित्व था, इसमे
नही। सत्तावादी और अ-परिवर्तनीय शासन तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने
असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गये, न कि
के कुछ ऐसे-वैसे भाषणो या जुलूसो से, जिनकी कि उन्होने बाद मे शिकायत
लिए सघर्ष होना अनिवार्य ही दीखने लगा। कांग्रेस अपनी खुशी से
र सकती थी, और सरकार भी इस द्वैध-सत्ता के वातावरण को बरदाश्त
सकती थी, आर कांग्रेस को कुचल डालने को तुली हुई थी। यह सघर्ष

लमेज-कान्फ्रेन्स के सबब से रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार
धीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहाँतक हो सके कोई भी
ा काम नही करती थी जिससे उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इसके बावजूद सघर्ष की भावना बढती ही गई, और हमे दीखने लगा कि
रकार का रुख सख्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड अर्विन हिन्दुस्तान
चले गये और लार्ड विलिंगडन उनकी जगह वाइसराय बनकर आये। यह खबर
लने लगी कि नया वाइसराय बडा सख्त और करारा आदमी है, और पिछले
ाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नही है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषो मे,
ाजनीति के उसूलो की निगाह से न देखकर व्यक्तियो की निगाह से देखने की
ख़बरलो की तरह, आदत हो गई है। वे यह नही समझते कि ब्रिटिश-सरकार की
ामान्य साम्राज्य-वादी नीति वाइसरायो की व्यक्तिगत रायो पर निर्भर नही रहती।
सलिए वाइसरायो के बदल जाने से कोई फर्क नही पडा, न पड सकता था। मगर,
सल मे यह हुआ कि परिस्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी
ीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियो को कॉंग्रेस के साथ
मझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नही थी। शासन के सबध मे उनकी सारी
ालीम और सत्तावादी धारणाये इसके खिलाफ थी। उनके दिमाग मे यह खयाल
था कि उन्होने गाधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्ताव करके कॉंग्रेस के प्रभाव
और गाधीजी के रुतबे को बढा दिया है, और अब यह वक्त है कि जब उनको थोड़ा-
सा नीचा गिराया जाय। यह ख़याल बडी बेवकूफी का था, मगर, हिन्दुस्तान की
सिविल-सर्विस मे विचारो की मौलिकता तो कभी मानी ही नही गई है। खैर, कुछ
भी कारण हो, सरकार सख्ती से तन गई और उसने अपना पजा और भी मजबूती से
जमाया, और पुराने पैगम्बर के शब्दो मे मानो उसने हमसे कहा कि 'मेरी छोटी अगुली
भी मेरे बाप की कमर से मोटी है, जबकि उसने तुम्हे कोडो से तोबा कराई, तो मै
तुम्हे बिच्छू के डको मे कराऊँगा।'

मगर अभी तोबा करने का वक्त नही आया था। अभी तो यही जरूरी समझा
गया कि अगर मुमकिन हो, तो कॉंग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे
जरूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियो से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए
गाधीजी दो बार शिमला गये। उन्होने उस समय उपस्थित कई सवालो पर बातचीत
की, और बगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज्यादा चिन्तित कर रहा मालूम
पडता था, ख़ासकर सीमा-प्रान्त के लालकुर्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रान्त के
किसानो की स्थिति इन दो विषयो पर बातचीत हुई।

शिमला मे गाधीजी ने मुझे भी बुलवा लिया था, और मुझे भारत सरकार
कुछ अधिकारियो से मिलने के भी मौके मिले। मैं सिर्फ युक्तप्रान्त के बारे मे ही बा
करता था। बडी साफ-साफ बाते हुई, और छोटे-छोटे आरोपो और प्रत्यारो
तह मे जो असली सघर्ष की बाते छिपी हुई थीं उनपर भी बहस हुई। मुझे याद
मुझसे कहा गया, कि फरवरी १९३१ मे ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि
ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भग के आन्दोलन को दबा सकता
उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था, और सिर्फ उसे चला भर दे
जरूरत थी, सिर्फ बटन दबा देने की आवश्यकता थी। मगर उसने यह
कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस मे मिलकर समझौता कर
अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा
कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो
था ही, और एक पल-भर मे दबाया जा सकता था। और इसमे यह भी इशारा
होता था, कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा
पडेगा। यह सारी बात बडी आजिजी से और साफ-साफ कही गई थी, और हम
ही जानते थे कि हमारे बावजूद, और चाहे हम कुछ भी कहे या करे, सघर्ष
तो लाजिमी था।

एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने कॉंग्रेस की तारीफ भी की। उस वक्त हम
व्यापक गैर-राजनैतिक ढग की समस्याओ पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे
कि, राजनीति के सवाल को छोड दे तो भी, कॉंग्रेस ने हिन्दुस्तान की बडी भा
खिदमत की है। हिन्दुस्तानियो के खिलाफ आम तौर पर यह इलजाम लगाया जाता
कि वे अच्छे सगठन-कर्ता नही है, मगर १९३० मे कॉंग्रेस ने, भारी कठिनाइया
विरोध के होते हुए भी, एक आश्चर्यजनक सगठन कर दिखाया था।

जहाँतक गोलमेज-कान्फ्रेस मे जाने का सवाल था, गाधीजी की पहली शिमला
यात्रा का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा अगस्त के आखिरी हफ्ते मे हुई।
जाने या न जाने का आखिरी फैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हे हिन्दुस्तान
छोडने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बगाल मे, सीमा-प्रान्त मे और युक्तप्रान्त
मे उन्हे मुसीबत आती हुई दीख रही थी, और जबतक उन्हे हिन्दुस्तान मे शान्ति
का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नही चाहते थे। अन्त मे एक तरह का समझौ
र के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के
बिलकुल ही आखिरी घडी किया गया, ताकि वह उस जहाज मे जा सके जि
-कान्फ्रेस के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव मे, यह एक तरह से बिलकुल

ख़िरी घडी मे हुआ था, क्योकि आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी। शिमला से कालका क एक स्पेशल ट्रेन तैयार कराई गई, और काल्का से छूटनेवाली गाडी पकडने के ए दूसरी गाडियाँ रोक दी गई।

मैं उनके साथ शिमला से बम्बई तक गया। और वहाँ अगस्त के एक सुन्दर भात मे मैने उन्हे बिदाई दी, और वह अरबी समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ ड चले। बस, अगले दो साल तक के लिए मुझे यही उनका अन्तिम दर्शन था।

गोलमेज़-कान्फ्रेन्स

एक अंग्रेज अखबारनवीस ने हाल ही में एक किताब लिखी है और उसका – है कि उसने गाँधीजी को हिन्दुस्तान मे और लन्दन मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स – काफी देखा है। अपनी किताब मे उसने लिखा है.—

"मुल्तान नाम के जहाज मे जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि का – के खिलाफ कार्य-समिति के भीतर एक साजिश की गई है और वे यह भी जान – कि वक्त आते ही कॉंग्रेस उन्हे निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गाधीजी को – कर गालिबन अपने आधे के करीब मेम्बरो को निकाल देगी। इन आधे मेम्बरो – सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब लिबरल-पार्टी मे मिला लेना चाहते थे। – इस बात को कभी नही छिपाते थे। उन्हींके लफ्जो मे गाधीजी का दिमाग साफ – है, लेकिन अगर कोई मट्ठे दिमागवाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठे दिमाग – अनुयायी आपको दे तो उसको अपनी तरफ करना अच्छा ही है।"[१]

मुझे पता नही कि इस उद्धरण मे जो बाते कही गई है वे सर तेजबहादुर – और जयकर साहब या गोलमेज-कान्फ्रेन्स के दूसरे मेम्बरो के विचारो को, जो सन् १९ –

१. ग्लोर्न बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक – उद्धरण मैंने उस किताब की एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को – का मौक़ा अभीतक नहीं मिल पाया है। मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब – लेखक या जिन शख्सों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा –

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से ख्या – और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिलकुल बेबुनियाद हैं। इस – अलावा कई वाक़यात भी गलत दिये गये हैं। खासकर कमिटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नही किया इस विषयक वाक़यात – उन्होंने एक अजीब बात यह भी मान ली है कि १९३१ में सरदार वल्लभभाई – को कॉंग्रेस की सदारत और उसके जरिये से उसकी रहनुमाई गांधीजी – प्रतिस्पर्धा में मिली, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों मे कॉंग्रेस में – न्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती कॉंग्रेस के किसी भी सदर से कहीं ज्यादा – रही है। वह सभापति बनानेवाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मान – न्होंने खुद बार-बार सदर होने मे इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके –

न्दन आ रहे थे, कहाँतक प्रकट करती है। लेकिन मुझे यह बात जरूर आश्चर्य-क मालूम होती है कि हिंदुस्तान की राजनीति से थोडी-सी जानकारी रखनेवाला शख्स, फिर चाहे वह अखबारनवीस हो या नेता, इस तरह की बात कह सकता मैं तो उसे पढकर दग रह गया, क्योंकि इससे पहले मैंने किसीको इशारे मे भी इस ह की बात कहते हुए नही सुना। लेकिन इसमे ऐसी कोई बात नही है जो समझ मे आये, क्योंकि तभी से मैं ज्यादातर जेल मे ही रहा हूँ।

साथी और लेफ्टिनेन्ट सदारत करे। मै तो कांग्रेस का सदर महज उन्हींकी बदौलत था। वास्तव में वह चुन लिये गये थे, लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर रदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीके से नहीं हुआ। म लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभीतक कांग्रेस-कमिटियाँ गैर-क़ानूनी जमाते । वे मामूली तरीकों पर काम नही कर सकती थीं। इसलिए कराची-कॉग्रेस के लिए भापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत तमाम मिटी ने गांधीजी से अर्ज की कि वह सदारत मजूर कर ले और इस तरह जहाँ वह ग्रेस के असली प्रधान हैं वहाँ पद के द्वारा भी प्रधान हो जायँ, खासकर आगामी जुक साल के लिए। लेकिन वह राजी नही हुए और इस बात पर ज़ोर देते रहे कि ल्लभभाई को सदारत मजूर कर लेनी चाहिए। मुझे याद है कि उस वक्त उनसे यह हा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोडे वक्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी भी बहुत-सी वाहियात बातों का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ जाती-सा है, मैं जरूर कुछ कहना पसन्द करूँगा। उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है,और एक इसी बात से न सिर्फ वह उग्र तरीकों के ही हामी हो गये बल्कि अग्रेजों की सोसायटी से भी वह दूर रहने लगे। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, कतई गलत है। असली वाक़यात की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मैं उन्हे यहाँ दिये देता हूँ। वकालत के शुरू दिनों में पिताजी को सर जान एज बहुत चाहते थे। वह उन दिनों इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे। सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायँ। उन्होंने कहा, मै खुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूँगा। पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा ज़रूर खड़ा होगा, क्योंकि बहुत-से

ये साजिश करनेवाले गरम कौन है और उनका मकसद क्या है ? कभी-कभी कहा जाता था कि मैं और कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल ... के मेम्बरों में सबसे ज्यादा गरम स्वभाव के हैं, और मेरा खयाल है, इसलिए ... के नेताओं में हम लोगों की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गांधीजी का वल्लभ... ज्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर में दूसरा कोई न होगा। अपने काम में कितने ही कड़े और मजबूत क्यों न हों, लेकिन गांधीजी के आदर्शों, उनकी नीति... उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। मैं जरूर इस बात का दावा न... सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शों को माना है, लेकिन मुझे बहुत ... रहकर गांधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खि... साजिश करने का खयाल ही राक्षसी है। सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के ... मेम्बरों के बारे में यही बात सही है। वह कमिटी वस्तुतः गांधीजी की बनाई हुई ... अपने कुछ साथियों के सलाह-मशवरे से उन्होंने इस कमिटी को नामजद किया ... उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गई थी। कमिटी के ज्यादातर मेम्बर ना... के स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमें सालों से रह चुके थे और करीब-करीब उसके ... मेम्बर खयाल किये जाते थे। उनमें राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व ...

अंग्रेज़ मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से ऐतराज करेंगे और मुमकिन है कि मेरे खि... वोट दें। कोई भी मामूली अफसर इस तरह मेरा नाम रद करा सकेगा, और ... हालत में मैं चुनाव के झगड़े में पड़ना पसन्द नहीं करूँगा। इसपर सर जान ने ... भी कहा कि मैं इलाहाबाद रक़बे की फौज के कमाण्डर ब्रिगेडियर जनरल से आप... नाम की ताईद करा दूंगा। लेकिन अखीर में यह खयाल छोड़ दिया गया। मेरे पिता... का नाम क्लब में नहीं पेश किया गया, क्योंकि उन्होंने यह बात साफ कर दी कि ... बेइज्ज़ती का खतरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। इस घटना की बदौलत ... अंग्रेजों के खिलाफ़ होने के बजाय सर जान एज़ के एहसानमन्द बन गये और उस... बाद के सालों में ही बहुत-से अंग्रेजों से उनकी दोस्ती तथा मेल मुहब्बत पैदा हुई ... और यह सब तो हुआ १८९० से लेकर १८९९ के दर्म्यान, और पिताजी इसके ... २५ वर्ष बाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी बने। उनकी यह तब्दीली ... नहीं हुई, लेकिन पंजाब के जंगी क़ानून ने इस विधि को पूरा कर दिया। और ... ... पर पड़े गांधीजी के असर ने तो हालत बहुत ही बदल दी। इतने पर भी अपना... ...जना-जुलना छोड़ने का, उनसे सब ताल्लुकात छोड़ने का, उनका कोई इरा... ... । लेकिन जहाँ ज्यादातर अंग्रेज अफसर हों वहाँ असहयोग और सविनय ... ...ी तौर पर मिलना-जुलना बन्द हो जाता है।

ा का मतभेद था। और सालो तक एकसाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम
ते-करते तथा एकसे खतरो का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिल-मिल गये थे।
मे आपस मे दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे
ुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर, थे और उनमे से किसीकी बाबत यह
चा तक नही जा सकता कि वह दूसरो के खिलाफ साजिश करेगा। कमिटी मे
ीजी की चलती थी और सब लोग रहनुमाई के लिए उन्हीकी तरफ देखते थे।
ई सालो से यही होता आ रहा था और सन् १९३० मे हमारी लडाई को जो बडी
मयाबी मिली थी उसके बाद सन् १९३१ मे तो यह बात और भी ज्यादा बढ गई
। कार्य-समिति के गरम खयाल के मेम्बरो को उन्हे निकालने की कोशिश करने मे
मकसद हो सकता था? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हे जल्दी समझोता
े के लिए राज़ी हो जानेवाला ओर इसलिए एक किस्म का बोझा समझा जाता
। लेकिन उनके बिना लडाई का क्या होता? असहयोग और सत्याग्रह का क्या
ा? वह तो इस जीवित-आन्दोलन के अग थे। बल्कि सच बात तो यह है कि वह
ही आन्दोलन थे। जहाँतक उस लडाई से ताल्लुक है, सब-कुछ उन्हीपर मुनह-
 था। बिलाशक कौमी लडाई उनकी पैदा की हुई नही थी, न वह किसी शख्स पर
ुसिर थी। उसकी जडे इससे ज्यादा गहरी थी। लेकिन लडाई का वह खास
ू, जिसकी निशानी सविनय भग थी, खास तौर पर उन्हीपर अवलम्बित था।
े अलग होने के मानी थे इस आन्दोलन को बद करना और नई नीव पर नये
 से इमारत खडी करना। यह काम किसी भी वक्त काफी मुश्किल साबित होता,
िन १९३१ मे तो कोई उसका खयाल भी नही कर सकता था।

यह खयाल बडा ही मज़ेदार है कि कुछ लोगो की राय मे हम कुछ लोग
३१ मे गाधीजी को काग्रेस मे निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको जरा-
इशारा करने मे ही काम चल सकता था, तो फिर हमे उनके खिलाफ साजिश
ने की क्या ज़रूरत थी? ज्योही गाँधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मै कॉंग्रेस से
ग होना चाहता हूँ त्योही तमाम कार्य-समिति और तमाम मुल्क मे तहलका मच
ा था। वह हमारी लडाई के एक ऐसे अग बन गये थे कि हम इस खयाल को भी
दाश्त नही कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जायँ। हम लोग तो उन्हे लन्दन
ने मे हिचकिचाते थे, क्योकि उनकी गैरहाज़िरी मे हिन्दुस्तान के काम का तमाम
 हमारे ऊपर आकर पडता था, और यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते।
लोग उनके कन्धो पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति
मेम्बरो को ही नही, उससे बाहर के बहुत-से लोगो को भी जो बन्धन गाधीजी से

बांधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक्त के लिए कुछ फायदा उ
बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गांधीजी का दिमाग साफ है या नहीं, इसका फैसला तो हम अपने ि
दोस्तों के लिए ही छोड़ देते हैं। हां, यह बात बिल्कुल सच है कि कभी कभी
राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है, जो मुश्किल से समझ में आती है। लेकिन
यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर हैं, उनमें आश्चर्यजनक साहस है और व
ऐसे शख्स हैं जो अक्सर अपनी जिम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते हैं। और
'दिमाग के साफ न होने' से इतने अमली नतीजे निकलते हैं, तो शायद वह उस
राजनीति के मुकाबिले में बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और निसका न
पुस्तकें पढ़ने और चुने हुए हलकों में ही हो जाता है। यह सच है कि उनके
अनुयायियों का दिमाग साफ नहीं था। वे राजनीति और शासन-विधानों की
कुछ नहीं जानते। वे तो सिर्फ अपनी इनसानी जरूरतों, खाना, घर, कपड़
जमीन की बातें ही सोच सकते हैं।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि इनसानी कुदरत का
की विद्या को भली-भांति सीखे हुए नामी विलायती अखबारनवीस किस
हिन्दुस्तान के मामलों में गलती खा जाते हैं। क्या यह उनके बचपन की उस
धारणा की वजह से है कि पूर्व तो कतई दूसरी चीज है और उसको आप मा
पैमानों से नहीं नाप सकते? या, अंग्रेजों के लिए, यह साम्राज्य का वह पी
रोग है, जो उनकी आंखों को खराब कर देता है? कोई चीज कैसी भी अनहोनी
न हो, उसपर वे करीब-करीब फौरन ही इत्मीनान कर लेंगे, बिना किसी तरह
अचम्भा किये, क्योंकि वे समझते हैं कि रहस्य-भरे पूर्व में हर बात मुमकिन हो स
है। कभी-कभी वे ऐसी किताबें छापते हैं, जिनमें काफी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होत
और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच में विलक्षण गलतियां
होती हैं।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ में योरप रवाना हुए तब, उसके
फौरन ही, मैंने पैरिस के एक मशहूर संवाददाता का एक मजमून पढ़ा। उन दिनों
लन्दन के एक अखबार का संवाददाता था और वह लेख हिन्दुस्तान के बारे में
उस लेख में एक ऐसी घटना का जिक्र था जो उसके कहने के मुताबिक १९२१ में
हुई जब असहयोग के दौरान में प्रिंस ऑफ वेल्स ने दौरा किया था। उस लेख
गया था कि किसी जगह (गालिबन वह देहली थी), महात्मा गांधी यका
की ढंग से, बिना इत्तिला किये हुए, युवराज के सामने प्रकट हो गये और उन

। घुटने टेककर युवराज के पैर पकड लिये तथा ढाड मार-मारकर रोते हुए उनसे ती की कि इस अभागे देश को शान्ति दीजिए। हम किसीने, गाधीजी ने भी, मजेदार कहानी कभी नही सुनी। इसलिए मैंने खत लिखकर उस अखवारनवीस यह वात वताई। उसने अपना अफसोस जाहिर किया, लेकिन साथ मे यह भी ा कि मैने यह कहानी वडे विश्वस्त-सूत्र से सुनी। जिस वात पर मुझे आश्चर्य हुआ यह थी कि उसने विना किसी तरह की जॉच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी इत्मीनान कर लिया जो जाहिर तौर पर विलकुल गैर-मुमकिन थी और जिसका ई भी शख्स, जो गाधीजी, कॉग्रेस या हिन्दुस्तान के वारे मे कुछ भी जानता था, ीनान नही कर सकता था। वदकिस्मती से यह वात सही है कि हिन्दुस्तान मे त-से ऐसे अग्रेज है जो यहाँ वहुत दिनो तक रहने के वाद भी कॉग्रेस या गाधीजी मुल्क की वावत कुछ नही जानते। कहानी कतई इत्मीनान के काविल नही थी। ि विलकुल वेहूदा थी। ऐसी वेहूदा जैसी यह कहानी होती कि केण्टरवरी के वडे दरी साहव यकायक मुसोलिनी के सामने प्रकट हो गये और सिर के वल खडे होकर, ा मे अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हाल ही मे एक अखवार मे जो रिपोर्ट छपी है उसमे एक दूसरी किस्म की हानी दी हुई है। उसमे कहा गया है कि गाधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई रोड होगी। वह उनके दोस्तो के पास छिपी रक्खी है। कॉग्रेस उस रुपये को हडपना ाहती है। कॉग्रेस को डर है कि अगर गाधीजी कॉग्रेस से अलहदा हो जायँगे तो वह ौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी सरासर वेहूदा है, क्योकि गाधीजी भी किसी फण्ड को न अपने पास रखते है और न छिपाकर रखते है। जो कुछ रुपया ह इकट्ठा करते है, उसे सार्वजनिक सस्थाओ को दे देते है। ठीक-ठीक हिसाव रखने मामले मे उनमे वनियो की-सी सहज-वुद्धि है, और उन्होने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया गया है।

कॉग्रेस ने सन् १९२१ मे एक करोड का जो मशहूर चन्दा किया था यह अफवाह गालिवन उसीकी कहानी पर हमर रखती है। यह रकम वैसे तो वहुत वडी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलाई जाय तो ज्यादा नही मालूम होगी। इस रकम को इस्तेमाल भी विश्वविद्यालय और स्कूल कायम करने, घरेलू धधो को तरक्की देने और खास तौर पर खद्दर की तरक्की के लिए, अछूत उद्धार के कार्यो मे तथा ऐसे ही दूसरी किस्मो के रचनात्मक कार्यो मे किया गया था। उसमे से काफी तादाद खास-खास स्कीमो के लिए अकित कर दी गई थी। फण्ड अवतक मौजूद है और जिन खास कार्यो के लिए वे अकित किये गये थे उन्हीमे लगाये जा रहे

है। बाकी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह मुकामी कमिटियो के पास छोड़ दिया था और वह काग्रेस के सगठन के काम मे तथा राजनैतिक कामो मे खर्च किया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था और कुछ साल बाद कांग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गाधीजी ने और मुल्क की गरीबी ने हम सिखा दिया है कि बहुत थोड़े-से रुपयो से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चाहिए। हमारा ज्यादातर काम तो लोगो ने अपनी खुशी से बिना कुछ लि किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पड़ा है, तो सिर्फ उतना ही जितना भरने को काफी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्यकर्ताओ को, जो विश्व-वि के ग्रेज्युएट है और जिन्हे अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख्वाह गई वे उस भत्ते से भी कम है जो इग्लैण्ड मे बेकारो को दिया जाता है। पिछले सालो के दौरान मे कॉग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मजदूरो का आन्दोलन, मुझे शक है किसी भी मुल्क मे शायद ही चलाया गया हो। और कॉग्रेस के तमाम फण्ड उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल आडिट होते रहे, उनका कोई हिस्सा नही है। हॉ, उन दिनो की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लड़ाई चल थी और कॉग्रेस गैरकानूनी जमात थी।

गाधीजी गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे शामिल होने के लिए कॉग्रेस के एकमात्र प्रति की हैसियत से लन्दन गये थे। बड़ी लम्बी बहस के बाद हम लोगो ने यही तय था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की जरूरत नही। यह बात कुछ हद तक तो इसलि गई कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाजुक वक्त मे अपने सब अच्छे आदमियो हिन्दुस्तान मे ही रक्खे। उन दिनो हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते की सख्त जरूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन मे गोलमेज का होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान मे ही था और हिन्दुस्तान मे कुछ होगा लन्दन मे उसकी प्रतिध्वनि जरूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मे कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखे और अपने सगठन को ठीक हालत मे रक्खे। लेकिन सिर्फ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। हम वैसा करना जरूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी थे, लेकिन हम लोगो ने जान-बूझकर ऐसा नही किया।

हम गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे इसलिए शामिल नही हो रहे थे कि हम छोटी-मोटी बातो पर ऐसी बाते और बहस करे जिनका कभी उस अवस्था मे हमे इन तफसीलो मे कोई दिलचस्पी नही थी। उनपर

किया जा सकता था जब कि खास-खास बुनियादी मामलो मे ब्रिटिश सरकार के हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय ुस्तान को कितनी ताकत मॉगी जाने को थी। यह बात तय हो जाने के बाद ोनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफसीलें तय करने का काम तो कोई भी ल कर सकता था। इन मूल बातो पर कॉग्रेस की स्थिति बहुत साफ और सीधी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौका न था। हम लोगो को यह ्म होता था कि हम लोगो के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ एक प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहाँ जाकर हमारी ति को साफ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसगत है और ा तरह उसको मजूर किये बिना गति नही है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार इस बात के लिए राज़ी करले कि वह कॉग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि बात तो बहुत ही मुश्किल थी, और उस वक्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए वह बिलकुल मुमकिन नही थी, लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई रा न था। हम अपनी उस स्थिति को नही छोड सकते थे। न हम उन उसूलो और दर्शो को ही छोड सकते थे जिनसे हम बधे हुए थे और जिनमे हमे पूर्ण विश्वास । अगर हमारी तकदीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातो मे राजीनामे की ई सूरत निकल आती तो बाकी बाते अपने-आप आसानी मे तय हो जाती। ्क सच बात तो यह है कि हम लोगो मे आपस मे यह तय हो गया था कि अगर सी तरह मे ऐसा राज़ीनामा हो जाय तो गाधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के ाम मेम्बरो को फौरन लन्दन बुला लेगे, जिससे कि हम वहाँ जाकर समझौते की ़सील तय करने का काम कर सके। हम लोगो को वहाँ जाने के लिए तैयार रहना और ज़रूरत पडती तो हम लोग हवाई जहाजो मे उडकर भी जाते। इस तरह बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुँच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातो मे शुरू-शुरू मे कोई राजीनामा नही होता, तो गे और तफसील मे, समझौते की, बाते करने का सवाल ही नही पैदा होता। न ग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियो को गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे जाने की कोई जरूरत पडती। ीलिए हमने सिर्फ गाधीजी को ही वहाँ भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक ार सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे शामिल हुई, लेकिन वह ा कांग्रेस की प्रतिनिधि होकर नहीं गई थी। उनको तो वहाँ हिन्दुस्तानी स्त्रियो के तिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हे इजाजत दे दी कि वह ा हैसियत से उस कान्फ्रेन्स मे शामिल हो सकती है।

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मा
वह हमारी मर्जी के मुताबिक काम करे। उसकी नीति तो यह थी कि असली
का विचार करना तो मुल्तवी होता रहेगा, कान्फ्रेंस थोड़ी-बहुत छोटी-छोटी
बेमतलब की बातों पर बहस करके थक जाय। जब कभी बड़े-बड़े सवालों पर
भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हाँ या ना करने से साफ इन्कार
दिया और सिर्फ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह
विचार कर देगी। असल मे उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक स
और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया। कान्फ्रेंस मे इसी सवाल का
वाला था।

कान्फ्रेंस के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालों के जाल मे फंसे
ज्यादा तो राजी-खुशी से और कुछ थोड़े-से मजबूरी से। कान्फ्रेंस क्या थी, भा
का कुनबा था। उसमे शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी द
प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी काबिल थे और मुल्क मे उनकी इज्जत भी थी,
बाकी बहुत-से लोगो की बाबत यह बात भी नही कही जा सकती। कुल मि
राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान मे राजनैतिक उन्नति के
ज्यादा विरोधी फिरको के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति वि
थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल जो हिन्दुस्तान मे बहुत ही माडरेट और फूंक
कदम रखनेवाले माने जाते है, इनकी जमात मे वही तरक्की के बडे भारी हामी
चमके। ये लोग हिन्दुस्तान मे ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालो के प्रतिनिधि
ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बँधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए
भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो फिरकेवाराना झगडो के
सिले मे जो 'छोटी' और 'बडी' जातियाँ थी उनके थे। ये टोलियाँ उन उच्च व
की थीं जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस मे कभी मिल
सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे कतई हर किस्म की तरक्की के मुखालिफ थे।
उनकी महज एक दिलचस्पी थी कि किसी तरह अपने फिरके के लिए कुछ फायदे
बात हासिल करले, फिर चाहे ऐसा करने मे हमे अपनी राजनैतिक तरक्की को
छोडना पडे। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होने खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान
किया था कि जबतक उनकी फिरकेवाराना माँगे पूरी नही की जायँगी तबतक
नैतिक आजादी लेने को राज़ी न होगे। यह एक गैर-मामूली दृश्य था और
बडे दुःख के साथ यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी कि एक गुलाम कौम
तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियो के खेल मे किस तरह शतरं

ः बन सकती है। यह सही था कि हाईनेसो, लार्डो, सरो और दूसरे बडे-बडे
ठकाववाले लोगो की उस भीड की बावत यह नही कहा जा सकता कि वह
दुस्तान के लोगो के प्रतिनिधि है। गोलमेज-कान्फ्रेस के मेम्बर ब्रिटिश सरकार के
मजद थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा
या था। फिर भी महज यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगो का ऐसा इस्तेमाल
र सकते है, यह दिखाती है कि हम लोगो मे कितनी कमजोरियाँ है और हम लोग
ी अजीब आसानी के साथ असली बातो से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशो को
ार करने के काम मे लगाये जा सकते है। हमारे उच्चवर्ग के लोग अभीतक हमारे
ाज्यवादी शासको की विचार-धारा से अभिभूत थे और वे उन्हीका खेल खेलते
क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालो को समझ नही पाते थे ? या वे उसके
ली मानो को समझते हुए, जानबूझकर उसे इसलिए मजूर कर लेते थे कि उन्हे
दुस्तान मे आज़ादी और लोकतन्त्र कायम होने से डर लगता था ?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, माडलिकवादी, महाजन, व्यवसायी,
मक और फिरकेवर लोगो के स्थापित स्वार्थो के इस समाज मे ब्रिटिश भारतीय
निधि-मडल का नेतृत्व मामूल के मुताबिक़ आगाखां के हाथ मे रहे, क्योकि वह
हद तक इन सब स्वार्थो से स्वय सम्पन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश
ाज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नजदीकी ताल्लुक रहा है।
ज्यादातर इंग्लैण्ड मे ही रहते है। इसलिए वह हमारे शासको के स्वार्थो और उनके
टकोण को पूरी तरह समझ सकते है और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते है। उस
मेज-कान्फ्रेस मे साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड के वह बहुत काबिल प्रतिनिधि हो सकते
लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे !

कान्फ्रेन्स मे हमारे खिलाफ पलडा बुरी तरह से लदा हुआ था, और यद्यपि हमे
मे कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयो को पढ-पढकर हमे
न होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि
ीय और आर्थिक समस्याओ की सतह को खरोचने की कैसे दयनीय और वाहियात
मे मामूली कोशिश की जा रही है ? कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशे हो रही
? कैसी-कैसी चाले चली जा रही है ? हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल
सबसे ज्यादा उन्नति-विरोधी लोगो से मिल गये है। टुच्चे-टुच्चे मामलो पर बाते
ती थी और सोभी खत्म ही न होती थी। जो असली बाते है उनको जानबूझकर
ा जा रहा है। ये प्रतिनिधि बडे-बडे स्थापित स्वार्थो के और खासकर ब्रिटिश-
म्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए है। वे कभी तो आपस मे लडते-झगडते है
े

ओर कभी एक-साथ बैठकर दावते खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ करते है। ... लेकर अखीर तक सब मामला नौकरियो का था। छोटे ओहदे, बडे ओहदे, हिन्दु... लिए कितनी नौकरियाँ और मेम्बरियाँ है तथा सिक्खो और मुसलमानो के ... कितनी ? और एग्लो-इन्डियनो तथा यूरोपियनो के लिए कितनी ? लेकिन ... ओहदे ऊँचे दरजे के अमीर लोगो के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमे कुछ ... था। मौका-परस्ती का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पडता था कि नये ... विधान मे टुकडे-रूपी जो शिकार था उसकी फिराक मे भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे ... की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आजादी की कल्पना ने भी तो बडे पैमाने ... नौकरियाँ तलाश करने की शक्ल अख्त्यार करली थी। इसे ये लोग "भारतीयकरण" के नाम से पुकारते थे। फौज मे, मुल्की नौकरियो मे और दूसरी जगहो मे हिन्दुस्तानि... को ज्यादा नौकरियाँ मिले यही इनकी पुकार थी। कोई यह नही सोचता था कि हि... स्तान के लिए आजादी की, असली स्वतत्रता की, भारत को लोकतत्री बना... जाने की, हिन्दुस्तान के लोगो के सामने जो भारी और जरूरी आर्थिक मसले मौ... है उनके हल करने की भी कोई जरूरत है ? क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान मे इ... मर्दानगी से लडाई लडी गई थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की ... मलय-समीर को छोडकर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेगे ?

उस सुनहले भवन मे और इतने लोगो की भीड मे गाधीजी बिलकुल ... मालूम होते थे। उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह ... बाकी सब लोगो मे उन्हे आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आस ... अच्छे सजे-धजे लोगो की जो भीड बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टि-कोण मे ... गाधीजी के खयाल और उनके दृष्टि-बिन्दु मे और भी ज्यादा फर्क था। उस का... मे उनकी स्थिति निहायत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे बैठे हम इस बात पर अचरज ... करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे है ? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के सा... वह अपना काम करते रहे, और राजीनामे की कोई-न-कोई बुनियाद ढूँढने के लि... उन्होने कई कोशिशे की। एक विलक्षण बात उन्होने ऐसी की जिसने फौरन यह दिखला... दिया कि किस तरह फिरकेवाराना भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपन... ओट मे छिपा रक्खा था। मुसलमान प्रतिनिधियो की तरफ से कान्फ्रेन्स मे जो फिरके... राना माँगे पेश की गई थी उनको गाधीजी पसन्द नही करते थे। उनका खया... और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानो का भी यही खयाल था, ... से कुछ माँगे तो आजादी और लोकतत्र के रास्ते मे रोडा अटकाने वाली ... फिर भी उन्होने कहा कि मै इन सब माँगो को "बिना किसी एतराज के मान...

तैयार हूँ, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक माँग यानी आजादी के मामले मेरा तथा कॉंग्रेस का साथ दे।"

उनका यह प्रस्ताव खुद अपनी तरफ से था, क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, नमे कॉंग्रेस को वह किसी बात से नही बाँध सकते थे। लेकिन उन्होने वादा किया मैं कॉंग्रेस मे इस बात के लिए जोर दूँगा कि ये माँगे मान ली जायँ। और कोई भी ख्स जो कॉंग्रेस मे उनके असर को जानता था, इस बात मे कोई शक नही कर सकता कि वह कॉंग्रेस से उन माँगो को मनवाने मे कामयाबी हासिल कर सकते थे। किन मुसलमानो ने गाधीजी के इस प्रस्ताव को मजूर नही किया। सचमुच इस बात ी कल्पना करना जरा मुश्किल है कि आगाखा साहब हिन्दुस्तान की आजादी के ामी हो जायँगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ-साफ दिखाई दे गई कि असली झगडा फरकेवाराना नही था, यद्यपि कान्फ्रेन्स मे फिरकेवाराना सवाल की ही धूम थी। सल मे तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक्की के रास्ते को रोक रही ी और वही फिरकेवाराना सवाल की आड मे छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार रती रही। कान्फ्रेन्स के लिए अपने नामजद प्रतिनिधियो का चुनाव बडी चालाकी से रके ब्रिटिश-सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगो को वहाँ जमा किया था और ान्फ्रेन्स की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ मे रखकर उसने फिरकेवाराना वाल को अहम और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिसपर आपस मे कभी न मल सकनेवाले जो लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे उनमे कभी कोई राजीनामा नही हो कता था।

इस कोशिश म ब्रिटिश सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी से उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमे न सिर्फ अपने साम्राज्य को कायम रखने की बाहरी ताकत ही है, बल्कि कुछ दिनो तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज-कान्फ्रेन्स न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताकत मे हिन्दुस्तान के लोगो की ताकत का अन्दाजा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की खास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हे आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए नाकामयाब हुए कि वे अपनेमे इतनी ताकत नही महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालो को धता बता दे जो उनकी तरक्की के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे नाकामयाब रहे, क्योंकि उनमे मजहबीपन की अति थी और उनके फिरकेवाराना जजबात आसानी से भडकाये जा सकते थे।

थोडेसे मे वे इसलिए असफल हुए कि अभीतक इतने आगे नही बढे हुए थे, न -
मजबूत ही थे, कि कामयाब होते ।

असल मे इस गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे तो कामयाबी या नाकामयाबी का स
ही न था । उससे तो कोई उम्मीद ही नही की जा सकती थी । फि
उसमे पहले से कुछ फर्क था । पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स थी तो अपने ि
की सबसे पहली कान्फ्रेन्स, लेकिन हिन्दुस्तान मे बहुत ही कम लोगो का ध
उसकी तरफ गया, ओर बाहर भी यही बात रही, क्योकि उन दिनो सब लोगो
ध्यान सविनय भग की लडाई की तरफ था । ब्रिटिश सरकार द्वारा जो नाम
उम्मीदवार १९३० मे कान्फ्रेन्स मे शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ
झण्डे निकाले गये और विरोधी नारे लगाये गये । लेकिन १९३१ मे सब बात ब
गई थी । क्यो ? इसलिए कि उसमे गाधीजी कॉग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत
जिसके पीछे करोडो लोग चलते है, उसमे शामिल हुए, इस बात से कान्फ्रेन्स की
जम गई और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज-बरोज उसकी कार्रवाइयो
ध्यान दिया । और वजह जो कुछ भी हो, यह जरूर है कि इस कान्फ्रेन्स मे जि
नाकामयाबी हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई । अब हम लोगो की समझ म
बात साफ-साफ आ गई कि ब्रिटिश-सरकार गाधीजी के उसमे शामिल होने को इ
अहमियत क्यो देती थी ?

जहॉतक कान्फ्रेन्स से ताल्लुक है वहातक वह, जिसमे वहॉ होनेवाली साज
मौकापरस्ती और फिजूल की जाल-साजियॉ शामिल है, हिन्दुस्तान की विफल
नही कहला सकती । वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिससे नाकामयाब होती
उसकी नाकामयाबी का कुसूर हिन्दुस्तान के लोगो के मत्थे नही मढा जा सकता
लेकिन उसे इस बात मे जरूर कामयाबी हुई कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवाल
से दुनिया का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान मे उसकी वजह से लोगो क
ऑखे खुल गई, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होने उससे अपनी जिल्लत म
महसूस की । उसने प्रतिगामी लोगो को फिर अपना सिर उठाने का मौका दे दिया ।

हिन्दुस्तान के लोगो के लिए तो कामयाबी या नाकामयाबी खुद हिन्दुस्तान
मे होनेवाली घटनाओ से हो सकती थी । हिन्दुस्तान मे जो मजबूत राष्ट्रीय हलचल
ही थी वह लन्दन मे होनेवाली चालबाजियो से ठण्डी नही पड सकती थी । राष्ट्रीय
मवर्ग के लोगो और किसानो की असली और तात्कालिक जरूरतो को दिखाती
। उसीके जरिये वे अपने मसलो को हल करना चाहते थे, इसलिए उस हलच
दो ही सूरते हो सकती थी—एक तो यह कि वह कामयाब होती, अपना काम प

र देती और किसी ऐसी दूसरी हलचल के लिए जगह खाली कर देती जो लोगो को गति और आज़ादी की सडक पर और भी आगे ले जाती, दूसरी यह कि कुछ वक्त -- लिए उसे जबर्दस्ती दबा दिया जाता। असल मे कान्फ्रेन्स के बाद फौरन् हिन्दुस्तान - लडाई छिडने को थी और होनहार यह था कि वह कुछ वक्त के लिए बेबस बनकर त्म हो। दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स का इस लडाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नही -ड सका, लेकिन उसने कुछ हदतक हमारी लडाई के खिलाफ आबोहवा जरूर - ना दी।

युक्तप्रान्त में किसानों-सम्बन्धी दिक्कतें

कॉंग्रेस के एक प्रधानमंत्री और कार्यसमिति के एक मेम्बर की हैसियत से भारतीय राजनीति से मेरा ताल्लुक रहता था, और कभी-कभी मुझे कुछ भी करना पड़ता था, हालांकि जहाँतक मुमकिन होता मैं उसे टालना ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और जिम्मेदारियां ज्यादा-ज्यादा बढ़ने लगीं, वैसे-वैसे समिति की बैठकें भी ज्यादा-ज्यादा लम्बी होने लगीं, यहाँतक कि वे लगातार हफ्ते तक होती थीं। अब सिर्फ नुकताचीनी के प्रस्ताव पास करना नहीं था, एक बड़ी भारी, और कई तरह की प्रवृत्तियोंवाली, संस्था के अनेक और भिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों का नियंत्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालों का फैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या ... निर्भर थी।

मगर मेरा खास काम तो युक्तप्रान्त में ही था, जहाँ कि कॉंग्रेस का ध्यान ... की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी में डेढ़सौ से ज्यादा मेम्बर थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने में हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमें पन्द्रह मेम्बर थे, बैठकें अक्सर होती रहती थीं, और उसीके ... में किसानों का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से में इस कौंसिल ने एक खास किसान-सम्बन्धी कमिटी मुकर्रर कर दी। यह जानने लायक बात है कि इस कौंसिल और इस कमिटी में ... जमींदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में, उस साल के हमारे प्रान्तीय कमिटी के सभापति (और इसीलिए ... कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के पदेन अध्यक्ष भी थे) तसद्दुक अहमद शेरवानी थे, जो एक मशहूर ज़मींदार खानदान के थे। प्रधानमंत्री श्रीप्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बड़े मेम्बर जमींदार थे, या जमींदार घराने के थे। बाकी मेम्बर ऊँचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी में ... भी काश्तकार या गरीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी जिला-कमिटियों में ... पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावों में जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी ... थी, उनमें वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में ... -लिखे लोगों की ही तादाद बहुत ज्यादा थी, और जमींदारों का भी बहुत ...

। इस तरह यह कोसिल किमी तरह भी गरम नहीं कही जा सकती थी, और
ामानो के सवाल पर तो निश्चय ही नही कही जा सकती थी।

प्रान्त मे मेरी हैसियत सिर्फ कार्यकारिणी कौंसिल ओर किसान-कमिटी के एक
म्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। सलाह-मशविरो या दूसरे कामकाज मे
-- खास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी मे सबसे प्रमुख भाग नही लेता था।
--स्तव मे, किसीके भी बारे मे यह नही कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता
-, क्योकि मजमूई और इकट्ठा कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गई थी, और
क्ति पर नही, सगठन पर ही हमेशा जोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा
त्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष
ख्तयारात न थे।

मुकामी तौर पर मैं इलाहाबाद जिला कॉंग्रेस कमिटी का भी मेम्बर था। इस
मिटी ने, अपने सदर पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व मे, किसान-समस्या की प्रगति
ा महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० मे इस कमिटी ने ही प्रान्त मे सबसे पहले
रबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नही था कि इलाहाबाद जिले
ा किसानो की हालत, भाव की मन्दी से सबसे ज्यादा खराब हो गई थी, क्योकि अवध
के ताल्लुकेदारी हिस्से और भी ज्यादा खराब थे। मगर इलाहाबाद जिले का सगठन
अच्छा था, और इसमे राजनैतिक चेतना ज्यादा थी, क्योकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक
हलचलो का एक केन्द्र था और आसपास के देहात मे बडे-बडे कार्यकर्त्ता अक्सर
जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली-समझौते के बाद फौरन ही हमने देहात मे कार्यकर्त्ता और
ोटिस भेज दिये थे, और किसानो को इत्तिला दे दी थी कि सविनय-भग और यह
आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने मे
अब कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हे सलाह भी दी कि वे अदा कर दे।
मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी सस्ताई को देखते हुए हमारी
राय यह है कि उन्हे भारी छूट मिलनी चाहिए, और हमने यह सुझाया कि हमको
एकसाथ मिलकर छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत
मे भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के जमाने मे
तो पूरा लगान या पूरी के करीब रकम देना तो बिलकुल ही गैर-मुमकिन था। हमने
किसानों के प्रतिनिधियो के साथ सलाह-मशविरा किया, और आरजी तजवीज की कि
आम तौर पर छूट पचास फीसदी होनी चाहिए, और कहीं-कहीं तो इससे भी ज्यादा।

हमने किसानो के सवाल को सविनय-भग के प्रश्न से बिलकुल अलग करने की

कोशिश की। कम-से-कम १९३१ मे तो, हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही वि-
करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक-क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर
मुश्किल था, क्योंकि दोनो किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे मे गहरे जुड गये थे,
पहले दोनो का गहरा साथ हो गया था। और कांग्रेस-सगठन के रूप में, हम
निश्चित रूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि
सस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण गैर-किसानो और जमीदारा
था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नहीं छोड
और न हमने छोडने की ख्वाहिश ही की, और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे
राजनैतिक ही समझती थी। सविनय भग फिर होने की सभावना भी हमारे सामने
और अगर ऐसा हुआ तो इसमे शक नहीं कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनो
साथ मिलकर चलेगे।

इन जाहिरा मुश्किलो के बावजूद, दिल्ली-समझोते के वक्त से हमेशा हम
यह कोशिश रही कि किसानो के सवाल को राजनैतिक लडाई से अलग रक्खा जा
इसका असली सवब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे वन्द नहीं कर दिया था,
यह बात हम सरकार और आम लोगो को बिलकुल साफ बता देना चाहते थे। दि
की बातचीतो मे, मेरा खयाल है, गाधीजी ने लॉर्ड अर्विन को यह भरोसा दिला
था कि अगर वह गोलमेज-कान्फ्रेस मे न भी गये, तो भी जबतक कान्फ्रेंस की
होती रहेगी तबतक वह सविनय भग फिर शुरू नही करेगे, वह कॉग्रेस मे सिफा
करेगे कि कान्फ्रेस को हर तरह का मौका दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे
इन्तजार करना चाहिए। मगर, तब भी गाधीजी ने यह साफ बता दिया था कि
किसी मुकामी आर्थिक लडाई के लिए हमे मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह
लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानो की समस्या उस वक्त हम सबके सामने
क्योकि वहाँ सगठित कार्य किया गया था। दर-असल तो सारे हिन्दुस्तान
किसानो की वैसी ही हालत थी। शिमला की बात-चीतो मे भी गाधीजी ने इस
को दुहराया था, और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[१] मे भी इसका जिक्र किया गया

१ शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के खत भी शामिल

भारत-सरकार के होम-सेक्रेटरी इमरसन साहब के नाम गाधीजी का पत्र

शिमला

२७ अगस्त १९३१

इमरसन साहब,

आपके आज की तारीख के खत के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी
वाद। सर कावसजी ने भी आपकी बताई तरमीमें भेजने की कृपा की है।

रप रवाना होने के ठीक पहले ही उन्होने साफ कर दिया था, कि गोलमेज-न्फ्रेन्स और राजनैतिक सवालो के बिलकुल अलावा भी कॉग्रेस के लिए यह जरूरी सकता है कि वह आर्थिक लडाइयो मे लोगो के, और खासकर किसानो के, धेकारो की रक्षा करे। ऐसी किसी लडाई मे फँसने की उनकी ख्वाहिश नही है, उसे टालना चाहते हैं, मगर यदि यह अनिवार्य ही हो जाय, तो उसे हाथ मे लेना पडेगा। हम जनता को अकेला नही छोड सकते थे। उनका मानना यह था कि ल्ली के समझौते से, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भग से तात्लुक रखता था, की रोक नही की गई है।

मै इसका जिक्र इसलिए कर रहा हूँ कि युक्तप्रान्तीय कॉग्रेस-कमिटी और उसके ाओ पर यह आरोप बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होने करबन्दी-आन्दोलन र शुरू करके दिल्ली के समझौते को तोड दिया। आरोप करनेवालो के सुभीते की त यह थी कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब लोग जिनपर यह लगाया ा और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल मे बन्द कर दिये गये थे और हर बवार और प्रेस पर सख्त सेन्सर बैठा हुआ था। इस हकीकत के अलावा कि

थियों ने व मैंने तरमीम-शुदा मसविदे पर खूब गौर किया है। नीचे लिखे स्पष्टीकरण साथ हम आपके सशोधित मसविदे को मजूर करने को तैयार हैं—

पैरेग्राफ ४ में सरकार ने जो पोज़ीशन अख्त्यार की है उसे कॉंग्रेस की तरफ़ मजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि जहाँ ंग्रेस की राय मे समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नहीं की जाती वहाँ ंच करना जरूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय भग-आन्दोलन उसी वक्त के लिए ल्तवी किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत-रकार और दूसरी प्रान्तीय सरकार जाँच कराने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और इस जुमले के रहने देने पर कोई ऐतराज़ न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि ंग्रेस अब से उठाये गये दूसरे मामलों के बारे में जॉच के लिए ज़ोर नहीं देगी, किन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जाँच के नाव मे उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लडाई लडना जरूरी हो जाय, तो ंग्रेस, सविनय भग-आन्दोलन के मुल्तवी रहते हुए भी, उसे करने के लिए वतन्त्र होगी।

म सरकार को यह यक़ीन दिलाने की जरूरत नही समझता कि कांग्रेस की मंशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लडाई से बचे और आपसी बातचीत और मझाना-बुझाना आदि उपायों से शिकायत दूर कराये। कॉग्रेस की पोजीशन का जिक्र

युक्तप्रान्तीय कमिटी ने १९३१ में कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नहीं किया, न
बात को साफ कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भंग से चलने
हुए, ऐसी लड़ाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भंग नहीं होता। वह उसके
को देखते हुए उचित था या नहीं, यह तो दूसरी बात थी, लेकिन जिस तरह
कारखाने के मजदूरों को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने
हक होता है, उसी तरह किसानों को भी आर्थिक कारण से हड़ताल करने का अधि
था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी यही पोज़ीशन रही, और सरकार ने
समझ ही नहीं लिया था, बल्कि उसने इसकी कद्र भी की थी।

करना यहाँ इसलिए ज़रूरी हो गया है कि आगे कोई सम्भावित गलतफ़हमी या
पर समझौता-उल्लंघन का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के कामयाब होने
हालत में मेरा ख़याल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक
प्रकाशित कर दिये जायँगे।

आपका

मो० क० गांधी

गांधीजी के नाम इमरसन साहब का पत्र

शिमला,

२७ अगस्त, १

प्रिय गांधीजी,

आज की तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में स्पष्टीकरण के साथ कम्यूनिक के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-स गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मा में जाँच पर ज़ोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहाँ आप यह आश्व देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझ बुझाना आदि तरीकों से ही अपनी शिकायत दूर कराने की हमेशा कोशिश क वहाँ आप आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी पोज़ भी साफ कर देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौंसिल-सहित गवर्नर ज आपके साथ इस उम्मीद में शामिल है कि सीधी लड़ाई का कोई मौका नहीं आय जहाँतक सरकार की आम पोजीशन की बात है, मैं वाइसराय के १९ अगस्त के आ ( ) हुए पत्र का निर्देश करता हूँ। मुझे कहना है कि उक्त कम्यूनिक, आपका तारीख का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डब्लू० इमरसन

१९२९ और उसके बाद की कृपि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगडती हुई स्थिति हद दर्जे को पहुँच गई थी। पिछले कई वर्षों से दुनियाभर में कृपि-सम्बन्धी ऊँचे की तरफ चढते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृपि ने भी, जो दुनिया के ार से बँध चुकी थी, इस चढाव मे हिस्सा लिया था। दुनियाभर के कारखानो खेतो की तरक्की मे कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृपि-सबधी ज्ञों के भाव चढ गये थे। हिन्दुस्तान मे जैसे-जैसे भाव बढते गये, सरकार की ग़ुज़ारी और जमीदार का लगान भी बढता गया, जिससे कि असली खेती करने- को इससे कुछ भी फायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसान लोगो की हालत, खास तौर पर अच्छे हिस्से को छोडकर, खराब ही हो गई। युक्तप्रान्त मे लगान लगुज़ारी की बनिस्बत बहुत तेज़ी से बढा, इन दोनो की सापेक्ष वृद्धि, इस शताब्दी पहले तीस वर्षो मे, करीब-करीब (मैं अपनी याददाश्त से ही कहता हूँ) ५ १ । इस तरह हालाकि ज़मीन से सरकार की आमदनी काफी बढ गई, लेकिन जमीदार आमदनी तो उससे भी बहुत ज्यादा बढी, और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी मोहताज ही रहा। यदि कही भाव गिर भी जाते थे, या कही मुकामी मुसीबते, से अवृष्टि, बाढ, ओले, टिड्डी वगैरा, आ पडती, तब भी मालगुज़ारी और लगान की कम वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो, बहुत हिचकिचाहट के बाद थोडी- , सिर्फ उस फसल भर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फसलो के वक्त भी लगान की दर हुत ऊँची मालूम होती थी, तब दूसरे वक्त मे तो साहूकार से कर्ज़ लिये बिना सकी अदायगी ही होना मुश्किल था। फलत किसानो का कर्ज़ा बढता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक रखनेवाले सभी वर्ग, जमीदार, मालिक, किसान और काश्तकार, भी बोहरो के, जो कि मौजूदा हालतो मे गावो की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फदे मे फँस गये। इस काम से साहूकारो ने खूब निजी फायदा उठाया, और उनका जाल जमीन पर और जमीन से ताल्लुक रखनेवाले सभी लोगों पर फैल गया। उनपर बन्धन कोई नही थे। कानून उनकी मदद पर था, और अपने इकरारनामे के एक-एक लफ्ज को पकडकर वे अपने आसामियो को जरा भी नही बख्शते थे। धीरे-धीरे छोटे जमीदार और मालिक-किसान दोनो के पास से ज़मीन उनके हाथो मे आने लगी, और साहूकार ही बडे पैमाने पर जमीन के मालिक, बडे जमीदार, जमीदार-वर्गीय बन गये। मालिक-किसान, जो अभीतक अपनी ही ज़मीन पर खेती करता था, अब बनिया-जमीदारो या साहूकारो का करीब-करीब दास-किसान बन गया, जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी खराब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदखल किये हुए भूमि-हीन

मजदूरो की बढती हुई जमात मे शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करने-वाले व्यक्तियो—का जो अब इस तरह जमीन-मालिक भी बन गये, जमीन से या काश्तकारों मे कोई सजीव सम्पर्क नही था। वे आम तौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहां अपना लेन-देन करते थे, और उन्होंने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दों के सुपुर्द कर दिया, जो उस काम को मशीनो की-सी सग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानो की बढती हुई कर्जदारी ही खुद इस बात का सबूत थी कि भूमि-प्रथा गलत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगो के पास किसी किस्म की बचत न थी, न जिस्मानी न माली, बरदाश्त करने की बिलकुल ताकत न थी और वे हमेशा भूखे ही रहते थे। प्रतिकूल-रूप की किसी भी असाधारण घटना के सामने वे टिक न सकते थे। कोई आम बीमारी आ जाती, तो लाखो मर जाते थे। १९२९ और १९ मे सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिग जांच कमिटी ने अन्दाजा लगाया था (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी कर्जा ८६० करोड रुपया था। इस मे जमीदारो, मालिक, किसानो और काश्तकारो का कर्जा शामिल था, मगर मुख्यत: यह असली काश्तकारो का ही कर्जा था। सरकारी आर्थिक नीति बिलकुल साहूकारों के ही हक मे रही है, और इससे भी भारी कर्जे मे और बढती हुई है। इस तरह विनिमय का अनुपात, हिन्दुस्तान का जबरदस्त विरोध होते हुए भी, सोलह पेन्स के बजाय अठारह पेन्स कर देने से किसानो का कर्ज १२½ फी सदी या लगभग १०७ करोड बढ गया।

लडाई के बाद के अचानक चढाव के बाद भाव धीरे-धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये, और देहात की हालत और खराब हो गई। और इस सबके ऊपर १९२९ और बाद के वर्षो का सकट आ गया सो अलग।

१९३१ मे युक्तप्रान्त मे हमारा कहना यह था कि लगान चीजो के भावों के मुताबिक रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे,

१ हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी कर्जदारी ८६० करोड है, यह भी सम्भवतः बहुत कम अन्दाज है। और, कम-से-कम, पिछले चार या पाँच वर्षों में यह बहुत ज्यादा बढ़ गया होगा। पजाब प्रान्तीय बैकिंग जॉच कमिटी ने, १९२९ में, पजाब का आँकडा १३५ करोड बताया था। लेकिन पजाब ऋण-मुक्ति बिल की सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट में (जो १९३४ में पेश की गई थी) लिखा है कि "कृषकों के कर्ज का भार बहुत भारी है, बहुत ही कम अन्दाज लगावे तो क़रीब २०० करोड रुपया होगा।" यह आंकडा बैकिंग जॉच कमिटी की रिपोर्ट के आंकडे से लगभग ५० फीसदी ज्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४ की) कृषि-कर्जदारी १२०० करोड से ज्यादा होगी।

ा के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस
ः पहले, करीब १९०१ मे थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी
ान नही था, क्योकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे, मौरूसी, गैर-मौरूसी,
कमी वगैरा, और सबसे नीचे दर्जे के काश्तकारो पर ही मन्दी का सबसे ज्यादा
र पड़ा था। दूसरी कसौटी सिर्फ यही हो सकती थी, ओर यही सबसे मुनासिब
थी कि खेती का खर्चा ओर निर्वाह-योग्य मजदूरी निकालकर कितनी रकम देने
ताकत काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से जॉचने पर जीवन-
र्वाह के खर्च कितने भी कम क्यो न माने जायँ, हिन्दुस्तान मे बहुत ज्यादा खेत ऐसे
कलेगे जो बे-मुनाफे है, और जैसा कि हमने १९३१ मे युक्तप्रान्त मे मिसालो से
बित किया था। कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नही सकते थे, जबतक
वे अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचे या
ची दरो पर कर्ज न ले।

हमारी युक्तप्रान्तीय कॉग्रेस कमिटी की पहली और आरजी तजवीज यह थी
ः सब मौरूसी काश्तकारो के लिए ५० फीसदी आम छूट हो जानी चाहिए, और
ान काश्तकारो की हालत और भी खराब है उनके लिए इससे भी ज्यादा छूट दी
ाय। जब मई १९३१ मे गाधीजी युक्तप्रान्त मे आये थे और गवर्नर सर मालकम
ी से मिले, तो उनमे मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके
ाद ही उन्होने युक्तप्रान्त के ज़मीदारो और काश्तकारो के नाम अपीले निकाली थी।
छली अपील मे उन्होने काश्तकारो से कहा कि, उनसे जितना बन सके वे अदा
रदे। उन्होने एक आकडा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये ऑकडे से कुछ
चा था। हमारी प्रान्तीय कमिटी ने गॉधीजी का ही आकडा मजूर कर लिया, मगर
मने मामला मुलझा नही, क्योकि सरकार उसपर राजी न हुई।

प्रान्तीय सरकार एक कठिन परिस्थिति मे थी। मालगुजारी ही उसकी आमदनी
ा बडा ज़रिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उडा देती है या बहुत कम कर
ती है तो उसे दिवालियापन का मुकाबिला करना पडता है। मगर, साथ ही उसे
किसानो के उभड पडने का भी काफी अन्देशा था, और जहॉतक हो सके वह उन्हे
ाफी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनो तरफ फायदे
े रहना आसान न था। सरकार और किसानो के बीच मे जमीदारवर्ग खडा था,
ो कि आर्थिक दृष्टि से बेकार और गैर-जरूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को
ुकसान पहुँचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनो को रक्षण और
सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश-सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति मे राज-

नैतिक कारणों से उस वर्ग को नाराज नहीं कर सकती थी, क्योंकि जो वर्ग पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें एक वह भी है।

आखिर प्रान्तीय-सरकार ने जमींदार और काश्तकार दोनों के लिए छूट की घोषणा की। यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीके पर दी गई थी, और पहले तो समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गई है। मगर यह तो साफ जाहिर था यह बहुत ही नाकाफी थी। इसके अलावा छूट चालू किस्त के लिए ही घोषित की और किसानों के पिछले बकाया कर्ज के बारे में कोई भी बात नहीं कही गई। यह जाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने में असमर्थ है वह पिछला बकाया या कर्जा चुकाने में तो और भी ज्यादा असमर्थ होगा। जमींदारों ही का कायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बकाये में जमा किया करते थे। काश्तकार की दृष्टि में यह तरीका खतरनाक क्योंकि किस्त का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाकी रह जाने की बिना पर खिलाफ, चाहे जब, मुकदमा दायर किया जा सकता था, और उसकी जमीन चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय कॉंग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति में पड़ गई। हमें विश्वास था कि काश्तकारों के साथ बहुत बेजा बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानों से यह कहने की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे कि वे अदा न करें। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा दें, और आम तौर पर उनकी मुसीबतों में उनके साथ हमदर्दी दिखाते और हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि कम करने पर भी किस्त की रकम उनकी ताकत के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, कानूनी और गैरकानूनी दोनों तरह से, चलने लगी। हजारों की तादाद में बेदखली के मुकदमे दायर होने लगे, गाय, बैल और मिल्कियत कुर्क होने लगी, जमींदारों के कारिन्दे मारपीट करने लगे। बहुतसे किसानों ने किस्त का कुछ हिस्सा जमा करा दिया। उनकी राय में, उनकी इतना ही देने की ताकत थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोड़ा और दे सकते हों, लेकिन बिलकुल जाहिर था कि ज्यादातर किसानों के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस आंशिक अदायगी के कारण वे बच नहीं सके। कानून का एंजिन तो आगे बढ़ा, और रास्ते में जो कुछ आया, उसे कुचलता ही गया। हालाँकि किस्त का हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री जारी हो गई और व्यक्ति-गत सम्पत्ति की कुर्की और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार

न देते तो भी उनकी हालत इससे ज्यादा खराब न हो सकती थी। बल्कि, उतना बचा लेने से, उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बडी तादाद मे हमारे पास जोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद जिले मे ही कई ार काश्तकार बेदखल कर दिये गये थे, और कई हजारो के खिलाफ कोई-न-कोई दमा दायर कर दिया गया था। जिला कॉंग्रेस कमिटी का दफ्तर दिनभर परेशान श्तकारो से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर लगता था कि मै यहाँ से भाग जाऊँ और कही छिप जाऊँ, जहाँ यह भयकर दुर्दशा ाई न दे। कई काश्तकारो पर, जो हमारे यहाँ आते थे, चोट के निशानात थे, जो ीदारो के कारिन्दो की मार के थे। हमने उनका इलाज अस्पताल मे करवाया। वे ा कर सकते थे? और, हम क्या कर सकते थे? हमने युक्त-प्रान्तीय सरकार के प बडे-बडे पत्र भेजे। हमारी कमिटी ने नैनीताल या लखनऊ मे प्रान्तीय सरकार से पर्क रखने के लिए गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी तरफ से मध्यस्थ बनाया था। वह कार को निरन्तर लिखते रहे, हमारे प्रान्तीय सदर, तसद्दुकअहमदखा शेरवानी लिखते रहे, और मै भी लिखता था।

जून-जुलाई की बारिश नज़दीक आने से एक और कठिनाई सामने आई। यह न जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदखल किसान बेकार बैठे रहे और अपने मने अपनी ज़मीन खाली पडी देखते रहे? किसान के लिए यह बडा मुश्किल था। ह तो उसकी आदत के खिलाफ था। कई लोगो की बेदखली सिर्फ कानूनी लिहाज से गई थी, उन्हे दरअसल हटा नही दिया था। सिर्फ अदालत का फैसला हो गया था, सके अलावा और कुछ नही हुआ था। इस हालत मे क्या वे जमीन जोत डाले ार इस तरह मदाखल्त बेजा का जुर्म कर ले, जिसमे शायद छोटे-मोटे दगे की भी भावना हो जाय? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी ज़मीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह माँगने को आते थे। हम उन्हे या सलाह दे सकते थे?

गर्मियो मे जब मै गाधीजी के साथ शिमला गया तो, मैने यह कठिनाई भारत-ार के एक ऊँचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह स्थिति मे होते तो क्या सलाह देते? उनका जवाब आँखे खोल देनेवाला था। उन्होने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी जमीन छिन गई है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मै जवाब देने से इन्कार कर दूँगा।' हालाँकि जमीन पर से किसान का कब्जा

कानूनन हटाया गया था, फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार न
कि वह अपनी जमीन न जोते। शिमला के पहाड पर बैठकर मिसलो पर उ
हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त समस्या पर विचार कर रह हो,
लिए तो आसान था। उन्हे या नैनीताल के प्रान्तीय प्रभुओ को मनुष्यो से वास्ता
पडता था, और न वे मनुष्यो की मुसीबतो को ही अपनी आंखो से देखते थे।

शिमला मे हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानो को सिर्फ एक ही सला
कि उन्हे पूरी किस्त दे दनी चाहिए, या वे जितनी दे सके उतनी दे देना चाहिए।
करीब-करीब जमीदारो के कारिन्दो के जैसे ही काम करना चाहिए। दरअसल,
ऐसी ही वात हमने उनसे तभी कह दी थी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना
उतना अदा कर दो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हे अपने
नही बेचने चाहिएं, या नया कर्जा नही करना चाहिए। और इसका नतीजा भी
कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हमारे लिए वडी भयकर थी। हिन्दुस्तान के किसानो मे मुस
सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा जरूरत से ज्यादा मुसीबते आती
रही है--अकाल, बाढ, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली दरिद्रता—और ज
अधिक बरदाश्त नही कर सकते, तो चुपचाप, और मानो बगैर शिकायत किये, ह
की सख्या मे, मर जाते है। यह उनका मुसीबतो से बचने का तरीका रहा है। १९३१
समय-समय पर आनेवाली पिछली मुसीबतो से ज्यादा कोई वडी बात नही थी। म
किसी कारण, १९३१ की घटनाये उन्हे ऐसी न लगी कि जो कुदरत की तरफ से
गई हो और जिन्हे चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होने विचार किया
ये तो मनुष्य की लाई हुई है, और इसलिए वे उन्हे बुरी लगी। जो नई राजनी
तालीम उन्हे मिली थी वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए भी १९३
ये घटनाये खास तौर पर दर्दनाक थी, क्योकि किसी हद तक हम अपने-आपको उ
लिए जिम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले मे किसानो ने ज्यादातर हमारी सल
नही मानी थी? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर हमारी निर
सहायता न होती तो किसानो की हालत और भी बदतर हुई होती। हम उन
सगठित करके रखते थे, और उनकी एक ताकत हो गई थी, जिसका ख्याल रख
था, और इसी कारण उन्हे इतनी छूट भी मिल गई जितनी शायद और
मिलती। और इन अभागे लोगो पर जो मार-पीट और सख्ती की गई,
खराब थी, इनके लिए कोई नई बात न थी। हा, इस वक्त उसकी मात्रा
फर्क था (क्योकि इस वक्त पहले से ज्यादा मात्रा मे की गई थी), और इ

ाका प्रकाशन भी ज्यादा हुआ था। आम तौर पर, गावो मे जमींदारो के कारिन्दो
- काश्तकारो के साथ मार-पीट करना या उन्हे बहुत पीडा पहुँचाना भी मामूली बात
ाझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत होजाने पर, सिवा वहाँ के, बाहर उसकी
ार्चा भी नही होती। मगर हमारे सगठन और किसानो की जागृति के कारण अब
ाा नही हो सकता था, क्योंकि इससे किसान सब एक-साथ हो गये थे और हर बात
- रिपोर्ट कॉंग्रेस के दफ्तर मे करते थे।

- जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, जबरदस्ती वसूल करने की कोशिश
ऊ ढीली हो गई और बल-प्रयोग की कार्रवाइयाँ कम पडने लगी। अब हमे बहु-
ख्यक बेदख़ल किसानो की फिक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए? हम सरकार
- ज़ोर डाल रहे थे कि वह उन्हे उनके खेत वापस दिलवाने मे मदद करे, जो कि
ादातर ख़ाली ही पडे थे। इससे भी ज्यादा जरूरी प्रश्न भविष्य का था। जो छूट
ली थी वह पिछली फसल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी
-य नही हुआ था। अक्तूबर से अगली किस्त की वसूली का वक्त आ जायगा। तब
-ा होगा? क्या हमे इसी भयकर घटना-चक्र मे से फिर गुजरना पडेगा? प्रान्तीय
.रकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमिटी नियुक्त की, जिसमे
-सीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ जमींदार मेम्बर थे। उसमे किसानो
ी तरफ से कोई प्रतिनिधि न था। अन्तिम क्षण, जब कि कमिटी ने काम भी शुरू
र दिया, सरकार ने हमारी तरफ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमे शामिल होने
-ो कहा। उन्होने इतने अर्से बाद उसमे शामिल होने मे कुछ फायदा न देखा, जब
क जरूरी मामलो के निर्णय तो किये ही जा चुके थे।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने भी किसानो के मुतल्लिक पिछली और मौजूदा
ाई हकीकतें इकट्ठा करने और मौजूदा परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए
ाक छोटी-सी कमिटी बिठाई थी। इस कमिटी ने एक बडी रिपोर्ट पेश की, जिसमे
ुक्तप्रान्त के देहात की हालत का बडा योग्यता-पूर्ण निरीक्षण किया गया था, और
भावो की भारी कमी के कारण आई हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था। उनकी
ासिफारिशे बडी व्यापक थी। उस रिपोर्ट पर, जो पुस्तक-रूप मे प्रकाशित की गई थी,
गोविन्दवल्लभ पन्त, रफीअहमद किदवई और वेंकटेशनारायण तिवारी के दस्तख़त थे।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गाधीजी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के लिए
लन्दन जा चुके थे। वह बडी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट
का एक सबब युक्तप्रान्त के किसानो की परिस्थिति भी थी। वास्तव मे उन्होने प्राय
यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन न गये, तो

वह यू० पी० आयंगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने मे जुट पडेगे। मगर
साथ शिमला मे जो आखिरी वातचीत हुई थी, उसमे और वातो के साथ युक्त
की वात भी शामिल थी। उनके इग्लैण्ड रवाना हो जाने के वाद भी उन्हे हम,
कुछ होता था उसकी, पूरी-पूरी इत्तिला देते रहते थे। पहले एक या दो महीन
तो मै उन्हे हर हफ्ते, हवाई और मामूली, दोनो डाको मे पत्र लिखा करता था।
मे हम इतने नियमित रूप से नही लिखते थे, क्योकि हमे उम्मीद थी कि वह ज
ही आजायंगे। उन्होने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने म, य
नवम्वर मे किसी वक्त, लौट आयंगे, और हमे उम्मीद थी कि उस वक्त तक हिन्दु
मे कोई सकट खडा न होगा। सवसे वडी वात यह थी कि उनकी गैर-हाजिर
हम सरकार के साथ सघर्ष या सकट मोल लेना नही चाहते थे। मगर, जव
आने मे देर लग गई और किसानो की समस्या तेज़ी से वढती चली, तव हमने
एक लम्वा तार भेजा, जिसमे ताज़ा-से-ताजा वाकयात लिखे, और उन्हे इत्तिला की
किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजवूर हो रहे है। उन्होने तार से ज
दिया कि इस मामले मे मै लाचार हूँ और इस समय कुछ नही कर सकता, और
भी कह दिया कि जैसा हम लोगो को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जायं।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, कार्य-समिति को भी हर वात की इत्तिला देती रही
खुद उसमे अपनी जानकारी से वाते वताने को मौजूद था ही, मगर चूँकि मा
गभीर होता जाता था, कमिटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक शेरवानी,
इलाहावाद जिला कमिटी के प्रसीडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी वातचीत की।

सरकार की किसान-सम्वन्धी कमिटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और
सिफारिशे भी की, जो पेचीदा और गोल-मोल थी और उसमे वहुत वाते मु
अफसरो के ऊपर छोड दी गई थी। कुल मिलाकर उसमे जिस छूट की तजवीज़
गई थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज्यादा थी, मगर हमे मालूम हुआ कि यह
भी काफी नही है। जिन आधारो पर उसमे सिफारिशे की गई थी उनपर,
सिफारिशो के स्वरूप पर भी, हमने ऐतराज किया। इसके सिवा, रिपोर्ट मे
आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले वकाया, कर्जा, और वहुसं
वेदखल कृपको के सवाल पर कुछ नही कहा गया था। अव, हम क्या करते ?
तरह हमने पिछले चैत-वैसाख मे किसानो से कहा था कि वे जितना वने उतना
, क्या अव भी हम किसानो को वही सलाह दे, और फिर वही नत
हमने देख लिया था कि वह सलाह सवसे ज्यादा मूर्खता-पूर्ण थी, और
। दी जा सकती थी। या तो किसानो को चाहिए कि अगर वे दे सके तो

न अदा करे जो अब छूट काटकर उनसे माँगी जा रही है, या वे कुछ भी न दे देखें कि क्या होता है। रकम का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न र के। काश्तकारो का, जितना वह निकाल सकते है, सारा रुपया वगैरा भी चला ा है, और उनकी जमीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्य-कारिणी ने परिस्थिति पर देर तक और गभीरता के साथ ार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीजे हालाँकि पिछली गरमी छूट से ज्यादा है लेकिन इतनी माफिक नही है कि उन्हे मौजूदा शकल मे मजूर लिया जाय। उनमे किसानो के हक मे तबदीली होने की फिर भी सम्भावना और इसके लिए हमने सरकार पर जोर दिया। मगर हमे मालूम होता था कि अब ई उम्मीद नही है, और जिस सघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेजी से आ है। प्रान्तीय सरकार और भारत-सरकार का कॉंग्रेस-सगठन की तरफ रुख लगातार ड़ता और सख्त होता जा रहा था। हमारे बडे-बडे पत्रो के जवाब मे हमे जरा-जरा जवाब मिल जाया करता था, जिसमे बता दिया जाता था कि हम मुकामी अफसरो लिखापढी करे। यह ज़ाहिर था कि सरकार की नीति हमे किसी तरह भी प्रोत्सा- ा करने की नहीं थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि र किसानो को छूट देदी जाय तो कांग्रेस का रौब बढ़ जाने की सभावना थी। नी आदत के कारण वह सिर्फ रौब के लिहाज से ही सोच सकती थी, और यह ाल, कि शायद जनता छूट का जस कॉंग्रेस को देने लगेगी, उसे नागवार हो रहा , और वह इसे जहाँतक हो सके बचाना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहो से ये रिपोर्टे आ रही थी कि रत-सरकार सारे कांग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक जबरदस्त आक्रमण शुरू रनेवाली है। अब छोटी अगुली ज्यादा जोर से काम करनेवाली है, और बिच्छू के ृ हमसे तोबा करानेवाले है। कॉंग्रेस के खिलाफ क्या-क्या करने की तजवीज़ है, इस- ा बहुत-सी तफसील भी हमे मिल गई। मेरा खयाल है कि शायद नवम्बर मे किसी क्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास (और कॉंग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी, लग) एक खबर भेजी, जिससे हमारी पिछली रिपोर्टो की ताईद होती थी, और समे खासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के प्रस्तावित आर्डिनेन्सो की तफसील भी ी। मेरा खयाल है कि बगाल को नये आर्डिनेन्स की सौगात मिल चुकी थी, या, ायद मिलने ही वाली थी। कई हफ्ते बाद जब नये आर्डिनेन्स निकले, मानो वे किसी ाई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हो, तब डॉक्टर अन्सारी की खबर की बहुत कुछ ताईद हो गई, और उसकी तफसील भी बहुत हद तक सही

निकली। आम तौर पर यही माना गया कि सरकार ने, गोलमेज-कान्फ्रेंस क... तीत लम्बा हो जाने से, अपना हमला रोक रक्खा था। उस समय जबकि ... कान्फ्रेन्स के मेम्बर आपस में मीठी-मीठी बेमतलब की कानाफूसी कर रहे थे, ... हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढ़ती गई, और हम सभीको महसूस हो रहा था कि जैसे छोटे-छोटे लोगों के रोकने पर भी घटनायें अपने-आप आगे बढ़ रही हैं, ... होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम ... मुकाबिला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक में, जो शायद दु:खान्त होने ... था, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपना हिस्सा ठीक तरह से अदा करने के ... अपने-आप को तैयार करलें। मगर हमें उम्मीद थी कि शक्तियों का यह सघर्ष ... होने से पहले गांधीजी लौट आयँगे, और वह लड़ाई या सुलह की जिम्मेदारी ... कन्धों पर उठा लेंगे। उनकी गैरहाजिरी में इस बोझ को उठाने के लिए हममें ... कोई भी तैयार नहीं था।

युक्तप्रान्त में सरकार ने एक और काम किया जिससे देहाती हलकों में ह... मच गई। काश्तकारों को छूट की चिट्ठियाँ बाँट दी गईं, जिनमें छूट की रकम ... गई थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमें दिखाई हुई रकम एक महीने ... अदा न की जायगी (किसी-किसी चिट्ठी में इससे भी कम वक़्त दिया गया था) ... छूट रद कर दी जायगी, और पूरी रकम कानूनी तरीके से, जिसका मतलब होता ... बेदखली, कुर्की, वगैरा से, वसूल कर ली जायगी। मामूली बरसों में तो काश्तकार ... अपनी लगान किस्तों में दो या तीन महीनों में अदा कर देते हैं। अबकी यह माम... मियाद भी नहीं दी गई। सारे देहात के सामने एकदम नया संकट खड़ा हो गया ... और चिट्ठियाँ हाथ में लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत क... हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके मुकामी अफसरों की त... से यह एक मूर्खता-पूर्ण धमकी थी, और बाद को हमसे कहा गया कि यह मंशा... से नहीं दी गई थी। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौका बहुत कम रह गया ... और कदम-ब-कदम लाजिमी तौर पर संघर्ष नजदीक आने लगा।

अब तो किसानों को और कॉंग्रेस को जल्दी ही फैसला करना आवश्यक ... हम गांधीजी के लौटने तक अपना फैसला नहीं रोक सकते थे। हमें अब क्या क... है? क्या सलाह देनी चाहिए? क्या जबकि हम यह जानते थे कि कई ... मिली हुई छोटी-सी मियाद में अपनी रकम अदा नहीं कर सकते तो यह ... होती कि हम उन किसानों से कह देते कि वे अपनी रकम अदा करें? ...

-- जो वकाया उनकी तरफ था, उसके वारे मे क्या होगा ? अगर उनसे माँगी हुई -म का वडा हिस्सा भी वे अदा करदे, या हाल की पूरी रकम भी अदा करदे, जो ाये मे जमा करली जायगी, तो भी क्या वे वेदखल किये जाने के खतरे से वच ाँगे ?

इलाहावाद कॉंग्रेस कमिटी ने अपनी मजवूत किसान-सेना के साथ लडाई का र वाँधा। उसने फैसला किया कि उसके लिए यह मुमकिन नही है कि वह किसानो अदायगी कर देने की सलाह दे। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी र अखिल-भारतीय कार्य-समिति की वाकायदा मजूरी के वगैर वह कोई आक्रामक म नही उठा सकनी। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और त और जिले की तरफ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक शेरवानी और पोत्तमदास टडन दोनो ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ ाहावाद ज़िले से ही ताल्लुक रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर ने महसूस किया कि उस वक्त जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमे उसका ापक परिणाम हो सकता था। क्या इलाहावाद जिला कॉंग्रेस कमिटी को यह इजाजत दी जाय कि वह कुछ वक्त के लिए, जवतक कि आगे सुलह की वातचीत न होले ार ज्यादा अच्छी शर्ते न मिल जायँ तवतक के लिए, लगान या मालगुजारी अदा न रने की सलाह किसानो को दे दे। यह एक छोटा मामला था और हम उसी तक हृदूद भी रहना चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गाधीजी लौटने से पहले सरकार से लड पडने की स्थिति को वचाने के लिए सारी ताकत गाकर कोशिश करना चाहती थी, और खासकर वह एक ऐसे आर्थिक सवाल पर तो डाई को टालना चाहती ही थी जिसके वर्ग-समस्या वन जाने की सभावना थी। मिटी हालाकि राजनैतिक दृष्टि मे आगे वढी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो गे वढी हुई नही थी, और उसे किसान और जमीदारो का आपसी झगडा खडा होना सन्द न था।

चूकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलो सलाह देने के लिए भरोसे लायक आदमी न समझा गया। मुझे खुद यह महसूस हो हा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम और दाहिने वाजू के मेम्बर भी, सघर्ष करने की ी अनिच्छा रखते हुए भी, वाकयात से मजवूर होकर सघर्ष करना चाहते है। इसलिए न हमारी कमिटी की मीटिंग मे हमारे प्रान्त से शेरवानी और दूसरे लोगो के आने ो वहुत अच्छा समझा, क्योकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी

प्रकार उग्र नहीं थे। राजनैतिक और सामाजिक दोनों रूप में वह कांग्रेस में
बाजू के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनकी राय युक्तप्रान्तीय कांग्रेस
की किसानों-सम्बन्धी नीति के खिलाफ हो गई थी। मगर जब वह खुद
सदर बन गये और उन्हें खुद बोझ उठाना पड़ा, तो उन्होंने समझ लिया कि
लिए दूसरा चारा ही नहीं है। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने बाद में जो-जो
उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर सदर की है
उन्हींकी मार्फत, उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक शेरवानी की बहस से मेम्बरा
असर पड़ा—मैं जितना असर डाल सकता था, उससे कहीं ज्यादा। बहुत
विचार के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नहीं कर स
उन्होंने युक्तप्रान्तीय कमिटी को अख्त्यार दे दिया कि वह अपने किसी भी ड
लगान और मालगुजारी की अदायगी को मुल्तवी करने की इजाज़त दे सक
मगर, साथ ही, उन्होंने युक्तप्रान्त के लोगों पर जोर दिया कि हो सके तो
कदम को न उठायें, और प्रान्तीय सरकार से सुलह की बातचीत चलाते रहें।

कुछ समय तक यह बातचीत चलाई गई, लेकिन नतीजा कुछ भी नहीं
मेरा ख़याल है कि इलाहाबाद जिले की छूट में थोड़ा-सा इजाफा कर दिया
मामूली परिस्थिति में शायद यह मुमकिन होता कि आपस में समझौता हो जा
खुला संघर्ष रुक जाता; अन्तर कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति ब
असाधारण थी, और सरकार और कॉग्रेस दोनों ही तरफ से यह भावना थी कि
ही संघर्ष होना लाजिमी है, और हमारी निपटारे की बातचीत की तह में को
लियत नहीं थी। दोनों तरफ से जो-जो कदम उठाया जाता था, उसमें ऐसा ही
था कि यह अपने लिए अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की ख्वाहिश से उठाया जा र
इसके लिए सरकार की तैयारियाँ तो गुप्त रूप से हो सकती थीं, और दर-असल
आना हो भी गई थीं। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगों के दम-खम
टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयों से नहीं हो सकती थी। ह
कुछ लोगों ने, और मैं भी उन्हीं कुसूरवारों में से था, तो आम भाषणों में यह
बार कहा था कि आजादी की लड़ाई हरगिज़ खतम नहीं हुई है, और हमें निकट-
में कई आजमाइशों और मुश्किलों से गुज़रना पड़ेगा। हमने लोगों से कहा कि वे
ए हमेशा तैयार रहें, और इसी कारण हमें लड़ाई जगानेवाला कहकर
की गई थी। दरहकीकत मध्यम-वर्गीय कॉग्रेसी-कार्यकर्त्ताओं के अन्दर ह
मुकाबिला करने की साफ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हें उम्मीद

सी-न-किसी तरह सघर्ष टल जायगा। गाधीजी के लन्दन मे रहने से भी अखबार नेवाले वर्गो का ध्यान उधर बँट जाता था। मगर पढे-लिखे लोगो की इस निष्क्रियता होते हुए भी घटनाये आगे ही बढती गई। खासकर बगाल, सीमाप्रान्त और क्तप्रान्त मे—ओर नवम्बर मे कई लोगो को यह दीखने लगा कि सकट नजदीक आ रहा है।

युक्तप्रान्तीय कॉग्रेस कमिटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनाये हो यें, लडाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। लाहाबाद-कमिटी ने एक बडी किसान-कान्फ्रेन्स बुलाई, जिसमे एक आरजी ठहराव या गया कि अगर ज्यादा अच्छी शर्ते न मिल सकेगी, तो उन्हे किसानो को लगान ौर मालगुजारी रोक लेने की सलाह देनी पडेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार हुत नाराज हुई, और इसीको 'लडाई का काफी सबब' समझकर उसने हमारे साथ ागे कोई भी बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख का प्रान्तीय कॉग्रेस पर ी असर पडा, और उसने इसको आनेवाले तूफान का निशान समझा और जल्दी-ल्दी अपनी तैयारियाँ करना शुरू किया। इलाहाबाद मे एक और किसान-कान्फ्रेन्स ई, जिसमे पहले से भी ज्यादा तेज और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमे केसानो से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज्यादा अच्छी र्ते मिलने तक के लिए अदायगी रोक ले। उस वक्त भी, और अखीर तक, हमारी डाई का रुख यह नही था कि 'लगान न दिया जाय', मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय'। और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त करते ही रहे, हालाकि दूसरा पक्ष ऐंठ मे दूर हट गया था। इलाहाबाद का ठहराव जमीदारो और काश्तकारो दोनो पर लागू था, मगर हम जानते थे कि अमल मे वह काश्तकारो और कुछ छोटे जमीदारो पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के शुरू के करीब युक्तप्रान्त मे यह परिस्थिति थी। इस बीच बगाल और सीमा-प्रान्त मे भी घटनाये हद तक पहुँच चुकी थी, ओर बगाल मे एक नया और भयकर रूप से व्यापक आर्डिनेन्स जारी कर दिया गया था। ये सब लडाई के चिन्ह थे, न कि सुलह के, और सवाल उठता था कि गाधीजी कब लौटेगे? सरकार ने जिस बडे प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गाधीजी हिन्दुस्तान आ पहुँचेगे? या, क्या वह यहाँ पहुँचकर यह देखेगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके है और लडाई चालू हो गई है? हमे मालूम हुआ कि वह इग्लैड से रवाना हो चुके है ओर साल के आखिरी हफ्ते मे बम्बई आ पहुँचेगे। हममे से हरेक, मुख्य कार्यालय का या प्रान्तो का हर-

प्रमुख कार्यकर्ता, उनके लौटने तक लड़ाई टालना चाहता था। और लड़ाई
मे भी हमारे लिए यह वाञ्छनीय था कि हम उनसे मिल ले, और उन
ओर हिदायते हासिल कर ले। वह एक इस तरह की दौड़ थी, जिसमे हम
इसमे सूत्रपात ब्रिटिश सरकार के हाथ मे था।

सुलह का ख़ात्मा

युक्तप्रान्त मे मेरे मशगूल रहने के बावजूद बहुत अरसे से मेरी यह ख्वाहिश थी कि मै दूसरे दोनो तूफानी केन्द्रो, सीमाप्रान्त और बगाल, मे भी हो आऊँ। उस जगह जाकर वहॉ कि परिस्थिति का अध्ययन करना, और अपने पुराने साथियो जिनमे से अनेक को मैने करीब दो साल से नही देखा था, मिलना चाहता था। र, सबसे ज्यादा, मै यह चाहता था कि मे उन प्रान्तो के लोगो की स्पिरिट और म्मत के, और राष्ट्रीय सग्राम मे उनकी कुर्बानियो के प्रति, अपनी तरफ से सम्मान ्रट करूँ। सीमाप्रान्त मे तो कुछ समय के लिए मै जा ही नही सकता था, क्योकि रत-सरकार यह पसन्द नही करती थी कि कोई प्रमुख कॉग्रेसी वहॉ जाय, और उसके र रुख को देखते हुए हम वहॉ जाने और अडचन पैदा करने की कोई इच्छा नही वते थे।

बगाल मे स्थिति बिगडती जा रही थी, और हालॉकि उस प्रान्त की तरफ मुझे हुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे बडी हिचकिचाहट हुई। मै महसूस रता था कि मै वहॉ असहाय-सा रहूँगा, और कुछ भी फायदा न पहुँचा सकूँगा। उस ान्त मे कॉग्रेसी लोगो के दो दलो के शोचनीय और दीर्घकालीन झगडो के सबब से ाहरी कॉग्रेसवाले बहुत अर्से से डर गये थे, और दूर-दूर रह रहे थे, क्योकि उन्हे ाय था कि वे भी किसी-न-किसी दल मे शामिल समझ लिये जायँगे। यह बडी कमजोर और चिमगादडी नीति थी, और इससे बगाल की समस्या के सरल होने या ल होने मे मदद नही मिली। गाधीजी के लदन जाने के कुछ वक्त बाद ही दो घटनाये अचानक ऐसी हुई जिनसे सारे हिन्दुस्तान का ध्यान बगाल की स्थिति पर केन्द्रित हो गया। ये दोनो घटनाये हिजली और चटगॉव मे हुई थी।

हिजली नज़रबन्दो के लिए खास तौर पर बनाया हुआ एक डिटेन्शन-कैम्प जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि केम्प के अन्दर एक दगा हो गया और नज़रबन्दो ने जेल के मुलाजिमो पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजबूरन जेलवालो को गोली चलानी पडी थी। इस गोलीकाण्ड से एक नज़रबन्द मारा गया और कई घायल हुए। एक मुकामी सरकारी तफ्तीश ने, जो उसके बाद ही फौरन की गई थी, जेलवालो को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजो मे निर्दोष बरी कर दिया। मगर इस घटना ने कई विचित्र बाते हुई, और कई तथ्य

ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नहीं खाते थे, और नतीज
इसकी ज्यादा जाच करने की जोरदार और जबरदस्त माँग की गई। हिन्दु
आम सरकारी रिवाज के खिलाफ बगाल-सरकार ने एक ऐसी जॉच-कमिटी मु
दी, जिसमे सब ऊंचे-ऊचे जुडीशियल अफसर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमि
लेकिन उसने शहादतें ली और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी
डिटेन्शन-कैम्प-जेल के मुलाजिमो के खिलाफ हुई। यह तसलीम किया गया
ज्यादातर जेल के मुलाजिमो का ही था, और गोलीकाण्ड बिलकुल अनुचि
इस तरह सरकार के जो पहले कम्यूनिक निकले थे वे बिलकुल झूठे साबित हु

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नहीं थी। बदकिस्मती
घटनाये हिन्दुस्तान मे कम नहीं होती और जेल के अन्दर दगो के होने की अ
मे हथियार-बन्द वार्डरो और दूसरे लोगो द्वारा निहत्थे और बेबस कैदियो क
से दबाये जाने की खबरे अक्सर पढने को मिला करती है। हिजली मे असाधा
यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओ के बारे मे सरकारी कम्यूनिको के बिल्कु
तर्फापन और झूठेपन की पोल खुल गई, और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही।
सरकार के कम्यूनिको का कोई भरोसा नहीं किया जाता था, मगर अब तो उन
पूरा भण्डाफोड ही हो गया।

हिजली-काण्ड के बाद तो जेल की घटनाये, जिनमे जेलवालो द्वारा कहे
चलाई जाती थी और कही दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था
हिन्दुस्तान-भर मे बडी तादाद मे होने लगी। ताज्जुब की बात यह है कि इन
दगों मे चोट सिर्फ कैदियो को ही लगती मालूम होती थी। करीब-करीब हर मा
एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमे कैदियो पर कई बेजा हरकतो का इ
लगाया जाता था, और जेल के मुलाजिमो को बचाया जाता था। बहुत
मिसालो मे जेलवालो को महकमे की तरफ से कोई सजा दी गई होगी। पूरी
करने की तमाम मागो के लिए बिलकुल इन्कार कर दिया गया, सिर्फ महक
एक तरफ की जॉच ही काफी समझी गई। साफ जाहिर था कि सरकार ने हिज
अच्छी तरह सबक सीख लिया था कि मुनासिब और निष्पक्ष जॉच कराने मे
रहता है और मुस्तगीस ही खुद अपने इलजाम का सबसे अच्छा जज होता है
फिर इसमे भी क्या ताज्जुब है कि लोगो ने भी हिजली से सबक सीख लिया हो
ारी कम्यूनिको मे वही बात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहत
वह जो दरअसल घटित होती है ?

चटगाव की घटना तो इससे भी बहुत ज्यादा गम्भीर थी। एक आतकवा

ी एक मुसलमान पुलिस-इन्स्पेक्टर को गोली से मार डाला। इसके बाद ही एक
दू-मुसलिम दगा हो गया, या उसे ऐसा नाम दिया गया। मगर यह तो जाहिर था
मामला इससे कुछ बहुत ज्यादा था और वह मामूली दगो से कुछ भिन्न था। यह
ट था कि आतकवादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई ताल्लुक न था, वह
ला तो हिन्दू या मुसलमान का खयाल न रखते हुए एक पुलिस-अफसर पर हुआ
। फिर भी यह तो सही ही है कि बाद मे हिन्दू-मुसलमानो मे कुछ झगडा भी होगया।
झगडा कैसे शुरू हुआ, उसके होने का कारण कौन-सा था, यह साफ नही बताया
ना, हालाकि जिम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियो ने इस मामले मे बहुत गभीर-गभीर
लज़ाम लगाये है। इस दगे की एक और विशेषता यह थी कि इसमे दूसरी जातियो
निश्चित समुदायो ने, एग्लो-इण्डियनो ने, खासकर रेलवे मुलाजिमो ने और दूसरे
रकारी मुलाज़िमो ने भी, जिनके बारे मे कहा जाता है कि उन्होने बडे पैमाने पर
दला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बँगाल के दूसरे
शहूर लीडरो ने चटगाँव के वाकयात के बारे मे कई निश्चित आरोप लगाये, और
न्होने जाँच करने या मान-हानि का मुकदमा चलाने तक की चुनौती दी, मगर फिर
ी सरकार ने कोई कार्रवाई न करना ही अच्छा समझा।

चटगाँव की इन कुछ असाधारण घटनाओ से दो खतरनाक सभावनाओ की
रफ विशेष ध्यान गया। आतकवाद की कई लिहाज से निन्दा की गई थी, और
आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक नतीज़ा
ऐसा भी हो सकता था, जिससे मुझे खासकर भय लगता था। वह सभावना थी
हिन्दुस्तान मे इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डो का फैलना। हालाकि मै
हिसा-काण्डो को नापसन्द करता हूँ लेकिन मै उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू'
नही हूँ। मगर मै यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान मे फूट फैलानेवाली
ताकते अभीतक भी बहुत बडी-बडी है, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिसा-काण्ड होने
लगेगे तो उनसे उन ताकतो को मदद मिल जायगी, और एक सयुक्त और अनुशासन-
युक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मजहब
के नाम पर या बहिश्त जाने के लिए कत्ल करते है, तो ऐसे लोगो को आतककारी
हिसा का अभ्यास करा देना बडी खतरनाक बात होगी। राजनैतिक खून करना बुरा
है। लेकिन राजनैतिक आतकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा
सकता है, क्योकि शायद उसका लक्ष्य दुनियवी है, और व्यक्तिगत नही बल्कि राष्ट्रीय
है। मगर मजहबी खून करना तो और भी बुरा है, क्योकि उसका ताल्लुक दूसरी
दुनिया से है, और ऐसे मामलो मे दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नही कर

सकता। कभी-कभी तो दोनो के बीच मे फर्क बहुत ही बारीक रहता है और करीब-करीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया से, अर्ध-धार्मिक बन जाती है।

किसी आतकवादी द्वारा एक पुलिस-अफसर के कत्ल किये जाने से और उसके नतीजो से हरेक को बहुत साफ तौर पर यह महसूस होने लगा कि आतककारी हलचल से बडी खतरनाक बाते पैदा हो सकती है और हिन्दुस्तान की एकता और आजादी के काम को बेहद नुकसान पहुँच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनाये हुई उनसे भी हमे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान मे फासिस्ट तरीके पैदा हो चुके है, और फासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एग्लो-इडियन जातियो मे तो नि सन्देह फैल ही चुकी है। हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओ मे भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

यह एक विचित्र बात है, लेकिन खुद आतककारियो का या उनमे से कई लोगो का भी यही फासिस्ट दृष्टिकोण है, लेकिन उसकी दिशा दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फासिस्ट-वाद यूरोपियनो, एग्लो-इण्डियनो और कुछ उच्चवर्गीय हिन्दुस्तानियो के साम्राज्यवादी फासिस्टवाद का मुकाबिला करता है।

नवम्बर १९३१ मे मै कुछ दिनो के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और खानगी तौर पर व्यक्तियो और समुदायो से मिलने के अलावा मैने कई आम सभाओ मे भी भाषण दिये। इन तमाम सभाओ मे मैने आतक-वाद के सवाल पर भी विचार किया और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आजादी के लिए वह कितना गलत और बेकार और नुकसानदेह है। मैने आतक-वादियो को बुरा नही कहा, न मैने उन्हे हमारे कुछ ऐसे देशवासियो की तरह 'कायर' ही कहा, जिन्होने शायद ही कभी मर्दाना या खतरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बडी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो कि लगातार अपनी जान को खतरे मे डालता रहता है, कायर कहा जाय। और इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचको से, जो दूर खडे रहकर ही चीखते है लेकिन कुछ भी करने के काबिल नही है, कुछ ज्यादा हिकारत करने लगता है।

एक दिन शाम को कलकत्ते मे, वहाँ से रवाना होने के लिए मेरे स्टेशन पर जाने से थोडे ही वक्त पहले, मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम-उम्र, करीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे पीले थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। की आँखे चमकदार थी। मुझे मालूम न था कि वे कौन थे, लेकिन मै अन्दाज मे

समझ गया कि उनके जिम्मे क्या काम था । वे आतक-वादी हिसा के खिलाफ मेरे प्रचार के कारण मुझपर बहुत नाराज थे । उन्होने कहा कि उससे नोजवानो पर बहुत बुरा असर पड रहा है, और इस तरह मेरा दखल देना वे पसन्द नही करते । हमने थोडी-सी बहस भी की, लेकिन वह बडी जल्दी-जल्दी मे हुई, क्योकि मेरे रवाना होने का वक्त नज़दीक आ रहा था । मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज और हमारा मिज़ाज तेज़ हो गया था, और मैने उनसे कुछ सख्त बाते भी कह दी थी, और जब मै उन्हे वही छोडकर चलने लगा, तो उन्होने मुझे आखिरी आगाही दी कि "अगर आगे भी आपका यही रवैया रहा तो हम आपके साथ भी वही सूलूक करेगे जैसा कि हमने दूसरो के साथ किया है ।"

इस तरह मै कलकत्ते से चल दिया, और रात को गाडी मे अपने बर्थ पर लेटे हुए, मेरे दिमाग उन्ही दोनो लडको के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे । उनमे जीवन और जोश भरा हुआ था, अगर वे ठीक रास्ते मे लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे ? मैने उनके साथ जल्दी-जल्दी मे और कुछ रूखा व्यवहार किया था । काश मुझे लम्बी बात चीत करने का मौका मिलता । शायद उन्हे दूसरी दिशाओ मे हिन्दुस्तान की सेवा और आज़ादी के रास्ते मे, जिसमे कि साहस और आत्मत्याग के मौके भी की कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने का विश्वास दिला सकता । उस घटना के बाद भी मै अक्सर उन लोगो का विचार किया करता हूँ । मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद मे भी कुछ पता लगा । मै कई दफा सोचता हूँ कि क्या वे मर चुके है, या अण्डमान टापुओ की किन्ही कोठरियो मे बन्द है ?

दिसम्बर का महीना था । इलाहाबाद मे दूसरी किसान-कान्फ्रेन्स हुई, और फिर मै हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये अपने एक पिछले वचन को पूरा करने के लिए जल्दी मे कर्नाटक गया । सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन की एक स्वयसेवक-शाखा थी । वह हमेशा कॉग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका सगठन बिलकुल अलग ही था । लेकिन १९३१ की गर्मियो मे कार्य-समिति ने उसे बिलकुल कॉग्रेस मे शामिल करने और उसे कॉग्रेस का स्वयसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया । ऐसा ही हो भी गया, और हार्डीकर को और उन्हे उसका चार्ज सौपा गया । दल का हेडक्वार्टर कर्नाटक प्रदेश के हुबली शहर मे ही रहा, और हार्डीकर ने मुझे दल-सम्बन्धी कई कामो के लिए वहाँ बुलाया था । फिर वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक मे दौरा करने को ले गये । सब दूर लोगो का जबरदस्त जोश देखकर मै दग रह गया । लौटते वक्त मै शोलापुर भी गया, जिसका नाम मार्शल-लॉ शासन के दिनो मे मशहूर हो चुका था ।

सकता। कभी-कभी तो दोनो के बीच मे फर्क बहुत ही बारीक रहता है और करीब-करीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया से, अ धार्मिक बन जाती है।

किसी आतकवादी द्वारा एक पुलिस-अफसर के कत्ल किये जाने से और उस नतीजो से हरेक को बहुत साफ तौर पर यह महसूस होने लगा कि आतकका हलचल से बडी खतरनाक बाते पैदा हो सकती है और हिन्दुस्तान की एकता औ आजादी के काम को बेहद नुकसान पहुँच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने घटनाये हुई उनसे भी हमे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान मे फासिस्ट तरीके पैदा हो चु है, और फासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एग्लो-इडियन जातियो मे तो निःसन्देह फै ही चुकी है। हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओ मे भी य मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

यह एक विचित्र बात है, लेकिन खुद आतककारियो का या उनमे से कई लोग का भी यही फासिस्ट दृष्टिकोण है, लेकिन उसकी दिशा दूसरी है। उनका राष्ट्री फासिस्ट-वाद यूरोपियनो, एग्लो-इण्डियनो और कुछ उच्चवर्गीय हिन्दुस्तानियो साम्राज्यवादी फासिस्टवाद का मुकाबिला करता है।

नवम्बर १९३१ मे मै कुछ दिनो के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक बहुत भरा-पूरा रहा, और खानगी तौर पर व्यक्तियो और समुदायो से मिलने अलावा मैने कई आम सभाओ मे भी भाषण दिये। इन तमाम सभाओ मे मैने आत वाद के सवाल पर भी विचार किया और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्ता की आजादी के लिए वह कितना गलत और बेकार और नुकसानदेह है। मैने आत वादियो को बुरा नही कहा, न मैने उन्हे हमारे कुछ ऐसे देशवासियो की तरह 'काय ही कहा, जिन्होने शायद ही कभी मर्दाना या खतरे का कोई काम करने का साह किया हो। मुझे हमेशा यह बडी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री य पुरुष को, जो कि लगातार अपनी जान को खतरे मे डालता रहता है, कायर कहा जाय और इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचको से जो दूर खडे रहकर ही चीखते है लेकिन कुछ भी करने के काबिल नही है, कुछ ज्याद हिकारत करने लगता है।

एक दिन शाम को कलकत्ते मे, वहाँ से रवाना होने के लिए मेरे स्टेशन पर जा मे थोडे ही वक्त पहले, मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम-उम्र, करीब बीस बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे पीले थे और उनपर घबराहट झलक रही थी उनकी आँखे चमकदार थी। मुझे मालूम न था कि वे कौन थे, लेकिन मै अन्दाज

त गया कि उनके जिम्मे क्या काम था। वे आतक-वादी हिसा के खिलाफ मेरे
ार के कारण मुझपर वहुत नाराज थे। उन्होने कहा कि उससे नोजवानो पर
त वुरा असर पड रहा है, और इस तरह मेरा दखल देना वे पसन्द नही करते।
ने थोडी-सी वहस भी की, लेकिन वह वडी जल्दी-जल्दी मे हुई, क्योकि मेरे रवाना
ने का वक्त नजदीक आ रहा था। मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज ओर
हमारा मिज़ाज तेज़ हो गया था, और मैने उनसे कुछ सख्त बाते भी कह दी थी, ओर
जव मैं उन्हे वही छोडकर चलने लगा, तो उन्होने मुझे आखिरी आगाही दी कि "अगर
आगे भी आपका यही रवैया रहा तो हम आपके साथ भी वही सूलूक करेगे जैसा कि
हमने दूसरो के साथ किया है।"

इस तरह मै कलकत्ते से चल दिया, और रात को गाडी मे अपने वर्थ पर लेटे हुए,
मेरे दिमाग उन्ही दोनो लडको के उत्तेजित चेहरे वहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमे
...न ओर जोश भरा हुआ था, अगर वे ठीक रास्ते मे लग जाते तो कितने अच्छे वन
ते थे? मने उनके साथ जल्दी-जल्दी मे और कुछ रूखा व्यवहार किया था। काश
लम्वी वात चीत करने का मौका मिलता। शायद उन्हे दूसरी दिशाओ मे हिन्दुस्तान
सेवा ओर आज़ादी के रास्ते मे, जिसमे कि साहस और आत्मत्याग के मौके भी की
मी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने का विश्वास दिला सकता। उस घटना के
वाद भी मैं अक्सर उन लोगो का विचार किया करता हूँ। मुझे उनके नाम मालूम न
हो सके, और न उनका मुझे वाद मे भी कुछ पता लगा। मै कई दफा सोचता हूँ कि
क्या वे मर चुके है, या अण्डमान टापुओ की किन्ही कोठरियो मे बन्द है?

दिसम्बर का महीना था। इलाहावाद मे दूसरी किसान-कान्फ्रेन्स हुई, और फिर
हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये
अपने एक पिछले वचन को पूरा करने के लिए जल्दी मे कर्नाटक गया। सेवा-दल
राष्ट्रीय आन्दोलन की एक स्वयसेवक-शाखा थी। वह हमेशा कॉग्रेस का सहायक रहा,
यद्यपि उसका सगठन विलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गर्मियो मे कार्य-
समिति ने उसे विलकुल कॉग्रेस मे शामिल करने और उसे कॉग्रेस का स्वयसेवक-
विभाग वना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा ही हो भी गया, और हार्डीकर को और
मुझे उनका चार्ज सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर कर्नाटक प्रदेश के हुवली शहर मे
...ता रहा, ओर हार्डीकर ने मुझे दल-सम्वन्धी कई कामो के लिए वहॉ वुलाया था।
...र वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक मे दौरा करने को ले गये। सव दूर लोगो का
...न्दन्न जोश देखकर मै दग रह गया। लौटते वक्त मैं शोलापुर भी गया, जिसका
...फौजी कानून के दिनो मे मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दोरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण हस के अन्तिम सगीत जैसे थे, जिसे वह अपने मरने से पहले गाया करता है, लेकिन उनमे तेजी ज्यादा थी ओर सगीत कम था। युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित ओर साफ थी। सरकार ने वार कर दिया था, ओर सख्त किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते वक्त मैं कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गई थी। मैंने बम्बई मे उसके इलाज का इन्तजाम कर दिया। बम्बई मे ही, और करीब-करीब हमारे इलाहाबाद से वहाँ पहुँचने के बाद ही, हमे यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक खास आर्डिनेन्स जारी कर दिया है। सरकार ने तय कर लिया था कि वह गाधीजी के आने का इन्तिज़ार न करेगी, हालाँकि गाँधीजी जहाज पर चल दिये थे, ओर जल्दी ही बम्बई आनेवाले थे। समझा तो यह गया कि आर्डिनेन्स किसानो के आन्दोलन के ही लिए बनाया गया था, लेकिन वह इतना ज्यादा व्यापक था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमे बच्चो या नाबालिगो के अपराधो के लिए वालदैन या सरपरस्तो को सजा देने का विधान भी किया गया। यह इजील के जमाने के रिवाज़ की खूब उलटी आवृति थी।

करीब-करीब इन्ही दिनो हमने गाधीजी की उस बातचीत की रिपोर्ट पढी, जो रोम मे 'ग्योरनेल डि इटालिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गई थी। इसे पढकर हम अचम्भे मे पड गये, क्योकि इस तरह रोम मे राह चलते 'इटरव्यू' दे देना उनकी आदत के खिलाफ था। ज्यादा गौर से जाँच करने पर कई शब्द ओर वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग मे नही आते थे, ओर उसका खण्डन आने से पहले ही हमे साफ हो गया कि जिस तरह की 'इटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नही हो सकती। हमारा खयाल हुआ कि उन्होने जो कुछ भी कहा होगा, उसको बहुत ज्यादा तोड-मरोडकर बनाया गया है। बाद मे तो गाधीजी का जोरदार खण्डन भी निकला, ओर यह बयान भी निकला कि उन्होने रोम मे कोई वक्तव्य ही नही दिया। हमे मालूम हो गया कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमे इस बात से आश्चर्य हुआ कि ब्रिटेन के अखबारो और सार्वजनिक लोगो ने उनकी बात पर विश्वास नही किया ओर नफरत-सी दिखाते हुए उन्हे झूठा बतलाया। इससे हमे चोट पहुँची ओर गुस्सा भी आया।

मैं इलाहाबाद वापस जाने ओर कर्नाटक का दोरा बन्द कर देने को उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे मे अपने साथियो के साथ रहना चाहिए, ओर अपने घर मे इतनी घटनाये हो रही हो तब उनसे बहुत दूर रहना एक कठोर

दर्गाआ ही थी। फिर भी मैंने तय किया कि मैं कर्नाटक के कार्य-क्रम को पूरा
नी कर डालूँ। मेरे बम्बई आने पर कुछ दोस्तो ने मुझे सलाह दी कि मै गाधीजी की
आमनी तक, जो कि एक ही हफ्ते बाद आनेवाले है, ठहरा रहूँ। मगर यह नामुमकिन
। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगो की गिरफ्तारी की खबर
है। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ्रेन्स भी इटावा मे उसी हफ्ते मे होनेवाली
। इसलिए मैंने तय किया कि मै पहले इलाहाबाद जाऊँ और फिर एक हफ्ते बाद,
गर आज़ाद रहा तो, गाधीजी से मिलने और कार्य-समिति की मीटिंग मे शरीक होने
। बम्बई लौट आऊँ। मैंने कमला को रोगशय्या पर बम्बई मे ही छोडा।

मुझे इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही, छौकी स्टेशन पर नये आर्डिनेन्स के मुताबिक
एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नकल मुझे देने की
तामिल की गई। और, मेरे मकान पर भी एक तीसरे शख्स ने ऐसी ही तीसरी
तामिल की। जाहिर था कि सरकार कोई भी जोखम उठाना नही चाहती थी। उस
हुक्म के मुताबिक मै इलाहाबाद की म्युनिसिपल हद के अन्दर नजरबन्द कर दिया
गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी आम मीटिंग मे या कार्य मे शामिल न
होना चाहिए, किसी सभा मे भाषण न करना चाहिए, किसी अखबार या पत्रिका
मे कोई लेख नही लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियाँ लगा दी गई थी। मुझे
मालूम हुआ कि मेरे साथियो के नाम भी, जिनमे तसद्दुक शेरवानी भी शामिल थे,
इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गये। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने जिला-मजिस्ट्रेट को
(जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना
चाहिए इसकी बाबत मे आपसे हुक्म नही लेना चाहता, मै अपना मामूली काम
हस्बमामूल करूँगा, और अपने काम के सिलसिले मे इस हफ्ते मे मै गाधीजी से मिलने
और कार्य-समिति की, जिसका मै सेक्रेटरी हूँ, मीटिंग मे शरीक होने बम्बई जल्दी
जानेवाला हूँ।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खडी हो गई। हमारी युक्तप्रान्तीय-कान्फ्रेन्स
इसी हफ्ते मे इटावे मे होनेवाली थी। बम्बई से मै इस कान्फ्रेन्स को स्थगित करवाने
की तजवीज़ पेश करने के इरादे से आया था, क्योकि एक तो वह गाधीजी के
आने के दिनो मे ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी सघर्ष भी टालना था।
लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ से हमारे सदर
शेरवानी साहब के पास एक ताकीदी खत आया था, जिसमे पूछा गया था कि क्या आपकी
कान्फ्रेन्स मे किसानो के सवाल पर भी विचार किया जायगा? क्योकि अगर ऐसा होने-
वाला हो, तो सरकार कान्फ्रेन्स को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ जाहिर था कि

कान्फ्रेन्स का खास मकसद ही किसानो की समस्या पर विचार करना था, जिसने कि सारे प्रान्त मे खलबली मच रही थी। कान्फ्रेन्स करना और उसमे इस सवाल पर गौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी कराना ही था। कुछ भी हो, हमारे सदर साहब को या और किसीको भी यह अख्त्यार न था कि वह कान्फ्रेन्स को किसी बात के लिए पहले से ही बॉध दे। सरकार की धमकी के बगैर भी हम कुछ लोगो का यह इरादा तो था ही कि कान्फ्रेन्स स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और हो गई। हममे से कई लोग ऐसे मामलो मे कुछ-कुछ जिद्दी थे, और सरकार-द्वारा हमे ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी, बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक्त हमे अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ्रेन्स को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फैसला इस लिए किया कि हम गॉधीजी के आने तक लडाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत मे ज्यादा बढाना नही चाहते थे। हम उन्हे ऐसी परिस्थिति के अन्दर नही डाल देना चाहते थे, जिसमे वह बागडोर अपने हाथ मे न ले सके। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेन्स को मुल्तवी कर देने पर भी इटावा मे पुलिस और फोज का खूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहॉ पहुँच गये थे, वे गिरफ्तार कर लिये गये, और वहॉ लगी स्वदेशी-प्रदर्शनी पर फौज ने कब्जा कर लिया।

शेरवानी ने और मैने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग मे यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए खास तौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनो को ही आर्डिनेन्स के मुताबिक यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोडे। कहा गया था कि आर्डिनेन्स यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे जिलो मे लगानबन्दी की हलचलो के खिलाफ जारी किया गया है। यह समझना तो आसान है कि सरकार हमारा उन देहाती हिस्सो मे जाना बन्द कर दे। मगर यह तो साफ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानो का आन्दोलन नही चला सकते थे, और अगर आर्डिनेन्स सिर्फ किसानों की परिस्थिति का मुकाबिला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो उसे हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही करना चाहिए। आर्डिनेन्स के जारी हो जाने के वक्त से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम संघर्ष को टालते ही रहे, हालाकि बाज-बाज लोगो ने हुक्म-उदूली करदी थी। जहातक यू० पी० कांग्रेस का ताल्लुक था, यह बात साफ थी कि वह, कम-से-कम फिलहाल, सरकार से लडाई करने मे बचना या उसे मुल्तवी करना चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहॉकि गाधीजी और कार्य-समिति इन मामलो पर गौर करते, और के

किसीको मालूम नही था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नही था, कि उनके आखिरी फैसले क्या होते ।

इन सब विचारो से मुझे खयाल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नजरबन्दी के कानूनी आज्ञा-भग को सरकार बरदाश्त कर लेगी । लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था ।

ज्योही हम रेल मे बैठे, हमने सुबह के अखबारो मे नये सीमाप्रान्तीय आर्डिनेन्स और अब्दुलगफ्फारखा तथा डाक्टर खानसाहब वगैरा की गिरफ्तारी का हाल पढ़ा । बहुत जल्दी ही हमारी गाडी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगज पर, जहाँ आम तौर पर वह नही ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई, और हमें गिरफ्तार करने को पुलिस अफसर आगये । रेलवे लाइन के पास ही एक "ब्लैक मैरिया" गाडी खडी थी, और कैदियो की इस लारी मे मै और शेरवानी दाखिल हुए । वह तेजी से चली और हम नैनी-जेल मे जा पहुँचे । वह 'बॉक्सिग-दिवस' का प्रातःकाल था और वह पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमे गिरफ्तार करने आया था, अंग्रेज था, वह दुःखी और उदास दिखाई दिया । मै समझता हूँ, हमने उसके क्रिसमस त्यौहार का मजा किरकिरा कर दिया था ।

और इस तरह हम जेल मे आ पहुँचे—

> एक घडी भर अब तू सारा आल्हाद भुला दे,
> और वेदना मे ही अब तो कुछ काल बितादे ।[1]

१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

> "Absent the from felicity a while,
> And for a season draw thay bieath in pain"

४१

गिरफ़्तारियाँ, आर्डिनेन्स और मुमानियतें

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई मे उतरे, और तभी उन्हे नई और ताजी घटनाओ का हाल मालूम हुआ। उन्होने लन्दन मे ही बगाल-आर्डिनेन्स की खबर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दुखी हुए थे। अब उन्हे मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्सो की शकल मे बडे दिन की भेट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू० पी० मे उनके कुछ सबसे गहरे साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पाँसा पड चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होने रास्ता ढूँढने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय से मुलाकात चाही। उन्हे नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाकात कुछ खास शर्तो पर ही हो सकेगी। वे शर्ते ये थी कि वह बगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त की ताजी घटनाओ, और नये आर्डिनेन्सो और उनके मुताबिक हुई गिरफ्तारिया के बारे मे बातचीत न करे। (यह बात मैं अपनी याददाश्त से लिख रहा हूं, क्योकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नकल नही है।) यह समझना मुश्किल है कि सरकार की निगाह मे इन विषयो के अलावा जो कि देश को विक्षुब्ध कर रहे थे, और जिनपर बात करने की मुमानियत कर दी गई थी, गाधीजी या कांग्रेस का कोई भी नेता किस विषय पर बातचीत कर सकता था। अब यह बिलकुल साफ जाहिर हो गया कि भारत-सरकार ने कॉग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था, और वह उससे कोई ताल्लुक रखना नही चाहती थी। कार्य-समिति के पास सविनय भग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालो को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की आशका हो गई थी, और अपनी वहाँ से रवानगी के पहले वे देश को आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से आरजी तौर पर सविनय भग का प्रस्ताव पास किया गया, और गाधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने की दुबारा कोशिश की। उन्होने वाइसराय को बिला-शर्ती मुलाकात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गाधीजी और कांग्रेस के सदर की गिरफ्तारी के रूप मे मिला, और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया जिससे कि सारे देश मे भयकर दमन शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो, या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो उसके लिए बेचैन थी और पहले ही जरूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

नि सन्देह, हम तो जेल मे ही थे, और ये सारी खबरे हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आई। हमारा मुकदमा नव-वर्ष के लिए मुल्तवी कर दिया गया, इसलिए हमे हवालाती कैदी की हैसियत से सजायाफ्ता कैदियो की बनिस्बत ज्यादा मुलाकाते करने का मौका मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाकात मजूर करनी चाहिए थी या न मजूर करनी चाहिए थी, इसपर अखबारो मे बहुत वादविवाद चल रहा है, मानो इससे कोई वडा फर्क पडनेवाला था। यह मुलाकात का सवाल ही सबसे वडा हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लॉर्ड अर्विन होते तो वह मुलाकात जरूर मजूर कर लेते, और अगर उनमे और गाधीजी मे मुलाकात हुई होती तो जरूर सब कुछ-ठीक हो जाता। मुझे ताज्जुब हुआ कि परिस्थिति के बारे मे हिन्दुस्तान के अखबार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते है, और असलियत की ओर कैसे आँख उठाकर नही देखते है। क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद की, जिनमे सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नही हो सकता, लाजिमी लडाई किन्ही व्यक्तियो की व्यक्तिगत इच्छाओ पर ही निर्भर करती है? क्या दो तवारीखी ताकतो की भिडन्त मीठी मुसकान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकती है? गाधीजी को एक खास दिशा मे ही जाना पडा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तो का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नही कर सकती थी, और न जरूरी मामलो मे विदेशी फरमानो के सामने खुशी से झुक सकती थी। और हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा मे जाना पडा, क्योकि उन्हे इस राष्ट्रीयता का मुकाबिला करना था, और ब्रिटिश स्वार्थो की रक्षा करनी थी, और इसमे इस बात से जरा भी फर्क नही पड सकता था कि उस समय वाइसराय कौन था। लॉर्ड अर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिगडन ने किया, क्योकि दोनो ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के साधक थे, और वे निर्दिष्ट दिशा मे कुछ बहुत ही मामूली-सा फर्क कर सकते थे। वास्तव मे, बाद मे तो लॉर्ड अर्विन ब्रिटिश शासन-तन्त्र के मेम्बर हो गये, और हिन्दुस्तान मे जो-जो सरकारी कार्रवाइयाँ की गई उन सबमे उन्होने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान मे प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ या बुराई करना मुझे तो बिलकुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालो को नहीं समझते, या उन्हे जान-बूझकर टालना चाहते है।

४ जनवरी १९३२ एक महत्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का खात्मा कर दिया। उन दिनो सवेरे ही गाधीजी और कांग्रेस के सदर वल्लभभाई

गिरफ्तार करके, बगैर मुकदमा चलाये, शाही कैदी बना लिये गये। चार नये आर्डि, नेन्स जारी कर दिये गये, जिनके जरिये मजिस्ट्रेटो ओर पुलिस-अफसरो को व्यापक-से, व्यापक अख्त्यारात दे दिये गये। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई, ओर जन ओर धन दोनो पर ही अधिकारी चाहे जब कब्जा कर सकते थे। सारे देश पर मानो कब्जा कर लेने की हालत का ऐलान कर दिया गया, और इसको किस-किस पर ओर कितना-कितना लागू किया जाय, यह मुकामी अफसरो की मर्जी पर छोड दिया गया।[१]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल में यू० पी० इमर्जेन्सी पावर्स आर्डिनेन्स के मुताबिक हमारा मुकदमा हुआ। शेरवानी को छ महीने की सख्त कैद ओर १५० रुपये जुर्माने की सजा हुई, मुझे दो साल की सख्त कैद ओर ५०० रुपये जुर्माना (या बदले मे छ महीने की कैद) की सजा दी गई। दोनो के अपराध बिलकुल एक-से थे। हम दोनो को इलाहाबाद शहर मे नजरबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनो ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भग किया था। हम दोनो को एक ही दफा मे गिरफ्तार किया गया, और दोनो का एकसाथ ही मुकदमा चला। फिर भी हमारी सजाओ मे बडा फर्क था। लेकिन दोनो मे एक फर्क जरूर था। मैने जिला-मजिस्ट्रेट को लिखकर इत्तिला दी थी कि मै हुक्म की खिलाफ-वर्जी करके बम्बई जाना चाहता हूँ, शेरवानी ने ऐसा कोई बाकायदा नोटिस नही दिया था, लेकिन वह भी जाना चाहते है यह बात समान-रूप मे प्रसिद्ध थी, और अखबारो मे भी छपी थी। सजा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मजिस्ट्रेट से पूछा, कि मुसलमान होने के खयाल से तो मुझे कम सजा नही दी गई है? उनके इस सवाल से वहाँ मौजूद लोगो को बडा लुत्फ रहा ओर मजिस्ट्रेट कुछ परेशानी मे पड गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को, देशभर मे बहुत-सी घटनाये हुई। इलाहाबाद शहर मे, हमारे मुकाम के नजदीक, बडी-बडी भीडो की पुलिस और फौज से मुठभेड हो गई, और हस्बमामूल लाठी-प्रहार हुआ, जिसमे कुछ लोग मरे ओर कुछ घायल हुए। सविनय भग के कैदियो से जेले भरने लगी। पहले तो ये कैदी जिला-जेलो मे भेजे गये, और जब वहाँ जगह न रहती तब ही कैदी नैनी आदि सेण्ट्रल जेलो मे आते थे। बाद मे सभी जेले भर गई, और बडी-बडी आरजी कैम्प जेले कायम करनी पडी।

१ भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा मे कहा था कि, "मै मजूर करता हूँ कि जिन आर्डिनेन्सो का हमने समर्थन कर दिया है वे बडे व्यापक और सख्त है, वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते है।"

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते मे बहुत थोडे लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गये। रणजीत पडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बैरक न० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली मे लका के एक युवक-मित्र बर्नार्ड एलूविहारे भी अचानक आ गये, जो कि बेरिस्टर बनने के बाद इंग्लैण्ड मे हाल मे ही लौटे थे। मेरी बहन ने उनसे कहा था कि आप हमारे जुलूस वगैरा मे शामिल न हो। लेकिन जोश मे आकर वह कॉग्रेस के एक जुलूस मे शरीक हो ही गये, और एक ब्लैक मैरिया लारी उन्हे जेल मे ले आई।

कॉग्रेस, जिसमे सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमीटियाँ और बेशुमार मुकामी कमीटिया शामिल थी, गैर-कानूनी करार दे दी गई थी। कॉग्रेस के साथ-साथ सब तरह की सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील सगठन जैसे, किसान-सभाये, किसान-सघ, युवक-सघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक-सगठन, राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकाने, पुस्तकालय, आदि भी—गैर-कानूनी करार दे दिये गये। इनकी फेहरिस्ते बडी लम्बी-लम्बी थी, प्रत्येक बडे प्रान्त के सैकड़ो नाम इनमे शामिल थे। सारे हिन्दुस्तान भर का योग कई हजार तक पहुँच गया होगा। इन गैर-कानूनी घोषित सस्थाओ की यह सख्या ही मानो कॉग्रेस और राष्टीय आन्दोलन का महत्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई मे मेरी पत्नी बीमार पडी थी, और आन्दोलन मे हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी माताजी और दोनो बहने जोश-खरोश के साथ आन्दोलन मे कूद पडी। मेरी दोनो बहनो को जल्दी ही एक-एक साल की सजा मिल गई और वे जेल पहुँच गई। नये आनेवालो के जरिये या हमे मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमे कुछ अनोखी खबरे मिल जाया करती थी। जो-कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योकि सब दूर सेन्सर की बडी सख्ती थी, और समाचारपत्रो और समाचार-एजेन्सियो को भारी-भारी जुर्मानो का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तो मे तो गिरफ्तारशुदा या सजायाब व्यक्ति का नाम लिख देना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल मे बाहर के झगडो से अलग पडे हुए, फिर भी उनमे सब तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपनेको कातने, पढने या दूसरे कामो मे मशगूल कर रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलो पर भी बातचीत करते थे, लेकिन हम हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहार-दीवारी के बाहर क्या हो रहा है। उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमे शामिल थे। कभी-कभी तो किसी बात की उम्मीद करते-करते बहुत थक जाते थे और कभी-कभी किसी काम

के बिगड जाने पर गुस्सा आता था, और किसी कमजोरी या भद्देपन पर तबीयत झुझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीब ढग से तटस्थ-से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देख सकते थे, और यह अनुभव करते थे कि जब विशाल शक्तिया अपना काम कर रही है और दैवी तन्त्र लोगो को पीस रहा है, तब व्यक्तियो की छोटी-छोटी गलतिया या कमज़ोरिया कोई महत्व नहीं रखती। हम सोचा करते थे कि इस झगडे और शोर-गुल का, और इस मर्दाने उत्साह और निर्दय दमन और घृणित कायरता का, भविष्य क्या होनेवाला है ? इसका क्या नतीजा होगा ? हम किस तरफ जा रहे है ? भविष्य हमारी आँखो से छिपा हुआ था, और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था, और जहाँतक हमसे ताल्लुक था, वर्त्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, सघर्ष, कष्ट-सहन और बलिदान मे से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध हाँ, हो जायेगा,
झेन्थस सारा अहो रक्त से रग जायेगा,
हेक्टर तथा अजेक्स पुन होगे समुपस्थित,
हेलन भी खुद दृश्य लखेगी हो उच्चस्थित।

तब हम या परदे मे होगे या चमकेगे रण मे,
अन्धी आश-निराशाओ मे झूलेगे क्षण-क्षण मे,
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।"[1]

१. मेथ्यू एरनॉल्ड का मूल पद्य इस प्रकार है :—

"Men will renew the battle in the plain
To-morrow, red with blood will Xanthus be,
Hector and Ajax will be there again,
Helen will come upon the wall to see

Then we shall rust in shade, or shine in strife,
And fluctuate 'tween blind hopes and blind despairs,
And fancy that we put forth all our life,
And never know how with the soul it fares."

४२

ब्रिटिश शासकों की हू-हू

१९३२ के शुरू के उन महीनो मे, और वातो के अलावा, खास वात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमो ने मारे खुशी के खूब हा-हा हू-हू की। छोटे ओर वडे सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले ओर शान्ति-प्रिय है और कांग्रेसवाले कितने वुरे और झगडालू है। हम लोग लोकतन्त्र के हामी है जवकि कॉग्रेस को डिक्टेटरशिप भाती है। वह देखो कॉग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश मे ये हाकिम आर्डिनेन्सो, तमाम आज़ादी के दमन, अखवारो और छापेखानो की मुँहवन्दी, विना मुकदमा चलाये लोगो की जेलवन्दी, जायदाद और रुपयो की जब्ती और रोज-ब-रोज होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीजो-जैसी न-कुछ बातो को भूल गये थे। इसके अलावा वे हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश राज की जो बुनियादी खसलत है उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बडे धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलो मे वन्द कॉग्रेसी किस तरह अपना मतलब गॉठ रहे है जवकि हम कुछ हज़ार रुपये महीनो की नाचीज़ मज़दूरी पर पब्लिक की भलाई मे दिन-रात जुटे रहते है। छोटे-छोटे मजिस्ट्रेट हम लोगो को भारी-भारी सजाये तो देते ही थे, लेकिन सज़ा देते वक्त हमे उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशो के साथ-साथ कभी-कभी वे कांग्रेस और कॉग्रेस मे काम करनेवाले शख्सो को गालियॉ भी देते थे। भारत-मत्री के ऊँचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठा के पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, हॉ, कुत्ते भौंक रहे है, मगर हमारा कारवा चला जा रहा है। उस वक्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलो मे वन्द थे, वहॉ से वे आसानी से भौक नही सकते थे, और जो कुत्ते वाहर रह गये थे उनके मुँह विलकुल वन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज्यादा ताज्जुव की वात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दगे का पाप कांग्रेस के मत्थे मढा जा रहा था। यह दगा सचमुच वहुत ही वीभत्स था, लेकिन उसकी वीभत्सता वार-वार जतलाई गई और वरावर ही यह वताया गया कि इसकी वीभत्सता के लिए कॉंग्रेस ज़िम्मेदार थी, जवकि असली वात जो हुई वह यह थी कि उन दगो मे कांग्रेस ने वही किया जो कि करना ठीक था। यहॉ तक कि कॉग्रेस का एक श्रेष्ठ पुरुष उसमे काम आया, जिसकी मौत पर कानपुर के हर फिरके और दल ने दुख मनाया। दगो की खवर पाते ही कॉग्रेस ने अपने कराची के अधिवेशन मे फौरन

ही एक जॉच-कमिटी बिठा दी और इस कमिटी ने एक बहुत मुकम्मिल जॉच की कई महीने मेहनत करने के बाद कमिटी ने एक बडी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फौरन ही इस रिपोर्ट को जब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियां उठा ली गई, और मेरा खयाल है कि उन्हे बरबाद कर दिया गया। जॉच के नतीजो को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे हुक्काम आलोचक और व अखबार जिनके मालिक अग्रेज है हर वक्त यह बात दुहराते नही थकते कि दगा कॉग्रेस की वजह से हुआ। इसमे कोई शक नही कि इस मामले मे ही नही, दूसरे और मामलो मे भी, अखीर मे सचाई की जीत होगी, लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाती है। एक कवि के शब्दो मे—

"यह असत्य निश्चय ही जग मे नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा।
सत्य महान्, उसी की जग मे विजय अत मे होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?"[१]

मेरा खयाल है कि हिस्टीरिया जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिलकुल कुदरती था और ऐसी हालत मे कोई भी इस बात की उम्मीद नही कर सकता था कि सच्चाई से या सयम से काम लिया जायगा, लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पडता था कि उसमे आशातीत झूठ और छूट से काम लिया गया। उसकी गहराई और छूट को देखकर हैरत होती थी। इससे हमे इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक दल का मिज़ाज कैसा था और पिछले दिनो मे वे अपनेको कितना दबाये रखते थे। सम्भवत उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नही आया, बल्कि यह महसूस करके आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हे जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासको को अपनी ताकत पर भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नही हारते। शासको की इस मनोवृत्ति मे जो उधर दूसरी तरफ की तस्वीर मे ज़मीन-आस्मान का फर्क था। क्योकि कांग्रेस की तरफ बिलकुल खामोशी छाई हुई थी। मगर यह खामोशी सयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण सयम की—सूचक नही थी, बल्कि इसलिए थी कि कांग्रेसवाले जेलो में बन्द थे और बाकी के लोग डरे हुए थे तथा अखबारवालो को भी सर्व-व्यापी सेंसर का डर था। इसमे कोई शक नही कि अगर कांग्रेसवालो का मुह इस तरह मजबूरी से

१. मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

"When all its work is done, the lie shall rot,
The truth is great and shall prevail,
When none cares whether it prevails or not"

बन्द न होता तो वे भी मनमानी वकवास करते, बढा-चढाकर बाते कहते और गालियाँ देने मे शासको को मात करते। मगर, हा, काँग्रेसवालो के लिए भी एक रास्ता तो था। वह था गैर-कानूनी अखबारो का, जो कई शहरो मे समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान मे अधगोरो के जो अखबार निकलते है और जिनके मालिक अंग्रेज है वे भी वडे रस के साथ इस हा-हा, हू-हू मे शामिल हुए और उन्होने ऐसे बहुत-से खयालात जाहिर किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनो से उनके दिलो म दवे हुए पडे थे। यो आम तौर पर उन्हे अपनी वात कुछ समझ-बूझकर कहनी पड़ती है, क्योकि वहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अखबारो के ग्राहक है, लेकिन जब नाजुक वक्त आ गया तब यह सब सयम वह गया और हमे अग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनो ही के मन की झलक मिल गई। अव हिन्दुस्तान मे अधगोरे अखबार बहुत कम रह गये है, वे एक-एक करके बन्द हो गये है, लेकिन जो वाकी बचे है, उनमे कई ऊँचे दरजे के है—खबरो के लिहाज से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज से भी। दुनिया के मामलो पर उनके जो अग्रलेख होते है, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगो के दृष्टिकोण से लिखे जाते है फिर भी, उनमे लिखनेवालो की लियाकत झलकती है, तथा इस बात का पता चलता है कि उन्हे अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा काबू है। इसमे कोई शक नही कि अखबारो की दृष्टि से गालिबन वे सबसे अच्छे है, लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलो मे वे अपने दरजे से गिर जाते है। उनकी इकतरफा रायो को देखकर हैरत होती है, और जब कभी कोई आन-वान का मौका आता है तब तो उनकी वह हिमायत अकसर बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सच्चाई के साथ भारत सरकार की राय को प्रकट करते है और इस सरकार के हक मे वे लगातार जो प्रचार करते है उसमे अपनी बात किसीपर जबरदस्ती न थोपने का गुण नही होता।

इन कुछ इने-गिने अधगोरे अखबारो के मुकाबिले मे हिन्दुस्तानी अखबार नीचे दरजे के है। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते है और उनके मालिक उनकी तरक्की करने की बहुत कम कोशिश करते है। वे अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मुश्किल से चला पाते है और गरीब सम्पादकीय-विभाग को बडी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमे छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्तिजनक होते है और क्या राजनीति तथा क्या सामान्य जीवन दोनो मे वे बहुत बढी-चढी भावुकता का परिचय देते है। मै समझता हूँ कि कुछ हद तक तो इसकी वजह यह है कि हम लोगो की जाति ही भावुकतामय है, और कुछ हद तक इसलिए कि जिस ज़बान

मे यानी अँग्रेजी मे वे निकलते है वह विलायती जबान है और उसमे सरलता से और साथ ही जोर के साथ लिखना आसान नही है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोग कई किस्म के ऊँचे-नीचे खयालो के शिकार है जो बहुत दिनो के दमन और गुलामी की वजह से पैदा हुए है, इसलिए इन भावो को बाहर निकालने की हमारी हरेक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अग्रेजी मे निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिको के अखबारो मे जहाँतक उसके बहिरग की सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से ताल्लुक है, मदरास का 'हिन्दू' गालिबन सबसे अच्छा है। उसे पढकर मुझे हमेशा किसी वृद्ध कुमारिका की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरफ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता है। यह अखबार खास तौर पर मध्यम श्रेणीवालो का अखबार है, जिनकी जिन्दगी चैन से गुजरती है। जिन्दगी के नकली या ऊपरी पहलुओ से जीवन के सघर्षो और उसकी धक्का-मुक्की से, उसका कोई सरोकार नही। नरम-दल के और भी कई अखबारो का स्टैंडर्ड यही वृद्ध कुमारियो का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुँच जाते, लेकिन उनमे वह खूबी नही आ पाती जो 'हिन्दू' मे है और इसलिए वे हर लिहाज से बहुत नीरस हो जाते है।

यह जाहिर था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही मे उसकी चोट जहाँतक हो सके पूरी कसकर बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पडे। १९३० मे वह हमेशा इस कोशिश मे रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगडती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेन्सो से सम्हाले। उन दिनो वार मे पहल हमेशा कॉंग्रेस की तरफ से होती थी, लेकिन १९३२ के तरीके बिलकुल दूसरे थे। १९३२ मे सरकार ने सब तरफ से हमला करके लडाई शुरू की। अखिल-भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेन्सो के द्वारा हाकिमो को जितने अख्त्यार सोचे जा सकते थे सभी दे दिये गये। सस्थाये गैरकानूनी करार दे दी गई। इमारतो पर, जायदाद पर, सवारियो, मोटर वगैरा पर और बैको मे जमा रुपयो पर कब्जा कर लिया गया। आम जलसो और जुलूसो की मनादी करदी गई और अखबारो और छापेखानो पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ, १९३० के बिलकुल खिलाफ, गाधीजी निश्चित रूप से यह चाहते थे कि उस वक्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज्यादातर मेम्बरो की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मै भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करे लेकिन लडाई हुए बिना न रहेगी और हमे उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा सयुक्त-प्रान्त में और सरहदी सूबे मे जो तनातनी बढ रही थी उससे लोगो का ध्यान भी

लडाई की तरफ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढे-लिखे लोग लडाई की वात नही सोच रहे थे, हालाँकि वे लडाई की सम्भावना की पूर्ण उपेक्षा नही कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हे यह उम्मीद थी कि गाधीजी के आने पर यह लडाई टल जायगी और ज़ाहिर है कि इस मामले मे उनकी लडाई से वचने की इच्छा ने ही उनके दिलो मे यह उम्मीद पैदा की थी।

इस तरह १९३२ के शुरू मे निश्चित रूप से पहला हमला सरकार की तरफ से हुआ था और काँग्रेस हमेशा अपना बचाव करने मे लगी रहती थी। आर्डिनेन्सो को और सत्याग्रह-सग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनाये यकायक हो गई उनकी वजह से कई जगह के मुकामी नेता तो भौचक्के रह गये। लेकिन ये सव वाते होते हुए भी काँग्रेस की पुकार का लोगो ने जो जवाव दिया वह ऐसा-वैसा नही था। सत्याग्रहियो की कमी नही रही। वल्कि सच वात तो यह है और मेरे खयाल मे इस वात मे कोई शक नही हो सकता कि १९३२ मे ब्रिटिश सरकार का जो मुकाविला किया गया वह १९३० में किये जानेवाले मुकाविले से वहुत कडा और भारी था। यद्यपि १९३० मे खास तौर पर वडे-वडे शहरो मे धूम-धाम व शोरोगुल ज्यादा था, परन्तु साथ ही यद्यपि १९३२ मे लोगो ने सहन-शक्ति पहले से ज्यादा दिखाई और वे पूरी तरह शान्त रहे, फिर भी इन वातो के वावजूद स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का जोर १९३० से वहुत कम था। ऐसा मालूम होता था मानो हम वेमन से लडाई मे शामिल हुए थे। १९३० में हमारी लडाई मे हम एक तरह का गौरव अनुभव करते थे जो दो साल वाद अव कुछ-कुछ मुर्झा गया था। सरकार ने उसके पास जितनी ताकत थी सव लगाकर कॉंग्रेस का मुकाविला किया। उन दिनो हिन्दुस्तान एक तरह से फौजी कानून के अधीन रहा और काँग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आज़ादी ही मिली। वह पहली ही चपेट मे वेहोश हो गई। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों मे से जो पिछले दिनो में उसके खास मददगार रहे थे, ज्यादातर इस वार अलग गये। उनके धन-माल पर आ वनी। यह वात साफ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-सग्राम मे शामिल होगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेगे, न सिर्फ उनकी आज़ादी ही छीन ली जा सकती थी वल्कि शायद उनकी तमाम जायदाद भी छीन ली जा सकती थी। इस वात का हम लोगो पर युक्तप्रान्त मे तो कोई खास असर नहीं पडा, क्योकि यहाँ तो कॉंग्रेस गरीवो ही की थी। लेकिन वम्वई जैसे वडे शहरो मे इस वात का वडा भारी असर पडा। व्यापारियो के लिए तो इसके मानी ये पूरा नुकसान। पेशेवर लोगो को भी उससे भारी नुकसान पहुँचता था। इसकी धमकी भर नहीं, कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखाई गई—शहर के अमीर श्रेणी के

लोगो को लकवा-सा मार गया । पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक लेकिन मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी कि तुम्हे लम्बी सजा देने के साथ पाँच लाख जुर्माना किया जायगा । इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामो के लिए चन्दा दे दिया करता था । ऐसी धमकियाँ एक आम बात हो गई थी, और ये कोरी बातो की धमकियाँ ही न थी, क्योंकि उन दिनो पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगो को हर रोज इन धमकियो के पूरे होने की मिसाले मिलती रहती थी ।

मेरा खयाल है कि किसी काग्रेसी को इस बात का हक नही है कि सरकार ने जो तरीका अख्त्यार किया उसपर ऐतराज करे—यद्यपि एक सोलह आने अहिंसात्मक आन्दोलन के खिलाफ सरकार ने जिस जोर-जबरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत ऐतराज के काबिल थी । अगर हम लोग सीधी लडाई और क्रान्तिकारी तरीको से काम लेते है तो हमे हर तरह के मुकाबिले के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे तरीके कितने भी अहिंसात्मक क्यो न हो ? हम लोग आराम से बैठकखाने मे बैठे-बैठे क्रान्ति के साथ खिलवाड नही कर सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनो का फायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते है । अगर कोई क्रान्ति की ओर कदम बढाना चाहते है, तो उन्हे उनके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए । इसीलिए धन-दौलत और पैसेवाले अमीर लोगो मे से तो विरले ही क्रान्तिकारी हो सकते है । हाँ, उन व्यक्तियो की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगो की दृष्टि मे मूर्ख और अपनी जाति के घातक कहलाते है ।

लेकिन आम लोगो के पास न तो मोटरे थी, न बैको मे उनका कोई हिसाब था, न जब्त करने लायक जायदाद, और उन्ही लोगो पर लडाई का असली बोझ था। इसलिए अवश्य ही उनका मुकाबिला करने के लिए दूसरे तरीके अख्त्यार किये गये। सरकार ने चारो तरफ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मजेदार नतीजा यह हुआ कि उन लोगो की जमात उठ खडी हुई, जिनको हाल ही मे छपी एक किताब मे लिखे एक शब्द के मुताबिक 'सरकार-पक्षी' (Governmentarians) के नाम से पुकारा जा सकता है । इन लोगो को यह तो पता नही था कि भविष्य मे क्या होने वाला है, इसलिए ये लोग कॉग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे । लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी । वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफी नहीं समझती थी । गदर के सिलसिले मे मशहूर फ्रेडरिक कूपर के लफ्जो मे शासक लोग "पूरी, क्रियाशील और निश्चित वफादारी से कम किसी बात को बरदाश्त नही कर सकते । सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नही हो सकती थी कि वह आत

आशा के महज सद्भाव पर कायम रहे।" ब्रिटिश लिबरल दल के जो नेता राष्ट्रीय सरकार में जा मिले थे, अपने इन पुराने साथियो की बावत एक साल पहले मिस्टर लायड जार्ज ने यह कहा था कि "वे उन गिरगिटो के नमूने है जो अपनी देश-कालावस्था के मुताबिक अपना रग बना लेते है।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था मे न्यारे रगो के लिए गुंजाइश नही थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के निहायत भड़कीले रग मे रगकर बाहर निकले और दावते खाते तथा गीत गाते हुए उन्होने शासकों के प्रति अपना प्रेम और आदर प्रदर्शित किया। जो आर्डिनेन्स जारी किये गये थे उनसे, तरह-तरह की जो मनाहियाँ और रोके थी उनसे, और दिन छिपे बाद घरो से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हे डरने की कोई जरूरत न थी, क्योंकि सरकार की तरफ से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियो और अराजभक्तो ही के लिए है, राजभक्तो के लिए उनसे डरने की कोई वजह नही है। इसीलिए जिस डर ने हमारे बहुत-से देशभाइयो को जकड रक्खा था वह उनके पास तक नही फटका और वे अपने चारो तरफ होनेवाली लडाई व कशमकश को समदृष्टि से देखते थे। The Faithful Shepherdess नाम की कविता से शायद वे भी क्लो से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि :—

> "भय क्यो हो, सर्वथा मुक्त हूँ मै तो भय से,
> बलात्कार क्यो, जब खुद ही राजी हूँ मन से।"[१]

न जाने कैसे सरकार को यह खयाल हो गया कि कॉग्रेस जेलो को औरतो से भर-कर अपनी लडाई मे उनका इस्तेमाल करना चाहती है। क्योकि कॉग्रेसवाले समझते होंगे कि औरतो के साथ अच्छा वर्ताव किया जायगा या उनको थोडी सजा दी जायगी। यह खयाल बिलकुल बे-बुनियाद था। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरते जेलो मे धकेली जायँ? मामूली तौर पर लडकियो और औरतो ने हमारी लडाई मे क्रियात्मक भाग अपने पिताओ और भाइयो या पतियो की इच्छा के विरुद्ध ही लिया, किसी भी हालत मे उन्हे अपने घर के मर्दो का पूरा सहयोग नही मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-लम्बी सजाये देकर और जेलो मे बुरा वर्ताव करके स्त्रियो को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहनो की गिरफ्तारी के बाद फौरन ही कुछ नौजवान लडकियाँ, जिनमे से ज्यादातर पन्द्रह या सोलह बरस

१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

> "For from one cause of fear I am most free,
> It is impossible to ravish me,
> I am so willing."

की थी, इलाहाबाद मे इस बात पर गौर करने के लिए इकट्ठी हुई कि अब क्या करना चाहिए। उन्हे कोई तजुर्बा तो था नही। हॉ, उनमे जोश भरा हुआ था और वे सलाह लेना चाहती थी कि हम क्या करे। लेकिन जब कि वे एक प्राइवेट घर मे बैठी हुई बाते कर रही थी, गिरफ्तार करली गई और हरेक को दो-दो साल की सख्त कैद की सजा दी गई। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओ मे से एक थी जो उन दिनो रोज-ब-रोज हिन्दुस्तान-भर मे हो रही थी। जिन लडकियो व स्त्रियो को सजा मिली उनमे से ज्यादातर को बहुत तकलीफे बरदाश्त करनी पडी। उन्हे मर्दों तक से भी ज्यादा तकलीफे भुगतनी पडी। यो मैंने ऐसी कई दुखदाई मिसाले सुनी, लेकिन मीरा बहन ने बम्बई की एक जेल मे अपने तथा अपने साथी कैदी दूसरी सत्याग्रही स्त्रियो के साथ होनेवाले व्यवहार का जो वर्णन किया वह उन सब को मात करने वाला था।

सयुक्तप्रान्त मे हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती रकबो मे ही रहा। किसानो के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार जोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफी छूट देने का वादा किया, लेकिन हम उसे भी काफी नही समझते थे। हमारी गिरफ्तारी के बाद फौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। यह एक विचित्र बात थी कि इस छूट का ऐलान पहले नही किया गया, क्योकि अगर यह ऐलान पहले हो जाता तो हालत मे काफी फर्क पड जाता। हम लोगो के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यो ही ठुकरादे। लेकिन उस वक्त तो सरकार को यह फिकर थी कि इस छूट की नामवरी कॉग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ तो वह कॉग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ किसानो को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहे। यह बात साफ तौर पर दिखाई देती थी कि जहॉ-जहॉ कॉग्रेस का ज़ोर ज्यादा था वही-वही ज्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटे ऐसी-वैसी न थी, फिर भी उनसे किसानो का सवाल हल न हुआ। हॉ, उनसे स्थिति बहुत-कुछ सभल ज़रूर गई। इन छूटो ने किसानो की लडाई की तेजी कम करदी और हमारी व्यापक लडाई की दृष्टि से इन छूटो ने उस वक्त हमे कमजोर कर दिया। उस लडाई से युक्तप्रान्त मे बीसियो हजार किसानो को दुख झेलने पड़े। उनमे से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद होगये। लेकिन उस लडाई के जोर से लाखो किसानो को मौजूदा प्रणाली मे ज्यादा-से-ज्यादा जितनी छूट मुमकिन हो सकती थी करीब-करीब उतनी मिल गई और उस लडाई ने तरह-तरह की तगियो से भी उनकी जान बचा दी। सत्याग्रह सग्राम या उसके पुछल्लो की वजह ...हनो को जो तकलीफ उठानी पडी वह अलग ही। किसानो को कभी-कभी जो ...

थोड़े स फायदे होगये वे ऐसे कुछ है नही लेकिन इस बात मे कोई शक नही है कि जैसे भी थे वैसे ज्यादातर उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने किसानो की तरफ से की थी। आम किसानो को उस लडाई से कुछ दिनो के लिए फायदा ही हुआ, लेकिन उनमे जो सबसे अधिक बहादुर थे वे उस लडाई मे काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ मे जब युक्त प्रान्त का विशेप आर्डिनेस जारी हुआ तब उसके साथ साथ एक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान मे और दूसरे आर्डीनैसो के साथ-साथ जो बयान निकाले गये उनमे बहुत सी असत्य और अर्ध-सत्य बाते भरी हुई थी, जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थी। यह सब शुरू-शुरू की हू-हा का हिस्सा था और हमे उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट गलतियो के खडन करने का कोई मौका नही मिला। शेरवानी के मत्थे खास तौर पर एक झूठा इलजाम मढने की कोशिश की गई थी। यह झूठ साफ-साफ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ्तारी से कुछ ही पहले उसका खडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफाइयाँ बडी अजीब होती थी। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बरांती थी और कितनी हडवडा गई थी। उस दिन मै वह हुक्मनामा पढ रहा था जो स्पेन के तीसरे बादशाह चार्ल्स, तृतीय, ने अपने राज्य से जेसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था। उसे पढते ही मुझे उन हुक्मनामो और आर्डिनेसो की तथा उन्हे निकालने के दिये गये कारणो की याद आये विना न रही, जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान मे प्रकाशित किये थे। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ ईसवी को दिया गया था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास अपनी हुकूमत, अमन, और अपनी प्रजा मे न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो फर्ज है उनसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर वजूहात है और इन वजूहात के अलावा दूसरे बहुत जरूरी, ठीक और आवश्यक कारण भी है जिन्हे मै अपने दिल मे रक्षित रख रहा हूँ।"

इसलिए आर्डिनेन्स निकालने के जो असली कारण थे वे तो वायसराय के दिल या उनके सलाहकारो के साम्राज्यवादी दिलो के ताले मे ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ दीख पडते थे। सरकार की तरफ से आर्डिनेन्सो को निकालने के लिए जो कारण बताये गये उनसे हमे सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौका मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान मे कमाल पर पहुँचा रही थी। कुछ महीने बाद हमे यह भी मालूम हुआ कि कुछ नीम सरकारी पर्चे व पैम्फलेट हजारो की तादाद मे सब जगह मे बाटे जा रहे है, और जिनमे गलत बातो की तादाद काफी आश्चर्य-जनक है और

जिनमे खास तौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानो को नाज की जिस मंदी से नुकसान पहुँचा है वह कॉग्रेस ने ही कराई है। कॉग्रेस की ताकत की इससे ज्यादा तारीफ और क्या हो सकती है कि वह ससार व्यापी सकट पैदा कर सकती लेकिन यहा झूठ लगातार काफी होशियारी के साथ इस उम्मीद से फैलाई गई कि उससे कांग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातो के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ खास-खास जिलो के किसानो ने सत्याग्रह की लडाई मे जो हिस्सा लिया था वह तारीफ के लायक है। सत्याग्रह की यह लडाई लाजमी तौर पर माकूल लगान और छूट की लडाई मे मिल गई थी। इस लडाई मे किसानो ने १९३० की लडाई से कही ज्यादा तादाद मे और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू मे इस लडाई मे कुछ चुहलबाजी भी हुई। हम लोगो को एक मजेदार कहानी यह सुनाई गई कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली जिले के बाकुलिया गाव मे गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुडक करने के लिए गये थे। इस गॉव के लोग दूसरे लोगो को देखते हुए कुछ खुश हाल और जीवट के आदमी थे। उन्होने महकमे माल व पुलिस के अफसरो का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरो के किवाड खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगो ने मवेशी वगैरा कुडक किये। इसके बाद गाववालो ने पुलिस और महकमे माल के हाकिमो को पान-सुपारी नजर की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीचे को निगाह डालकर वहाँ से चले गये। लेकिन यह तो एक बिरली और गैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फौरन ही यह चुहलबाजी या उदारता या मेहरबानी कही भी न दिखाई दी। चुहलबाजी की वजह से बेचारा बाकुलिया गाव उस सजा से नही बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

कई खास-खास जिलो मे कई महीनो तक किसानो ने लगान रोक रखा था। उसकी अदायगी गालिबन गरमी के शुरू मे शुरू हुई। इसमे कोई शक नही कि बहुत से लोग गिरफ्तार किये गये लेकिन ये गिरफ्तारियाँ तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के खिलाफ करनी पडी। आम तौर पर गिरफ्तारिया खास-खास कार्यकर्ताओ तथा गॉवो के नेताओ की ही की जाती थी। दूसरो को तो महज मार-पीटकर छोड दिया जाता था। मारपीट का यह तरीका जेल मे ले जाने और गोली मारने के तरीके से बेहतर पाया गया। क्योकि लोगो को जहा जी चाहे वही मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहात मे होनेवाली मार-पीट की तरफ वहाँसे बाहर के लोगो का बहुत कम ध्यान जाता है। इसके अलावा उससे कैदियो की तादाद भी नही बढती। जोकि [illegible] बढती जाती थी। हाँ बेदखलियाँ, कुडकियाँ और जानवर तथा जायदाद बहुत

...न से नीलाम हुई। किसान तकलीफ से तडपते हुए यह देखते थे कि उनके पास कुछ थोड़ा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा ...हा है।

...नभर मे जिन बहुत-सी इमारतो पर सरकार ने अपना कब्जा कर लिया था ...म स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन मे ही कॉंग्रेस का जो अस्पताल काम कर ...ा था उसका भी कीमती सामान व माल सरकार के कब्जे मे ले लिया गया। कुछ ...ा तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया लेकिन उसके बाद पडौस के एक ...ं म ही एक खुला दवाखाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल या ...खाना स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान मे रक्खा गया और यही वह ...ई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द भवन' की बाबत भी कुछ चर्चा चली थी कि सरकार ...र भी अपना कब्जा कर लेना चाहती है। क्योकि मैने हमारे इनकमटैक्स की जो ... बड़ी रकम बकाया थी उसके अदा करने से इन्कार कर दिया था। यह टैक्स १९३० ...पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होने सत्याग्रह की लडाई की ...ह स उस साल उसे अदा नही किया। दिल्ली पैक्ट के बाद १९३१ मे उस टैक्स के ...र म इनकमटैक्स के हाकिमो से मेरी बहस हुई लेकिन अखीर मे मै उसे देने को राजी ...या और उसकी एक किस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेंस जारी हुआ और ... तय कर लिया कि अब मै टैक्स नही दूँगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही ..., बुरी ही क्यो अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मै किसानो से तो यह कहूँ कि तुम ...न और मालगुज़ारी देने से रुक जाओ और खुद अपना इनकमटैक्स अदा करदूँ। ...लिए मैं यह उम्मीद करता था कि सरकार हमारे मकान को कुडक कर लेगी। मुझे ...न मकान की कुडकी की बात बहुत ही बुरी लगती थी क्योकि उसके मानी यह थे ... मेरी माताजी उससे निकाल दी जाती और हमारी किताबे, व कागजात, वे चीजे ... जानवर और बहुत-सी जिसे जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी ... म, महत्व था, अजनबी लोगो के हाथो मे चली जाती और उनमे से कई ...दाचित खो भी जाती, हमारा राष्ट्रीय झण्डा उतार दिया जाता और उसकी ...ह यूनीयन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का खयाल ... अच्छा भी मालूम होता था। क्योकि मै महसूस करता था कि मेरा मकान ... जाने पर मै उन किसानो के ज्यादा नजदीक आजाऊँगा जो अपनी चीजे खो ... उनके दिल भी बढेगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह ... ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान

पर हाथ नही डाला, शायद इसलिए कि उसे मेरी माता का खयाल था। या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जानली कि मेरे मकान को कुडक करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेजी बढ जायगी। कई महीनो बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरो का पता लगाकर इनकमटैक्स वसूल करने के लिए उन्हे कुडक कर लिया गया। मेरी और मेरी बहन की मोटर तो पहले ही कुडक करके बेच दी गई थी।

इन शुरू के महीनो की एक बात से तो मुझे बहुत ज्यादा तकलीफ हुई। वह बात थी कई म्यूनिसिपैलिटियो और सार्वजनिक सस्थाओ द्वारा हमारे राष्ट्रीय झडे का उतारा जाना। खासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरो मे कॉंग्रेसियो का बहुमत बताया जाता था। झडे सरकार ओर पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख्ती से पेश आयगी। यह सख्ती गालिबन म्यूनिसिपैलिटी को तोडने या उसके मेम्बरो को सज़ा देने के रूप मे होती। जो जमाते स्थापित स्वार्थ रखती है वे अक्सर डरपोक होती है और शायद उनके लिए यह लाजिमी था कि वे झडे उतार डालती। फिर भी इस बात से हमे बडा दुख हुआ। वह झडा हमारे लिए, जिन बातो को हम बहुत प्यार करते है उनका, चिन्ह हो गया था और उसकी छाया मे हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञाये ली है। खुद अपने ही हाथो से उसे उतार फेकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ अपनी प्रतिज्ञाओ का तोडना ही नही बल्कि एक दूषित कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—ज्यादा शारीरिक बल के मुकाबिले मे झूठ को कुबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होने कौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्जत को नुकसान पहुँचाया।

यह बात नही है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरो की तरह काम करते और आग मे कूद पडते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली कतार मे नही है या जेल नही जाता या दूसरी किस्म की तकलीफे या नुकसान नही बरदाश्त करता है, गलत और फिजूल है। हरेक को बहुत से फर्ज अदा करने पडते है और कई किस्म की जिम्मेदारियाँ उठानी पडती है। ओर दूसरो को इस बात का कोई हक नही है कि वे उनके जज बनकर बैठे। लेकिन पीछे घरो मे बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सच्चाई से या जिसे हम सच्चाई समझते है उससे इन्कार करना बिलकुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरो से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय हितो के खिलाफ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफा दे देते। मगर

इन लोगो ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। थॉमस मूर ने कहा है —

> पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुञ्जन सुन्दर,
> त्यो कोसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते है मेम्बर।'

शायद किसीकी उस काम के लिए नुक्ताचीनी करना नाइन्साफी है जो उन्होने एक ऐसे आकस्मिक सकट मे किया जिससे वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला ससारव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बडे-से-बडे बहादुरो के भी छक्के छूट जाते है। उससे भी पहले १९१२ मे टाइटैनिक जहाज सबन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उनमे ऐसे-ऐसे नामी आदमियो ने, जिनकी बाबत कभी भी यह खयाल नही किया जा सकता था कि वे कायर है, जहाज़ के कर्मचारियो को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगो को डूबता छोड दिया। अभी हाल मे मॉरो कैसिल जो आग लगी उसमे बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नही कह सकता कि ऐसा ही सकट [illegible]ान पर जबकि सहज-स्फूर्ति बुद्धि और सयम को दबा लेती है। तब वे खुद क्या करे। इसलिए हमे किसीको दोष नही देना चाहिए। लेकिन इसके मानी यह नही है कि हम इस बात पर गौर न करे कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नही था और भविष्य मे इस बात का खयाल रक्खे कि कौम की नैया का पतवार ऐसे लोगो के हाथ मे न दिया जाय जो ऐसे वक्त पर जब सबसे ज्यादा धीरज की जरूरत होती है तब घबराने लगे और बेकार हो जायँ। अपनी इस नाकामयाबी को ठीक ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज्यादा बडा अपराध है।

लडनेवाली ताकतो की हर एक कश्मकश ज्यादातर दिलेरी और धीरज पर मुनहसिर होती है। खूनी-से-खूनी लडाई भी इन्ही दो गुणो पर अवलम्बित रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"आखीर मे जाकर लडाई वही जीतता है जो कभी घबडाता नही और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिसात्मक लडाई मे तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज्यादा ज़रूरत है। और जो कोई अपने आचरण से [illegible] इस सत्व को हानि पहुँचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने [illegible] भयकर हानि पहुँचाता है।

महीने गुजरते गये, और हमे हर रोज कुछ अच्छी खबरे मिलती और कुछ बुरी। हम लोग अपनी-अपनी जेलो की अपनी नीरस और एकसी जिन्दगी के आदी हो गये।

¹ मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

'But bees, on flowers alighting, cease their hum—
So, settling upon places, Whigs grow dumb!'

६ अप्रेल से १३ अप्रेल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह मे बहुत सी नई-नई बाते देखने को मिलेगी। सचमुच उस हफ्ते मे बहुत सी बाते हुई भी लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाकी सब बाते फीकी पड गई। इलाहाबाद : मेरी मा उस जुलूस मे थी जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियो से मार जिस वक्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक्त किसीने उनके लिए एक कुर्सी लादी वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सडक पर बैठी हुई थी। कुछ लोग, जिनमे मेरे सैक्रेटरी वगैरा शामिल थे और जो खास तौर पर उनकी देख-भाल कर रहे थे, गिरफ्ता करके उनसे अलग कर दिये गये ओर इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी म को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सर पर लगातार बें मारे गये जिससे उनके सर मे घाव हो गया और खून आने लगा ओर वह बेहोश हो कर सडक पर गिर गई। सडक से उस वक्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भग दिये गये थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफसर ने उन्हे उठाया ओर वह उ अपनी मोटर मे बिठाकर आनन्द-भवन पहुँचा गया।

उस रात को इलाहाबाद मे एक गलत अफवाह उडगई कि मेरी मा का देहा हो गया है। यह सुनते ही क्रोधित लोगो की भीड़ ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हम कर दिया। वे शान्ति ओर अहिसा की बात भूल गये। पुलिस ने लोगो पर गो चलाई जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातो की खबर मेरे पास पहुँची— उन दिनो एक साप्ताहिक अखबार मिलता था।—तो अपनी कमजोर बूढी मा को स की धूल मे खून से लथपथ पडने का खयाल मुझे रह रहकर आने लगा। मै यह सो लगा कि अगर मै वहाँ होता तो क्या करता ? मेरी अहिसा किस हदतक मेरा सा देती ? मुझे डर है कि वह ज्यादा हदतक मेरा साथ नही देती। क्योकि वह दृश्य म उस सबक को कतई भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैने बारह बरस से भी ज्या वक्त से की थी ओर मै जाती या कौमी नतीजो की रत्ती भर भी परवा न करता

धीरे-धीरे वह चॅगी हो गई और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल मे मु मिलने आई तब उनके सर पर पट्टी बधी थी। लेकिन उन्हे इस बात की बडी खुशी और गर्व था कि वह अपने स्वय सेवक लडके ओर लडकियो के साथ बेंत लाठियो की मार खाने के विशेष लाभ से महरूम न रही। लेकिन उनका चगापन उत असली नही था जितना दिखावटी और ऐसा मालूम होता है कि उतनी बडी उमर मे जो भारी झकझोरे झेलने पडे उनसे उनका शरीर अस्तव्यस्त हो गया और उनकी गहरी तकलीफो को उभाड दिया जिन्होने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लि

बरेली और देहरादून जेल में

छः हफ्ते नैनी जेल मे रहने के बाद मेरा तबादला बरेली जिला जेल को कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गडबड रहने लगी। मुझे रोज बुखार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली मे बिताने के बाद, जब गर्मी बहुत सख्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली के मुकाबले मे एक ठडी जगह, हिमालय के पैरो तले, देहरादून जेल मे भेजा गया। मै वहाँ कोई साढे चौदह महीने, करीब-करीब अपनी दो साल की सजा के आखीर तक रहा। इस बीच मे मेरा तबादला किसी दूसरी जगह नही हुआ। इसमे कोई शक नही कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे ओर खतो के तथा उन चुने हुए अखबारो के ज़रिये से, जो मुझे पढने को दिये जाते थे, मेरे पास खबरे पहुँच जाती थी, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज्यादातर मै अपरिचित ही रहा और खास-खास घटनाओ के बारे मे मेरी धारणाये बहुत धुँधली थी।

इसके बाद जब मै छूटा तब अपने जाती मामलो मे और उस राजनैतिक स्थिति को ठीक करने मे, जो मुझे छूटने पर मिली, लगा रहा। कोई पाँच महीने से कुछ ज्यादा की आज़ादी के बाद मै फिर जेल मे बन्द कर दिया गया और अब तक यही हूँ। इस तरह पिछले तीन सालो मे मै ज्यादातर जेल मे ही—और इसीलिए वाकयात से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूँ। इस बीच मे जो कुछ हुआ उस सबकी तफसीलवार जानकारी हासिल करने का मुझे बहुत ही कम, नही के बराबर, मौका मिला है। जिस दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे गाधीजी शरीक हुए थे उसमे परदे के पीछे क्या-क्या हुआ उसकी बाबत मेरी जानकारी अब तक बहुत ही धुंधली है। इस मामले पर गाधीजी से बातचीत करने का अब तक मुझे कोई मौका ही नही मिला और न इसी बात का मौका मिला कि अब तक जो-कुछ हुआ है उसके बारे मे उनके या दूसरे साथियो के साथ बैठकर विचार करलूँ।

१९३२ और १९३३ के उन सालो के बारे मे मेरी जानकारी इतनी काफी नहीं है कि मै अपने राष्ट्रीय-सग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूँ। लेकिन चूँकि मै सग्राम को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओ को अच्छी तरह जानता था इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बाते भी हुई उनको मै अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मै उस सग्राम की साधारण प्रगति के विषय मे ठीक राय

कायम कर सकता हूँ। पहले चार महीने के करीब तो सत्याग्रह की लडाई काफी जोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच में वह फिर भडक उठती थी। सीधी मार की लडाई क्रान्ति की पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नही रह सकती, वह या तो तेज होगी या नीचे गिरेगी। शुरू के जोश के बाद सत्याग्रह-सग्राम धीरे-धीरे ढीला पडता गया लेकिन उस हालत मे भी वह बहुत वक्त तक चलता रहा। यद्यपि कांग्रेस गैर-कानूनी करार दे दी गई थी फिर भी अ० भा० कांग्रेस का सगठन काफी कामयाबी के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने सूबे के कार्यकर्ताओ के साथ उसका ताल्लुक बना रहा। वह अपनी हिदायते भेजता रहा, सूबो से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबो को आर्थिक मदद भी दी।

कम-ज्यादा कामयाबी के साथ सूबे के सगठन भी अपना काम चलाते रहे। जिन सालो मे मै जेल मे बन्द था उनमे दूसरे सूबों मे क्या हुआ इस बात का मुझे ज्यादा पता नही लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे युक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बातें मालूम हो गई। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का दफ्तर १९३२ मे पूरे साल भर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक्त तक अपना काम चलाता रहा जब गाधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली मर्तबा सत्याग्रह को मुल्तवी किया। इस डेढ साल मे जिलो को अक्सर हिदायते भेजी जाती रही। छपी हुई या साइकिलोस्टायल से लिखी हुई पत्रिकाये बाकायदा जारी होती रही। समय-समय पर जिलो के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-सघ के कार्यकर्त्ताओ को भत्ता मिलता रहा। यह काम ज्यादातर जरूरतन छिपे तौर पर किया गया। लेकिन सूबा कांग्रेस-कमिटी के जो सेक्रेटरी दफ्तर के चार्ज मे थे वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक्त तक काम करते रहे जबतक उन्हे गिरफ्तार करके हटा न दिया गया। उसके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने तजुर्बे से हमे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान-भर में छिपे-छिपे खबरे लेने-देने के लिए सगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ मुखालिफत होते हुए भी, बिना किसी खास कोशिश के बहुत अच्छा नतीजा निकला। लेकिन हममे से बहुतो को इस बात का भी खयाल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नही खाती और सार्वजनिक जाग्रति पर उसका बुरा असर पडता है। बडे और खुले जनता आन्दोलन के एक छोटे-से जुज़ के तौर पर यह काम फायदे का था लेकिन उसमे हर वक्त य

खतरा बना रहता था कि कही छोटे-से और प्राय बेकार के गुप्त काम ही जनता-आन्दोलन की जगह न ले ले । यह खतरा उस वक्त खास तौर पर बढ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो । जुलाई १९३३ मे गाधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया ।

किसानो की लगानबन्दी की लडाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ वक्त तक गुजरात और कर्नाटक मे भी चलती रही । गुजरात और कर्नाटक, दोनो सूबो मे ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होने अपनी जमीन का मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुजारी देने से इन्कार कर दिया और इसकी वजह से काफी नुकसान उठाया । बेदखलियो और जायदाद की जब्तियो से किसानो को जो तकलीफ पहुँची उसे कम करने और पीडितो की मदद करने के लिए कॉंग्रेस की तरफ से कुछ कोशिश की गई लेकिन वह लाजिमी तोर पर नाकाफी थी । युक्तप्रान्त मे तो यहाँ की कॉंग्रेस-कमिटी ने इस तरह मुसीबतजदा किसानो की मदद करने के लिए कोई कोशिश नही की । यहाँ का सवाल वहाँ से कही ज्यादा बडा था । आसामी किसानो की तादाद किसान-जमीदारो की तादाद से कही ज्यादा है, यहाँ का रकबा भी बहुत बडा था, और सूबे की कमिटी के माली साधन भी दूसरे सूबो के मुकाबले मे बहुत ही महदूद थे । लडाई की वजह से जिन बीसियो हजार किसानो को नुकसान पहुँचा उनकी मदद करना हमारे लिए बिलकुल गैर-मुमकिन था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी बहुत मुश्किल था कि हम इन्ही लोगो की मदद क्यो करे और इन लोगो मे तथा उन लाखो लोगो मे भेद-भाव कैसे करे जिन्हे हमेशा भूखो मरने का डर बना रहता है । सिर्फ कुछ हजार लोगो को मदद करने से मुसीबत और आपसी रंजिश पैदा हो जाती । इसलिए हम लोगो ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दे । हमने आन्दोलन के शुरू मे ही यह बात सबको बता दी थी और किसान लोग हमारी बात के महत्व को अच्छी तरह समझते थे । किसी प्रकार की शिकायत या ऐतराज किये बिना उन्होने जितनी तकलीफे सही उन्हे देखकर आश्चर्य होता था । जहाँतक हमसे हो सका वहाँतक हमने कुछ व्यक्तियो की अलबत्ते मदद करने की कोशिश की—खासतौर पर उन कार्यकर्ताओ की बीबियो और बच्चो की जो जेल गये थे । इस दुखी मुल्क की गरीबी का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी लोगो के लिए ईश्वरीय देन थी ।

युक्त प्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी गैर कानूनी करार देदी गई थी । फिर भी वह लडाई के दौरान मे अपने वैतनिक कार्यकर्ताओ को जो थोडा बहुत भत्ता देती थी वह देती रही । और जब वे जेल चले गये,—जेल तो अपनी अपनी बारी आने पर

सभी गये थे—तब उनके परिवारों की मदद करती रही। हमारे बजट में इस मद का खर्च बहुत बड़ा था। इसके बाद परचों और पत्रिकाओं को छापने और उनकी कापियाँ निकालने का खर्च था। यह खर्च भी बहुत बड़ा था। सफर खर्च भी खर्च की एक खास मद थी। इसके अलावा जो जिले ज्यादा गरीब थे उन्हें भी कुछ मदद दी जाती थी। एक ज़बरदस्त और सब तरह से मोर्चाबन्द सरकार के खिलाफ जनता की घमासान लड़ाई के इस वक्त में इन सब खर्चों के और दूसरे खर्चों के बावजूद युक्त प्रान्त की कॉंग्रेस कमिटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के अखीर तक का यानी बीस महीने का कुल खर्च सिर्फ ६३०००) था, यानी करीब-करीब ३१५०) रुपया महीना। इस रकम में वह खर्च शामिल नहीं है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर, लखनऊ जैसी ज्यादा आसूदा और ज्यादा मजबूत जिलों की कमिटीयों ने अलग किया। सूबे की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरा खयाल है कि हमने जो कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि उसने कितना कम खर्च किया। इस छोटी सी रकम का मुकाबला उस रकम से करना बड़ा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए खासतौर पर खर्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नहीं मालूम है फ़िर भी मेरा ख़याल है कि कॉंग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बड़े सूबों ने हमारे सूबे से कहीं ज्यादा खर्च किया। लेकिन बिहार तो, कॉंग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ोसी युक्तप्रान्त से भी ज्यादा गरीब सूबा था, फिर भी लड़ाई में उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

इस तरह धीरे-धीरे सत्याग्रह की लड़ाई कमजोर होती गई, लेकिन फिर भी वह चलती रही, मगर बिना विशेषताओं के नहीं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों त्यों वह आम लोगों की लड़ाई नहीं रही। सरकारी दमन की सख्ती के अलावा इस लड़ाई को सबसे पहली जबरदस्त चोट उस वक्त लगी जब सितम्बर १९३२ में गांधीजी ने पहले-पहल हरिजनों के सवाल पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जागृति ज़रूर पैदा की लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई मुल्तवी की गई तब तो वह व्यावहारिक रूप में आख़िरी तौर पर मर गई। यों उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन विचार में ही, आचार में नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि अगर वह मुल्तवी न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे खतम हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता से सुन्न हो गया था। कम-से कम उस वक्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य खत्म हो गया था और नया उत्साह नहीं आ रहा था। वैयक्तिक रूप में तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते

लेकिन उन लोगो को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण मे काम करना पडता था।

हम लोगो को जेल में रहते हुए यह बात अच्छी नही लगती थी कि हमारा महान आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममे से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमे झट कामयाबी मिल जायगी। यह जरूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आम लोग इस तरह उठ खडे हो कि उन्हे कोई दबा ही न सके तो चमत्कारिक कामयाबी हो जाती। लेकिन हम ऐसे इत्तफाक पर भरोसा नही कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लडाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज होती, कभी मद्दी पडती और बीच-बीच मे कई भुलावो म पड जाती। इस लडाई से जनता को अनुशासन सिखाने मे तथा एक विचार धारा का लगातार प्रचार करने मे ज्यादा कामयाबी मिली। १९३२ के उन शुरू के दिनो में तो मैं कभी-कभी इस खयाल से डर जाता था कि कही हमे फौरन ही दिखावटी कामयाबी न मिल जाय क्योकि अगर ऐसा होता तो उसमे लाजिमी तौर पर कोई राजीनामा होता जिसकी बदौलत राज की बागडोर सरकार-परस्त और मौका परस्त लोगो के हाथ मे पहुँच जाती। १९३१ के तजुरबे ने हमारी आँखे खोल दी थी। कामयाबी तो तभी काम की हो सकती है जब वह ऐसे वक्त पर आवे जबकि लोग आमतौर पर उसका फायदा उठाने के लिए काफी मजबूत हो और उसके बारे मे उनके विचार साफ हो। यदि ऐसा न होगा तो आम लोग तो लडेगे और कुर्बानी करेगे और जब कामयाबी का वक्त आवेगा तब ऐन वक्त पर दूसरे लोग बडी खूबी से आकर उसके लाभ हडप लेगे। इस बात का भारी खतरा था क्योकि खुद कॉंग्रेस के इस बारे मे निश्चित विचार नही थे कि हम लोगो को किस तरह की सरकार या समाज कायम करना चाहिए। न इस बारे मे लोगो को साफ-साफ कुछ सूझता ही था। सच-मुच कुछ कॉंग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली मे कोई ज्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो महज यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार मे ब्रिटिश या विदेशी अश को निकाल कर उसकी जगह स्वदेशी छाप दे दीजाय।

शुद्ध प्रकार के 'सरकार-परस्त' लोगो से तो हमे कुछ डर नही था क्योकि उनके मजहब की सबसे पहली बात यह थी कि राज की ताकत जिस किसी के हाथ मे हो उसके सामने सर झुकाया जाय। लेकिन यहाँ तो लिबरलो और प्रतिसहयोगियो तक ने ब्रिटिश सरकार की विचार धारा को करीब-करीब सोलहो आने मजूर कर लिया था। समय समय पर वे जो थोडी-बहुत नुक्ताचीनी कर देते थे वह इसीलिए बिलकुल ऊपर और दो कौडी की होती थी। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये

स्वागत नही कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कही ज्यादा आगे बढ गये और बहुत। कुछ सरकार की तरफ जा खडे हुए। हिन्दुस्तान मे सब किस्म की नागरिक आज़ादी का जो दमन हो रहा था उसे प्राय चुप-चाप खडे हुए और कुछ-कुछ डरे हुए दूर से तमाशबीनो की तरह देख रहे थे। असल मे दमन का यह सवाल महज सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुकाबला किये जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नही था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलो को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके खिलाफ शायद ही किसीने कोई आवाज उठाई हो। जो लोग मामूली तौर पर इन आजादियो के हामी थे वे सबके सब लडाई मे जुटे हुए थे और उन लोगो ने राज की जबरदस्ती के सामने सर झुकाने से इन्कार करके उसकी सजा भोगी। लेकिन बाकी के लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होने सरकार की नुक्ताचीनी मे चु तक नही की। जब कभी उन्होने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहजे से मानो अपने कुसूर की माफी माग रहे हो और उसके साथ-साथ वे कॉग्रेस की ओर उन लोगो की, जो सत्याग्रह की लडाई लड रहे थे, बडी निन्दा भी करते थे।

पश्चिमी देशो मे नागरिको की आजादी के पक्ष मे मज़बूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहा ज्योही इनमे कमी की जाती है त्योही लोग बिगडकर उसकी मुखालिफत करते है। (शायद अब यह वहाँ भी इतिहास की पुरानी बात हो गई है।) उन मुल्को मे ऐसे लोगो की तादाद बहुत काफी है जो खुद तो कडी और सीधी लडाई मे हिस्सा लेने को तैयार नही होते लेकिन इस बात का बहुत काफी खयाल रखते है कि बोलने और लिखने की आज़ादी मे, जल्सा करने और सगठन कायम करने की आज़ादी मे, व्यक्तिगत और छापेखानो की आजादी मे किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरन्तर आन्दोलन करते रहते है और इस तरह सरकार द्वारा उनके भग किये जाने की कोशिशो को रोकने मे मदद करते है। हिन्दुस्तान के लिबरलो का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलो की परम्परा पर चल रहे है हालाकि इन दोनो मे नाम के अलावा और कोई बात एकसी नही है। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जासकती थी कि इन आज़ादियो के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक विरोध ज़रूर करेगे क्योकि दमन का असर उनपर भी पडता था। लेकिन उन्होने ऐसी कोई बात नही की। उन्होने वॉल्टेअर की तरह यह नही कहा कि "आप जो कुछ कहते है उससे मै कतई सहमत नही हूँ, लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक है और आपके इस हक को मै अपनी जान पर खेलकर बचाऊँगा।"

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना मुनासिब नही है क्योकि उन लोगो ने

[illegible] आज़ादी या लोकतंत्र के रक्षक होने का दावा कभी नहीं किया और उन्हें एक ऐसी [illegible] हालत का सामना करना पड़ा जिससे एक लफ्ज़ इधर-उधर होजाने पर वे मुसीबत [illegible] में फँस सकते थे। हिन्दुस्तान में होनेवाले दमन का आज़ादी के उन पुराने आशिकों [illegible] यानी ब्रिटिश लिबरलों और ब्रिटिश मज़दूर-दल के नये साम्यवादियों पर जो असर [illegible] उसे देखना ज्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान में जो कुछ होरहा था [illegible] वह काफी तकलीफदेह था। लेकिन वे उस सबको काफी मज़े के साथ देखते रहे और [illegible] कभी कभी तो "मैंचेस्टर गार्जियन" नामके अखबार के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान [illegible] 'दमन के वैज्ञानिक प्रयोग" की कामयाबी पर उनकी खुशी ज़ाहिर हो जाती थी।[1]
[illegible] हाल ही में ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने राजद्रोह का एक बिल पास करने की [illegible] की है। खास तौर पर लिबरलों और मज़दूर दलवालों ने इस बिल के [illegible] खिलाफ और बातों के साथ इस बिना पर बहुत वावैला मचाया है कि वह बोलने की [illegible] आज़ादी को कम करता है और मजिस्ट्रेटों को यह अख्त्यार देता है कि वे तलाशी के [illegible] वारंट निकालें। जब-जब मैं इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ हमदर्दी [illegible] करता था लेकिन साथ ही मेरी आँखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती [illegible] और मुझे यह दिखाई देता कि यहाँ तो वाकई में जो कानून जारी हैं वे करीब-करीब [illegible] उस कानून से सौगुने ज्यादा बुरे हैं जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर [illegible] रहा है। मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि जिनके गले में इंग्लैंड में [illegible] मच्छर भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान में बिना चूँ-चपड़ किये ऊँट को किस तरह [illegible] निगल जाते हैं। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगों की इस अद्भुत खूबी पर हमेशा आश्चर्य [illegible] होता है जिससे कि वे अपने नैतिक पैमानों को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना [illegible] लेते हैं और जिन कामों से उनके साम्राज्य बढ़ाने के इरादों को मदद मिलती है उन [illegible] में उन्हें धर्म-ही-धर्म दिखाई देता है। आज़ादी और लोकतंत्र के ऊपर मुसोलिनी [illegible] और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे हैं उसपर उन्हें बड़ा क्रोध आता है और वे निहायत [illegible] ईमानदारी के साथ उनकी निंदा करते हैं लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे [illegible] हिन्दुस्तान में आज़ादी का छीना जाना ज़रूरी समझते हैं और इस बात के लिए ऊँचे-[illegible] ऊँचे नैतिक कारण पेश करते हैं कि इस आज़ादी के छीनने के काम में उनका अपना [illegible] स्वार्थ कतई नहीं है। जब हिन्दुस्तान में चारों तरफ आग लग रही थी और [illegible] औरतों की अग्नि-परीक्षा हो रही थी तब यहाँ से बहुत दूर लन्दन में छँटे-चुने [illegible] हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में [illegible] कॉन्फ्रेंस हुई और उसके साथ-साथ कई कमिटियाँ बनीं। यहाँ की [illegible] ने मेम्बरों ने इन कमिटियों की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे

वे निजी आनन्द के साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन करसके। सार्वजनिक खर्च पर हिन्दुस्तान से लन्दन को काफी भीड गई। बाद को १९३३ मे वह ज्वाइण्ट कमिटी हुई जिसमे हिन्दुस्तानियो ने असेसरो की तरह काम किया और इस मर्तबा भी जो लोग गवाह के तौर पर गये उनको मेहरबान सरकार ने सफर खर्च अपने खजाने से दिया। बहुत से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावो से प्रेरित होकर सार्वजनिक खर्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमे से कुछ ने तो ज्यादा सफर खर्च मिलने के लिए कशमकश भी की।

हिन्दुस्तान के जनता-आन्दोलन का अमली-रूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियो को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया मे, लन्दन मे इकट्ठा होते देखकर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर जरूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह की जिन्दगी और मौत की लडाई मे लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममे से बहुतो को यह मालूम हुआ कि यह अच्छा ही हुआ, क्योकि उसने हिन्दुस्तान मे प्रतिगामी लोगो को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगो से अलग कर दिया। (उस वक्त हम यही सोचते थे लेकिन अब मालूम पडता है कि हमारा यह खयाल गलत था।) इस छँटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने मे मदद मिलती और सब लोगो के लिए यह बात और भी साफ हो जाती कि सिर्फ आजादी के जरिये से ही हम सामाजिक मसलो को हल कर सकते है और जनता के सर का बोझ हटा सकते है।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगो ने अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मे ही नही, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपनेको हिन्दुस्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कडी न थी जो इनको जनता से जोडती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उनकी उस भीतरी प्रेरणा को ही जो उन्हे कुर्बानी करने और तकलीफे झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजकाजियो की राय मे असलियत सिर्फ एक बात मे थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताकत जिससे लडकर उसे हराना गैर-मुमकिन है और इसलिए, जिसके सामने हमे खुशी से या बेबसी से अपना सर झुका देना चाहिए। इन लोगो को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव को अपने साथ लिये बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल गैर-मुमकिन था। मि० जे० ए० स्पेंडर ने हाल ही मे "हमारे समय का संक्षिप्त इतिहास" (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमे १९१० की उस

[कान्]फ्रेंस की नाकामयाबी की चर्चा की गई है जिसने वैधानिक [सं]कट को खतम करने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता [सं]कटकाल के बीच मे विधान तलाश करने की कोशिश करते है उनकी दशा उन लोगो [की] सी होती है जो जब मकान मे आग लगी हुई है तब उसका बीमा कराने की कोशिश [क]रते है। १९३२ और १९३३ मे हिन्दुस्तान मे जो आग लगी हुई थी वह उस आग [से क]ही ज्यादा थी जो आयर्लैण्ड मे १९१० मे लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की [ज्]वालाये भलेही बुझ जायँ फिर भी उसके सुलगते हुए गोले बहुत दिन तक रहेगे और [वे] हिन्दुस्तान मे स्वाधीनता के सकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होगे।

हिन्दुस्तान की शासक-मण्डली मे हिसा-भाव की जो बढती दिखाई देती थी वह [च]कित कर देनेवाली थी। इस हिसा की परम्परा पुरानी थी, क्योकि ब्रिटिश लोगो [ने] हिन्दुस्तान पर राज ज्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। मुल्की हाकिमो [का] भी सबसे जबर्दस्त दृष्टिकोण फौजी ही रहा है। उनकी हुकूमत मे यह बात प्राय [ह]मेशा रही है जो विजित देश पर कब्जा करके पडी हुई गैर-मुखालिफ फौज की [हु]कूमत मे रहती है। अपनी मोजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी [य]ह मनोवृत्ति और भी ज्यादा बन गई। बगाल मे और दूसरी जगह आतकवादियो ने [जो] वाण्ट किये उनसे इस हिसा को और भी खुराक मिली और शासको को अपने [हि]सात्मक कार्यो के लिए थोडा-बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेन्सो ने सरकारी अफसरो और पुलिस को इतने बेहिसाब अख्त्यार [दे] दिये कि हिन्दुस्तान असल मे एक पुलिस राज ही हो गया, जिसमे पुलिस के लिए न [को]ई रोक थी न पूछ।

थोडा या बहुत मात्रा मे हिन्दुस्तान के सभी सूबो को इस भीषण दमन की [आ]ग मे होकर गुजरना पडा, लेकिन सरहदी सूबे और बगाल को सबसे ज्यादा [त]कलीफे झेलनी पडी। सरहदी सूबा तो हमेशा से मुख्यत फौजी सूबा रहा है। उसका [इ]न्तजाम अर्ध-फौजी कायदो के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य के लिहाज से यो उसका [ब]हुत महत्व पहले ही से था। अब लाल कुर्ती के आन्दोलन से तो सरकार एकदम [घ]बरा गई। इस सूबे मे 'अमन कायम करने के लिए' और 'झगडालू गावो को' दुरुस्त [क]रने के लिए फौजो की टुकडिया छोडी गई थी। हिन्दुस्तानभर मे यह आम रिवाज [हो] गया था कि सरकार गाँव-के-गाँवो पर जुर्माना ठोक देती थी और कभी-कभी (खास [तौ]र पर बगाल मे) कस्बो पर भी। सजा के तौर पर पुलिस अक्सर गाँवो मे डाल दी [जा]ती थी और जब पुलिस को अनाप-शनाप अख्त्यार हासिल थे और उन्हे रोकनेवाला [को]ई न था तब पुलिस की ओर से ज्यादतियाँ होना लाजिमी था। हम लोगो

को कानून और व्यवस्था के भग और अव्यवस्था के नमूने खूब देखने को मिले।

बगाल के कुछ हिस्सो मे तो बहुत ही गैर मामूली बाते दिखाई देती थी। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओ की आबादी के—मा दुश्मनो का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर पच्चीस बरस तक के हर शख्स को फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लडका हो या लडकी शनाख्त का कार्ड लेकर चलना पडता था। लोगो के झुड-के-झुड को देश निकाला दिया जाता था या नजर बन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर और उनके स्कूलो का नियमन सरकार करती थी। जब सरकार चाहती स्कूलो को बन्द कर देती। साइकिलो पर चढने की मनाही थी और कही आते-जाते वक्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पडती थी। इसके अलावा दिन छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातो के लिए कायदे और कानूनो की भरमार थी। फौजे पेट्रोल करती थी, ताजीरी पुलिस तैनात करदी जाती थी और गाँव भर पर जुर्माने होते थे। बडे-बडे रकबे ऐसे मालूम पडते थे मानो उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल लिया गया हो। इन कसबो मे रहनेवाले औरत-मर्दो की ऐसी कडी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगो से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नही सकते। इस बात का फैसला करना मेरा काम नही है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत कायदे कानून जरूरी थे या नही। अगर वे जरूरी नही थे तो सरकार पर यह भारी इलजाम आता है कि उसने सारे इलाके की आजादी को बेइज्जत करने, उनपर जुल्म करने और उन्हे भारी नुकसान पहुँचने का भारी कुसूर किया। अगर वे जरूरी थे तो बेशक हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश हुकूमत के बाबत यह अखिरी फैसला है जिससे उसकी बुनियाद का पता लग जाता है।

सरकार के हिसा के इस भाव ने जेलो मे भी हमारे लोगो का पीछा किया। कैदियो का अलग-अलग श्रेणियो मे बँटवारा एक फार्स था और अक्सर उन लोगो को बेहद तकलीफ होती थी जो ऊँचे दर्जो मे रक्खे जाते थे। ये ऊँचे दर्जे बहुत ही कम लोगो को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के मर्दो और औरतो को ऐसी हालत मे रहना पडा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पडता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक कैदियो को मामूली कैदियो से भी ज्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलो के इन्सपैक्टर जनरल ने तो यहा तक किया कि सब जेलो का नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमे यह कहा गया कि सत्याग्रही कैदियो के साथ कडाई का बर्ताव होना चाहिए।'

१. इस गश्ती चिट्ठी पर ३० जून १९३३ तारीख पडी थी और उसमे यह लिखा

बेंतो की सज़ा जेल की आम सजा हो गई । २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा मे कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान मे १९३२ के सत्याग्रह से ताल्लुक रखनेवाले जुर्मों के सिलसिले मे कोई पांचसौ शख्सो के बेंत लगे है ।" इसमे यह बात साफ नही है कि आया उसमे वे लोग भी शामिल है जिनको जेलो मे जेल के कायदे तोडने के लिए बैंतो की सजा दी गई । १९३२ मे जेलो मे बेंत लगने की खबरे जब हमारे पास अक्सर आने लगी तब मुझे याद आई कि हम लोगो ने दिसम्बर १९३० मे बेंतो की सजा की एक या दो फुटकर मिसालो के विरोध मे तीन दिन तक उपवास किया था । उस वक्त इस सजा की पाशविकता से मुझे भारी चोट पहुँची थी और इस वक्त भी मुझे बार-बार चोट पहुँचती थी और मेरे दिल मे बडी टीसे उठती थी लेकिन मुझे यह नही सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध मे अनशन करना चाहिए क्योकि मैंने इस बार इस मामले मे अपने को पहले से कही ज्यादा बेबस पाया । कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति ठण्डा-सा हो जाता है । किसी बुरी बात को आप ज्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी आदी हो जायगी ।

हमारे आदमियो को जेल मे कडी से कडी मशक्कत दी गई जैसे—चक्की, कोल्हू वगैरा । और उनसे माफी मगवाकर तथा सरकार के सामने यह अहद कराकर, कि हम आइन्दा ऐसा नही करेगे, उन्हे छुडवाने के लिए, जहाँ तक हो सका वहाँ तक उनकी जिन्दगी हराम करने की, कोशिश की गई । कैदियो से इस तरह माफी मगवाना जेल के हाकिमो के लिए बडे गौरव की बात मानी जाती थी । जेल मे ज्यादातर सजाये उन लडको और नौजवानो को भोगनी पडी जो धौस, दबाव और बेइज्जती बरदाश्त करने को तैयार न थे । ये लडके निहायत अच्छे और जीवटवाले थे । स्वाभिमान, जिन्दादिली तथा साहसी वृत्ति से भरे हुए इगलैंड के पब्लिक स्कूलो मे इस तरह के लडको की बहद तारीफे होती, उन्हे हर तरह की शाबाशी दी जाती । लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान मे उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान ने उनके हथकडियाँ पडवाई, उन्हे काल-कोठरियो मे बन्द करवाया और उनके बैंत लगवाये ।

जेलो मे हमारी महिलाओ की ज़िन्दगी तो खास तौर पर दु खमय थी । ऐसी

हुआ था.—"जेल के सुपरिन्टेन्डेन्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्स्पेक्टर जनरल इस बात पर ज़ोर देते हैं कि सत्याग्रही कैदियों के साथ उनके महज सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नही है। इस दर्जे के कैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए ।"

दु खमय कि उसका खयाल करने मे भी तकलीफ होती है। ये स्त्रियाँ ज्यादातर मध्यम श्रेणी की थी जो छत्रछाया के जीवन मे रहने की आदी थी और उन तरह-तरह के दमनो और रिवाजो से सताई हुई, जो मर्दों ने अपने आधिपत्यवाले समाज मे अपने फायदे के लिए बनाये है। इन स्त्रियो के लिए आजादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात मे कोई शक नही कि जिस जोश और जिस ताकत के साथ वे आजादी की लडाई मे कूदी उनका स्रोत उस धुंधली और लगभग अज्ञात लेकिन फिर भी उत्कट आकांक्षा मे था जो उनके मन मे घर की गुलामी से अपने को बचाने के लिए बसी हुई थी। इनमे से बहुत कम को छोडकर बाकी सबको मामूली कैदियो के दर्जे मे रक्खा गया और उनको बहुत ही पतित साथियो के साथ और अक्सर उन्ही-की सी घिनौनी हालत मे रक्खा गया। एक मर्तबा मै एक ऐसी बैरक मे रक्खा गया जो औरतो की बैरक से सटी हुई थी। दोनो के बीच मे एक दीवार ही थी। औरतो के अहाते मे, दूसरी कैदिनो के साथ-साथ कुछ राजनैतिक कैदिने भी थी और इनमे एक स्त्री वह थी जिसके घर मे मै एक मर्तबा ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊँची दीवार हमे एक दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातो और गालियो को सुनने से नही रोक पाती थी जो हमारी साथिनो को कैदी-नम्बरदारिनो से सुननी पडती थी। इन्हे सुनकर मुझे बडा रंज होता था।

यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक कैदियो के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कही ज्यादा बुरा था जो दो बरस पहले सन् १९३० मे किया गया था। यह बात महज जेल हाकिमो की सनक की वजह से नही हो सकती थी। इसलिए उसकी बाबत एक मात्र माकूल नतीजा यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक कैदियो के अलावा भी, युक्त प्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ थी कि वह कैदियो के साथ इन्सानो का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख्त खिलाफ होने के लिए मशहूर था। इस बात की ऐसी हमे एक मिसाल मिली जिसके बारे मे कोई शक हो ही नही सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल निरीक्षक हम लोगो के पास जेल मे आये। यह महाशय बागी या हम लोगो की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि वह 'सर' थे। उनको सरकार ने खुश होकर खिताब दिया था। उन्होने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैने एक दूसरी जेल निरीक्षण किया था, और अपने निरीक्षण के नोट मे यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योकि सरकार की मण्डली मे इन्सानियत अच्छी निगाह से नही देखी जाती।

लेकिन मैं अपनी बात पर अडा रहा, क्योकि मैं कभी यह कयास ही नही कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुकसान पहुँच सकता है। नतीजा यह हुआ कि फौरन ही एक बहुत दूर कही कोने मे पडी हुई एक जेल मे जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक किस्म की सजा ही थी ।"

कुछ जेलर खास तौर पर खूँखार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे। उनको खिताब दिये गये तथा उनकी तरक्की की गई। जेलो मे बेईमानी और रिश्वत-खोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक-साफ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत-से दोस्तो का तजुर्बा है कि जेल के कर्मचारियो मे वही लोग सब-से ज्यादा बेईमान और रिश्वतखोर होते है जो आम तौर पर हुकूमत के बहुत जबरदस्त और सख्त हामी बनते है।

जेलो मे और जेल से बाहर मैं खुशकिस्मत रहा हूँ और करीब-करीब जितने लोगो से मेरा वास्ता पडा उन सबने मेरे साथ इज्जत व शराफत का बर्ताव किया, उस हालत मे भी जब कि शायद मैं उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे परिवारवालो को सख्त तकलीफ हुई। मेरी मा, कमला और मेरी लडकी इंदिरा इलाहाबाद जिला जेल मे मेरे बहनोई रणजीत पण्डित से मिलने के लिए गई और वहा बिना कुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हे जेल से बाहर धकेल दिया। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बडा रज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय सरकार का रुख भी इस मामले मे अच्छा नही है तब मुझे भारी धक्का लगा। अपनी मा को जेल-अधिकारियो द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से बचाने के लिए मैंने तय कर लिया था कि मैं किसीसे मुलाकात नही करूँगा। करीब-करीब सात महीने तक, जब मैं देहरादून जेल मे था, मैंने किसीसे मुलाकात नही की।

४४

जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममें से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पाये, इस बात का बचाव करने के लिए हम लोगो को बरेली मे गाडी पर नही बिठाया गया। बल्कि वहाँ से ५० मील की दूरी पर एक रास्ते के स्टेशन पर ले जाकर वहाँ गाडी मे बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर मे लेजाये गये। कई महीने तक अलग जेल मे बन्द रहने के बाद रात की उस ठडी हवा मे मोटर के सफर से हमे अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटा-सा वाकया हुआ, जिसने उस वक्त तो मेरे दिल पर असर डाला ही लेकिन अबतक भी वह मेरी याद मे तरोताजा है। बरेली-पुलिस का सुपरिन्टेन्डेट जो कि एक अग्रेज था, वहा मौजूद था और ज्योही मै कार में बैठा त्योही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमे, उसने मुझे बताया कि, जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रो की कापियाँ थी। उसने कहा कि मैने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे है इसलिए मै ये मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूँ। इससे पहले मेरी-उसकी मुलाकात कभी नही हुई थी और न उस दिन के बाद मै आजतक उससे कभी मिला। मै उसका नाम भी नही जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पडा और अपने मन मे मै उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी रात के उस लबे सफर मे मै अग्रेजो और हिन्दुस्तानियो, शासको और शासितो, सरकारी और गैर-सरकारी लोगो, सत्ताधारियो और उन लोगो के कि जिन्हे उनके हुक्म मानने पड़ते है, आपसी ताल्लुकात के बारे मे तरह तरह की बाते सोचता रहा। इन दोनो वर्गो के बीच मे कैसी गहरी खाई है, और ये दोनो एक-दूसरे पर कितना शक कर रहे है तथा एक-दूसरे को कितना नापसद करते है? लेकिन इस अविश्वास और नापसदी से भी ज्यादा बडी बात एक दूसरे की बाबत नाजानकारी है। इसी नाजानकारी की वजह से दोनो एक-दूसरे से डरते है और एक-दूसरे की मौजूदगी मे हर वक्त चौकन्ने रहते है। हरेक को दूसरा शख्स कुछ अनमना, खिचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनो मे एक भी यह नही महसूस करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अग्रेज हिन्दुस्तान पर राज करते है,

और लोगो को सहायता तथा सहारा देने के साधनो की उन्हे कमी नही है। इसलिए उनके पास माकापरस्त और नौकरियो की तलाश मे गिडगिडाते फिरनेवाले लोगो की भीड पहुँचा करती है। हिन्दुस्तान के बारे मे अपनी राय वे इन्ही भद्दे नमूनो से बनाते है। हिन्दुस्तानियो ने अग्रेजो को सिर्फ हाकिमो की ही हैसियत से काम करते देखा है और उन हैसियत से काम करते हुए उनमे सोलहो आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते है जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालो मे अपनी रक्षा करने की कोशिश करते वक्त होते है। एक व्यक्ति की हेसियत से और अपनी मौज के मुताबिक काम करनेवाले शख्स के वर्ताव मे और उस वर्ताव मे, जिसे एक शख्स हाकिम की सत्ता की एक इकाई की हैसियत से करता है, कितना फर्क होता है? फौजी जवान तो अकड़कर अटेन्शन होते वक्त अपनी इन्सानियत को फेक देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगो पर निशाना ताककर उन्हे मार गिराता है, जिन्होने उसका कभी कोई नुकसान नही किया। मैने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफसर का है, जो एक शख्स की हैसियत से वेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही दिन वेकुसूर लोगो पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक्त वह अपनेको एक व्यक्ति के रूप मे नही देखता और न वह उस भीड को ही व्यक्तियो की शक्ल मे देखता है जिन्हे वह डडो से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है।

ज्योही कोई शख्स दूसरे पक्ष को भीड या समूह के रूप मे देखने लगता है, त्योही दोनो को मिलानेवाली इन्सानियत की कडी गायव हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते है कि भीड मे वही शख्स, मर्द और औरत और वच्चे होते है, जिनमे मुहब्वत और नफरत के भाव होते है तथा जो तकलीफ महसूस करते है। एक ओसत अग्रेज अगर साफ-साफ वात कहे तो यह मजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियो मे कुछ आदमी भले भी है, लेकिन ये लोग तो अपवाद-स्वरूप है, और कुल मिलाकर तो हिन्दुस्तानी एक घिनौने लोगो की भीड भर है। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मजूर करेगा कि कुछ अग्रेज जिन्हे वह जानता है तारीफ के काविल है, लेकिन इन थोडे-से को छोडकर वाकी के अग्रेज वडे ही घमडी, पाशविक और सोलहो आने वुरे होते है। यह वात कैसी अजीव है कि हर शख्स दूसरी कौम की वावत अपनी राय किस तरह वनाता है? उन लोगो के आधार पर नही जिनके वह ससर्ग मे आता है, बल्कि उन दूसरे लोगो के आधार पर जिनके वारे मे या तो वह कुछ नही जानता या नही के वरावर ही जानता है।

निजी तौर पर तो मै वडा खुशकिस्मत रहा हूँ और करीव-करीव हमेशा ही सब लोग शराफत से पेश आये है, फिर चाहे वे अग्रेज

देश-भाई। मेरे जेलरो ओर उन पुलिसमैनो ने भी, जिन्होने मुझे गिरफ्तार किया था जो मुझे कैदी की हैसियत से एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का वर्ताव किया ओर इस इन्सानियत की पुट की वजह से मेरे जेल-जीवन के सघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी। यह कोई अचरज की बात नही है कि मेरे अपने देश-भाइयो ने मेरे साथ अच्छा वर्ताव किया, क्योकि उनमे तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था ओर मै उनमे लोकप्रिय था। पर अग्रेजो के लिए भी मै एक व्यक्ति था, सिर्फ भीड का एक हिस्सा ही नही। मेरा खयाल है कि इस बात ने कि मैने अपनी तालीम इग्लैण्ड मे पाई ओर खास तौर पर इस बात ने कि मै इग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल मे रहा, मुझे उनके नजदीक ला दिया और इन कारणो से वे मुझे कम-बढ अपने ही नमूने का शाइस्ता आदमी समझे बिना नही रह सकते थे, फिर चाहे उन्हे मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यो न मालूम पडे। जब मै अपने इस बर्ताव का मुकाबिला उस जिन्दगी से करता हूँ जो मेरे ज्यादातर साथियो को भोगनी पडती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेप अच्छे वर्ताव पर कुछ शर्म और ज़िल्लत-सी महसूस होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका पीडक वातावरण प्राय असह्य हो जाता था। उसकी हवा बुरी हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतखोरी और झूठ से भरी हुई थी। वहाँ कोई गालियाँ देता था तो कोई गिडगिडाता था। तुनक-मिजाजवाले हर शख्स को लगातार मानसिक सन्ताप मे रहना पडता था, कभी-कभी जरा-जरासी बातो से ही लोग उखड जाते। चिट्ठी मे कोई खराब खबर आ जाती या अखबार मे ही कोई बुरी खबर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फिक्र से बडे परेशान हो जाते थे। बाहर तो हम लोग हमेशा काम मे लगकर अपने दुखो को भूल जाते थे। वहाँ तो तरह-तरह की दिलचस्प बातो और कामो की वजह से शरीर और मन की समतोलता कायम रहती थी। जेल मे ऐसा कोई रास्ता नही था। हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल मे बन्द कर दिये गये हो और दबाकर रख दिये गये हो और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाजिमी तौर पर हमारी राय इकतरफा और कुछ हद तक तोडी-मरोडी हुई होती थी। जेल मे बीमारी खास तौर से दुखदायी होती है।

फिर भी मैने अपनेको जेल की रोजमर्रा की जिन्दगी का आदी बना लिया और शारीरिक कसरत तथा कडा मानसिक काम करके मैने अपनेको ठीक-ठीक रखा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी कीमत हो, जेल मे तो वे लाजिमी थे। उनके बिना वहाँ कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को कायम नही रख

रहना। मैंने अपना एक टाइम-टेबल बना लिया था, जिसका मैं सख्ती के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपनेको बिलकुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज हजामत बनाता था (हजामत के लिए मुझे सैफ्टी रेजर मिला हुआ था)। मैंने इस छोटी-सी बात का जिक्र इसलिए किया है कि आम तौर पर लोगो ने इन आदतो को छोड़ दिया और वे कई बातो मे ढीले पड गये थे। दिनभर कडा काम करने के बाद शाम को मैं खूब थक जाता और मजे से नीद का स्वागत करता।

इस तरह दिनो के बाद दिन, हफ्तो के बाद हफ्ते और महीनो के बाद महीने गुजर गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पडता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह खत्म ही नही होना चाहता। ओर कभी-कभी तो मैं हर चीज और हर शख्स से ऊब जाता, सबपर गुस्सा करता, सबसे खीज उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हों और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक्त पर मैं बाहर के लोगो पर भी इसलिए खीज उठता था कि उन्होने यह काम क्यो किया या यह काम क्यो नही किया? ब्रिटिश-साम्राज्य से तो हमेशा ही खीजा रहता था। लेकिन ऐसे वक्त पर औरो के साथ-साथ और सबसे ज्यादा, मै अपने ऊपर भी खीज उठता था। इन दिनो मैं बहुत चिडचिडा सा हो जाता, और जेल की जिन्दगी मे होनेवाली जरा-जरा-सी बातो पर बिगड उठता था। खुशकिस्मती यह थी कि मेरा मिजाज ज्यादा दिनो तक ऐसा नही रहता था।

जेल मे मुलाकात का दिन बडी खुशी का दिन होता था। हम लोग मुलाकात के दिनो की कैसी ख्वाहिश करते थे? उनके लिए कैसा इन्तज़ार करते थे तथा उनके लिए दिन गिना करते थे। लेकिन मुलाकात की खुशी के बाद उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया भी होती और फिर शून्यता और अकेलेपन का राज हमारे दिल मे छा जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाकात कामयाब नही हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी खबर मिली जिससे मैं बिगड गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई, तो मैं बाद को बहुत ही दु:खी हो जाता था। हॉ, मुलाकात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली मे तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ मे कागज़ और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के करीब-करीब हरेक हरफ को बडे उत्साह से लिख रहा था। यह बात मुझे बहुत ही नागवार मालूम हुई और ये मुलाकाते बिलकुल बेकार गई।

पहले इलाहाबाद-जेल मे मुलाकात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ से मेरी मा और पत्नी के साथ जो बर्ताव हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाकाते बन्द कर दिया था। करीब-करीब सात महीने तक मैंने किसीसे मुलाकात नही

की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस था और जब इस वक्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाकात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब मेरे लोग मुझसे मिलने आये तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमे से एक छोटा सा बच्चा मेरे कन्धो पर चढने का आदी था। यहाँ भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढना चाहा तो मेरे भावो का बाँध टूट गया। मानवी ससर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श मे मैं अपने को सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाकात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलो से आनेवाले खत (क्योकि मेरी दोनो बहने जेल मे थी) जो हमे हर पन्द्रहवे दिन मिलते थे और भी कीमती हो गये, और मैं उनकी बाट बडी उत्सुकता से देखा करता था। आम मुकर्ररा तारीख को कोई खत न आता तो मुझे बडी चिन्ता सवार हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हे खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द की चीज मे करता है। साथ ही मेरे मन मे कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कही खत मे कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दुख हो। जेल मे खतो का आना या जेल मे खत लिखना दोनो ही वहाँ के शान्तिमय और स्थिर जीवन मे खलल डालते थे। वह मन मे भावो को जगाकर बेचैनी पैदा करता था और उसके बाद एक या दो दिन तक मन दुचित्ता हो जाता और उसे रोजमर्रा के काम मे जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल मे तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून मे शुरू-शुरू में हम सिर्फ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुँवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड दिये गये, क्योकि उनकी छ महीने की सजा खत्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ लगी ही थी कि मेरे सब साथी चले गये और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के अखीर मे जेल से छूटने तक, करीब-करीब आठ महीने तक, देहरादून-जेल मे मैं बिलकुल अकेला रहता था। हर रोज़ कुछ मिनट तक किसी जेल-कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मैं बात-चीत भी कर लिया करता। कानून की रू से यह तनहाई न थी। लेकिन वह उससे मिलती-जुलती थी। इसलिए ये बडी मनहूसी के दिन रहे। खुश-किस्मती से इन दिनो मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दुख कुछ हलका हो गया था। मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह खास रिआयत की गई थी कि बाहर से भेजे हुए ताज़े फूल लेने की और कुछ फोटो रखने की इजाजत थी। इन बातो ने मुझे काफी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर कैदियो को फूल

फोटो रखने की इजाजत नही है। कई मोको पर मुझे वे फूल नही दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियो को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशे रोकी जाती थी। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पडोस की कोठरी मे रहता था, अपने शीशे, कघे वगैरा चीजो को जिस तरह सजाकर रक्खा था उसपर जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट ने ऐतराज किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासिता-पूर्ण' नही बना सकते। विलासता की ये चीज़े थी—दाँतो का एक ब्रश, दाँतो का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर मे लगाने के तेल की बोतल, एक ब्रश और कघी, ओर शायद एक या दो छोटी-छोटी चीजे और।

जेल मे हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीजो की कीमत को समझने लगे थे। वहाँ तो हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीजे ही मगा सकते थे, इसलिए हम उसे बडी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीज़ो को बटोर कर रखते थे जिन्हे जेल से बाहर की दुनिया मे हम रद्दी की टोकरी मे फेका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास मिलकियत रखने को कोई चीज नही होती तब भी तो जायदाद और मिलकियत का खयाल हमारा पीछा नही छोडता।

कभी-कभी जिन्दगी की मुलायम चीजो के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद अडौस-पडौस, दोस्तो के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चो के साथ खेलने की इच्छा ज़ोर पकड जाती थी। किसी अखबार मे किसी तस्वीर या फोटो को देखकर पुराना ज़माना सदेह सामने आ खडा होता—उन दिनो की बाते जब जवानी मे किसी बात की फिकर न थी। ऐसे वक्त पर घर की याद की बीमारी [illegible] की तरह जकड लेती और वह दिन बडी बेचैनी के साथ कटता।

मै हर रोज थोडा-बहुत काता करता था, क्योकि मुझे हाथ का कुछ काम करने [illegible] तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमागी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती [illegible] थी। लेकिन मेरा खास काम लिखना और पढना ही था। मै जिन-जिन किताबो को [illegible] ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नही पाती थीं, क्योकि उनपर रोक थी और वे [illegible] होती थी। किताबो को सेसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नही [illegible] थे। स्पेंगलर की Decline of the West नामक किताब इसलिए रोक ली गई [illegible] उसका नाम खतरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम होता था। लेकिन मुझे इस [illegible] मे किसी किस्म की शिकायत नही करनी चाहिए। क्योकि कुल मिलाकर [illegible] सभी किस्म की किताबे मिल जाती थी। ऐसा मालूम पडता है कि इस मामले [illegible] मेरे साथ खास रिआयत होती थी, क्योकि मेरे बहुत से साथियो को, जो ए०

क्लास मे रक्खे गये थे, प्रचलित विषयो पर किताबे मंगाने मे बडी मुश्किलो का सामना करना पडता था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल मे तो सरकार का श्वेत पत्र (White Paper) भी नही दिया गया, जिसमे खुद सरकार की विधान-सम्बन्धी तजवीजे थी, क्योकि उसमे राजनैतिक बाते थी। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तको और उपन्यासो की तहेदिल से सिफारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि मज़हब का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर किस्म के मज़हब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढाती है।

हिन्दुस्तान मे जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक-स्वतत्रता भी छीन ली गई हो तब कैदियो के हको की बात करना बिलकुल बे-मौजूँ मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर गौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को कैद की सजा दे देती है तो क्या उसके मानी यह हैं कि उसके शरीर ही नही उसका मन भी जेल मे ठूस दिया जाय ? चाहे कैदियो के शरीर भले ही आजाद न रहे पर क्या वजह हे कि उनका दिमाग आजाद न रहे ? हिन्दुस्तान की जेलो का इन्तजाम जिन लोगो के हाथ मे है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेगे, क्योकि नये खयालातो को हासिल करने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति मामूली तौर पर महदूद हो जाती हे। यो तो सेसर का काम हर वक्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपात-पूर्ण तथा बेहूदा भी, लेकिन हिन्दुस्तान मे तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढे हुए पत्र-पत्रिकाओ से हमे वचित रखता है। ज़ब्त की हुई किताबो की फेहरिस्त बहुत बडी है और वह दिन-पर-दिन बढती ही जा रही है। इस सबके अलावा कैदी को तो एक और सेसरशिप का भी सामना करना पडता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबे तथा अखबार भी नही पहुँच पाते जिन्हे वह कानून के मुताबिक बाहर खरीदकर पढ सकता है।

कुछ दिनो पहले यह सवाल सयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयार्क शहर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले मे उठा था। वहाँ कुछ कम्यूनिस्ट अखबार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग मे कम्यूनिस्टो के खिलाफ बहुत जोर के भाव है, लेकिन यह सब होते हुए भी वहाँ की जेल के अधिकारी इस बात के लिए राज़ी हो गये कि जेल के बाशिन्दे जिस किताब व अखबार को चाहे मगाकर पढ सकते है, फिर चाहे ये अख़बार व पत्रिकाये कम्यूनिस्ट मत की ही क्यो न हो ? वहाँकी जेल के वार्डन ने सिर्फ कार्टूनो को रोका, जिन्हे वह भडकानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलो मे दिमागी आजादी पर गौर करने का यह सवाल कुछ बेहदा मालूम होता है जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज्यादातर कैदियो को कोई

अखबार या लिखने का सामान नही दिया जाता। यहाँ तो सवाल सेन्सरशिप या देख-भाल का नही है बल्कि बिलकुल इनकारी का है। कायदो के मुताबिक तो सिर्फ ए० क्लास और बगाल मे अव्वल डिवीजन के कैदियो को ही लिखने का सामान दिया जाता है। उनमे से भी सबको रोजाना अखबार नही दिया जाता। जो रोजाना अखबार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का है। बी० और सी० क्लास के कैदियो के लिए लिखने के सामान की कोई जरूरत नही समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हो या गैर-राजनैतिक। बी० क्लासवालो को कभी-कभी बहुत खास रिआयत के तौर पर लिखने का सामान दे दिया जाता है और यह रिआयत अक्सर वापस ले ली जाती है। गालिबन दूसरे कैदियो के मुकाबिले मे ए० क्लास के कैदियो की तादाद हजार पीछे एक होगी। इसलिए हिन्दुस्तान मे कैदियो की तकलीफो पर गौर करते हुए उनका खयाल न किया जाय तब भी कोई हर्ज नही। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन खास रिआयतवाले ए० क्लास के कैदियो को भी किताबो और अखबारो के मामले मे उतने हक नही हासिल है जितने कि ज्यादातर सभ्य देशो मे मामूली कैदियो को हासिल है।

बाकी लोगो को—एक हजार मे ९९९ को—एक वक्त मे दो या तीन किताबे ही दी जाती है, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फायदा नही उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढी जाय उसका नोट लेना तो ऐसा खतरनाक मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हे हरगिज न करना चाहिए। दिमागी तरक्की का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मजेदार बात है। किसी कैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के खयाल से तो उसके दिमाग पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ लगाना उचित है। पढा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान मे जेल के हाकिमो को यह बात सूझी ही नही। और युक्तप्रान्त मे तो उसका खास तौर पर अभाव ही दिखाई देता है। [illegible] जेलो मे लडको और नौजवानो को थोडा लिखना-पढना सिखाने की कुछ कोशिश की गई है। लेकिन वे बिलकुल बेकार है और जिन लोगो के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि कैदी लोग लिखना-पढना पसन्द नही करते। लेकिन मेरा अपना तजुर्बा इसके बिलकुल खिलाफ है और कई लोग जो मेरे पास लिखने-पढने की गरज से आये उनमे मैने पढने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा। जो कैदी हमारे पास आ पाते उन्हे हम पढाते थे। वे लोग बडी मेहनत से पढते थे, और जब कभी मै रात मे जागता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमे से एक या दो अपनी बैरक की लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने सबक को याद कर रहे है।

मे अपनी किताबो मे ही जुटा रहा। कभी एक किस्म की किताबे पढता तो कभी दूसरे किस्म की। लेकिन आम तौर पर मै ठोस विषय की किताबे पढता था। उपन्यास पढने से दिमाग मे एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैने ज्यादातर उपन्यास नही पढे। जब-कभी पढते-पढते मेरा जी ऊब उठता तब मै लिखने बैठ जाता। अपनी सजा के दो सालो मे तो मै उस ऐतिहासिक पत्रमाला के लिखने मे लगा रहा, जो मैने अपनी लडकी के नाम लिखी। उन्होने मुझे अपने दिमाग को ठीक-ठीक रखने मे बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मै उस पुराने जमाने मे रहने लगा, जिसकी बाबत मै लिख रहा था और इसलिए इन दिनो करीब-करीब यह भूल-सा गया कि मै जेल के भीतर रह रहा हूँ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तको का मै हमेशा स्वागत करता था, खासतौर पर पुराने यात्रियो के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनसाग, मार्को पोलो और इब्न बतूता वगैरा। आजकल के यात्रियो की यात्राओ का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडिन ने मध्य-एशिया के जगलो मे जो सफर किया उसका और रोरिक को तिब्बत मे जो अजीब बाते मिली उनका वर्णन। चित्रो की पुस्तके भी—खासकर पहाडो, हिम-प्रपातो और मरुस्थलो की तस्वीरे भी अच्छी लगती थी, क्योकि जेल मे विशाल मैदानो और समुद्र और पहाडो को देखने की चाह बढ जाती है। मेरे पास माउन्ट ब्लेक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोवाली पुस्तके थी और अक्सर मै उन्हे देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गर्मी एकसौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मै हिम-प्रपातो को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बडा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातो की याद आ जाती थी—उन जगहो की याद जहाँ हम हो आये है और उन जगहो की भी जहाँ हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन मे यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनो मे जिन जगहो को हम देख आये है उन्हे फिर देखे। एटलस मे बडे-बडे शहरो को बतानेवाले जितने निशान है वे मानो हमको बुला रहे हो और हमे वहाँ जाने की इच्छा होती थी। एटलस मे पहाडो को देखकर और समुद्र के नीले चिन्हो को देखकर भी उन्हे पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, बदलती हुई मनुष्य-जाति के सघर्षो और सग्रामो को देखने की, और खुद भी इन सब कामो को करने की उमगे हमको तग करती और हमारा पल्ला पकड लेती और हम बडे दुख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारो को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थी, और जो नीरस ड्यूटी हमें रोजमर्रा पूरा करना पडता था उसमें जुट जाते।

जेल में पशु-पक्षी

कोई साढे चौदह महीने तक मैं देहरादून-ज़ेल की अपनी छोटी-सी कोठरी मे रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूँ । उसके जर्रे-जर्रे से मैं वाकिफ गया । उसकी सफेद दीवारो पर लगे हरेक निशान और खुरदरी फर्श, हरेक खरोच र दबाव को ओर उसके शहतीरो पर लगे घुन के छेदो को मैं जान गया था । हर के छोटे से आगन मे उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढे-मेढे टुकडे प पुराने दोस्त-से लगते थे । मैं अपनी कोठरी मे अकेला था सो बात नही । क्योकि हा कितने ही ततैयो और वर्रो के उपनिवेश थे और कितनी ही छिपकलियो ने हतीर के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश मे हर निकला करती । यदि विचार और भावना भौतिक चीजो पर अपने चिन्ह छोड सकती है, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और न मेरा जगह मे जो-जो भी चीज़े थी उन सबपर वे अकित हुए बिना न रहे होगे ।

कोठरी तो मुझे दूसरी जेलो मे इससे अच्छी मिली थी, मगर देहरादून मे मुझे एक ष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था । असली जेल एक बहुत छोटी गह थी और हम जेल की दीवारो के बाहर एक पुरानी हवालात मे रक्खे गये थे । लेकिन थी वह अहाते मे ही । यह जगह इतनी छोटी थी कि उसमे आस-पास घूमने । कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज र घूमने की छुट्टी थी । हम रहते तो थे जेल के अहाते मे ही, लेकिन उन दीवारो बाहर आ जाने से पर्वतमालाओ, खेतो और कुछ दूर की आम सड़क के दृश्य ... पड जाते थे । यह विशेष लाभ खास मुझे अकेले ही को नही मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक ए० क्लास के कैदी को मिलता था । इसी तरह, जेल की दीवार बाहर लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात ... थे । इसके चारो ओर कोई दीवार न थी, जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी ... और बाहर के जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था । इसमे जो यूरोपियन ... लोग रक्खे जाते थे उन्हे भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने ... थी ।

... कैदी, जो लबे अर्से तक इन ऊची दीवारो के अन्दर कैद रहे हो, इन बाहर ... खुले दृश्यो के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को पहचान सकते

है। मै इस तरह बाहर घूमने का बडा शौक रखता था और बारिश मे भी मैने इस सिलसिले को नही छोडा था, जबकि जोर से पानी की झडी लगती थी और मुझे टखने टखने तक पानी मे चलना पडता था। यो तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पडोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी हर्ष-वर्द्धक था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बडी खुशकिस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैने कोई मुलाकात नही की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा तब मै इन प्यारे सुहावने पहाडो को एक-टक निहार सकता था। हाँ, अपनी कोठरी से तो मै इस गिरि-राज के दर्शन नही कर सकता था, मगर मेरे मन मे सदैव ही उसका ध्यान आता था और वह हमेशा नजदीक मालूम होता था और जान पडता था मानो अन्दर-ही-अन्दर हम दोनो के बीच एक घनिष्ठता बढ रही थी।

> पक्षि-पुंज ये उड-उड ऊँचे निकल गये है कितनी दूर!
> जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन,
> एकाकी मै, सन्मुख मेरे पर्वतशृग खडा है शान्त—
> मै उसको, वह मुझे, देखते दोनो ही हम थके कभी न।[१]

मै समझता हूँ कि कवि ली ताई पो की तरह मै यह नही कह सकता कि मै इस नगाधिराज से कभी नही थकता। मगर हाँ, ऐसा तो कभी-कभी ही अनुभव होता था, और आम तौर पर तो मै उसकी निकटता से सदा बहुत सुख का अनुभव करता था। उसकी दृढता और स्थिरता मानो लाखो वर्षो के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे गिरी निगाह से देखती है और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढाव की दिल्लगी उडाती है और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती है।

देहरादून मे वसन्त-ऋतु बडी सुहावनी होती है और नीचे के मैदानो की बनिस्बत ज्यादा समय तक रहती है। जाडे ने प्राय सब पेडो का पतझड कर दिया है और वे बिलकुल नग-धडग हो गये है। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड है, उन्होने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते नीचे गिरा दिये है और खखड और उदास बनकर वे वहाँ खडे है। फिर वसन्त-ऋतु आती है और उस...

१ मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है —

"Flocks of birds have flown high and away,
A solitary drift of cloud, too, has gone, wandering on
And I sit alone with Ching-ting Peak, towering beyond
We never grow tired of each-other, the mountain and I."

आनन्दमय बयार उन्हे उत्साहित करती है और उनके ठेठ अन्दर के एक-एक जर्रे को जीवन का सदेश भेजती है। तब सहसा, क्या पीपल और क्या दूसरे पेडो मे, एक हल-चल होती है और उनके आसपास कुछ रहस्य-सा दिखाई पडता है, जैसे कोई परदे के अदर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है और मे तमाम पेडो पर हरे-हरे अकुरो और कोपलो को उझक-उझककर झाकते हुए देखकर चकित रह जाता। वह बडा ही हर्ष-पूर्ण और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बडी तेजी के साथ लाखो पत्ते उमड आते, सूर्य की किरणो मे चमकते और हवा के साथ अठखेलिया करते। एक अखुए से लेकर पत्तेतक यह रूपान्तर कितना जल्दी हो जाता है और कितना आश्चर्य-जनक।

मैने इससे पहले कभी नही देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिये कत्थई रंग के होते है, ठीक वैसे कि जैसे कश्मीर के पहाडो पर शरद् ऋतु मे हलके रंग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते है।

बारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योकि उससे ग्रीष्म-ऋतु की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आखिर हद होती है। बाद मे वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इन्द्र महाराज की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बारिश शुरू होते ही पाच-छ हफ्तो तक ऐसी झडी लगती है कि कोई पचास-साठ इच पानी बरस जाता है और उस छोटी-सी तग जगह मे खिडकियो से आती हुई बौछारो से अपनेको बचाते हुए सिकुड-मुकुडकर कुप्पा बने बैठे रहना अच्छा नही लगता।

हा, शरद्ऋतु मे फिर आनन्द आने लगता है और इसी तरह जाडो मे भी, उन दिनो को छोडकर जबकि मेह बरसता हो। एक तरफ बिजली कडक रही है, दूसरी तरफ बारिश हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठडी हवा आ रही है। ऐसी हालत मे हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमे [illegible] मे बचाव हो सके और जरा आराम मिले। कभी-कभी बरफ का तूफान आता और बडे-बडे ओले गिरते और वे टीन की छतो पर से गिरते हुए बडे ज़ोर की आवाज करते, मानो दनादन तोपे छूट रही हो।

एक दिन मुझे खास तौर पर याद है। वह २४ दिसबर १९३२ का दिन था। [illegible] ज़ोर की बिजली कडक रही थी और दिनभर पानी बरसता रहा। जाडा इतना [illegible] कि कुछ मत पूछो। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन मे मुझे [illegible] बुरे दिन देखने पडे है। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और [illegible] देखा कि पर्वतश्रेणियो पर और पहाडो पर बरफ-ही-बरफ जमी हुई है

तो मेरी सारी तकलीफ न जाने कहाँ चली गई । दूसरा दिन क्रिसमस-डे था, बहुत साफ और सुन्दर । और बरफ का जामा पहने पर्वत-श्रेणियां बहुत ही मनोहर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के अवलोकन की ओर ज्यादा गया ! जो-जो जानवर या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम गौर से देखने लगे । ज्यों-ज्यों मैं ज्यादा ध्यान से देखने लगा त्यों-त्यों मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आंगन में हर तरह के जीव-जन्तु रहते हैं । मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आँगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमडा पड़ता है । ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले सरकनेवाले और उडनेवाले पशु-पक्षी मेरे काम में जरा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पडी थी कि मैं उनके जीवन में खलल पहुँचाता? लेकिन हाँ, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लडाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था । मेरी कोठरी में वे हजारों की तादाद में थे । हाँ, एक बार उनकी-मेरी झडप हो गई थी, जबकि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था । मैंने गुस्से में आकर उन सबको निकाल देना चाहा कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोज़ा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने सख्त डटकर सामना किया । छत्तों में शायद इनके अडे थे । आखिर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेडें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूंगा । कोई एक साल तक उसके बाद मैं उसी कोठरी में उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा । मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक दूसरे का लिहाज़ रखते रहे।

हाँ, चमगादडों को मैं पसद नहीं करता था, लेकिन उन्हें मैं मन मसोस कर बर्दाश्त करता था । वे शाम के अंधेरे में चुपचाप उडती और आसमान की अंधेरी नीलिमा में उडती दिखाई पडती । वे बडे मनहूस जीव थे और मुझे उनसे बडी नफरत और कुछ भय-सा लगता था । वे मेरे चहरे के एक इंच दूरी से उड जातीं और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दे । ऊपर आकाश में दूर बडी-बडी चमगादडें उडा करती थीं।

मैं चीटियों, दीमकों और दूसरे कीडों को घण्टों देखता रहता था । छिपकलियों को भी, जब वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड लेतीं और अपनी दुम को एक अजीब हँसी आने लायक ढंग से हिलती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं । मामूली तौर पर

[illegible] को नहीं पकड़ती थी, लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी [illegible] एहतियात से मुँह की तरफ से उसको चुपके से झपटकर पकड़ा। मैं नहीं कह [illegible] कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक इत्तिफाक था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास में पेड़ हो तो, झुण्ड के झुण्ड गिलहरियाँ होतीं [illegible]। वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ-जेल [illegible] मैं बहुत देर तक एक-सा बैठे-बैठे पढ़ा करता था। एक गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर [illegible] घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ देखा करती। फिर वह मेरी आँखों की ओर [illegible], तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नहीं हूँ। एक लहमे [illegible] लिए तो वह सहम जाती, पर फिर दुबककर खिसक जाती। कभी-कभी गिलहरियों के [illegible] पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी माँ उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका [illegible] गोला बनाती और उनको लेजाकर महफूज जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे [illegible] जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने [illegible] थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें? लेकिन यह [illegible] बड़ी तरकीब से हल किया गया। फाउन्टेनपेन के फिलर में जरा-सी रुई [illegible] दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोड़ा को छोड़कर और सब जेलों में जहाँ-जहाँ मैं गया कबूतर खूब थे— [illegible] की तादाद में, और शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी [illegible] कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हाँ, मैनायें [illegible] थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी [illegible] दरवाजे के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत [illegible] हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो [illegible] नजदीक आकर बैठ जातीं और जोर से चीं-चीं करके खाना माँगतीं। उनके [illegible] और उनकी वह अधीर पुकार देखे और सुने ही बनती थी।

नैनी में हजारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में [illegible]। उनकी प्रणयोपासना और प्रणयो-लीला देखने के लायक होती थी। वह [illegible] को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए बड़े [illegible] लड़ाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इन्तजार करती [illegible] पर अपनी प्रणय-वृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके गाने और ज़ोर-ज़ोर से चिचियाने, [illegible] और टें-टें करने की तो एक अजीब कवायद होती थी। और सबसे बढ़कर [illegible] की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या? बारिश में और उसके ठीक पहले

पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना देखकर दंग रह जाना पड़
था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे बारिश, उसकी रटन नहीं टूटती थी
इनमे से बहुतेरे पक्षियो को हम देख नही पाते थे, सिर्फ उनकी आवाज़ सुनाई पड़
थी; क्योकि हमारे छोटे से आँगन मे कोई पेड नहीं था लेकिन उकाब ओर चीले व
धज के साथ आसमान मे ऊँची उडती और उन्हे मै देख सकता था। वे कभी एका
झपट्टा मारकर नीचे उतर आते ओर फिर हवा के झोके के साथ ऊपर चढ जाते
कभी-कभी जगली बतख भी हमारे सिर पर मंडराया करते थे। बरेली-जेल मे बंद
की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फाद, मुह बनाना वगैरा हरकते देखने लाय
होती थी। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्च
किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया। वह दीवार की ऊँचाई त
उछल नही सकता था। वार्डर, कुछ नबरदारो और दूसरे कैदियो ने मिलकर उ
पकडा ओर उसके गले मे एक छोटी-सी रस्सी बाध दी। दीवार पर से उस
(मै समझता हूँ) मा-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये। अचान
उनमे से एक बडा बदर नीचे कूदा और सीधा भीड मे उस जगह गिरा जहाँ कि
बच्चा था। निस्सदेह यह बडी बहादुरी का काम था, क्योकि वार्डर वगैरा सबके पा
डडे और लाठिया थी। वे उन्हे चारो तरफ घुमा भी रहे थे ओर वे काफी तादाद
थे। लेकिन बेधडक साहस की फतह हुई और मनुष्यो की वह भीड मारे डर के भा
निकली। उनके डडे और लाठियाँ वही पडी रह गईं। बच्चा उनसे छुडा लिया गया

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच
हमारी कोठरियो मे बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरो
कडका करती। ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नहीं काटा। क्योकि वे अक्सर बे
जगह मिल जाया करते थे। मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई तो उसपर भी
मैने एक खास तौर पर काले और जहरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल
रख छोडा था और मक्खियाँ वगैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैने उसे ए
रस्सी से बाधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला
मुझे यह ख्वाहिश नही थी कि वह फिर कही घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय
इसलिए मैने अपनी कोठरी को खूब साफ किया ओर चारो ओर उसे ढ़ूढा। मगर [illegible]
पता न चला।

तीन-चार साँप भी मेरी कोठरी मे या उसके पास निकले थे। एक की [illegible]
जेल के बाहर चली गई और अखबारो मे बडी-बडी सुर्खी लगाकर छापी गई। [illegible]
च पूछिए तो मैने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन योही काफी [illegible]

...नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसके एकसां-पन को कोई चीज भग ...ती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नही कि मै साँपो को अच्छा समझता ...या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरो की तरह मुझे उनसे डर नही लगता। ...उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूँ तो उससे ...अपने को बचाऊँ भी, लेकिन उन्हे देखकर मुझे अरुचि नही होती और न उनसे डर-... भागता ही हूँ। हाँ, कानखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो ...ना नही मगर अपने-आप उसे देखकर नफरत होती है। अलीपुर-जेल मे कोई आधी ...रात को मै सहसा जग पडा। ऐसा जान पडा कि कोई चीज मेरे पाँव पर रेंग रही है। ...मैने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कानखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और ...बड़ी तेजी से बिना आगा-पीछा सोचे मैने बिस्तर से ऐसे जोर की छलाँग मारी कि ...कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैने अच्छी तरह जाना कि रूस के ...प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियाये क्या होती है।

देहरादून मे एक नया जन्तु देखा, या यो कहूँ कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए ...नया था। मै जेल के फाटक पर खडा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने ...मे बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे ...बुलाया। मैने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो ...फुट लम्बा था। उसके पजे थे और छिलकेदार चमडी। वह भद्दा और कुडोल था ...और बहुत कुछ जिन्दा था। एक अजीब तरह से उसने गाँठ की तरह एक गोल कुण्डल ...बना लिया था और लानेवाला उसे एक बाँस मे पिरोकर बडी खुशी मे उठाता हुआ ...ला था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या ...करोगे' तो उसने जोर से हँसकर कहा, भुज्जी—सालन—बनायेगे। वह जगली ...आदमी था। बाद को एफ० डबल्यू० चेपियन की 'दी जगल इन सनलाइट एण्ड ... पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेगोल्नि था।

कैदियो की, खासकर लम्बी सजावाले कैदियो की, भावनाओ को जेल मे कोई ...[illegible] नही मिलती। कभी-कभी वे जानवरो को पाल-पोसकर अपनी भावनाओ को ...[illegible] किया करते है। मामूली कैदी कोई जानवर नही रख सकता। नम्बरदारो को उनसे ...[illegible] आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए एतराज नही करते। आम ...[illegible] गिलहरियाँ पालते है और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल ...[illegible] दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पडता है, तरगीब दी जाती है। एक ...[illegible] मुझसे दोस्ती करली थी। वह एक जेल-अफसर की थी, जब ...[illegible] हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खटका।

रहा। हालाकि जेल मे कुत्तो की इजाजत नही है, लेकिन देहरादून मे इत्तिफाक़ से कुत्तो के साथ मेरा नाता हो गया था। जेल-अफसर एक कुतिया लाये थे। बाद का उनका तबादला हो गया और वह उसे वही छोड गये। बेचारी बेघर होकर इधर-उधर घूमती रही ओर पुलो ओर मोरियो मे रहती हुई वार्डरो के दिये टुकडे खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्राय भूखो मरती थी। मै जेल के बाहर हवालात मे रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मै उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी मे बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे ओर मै उन्हे खाना देता रहा। इनमे से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी, जिससे मुझे बडी तकलीफ रही। मैने बडी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०–१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पडता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की बनिस्बत जेल मे जानवरो से मेरा ज्यादा साबका पडा। मुझे कुत्तो का बडा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामो मे लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल मे मै उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आम तौर पर घर मे जानवर नही पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीवदया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते है। यहाँतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओ को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दगो का कारण बनती है, दया का बर्त्ताव नही होता। मानो पूज्यभाव और दयाभाव दोनो का साथ नही हो सकता।

जुदा-जुदा देशवालो ने अपनी महत्त्वाकाक्षा या अपने चारित्र्य के लिए जुदा-जुदा पशु-पक्षियो को अपना प्रतीक बनाया है। उकाब सयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिह और 'बुलडॉग' इग्लैण्ड का, लडते हुए मुर्गे फ्रास का ओर भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि ये सरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ ले जायँगे? इनमे से ज्यादातर तो हमलाई और लडाका जानवर है ओर शिकारी पशु है। ऐसी दशा मे यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि जो लोग इन नमूनो को सामने रखकर अपना जीवन निर्माण करते हैं वे, जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते है, हमलाई रुख अख्त्यार करते है, दूसरो पर गुर्राते है, और झपट पडते है। और यह भी आश्चर्य की बात नही है कि हिन्दू नरम और अहिसक है, क्योकि उनका आदर्श पशु है गाय।

४६

संघर्ष

बाहर लडाई चलती रही, और वीर स्त्रियाँ और पुरुष, यह जानते हुए भी कि वर्तमान मे या निकट-भविष्य मे सफलता पाना उनकी किस्मत मे नही है, एक ताकतवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुकाविला करते रहे। निरन्तर तथा अधिक-अधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान मे अग्रेजी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अव इसमे कोई धोखा-धडी नही थी, और कम-से-कम यह हमारे लिए कुछ तसल्ली की वात थी। सगीने कामयाव हुई, लेकिन एक वडे आदमी ने एक वार कहा था कि—"तुम सगीनो से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्हींके [illegible] (आधार पर) वैठ नही सकते।" हमने सोचा कि इसके वजाय कि हम अपनी आत्माओ को वेचे और आत्मिक व्यभिचार करे, यही अच्छा है कि हम इसी तरह [illegible] शासित होना पसन्द करे। जेल मे हमारा शरीर वेवस था, लेकिन हम समझते थे कि [illegible] रहकर भी हम अपने कार्य की सेवा ही कर रहे है और बाहर रहनेवाले कई लोगो [illegible] ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे है। तो क्या हमे, अपनी कमजोरी के कारण, भारत के [illegible] का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो [illegible] था कि इन्सान की ताकत और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति [illegible] मे बेकार हो गये, या मर गये, या काम से अलग हो गये, गद्दारी तक कर [illegible], मगर इन वाधाओ के होते हुए भी कार्य आगे वढता ही गया। लेकिन अगर [illegible] स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यो-की-त्यो वनी रहती तो नाकामयावी नही [illegible] थी। असली नाकामयावी तो है अपने उसूलो को छोड देना, अपने हक से [illegible] कर देना, और वेइज्जती के साथ वे-इन्साफी के आगे झुक जाना। अपने-आप [illegible] हुए जख्म दुश्मन के लगाये हुए जख्मो से ज्यादा देर मे अच्छे होते है।

कभी-कभी अपनी कमजोरियो पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा [illegible] हो जाया करता था, मगर फिर भी हमे जितनी सफलता मिली थी [illegible] हम कुछ अभिमान था। क्योकि हमारे लोगो ने वहुत ही वीरतापूर्ण काम [illegible], और उस वहादुर जमात मे हम भी शामिल है, इस खयाल से जी को भला [illegible] था।

[illegible] भग के उन वरसो मे कॉग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो वार कोशिश [illegible] दिल्ली मे और दूसरी कलकत्ते मे। यह जाहिर था कि गैरकानूनी सस्था

मामूली ढग और शान्ति से अधिवेशन नही कर सकती थी, और खुला अधिवेशन क
की कोशिश का अर्थ था पुलिस के सघर्ष मे आना। वस्तुत दोनो सम्मेलनो को पुलि
ने लाठियो के बल, जबरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत लोग गिरफ्तार
लिये गये। इन सम्मेलनो की विशेषता यह थी कि इन गैरकानूनी मजमो मे प्रतिनि
बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सो से हजारो की तादाद मे लो
आये थे। मुझे यह जानकर बडी खुशी हुई कि इन दोनो अधिवेशनो मे युक्तप्रान्त
लोगो ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी माताजी ने भी मार्च १९३३ के कलकत्त
अधिवेशन मे जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते
मालवीयजी और दूसरे लोगो के साथ गिरफ्तार कर ली गई और आसनसो
मे कुछ दिनो तक जेल मे बन्द रक्खी गई। उन्होने जो आन्तरिक उत्साह और जीव
शक्ति दिखलाई उसे देखकर मै दग रह गया, क्योकि वह कमजोर और बीमार थी
वह जेल की परवा नही करती थी, वह तो उससे भी ज्यादा कडी अग्नि-परी
मे से गुजर चुकी थी। उनका लडका, उनकी दोनो लडकियाँ, और दूसरे भी
लोग जिन्हे वह बहुत चाहती थी, जेल मे लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और
सूना घर, जिसमे वह रह रही थी, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गई थी। ज
जैसे हमारी लडाई मन्दी पडने लगी, और उसकी चालू रफ्तार हलकी हो गई, वैसे
उसमे जोश और उत्साह की कमी आती गई—हाँ, बीच-बीच मे लम्बे अर्से के
कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे खयालात दूसरे मुल्को की तरफ ज्यादा जाने
और जेल मे जितना भी मुमकिन था, मै विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हा
का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। मुझे इस विषय की जितनी भी किताबे मि
उन्हे मै पढता गया, और मै जितना-जितना पढता जाता था उतना-उतना ही उस
तरफ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखाई दिया कि, हिन्दुस्तान तो अपनी स
समस्याओ और सघर्षो को रखते हुए भी इस जबरदस्त विश्व-नाटक का, राजनै
और आर्थिक शक्तियो की उस लडाई का जो कि आज सब राष्ट्रो के अन्दर
सब राष्ट्रो के आपस मे हो रही है, सिर्फ एक हिस्सा ही है। इस लडाई मे मे
अपनी सहानुभूति कम्यूनिज्म की तरफ ही ज्यादा-ज्यादा होती गई।

समाजवाद और कम्यूनिज्म की तरफ मेरा बहुत समय से आकर्षण था,
रूस मुझे बहुत पसन्द आता था। रूस की बहुत-सी बाते मुझे नापसन्द भी है—
सब तरह की विरोधी राय का बेदर्दी से दमन कर देना, सबको सैनिक बना
और अपनी कई व्यवस्थाओ को अमल मे लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनाव
बल-प्रयोग करना। मगर पूँजीवादी दुनिया मे भी तो बल-प्रयोग और दमन कम

...र मुझे ज्यादा-ज्यादा यह महसूस होने लगा कि हमारे सग्रहशील समाज का और
...ी मिल्कियत का तो आधार और वुनियाद ही वल-प्रयोग है। वल-प्रयोग के वगैर
...ज्यादा दिन टिक नही सकता। जवतक भूखो मरने का डर सब जगह अधिकाश
...नता को, थोडे लोगो की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है,
...सके फलस्वरूप उन थोडे लोगो का ही धन-मान वढता जाता है, तवतक राजनैतिक
...स्वतन्त्रता होने के भी वास्तव मे कुछ मानी नही है।

दोनो व्यवस्थाओ मे वल-प्रयोग मौजूद है। पूँजीवादी व्यवस्था का वल-प्रयोग
...का उसका अनिवार्य अग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के वल-प्रयोग का, यद्यपि
...यह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर आधारित और जनता को
...असली आज़ादी देनेवाली नई व्यवस्था कायम हो जाय। सोविएट रूस ने कितनी भी
...ी भयकर भूले की हो, तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयो पर फतह पा चुका है और
...इस नई व्यवस्था की तरफ लम्वी-लम्वी डग रखता हुआ वहुत आगे वढ गया है। जव
...ससार के दूसरे मुल्क मन्दी मे जकडे हुए है, कई तरह से पीछे की तरफ जा रहे है,
...व सोविएट देश मे, हमारी आँखो के सामने, एक नई ही दुनिया तामीर हो रही है।
...महान् लेनिन के पदचिन्हो पर चलकर रूस भविष्य की तरफ निगाह रखता है, और
...सिर्फ इसी वात का विचार करता है कि आगे क्या होना है। लेकिन ससार के दूसरे
...ता भूतकाल के प्रहार से सुन्न हुए पडे है, और गुजरे हुए युग के अनुपयोगी स्मारको
...को वचाने मे ही अपनी ताकत लगा रहे है। अपने अध्ययन मे मुझपर उन विवरणो
...का असर पडा, जिनमे सोविएट शासन के पिछडे हुए मध्य-एशियाई प्रदेशो की
...भारी तरक्की का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सव
...रूस के हक मे ही रही, और मुझे सोविएट-तन्त्रो की मौजूदगी और मिसाल,
...और दुःखपूर्ण दुनिया मे, एक प्रकाशमय और उत्साह-दायी चीज मालूम हुई।

...हालाकि कम्यूनिस्ट राज्य कायम करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप मे सोविएट
...की कामयावी या नाकामयावी का वहुत वडा महत्व है, फिर भी उससे कम्यूनिज्म
...सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नही पडता। राष्ट्रीय या अ...
...कारणो मे वोलशेविक लोग वडी-वडी गलतियाँ कर सकते है, या अ...
...है, लेकिन फिर भी कम्यूनिज्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस
...पर रूस मे जो-कुछ हुआ है, उसकी अन्धे की तरह नकल
...होगी, क्योकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश मे उसकी ख़ास
...ऐतिहासिक विकास की सीमा पर निर्भर है। इसके अलावा,
...देश वोलशेविको की कामयावियो ने और अनिवार्य गलि...

ले सकता है । शायद बोलशेविकों ने जरूरत से ज्यादा तेज रफ्तार से जाने की कोशिश की, क्योंकि उनके चारों तरफ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हें बाहरी हमले का भी डर था । शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो देहात में हुई बहुत-सी तकलीफें बच सकती थीं । लेकिन यह सवाल उठता था, कि क्या परिवर्तन की रफ्तार कम करने से वास्तव में मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नहीं ! किसी नाजुक वक्त पर, जबकि आधार-भूत ढांचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधारवाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद में रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे, लेकिन पहला कदम तो ऐसा उठना चाहिए जिससे कि मौजूदा व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई वास्ता न रह जाय ।

हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारखाने दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का और देश के हर बड़े सवाल का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है । जैसा कि 'युद्ध के संस्मरणों' में मि० लायड जार्ज कहते हैं—"किसी खाई को दो छलांगों में कूदने से बढ़कर कोई गलती नहीं हो सकती ।"

'रूस के अलावा भी, मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग के कई विषयों में प्रकाश दिया । मुझे इतिहास में बिलकुल नया ही अर्थ दिखाई पड़ने लगा । मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य दिखानेवाला एक नाटक ही हो गया, जिसके घटना-चक्र की बुनियाद में कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यों न हो । हालांकि भूतकाल में और वर्तमान समय में समय और शक्ति की भयंकर बरबादी और तकलीफें रही हैं और हैं, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच में कितने ही खतरे आते रहें । मार्क्सवाद में मौलिक रूप से किसी रूढ़-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया । लेकिन यह सही है कि रूस में और दूसरे देशों में मान्य कम्यूनिज्म में बहुत-से रूढ़-मत हैं, और अक्सर 'काफिरों' यानी मिथ्या-मत-वादियों पर संगठित रूप से धावा बोला जाता है । मुझे यह खेदजनक मालूम हुआ, हालांकि सोविएट प्रदेशों में भारी-भारी तबदीलियां बड़ी तेजी से हो रही हों और विरोधी लोगों के कारण से बड़ी मुसीबतों और नाकामयाबी के हो जाने की आशंका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ में आ सकता है ।

संसार-व्यापी महान् संकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेषण ठीक मालूम हुआ । जबकि दूसरी सब व्यवस्थायें और सिद्धान्त सिर्फ अपनी अटकल

रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ संतोषजनक रूप से उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रक्खा।

जैसे-जैसे मुझमे यह विश्वास जमता गया, वैसे वैसे मै नये उत्साह से परिपूर्ण होता गया, और सविनय भग की असफलता की मेरी उदासी बहुत कम हो गई। क्या दुनिया तेजी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य या स्थिति की तरफ नही जा रही है? हा, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बडे-बडे खतरे मौजूद है, लेकिन हर हालत मे हम आगे ही बढ रहे है। हम एक ही जगह मे पडे हुए सड नही रहे। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बडे सफर के रास्ते मे हमारी राष्ट्रीय लडाई तो एक पडाव मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लडाइयो के लिए तैयार हो रहे है और उन विचारो पर गौर करने के लिए मजबूर हो रहे है जिनसे दुनिया मे खलबली मची हुई है। कमजोर लोगो के निकल जाने से हम और भी ज्यादा मजबूत ज्यादा अनुशासन-युक्त और ज्यादा ठोस बन जायंगे। जमाना हमारे पक्ष मे है।

इस तरह मैने, रूस, जर्मनी, इग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ्रास, इटली, और मध्य-यूरोप मे क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और प्रचलित घटनाओ की गुत्थियो को समझने की कोशिश की। इस मुसीबत को पार करने के लिए हर-एक देश अलग-अलग और सब मिलकर एकसाथ क्या कोशिशे कर रहे है, इसको मैने दिलचस्पी से पढा। राजनैतिक और आर्थिक बुराइयो को दूर करने और निःशस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सो की बारबार असफलताओ से मुझे अपने यहाँ की साम्प्रदायिक समस्या की—जोकि छोटी-सी लेकिन काफी तकलीफ-देह है—बरबस याद आ गई। अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी हम अभीतक इस समस्या को हल नही कर सके है, और यह व्यापक ज्ञान होते हुए भी कि अगर यूरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ अपनी समस्याओ को सुलझाने मे विफल होगे तो एक ससार-व्यापी आपत्ति आ जायगी, वे उन्हे हल नही कर पाये है। दोनो उदाहरणो मे समस्या को हल करने का तरीका गलत रहा और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने मे डरते रहे है।

ससार की मुसीबतो और सघर्षो का विचार करते हुए, मै किसी हद तक व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतो को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे इस बात की खुशी होती थी कि ससार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग मे मै भी हूँ। शायद दुनिया के इस कोने मे, जहाँ मै हूँ, मुझे भी उन आनेवाली तब्दीलियो मे कुछ थोडा-सा हिस्सा लेना पडेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया मे

सघर्ष और बल-प्रयोग का वातावरण बडा उदास बना देता था। इससे भी खराब य दृश्य था कि पढे-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और गुलामी को देखते-देखते उनके इतने आदी हो गये है कि उनके दिमाग अब कष्ट-सहन, गरीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नही करते। दम घोटनेवाले इस नैतिक वातावरण मे शोरगुल मचाने वाला ओछापन और सगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे है। हिटलर की विजय और उसके बादके 'भूरे आतक-वाद' ने मुझे बडा आघात पहुँचाया, हालाकि मैने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब चन्दरोजा हो सकता है। यह देखकर मन मे ऐसी-सी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशि बेकार है। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमे पहिये का एक छोटा दाँत बेचारा क्या कर सकता है ?

फिर भी, जीवन-सम्बन्धी कम्यूनिस्ट तत्वज्ञान मे मुझे शान्ति और आशा मिल तो इसका हिन्दुस्तान मे कैसे प्रयोग हो सकता है ? हम तो अभीतक राजनैति स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नही कर पाये है, और हमारे दिमागो मे राष्ट्र ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ भी पडे, या इन दोनो को बारी-बारी से हाथ मे ले, फिर चाहे इनके बीच मे अ कितने ही थोडे समय का क्यो न हो ? ससार की घटनाये और हिन्दुस्तान के वाकयात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे है, और मुझे लगा कि अब राजनैति आजादी उससे अलहदा नही रक्खी जा सकती ।

हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैति आजादी के मुकाबिले मे सामाजिक प्रतिगामी वर्ग खडे हो गये है। यह लाजिमी था, और हिन्दुस्तान मे मुख्तलिफ वर्गो और समुदायो के ज्यादा साफ तौर पर अल अलग दिखाई दे जाने को मैने पसन्द किया। लेकिन मै सोचता था कि क्या इस दूसरे लोग भी अच्छा समझते है ? जाहिर है कि बहुत लोग नही। यह सही है कई बडे शहरो मे मुट्ठीभर कट्टर कम्यूनिस्ट लोग है, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन विरोधी है और उसकी सख्त नुक्ताचीनी करते है। खासकर बम्बई मे, और हदतक कलकत्ते मे, सगठित मजदूर भी समाजवादी है, मगर ढीले-ढाले ढग उनमे भी फूट पडी हुई है, और वे मन्दी से दुख पा रहे है। कम्यूनिज्म के और समा वाद के धुधले-से विचार पढे-लिखे लोगो मे, और समझदार सरकारी अफसरो मे, फैल चुके है। कॉंग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर और मॉरले, कीथ और मैजिनी के विचार पढा करते थे, अब अगर उन्हे मिल जाती है तो कम्यूनिज्म और रूस पर साहित्य पढते है। मेरठ-षड्यन्त्र

...न लोगों का ध्यान इन नये विचारों की तरफ फेरने मे बडी मदद दी, और ससार-व्यापी सकट-काल ने इस तरफ ध्यान देने की मजबूरी पैदा करदी। हर जगह प्रचलित सस्थाओं के प्रति शका, जिज्ञासा और चुनौती की नई स्पिरिट दिखाई देती है। मानसिक वायु की साधारण दिशा तो साफ जाहिर हो रही है, लेकिन फिर भी वह हलका सा झोका ही है जिसको अपने-आप पर अभी कोई विश्वास नही है। कुछ लोग फासिस्ट विचारो के आसपास मँडराते है। लेकिन कोई भी साफ और निश्चित आदर्श नही है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहाकी प्रमुख विचारधारा है।

मुझे यह तो साफ मालूम हुआ, कि जबतक किसी हद तक राजनैतिक आजादी न मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बडी प्रेरक-भावना रहेगी। इसी कारण काग्रेस हिन्दुस्तान मे सबसे ज्यादा ताकतवर सस्था होने के साथ ही सबसे आगे बढी हुई सस्था भी रही है, और अब भी (कुछ खास मजदूर दायरो को छोडकर) है। पिछले तेरह बरसो मे, गाधीजी के नेतृत्व मे, इसने जनता मे आश्चर्यजनक जागृति पैदा कर दी है और इसके अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अबतक भी इसकी उपयोगिता खतम नही हुई है, और हो भी नही सकती, जबतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाज-वादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श-सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी काग्रेस के द्वारा ही होगी, हालाकि दूसरे रास्तो से भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे काँग्रेस को छोड देना, राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे जबरदस्त हथियार को कुन्द कर देना, और एक बेकार के साहस मे अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या काँग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव मे मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकडे हो जायँगे, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जायगे। ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या बुरा न होगा, अगर समस्याये साफ हो जायँ, और काँग्रेस मे एक दृढ-सगठित दल, चाहे वह बहुमत मे हो या अल्पमत मे हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खडा हो जाय।

लेकिन इस वक्त तो काँग्रेस के मानी है गाधीजी। वह क्या करना चाहेगे? विचारो की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए रहे है, लेकिन काम और व्यवहार के ख़याल से वह हिन्दुस्तान मे इस वक्त के सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी रहे है। वह एक अनोखे व्यक्ति है, और उन्हे मामूली पैमानो से नापना या तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नही है। लेकिन चूँकि

वह तह मे क्रान्तिकारी है और हिन्दुस्तान के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए है, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नही जाती तबतक तो वह इसपर अटल रहकर ही अपना काम करेगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड-कार्य शक्ति को जगा देगे, और, मुझे आधी-सी उम्मीद थी कि वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ एक-एक कदम आगे बढते चलेगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई बरसो मे गाधीजी और कॉग्रेस पर भयकर हमले करते रहे है, और उन्होने कॉग्रेस-नेताओ पर सब तरह की दुर्भावनाओ के आरोप लगाये है। कॉग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी, और बाद की घटनाओ से वह किसी हदतक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे मे कम्यूनिस्टो के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वह आम उसूलो को छोडकर तफसीलो मे आते है, और खासकर जब वह देश मे कॉग्रेस के महत्व पर विचार करते है, तो वे बुरी तरह भटक जाते है। हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्टो की तादाद और असर कम होने का एक सबब यह भी है कि कम्यूनिज्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगो के दिमागो मे उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बजाय उन्होने दूसरो को गालियाँ देने मे ही ज्यादातर अपनी ताकत लगाई है। इसका उन्ही पर उलटा असर पडा है, और उन्हे नुकसान पहुँचा है। इनमे से ज्यादातर लोग मजदूरो के हलको मे काम करने के आदी है, जहाँ कि मजदूरो को अपनी तरफ मिला लेने के लिए सिर्फ थोडे-से नारे ही काफी होते है। लेकिन पढे-लिखे लोगो के लिए तो सिर्फ नारे ही काफी नही हो सकते और उन्होने इस बात को महसूस नही किया है कि आज हिन्दुस्तान मे मध्यम-वर्ग का पढा-लिखा दल ही सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी शक्ति है। कट्टर कम्यूनिस्टो के प्राय कोशिश न करने पर भी कई पढे लिखे लोग कम्यूनिज्म की तरफ खिच आये है, लेकिन फिर भी उनके बीच मे गहरी खाई है।

कम्यूनिस्टो की राय के मुताबिक, कॉग्रेस के नेताओ का लक्ष्य रहा है, सरकार पर आम लोगो का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूँजीवादियो और जमीदारो के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधाये हासिल कर लेना। उनका मत है कि कॉग्रेस का काम है—"किसानो, निचले मध्यम-वर्ग और कारखानो के मजदूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असतोष को बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल मालको और लखपतियो की गाडी के सामने खडा कर देना।" यह खयाल किया जाता कि हिन्दुस्तानी पूँजीपति टट्टी की ओट मे छिपे हुए कॉग्रेस-कार्य-समिति को हुक्म

... ... है कि पहले तो वह आम तहरीक शुरू करे, और जब वह बहुत व्यापक ... ... अवसर हो जाय तब उसे मुल्तवी करदे, या किसी छोटी-मोटी बात पर खत्म करदे ... और, कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेजो का चला जाना पसन्द नही करते, क्योकि भूखी ... जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी जरूरत है, और ... मध्यम-वर्ग अपने मे यह काम करने की काबलियत नही मानता।

यह ताज्जुब की बात है कि कम्यूनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर यकीन रखते ... है। लेकिन चूंकि जाहिरा उनका विश्वास इसीपर है इसीलिए, आश्चर्य नही कि, वे ... हिन्दुस्तान मे इतनी बुरी तरह से असफल हुए है। उनकी बुनियादी गलती यह मालूम ... होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मजदूरो के पैमानो से ... नापते है, और चूंकि उन्हे यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मजदूर-नेता मजदूर-आन्दोलन के साथ गद्दारी करते रहे है, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर ... लगाते है। हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन, जाहिरा ही, कोई मजदूरो या श्रमिको ... का आन्दोलन नही है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, वह एक मध्यम-... वर्गी आन्दोलन है और अभीतक उसका मकसद समाज-व्यवस्था को बदलना नही, ... बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि ... यह मकसद काफी बडा नही है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के जमाने मे पिछडा ... हुआ वाद कहला सकता है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह ... नही कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी निज़ाम को उलट देने ... की कोशिश ही नही करते। इसलिए वे जनता के साथ विश्वास-घात करते है, क्योकि ... उन्होंने ऐसा करने का कभी दावा ही नही किया। हॉ, कॉग्रेस मे कुछ लोग ऐसे जरूर ... है, और उनकी तादाद बढती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पंजीवादी व्यवस्था को ... ... देना चाहते है, लेकिन वे कॉग्रेस के नाम पर नही बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूजीवादी वर्गो ने (बडे-बडे जमींदारो या ताल्लुके-... दारो ने नही) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के बढावे के ... ... राष्ट्रीय आन्दोलन से बडा फायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाज़िमी ही था, ... क्योंकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धधो को बढावा देना है, और दूसरो का ... बहिष्कार कराना है। लेकिन, असल मे, बम्बई के मिल-मालिको ने तो सविनय भग के ... ... के वक्त ही और जबकि हम ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करने रहे ... थे, एक नाजाइज तरीके से लकाशायर से एक समझौता करने का भी दुस्साहस कर ... डाला। कांग्रेस की निगाह मे यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही ... कहा भी गया था। असेम्बली मे बम्बई के मिल-मालिको के नुमाइन्दो ने ...

जबकि हममे से ज्यादातर लोग जेल मे थे, लगातार कांग्रेस और 'अति-वादी' यानी गरम दल के लोगो की निन्दा की थी ।

पिछले कुछ बरसो मे कई पूजीपति-दलो ने हिन्दुस्तान मे जो-जो काम किये है वे कांग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलक-रूप है । ओटावा के समझौते मे शायद कुछ लोगो को फायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धधो की दृष्टि मे वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूजी और कारखानो की ज्यादा अधीनता मे आ गये । वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और तब किया गया था जबकि हमारी लडाई चालू थी और कई हजार लोग जेलो मे थे । हर उपनिवेश ने इग्लैण्ड से अपनी सख्त-से-सख्त शर्ते मनवा ली, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानो उसमे अपनेको करीब-करीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया । पिछले कुछ बरसो मे कुछ बडे धनियो ने हिन्दुस्तान को नुकसान मे डालकर भी सोने और चादी का व्यापार किया है ।

और बड़े-बड़े जमीदार और ताल्लुकेदार तो गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे कांग्रेस के बिलकुल खिलाफ ही खडे हो गये थे, और ठीक सविनय भग के दर्म्यान उन्होने खुले तौर पर और आगे बढकर अपने-आपको सरकार की तरफ घोषित कर दिया था । इन्ही लोगो की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे उन दमनकारी कानूनो को पास किया, जिनका समावेश आर्डिनेन्सो मे हो जाता था । और युक्तप्रान्त की कौसिल मे ज्यादातर जमीदार मेम्बरो ने सविनय भग के कैदियो की रिहाई के खिलाफ राय दी थी ।

यह खयाल भी बिलकुल गलत है कि, गाधीजी ने १९२१ और १९३० मे तेज दीखनेवाले आन्दोलन मजबूरन जनता का जोर पडने से ही चालू किये थे । बेशक, आम जनता मे हलचल थी, लेकिन दोनो आन्दोलनो मे कदम गाधीजी ने ही आगे बढाया था । १९२१ मे वह करीब-करीब अकेले ही सारी कांग्रेस की डोर हिलाते थे और उसे असहयोग के रास्ते चढा ले गये थे । १९३० मे भी अगर उन्होने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी तेज और परिणामकारी सीधी लडाई का आन्दोलन हरगिज न उठ सकता था ।

यह बड़ी बदकिस्मती की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक्ताचीनी की जाती है, क्योकि उससे ध्यान असली सवालो से दूसरी तरफ हट जाता है । गाधीजी की ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुकसान होता है, क्योकि हिन्दुस्तान के करोडो आदमियो के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त-रूप है, और उन्हे जो कोई पहचानते है वे जानते है कि वे हमेशा सही काम करने के लिए कितने व्याकुल रहते है ।

हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्टो का ताल्लुक वडे शहरो के कारखानो के मजदूरो के ...म ही रहा है। देहाती हलको की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नही है। ...हालांकि कारखानो के मज़दूरो का भी एक महत्व है, और भविष्य मे और भी उनका ...ज्यादा महत्व होगा, लेकिन उनका किसानो के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योकि हिन्दुस्तान मे आज तो किसानो की समस्या ही मुख्य है। इधर कॉग्रेस-कार्यकर्त्ता ...न देहाती हलको मे सब दूर फैल चुके है, और समय पर अपने-आप कॉग्रेस किसानो का एक बडा सगठन बन जायगी। अपना निकट-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान ...भी भी क्रान्तिकारी नही रहते और यह मुमकिन है कि भविष्य मे किसी वक्त ...शहर बनाम देहात और कारखानो के मजदूर बनाम किसान की सामान्य समस्या हिन्दुस्तान मे भी खडी हो जाय।

मुझे कॉग्रेस के बहुत-से नेताओ और कार्यकर्त्ताओ के गहरे सम्पर्क मे आने का ...मौका मिला है, और इनसे ज्यादा अच्छे स्त्री-पुरुषो की मै ख्वाहिश भी नही कर ...सकता था। लेकिन फिर भी ज़रूरी सवालो मे मेरा उनमे मतभेद रहा है, और कई ...बार मै यह देखकर उकता गया हूँ कि जो बात मुझे साफ-सी दिखाई देती है उसकी वे ...कद्र भी नही कर सकते या उसे समझ भी नही सकते। इसका सबब अक्ल की कमी ...नही है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारो की अलग अलग पगडडियो ...पर चल रहे है। मैने महसूस किया कि इन सीमाओ को अचानक पार कर जाना ...कितना मुश्किल है। इनमे जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान ही भिन्न-भिन्न है, और वह हमे ...और धीरे और अनजान मे प्रभावित करता रहता है। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष ...देना फ़िजूल है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओ पर एक खास ...वैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की ज़रूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक ...है। इसी तरह, दूसरे दृष्टिकोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान परि-...स्थितियो के अज्ञात प्रभाव पर आधारित है। जीवन की कठिनाइयो और उसके तजुर्बे ...ही हम नये रास्तो से चलने को मजबूर करते है, और अन्त मे, जोकि इससे ...ज्यादा कठिन काम है, हमारा दृष्टिकोण बदल देते है। सम्भव है हम प्रक्रिया ...मे ...कोई सहायक हो सके और शायद—

...मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी मार्ग से पहुँच जाता है जिसपर वह उससे ...के लिए चलता है।"[1]

[1] ला फॉतेन के निम्नलिखित फ्रेंच उद्धरण का यह अनुवाद है —
...ontre son destinée
...par les chemins qu'on prend pour l'éviter.

४७

मजहब क्या है ?

सितम्बर १९३२ के मध्य मे एक अचानक और बडी चिन्ताजनक घटना ने रा के हमारे शान्तिपूर्ण और एक-ढर्र के जीवन मे खलबली मच गई। खबर आ कि मि० रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' मे दलित जातियो को जुदागाना चुनाव दिये जाने के विरोध मे गाधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगो को अचानक आघात देने की उनमे कितनी क्षमता है ? सहसा सभी तरह के खयाल मेरे दिमाग मे आने लगे, सब तरह की होनहार और सम्भावनाये मेरे सा आने लगी, और उन्होने मेरे चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक म बिलकुल अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई दिया, और कोई रास्ता नही सूझा। जब मै गाधी के काम के कुछ नतीजो का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्र मेरी व्यक्तिगत भावना काफी प्रबल थी, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद उन्हे नही देख सकूगा। इस खयाल से मुझे बहुत ही पीडा होती थी। आखिरी द करीब एक साल से कुछ ज्यादा पहले मैने उन्हे इग्लैण्ड जाते वक्त जहाज पर द था। क्या अब मै उन्हे न देख सकूँगा ?

और फिर मुझे उनपर झुझलाहट भी आई कि उन्होने अपनी आखिरी कुरबा के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आजादी आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अब, कम-से-कम थोडे वक्त के लिए ही सही, ब सवाल पीछे नही पड जायँगे ? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामया भी हो जायँगे, और दलित जातियो के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कु तो हासिल कर ही लिया गया है, और थोडे वक्त तक अब कुछ भी न करना चाहिए ? और क्या उनके इस काम के यह मानी नही है कि वह साम्प्रदायिक 'निर्ण को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज़ को किसी हद तक मज करते है ? क्या यह असहयोग और सविनय भग से सुसगत है ? इतने बलिदान औ साहस-पूर्ण पयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस मामूली प्रश्न पर आकर जायगा ?

उनके राजनैतिक सवाल को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण से देख और उसके मुताबिक बारबार ईश्वर का नाम लेने से मुझे उनपर गुस्सा भी आया।

की कितनी क़दर करता हूं। मैंने इन्दु (और) सरूप के बच्चों को देखा। इन्दु खुश और कुछ तगड़ी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीडा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लडकी और मेरी बहन के बच्चो के आने का जिक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगडी हो गई है। उस वक्त मेरी बहन भी पूना की जेल म थी, और ये सब बच्चे पूना के स्कूल मे पढने थे। वह जीवन मे छोटी दीखनेवाली बातो को कभी नही भूलते, जिनका वास्तव मे बडा महत्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खबर भी मिली कि चुनाव के सवाल पर कोई समझोता भी हो गया है। जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट ने महरबानी करके मुझे गाधीजी को जवाब भेजने की इजाजत दे दी, और मैंने उन्हे यह तार भेजा —

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हासिल हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बडी दुविधा पैदा हुई, पर आखिरमे आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। पद-दलित वर्गों के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, मगर मुझे यह खतरा मालूम होता है कि कहीं हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरे सवालात ढक न ले। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने मे असमर्थ हूं। यह भी खतरा है कि दूसरे लोग आपके तरीकों का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूं? स्नेह।"

पूना मे जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगो ने एक समझौते पर दस्तखत किये, और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मजूर कर लिया और उसके मुताबिक अपना पिछला 'निर्णय' वदल दिया, और अनशन तोड दिया गया। मै ऐसे समझोतो और इकरारनामो को बहुत नापसन्द करता हूं, लेकिन पूना के समझौते मे क्या-क्या है हुआ इसका खयाल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना खत्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम म लग गये। हरिजन-आन्दोलन और जेल मे से गाधीजी की प्रवृत्तियो की खबरे हमे मिलती रहती थी। लेकिन उनसे मुझे खुशी नहीं होती थी। उसमे शक नही कि अछूतपन को मिटाने और दुखी दलित जातियो को उठाने के आन्दोलन को उनसे बडा भारी

बढ़ावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नहीं, बल्कि देशभर में जो एक जेहादी जोश फैल गया था उसके कारण । यह तो अच्छी बात थी । लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी साफ ज़ाहिर था कि इससे सविनय भग को नुकसान पहुँचा । देश का ध्यान दूसरे सवालों पर चला गया, और काग्रेस के कई कार्यकर्ता हरिजन-कार्य में लग गये । शायद उनमें से ज्यादातर लोग कम खतरे के कामों में लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमें जेल जाने, या इससे भी ज्यादा, लाठी खाने और सम्पत्ति जब्त कराने का डर न हो । यह कुदरती ही था, और हमारे हज़ारों कार्यकर्ताओं में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह गहरे कष्ट-सहन और अपने परिवार के भग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे । लेकिन हमारे बड़े आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे ख़त्म होना देखकर दिल में दर्द होता था । फिर भी, सविनय भग तो चलता ही रहा, और मौके-मौके पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-कांग्रेस जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन हो ही जाते थे । गांधीजी यरवडा-जेल में थे, मगर उन्हें लोगों से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के मुताबिक हिदायतें भेजने की कुछ सुविधायें मिल गई थीं । कुछ भी हो, इससे उनके जेल में रहने की तीक्ष्णता कम हो गई थी । इन सब बातों से मुझे बड़ी उदासी हुई ।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया । इसकी खबर से भी पहले तो मुझे बड़ा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया । वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुंझल आई जो उनपर उपवास का निश्चय कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का जोर डाल रहे थे । उपवास मेरी नासमझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं जोर से उसके खिलाफ राय देता, लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह गलत मालूम होता था कि वह किसी भी [illegible] मामले में, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा [illegible] की कोशिश करे । इस तरह हालांकि मैं खिन्न था फिर भी [illegible] [illegible] करता रहा ।

[illegible] उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का [illegible] [illegible] जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया । चूंकि उन्होंने जवाब मांगा था, [illegible] मैंने निम्नलिखित तार भेजा —

"आपका खत मिला । जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ? मैं तो एक बेगाने देश में, जहाँ आप ही एक-

मात्र परिचित मीनार की तरह है, अपना कहीं पता ही नहीं पाता हूँ; अंधेरे में अपना रास्ता टटोलता हूँ, लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूँ। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"

एक ओर उनके कार्य को मैं बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हे आघात न पहुंचाने की भी मेरी इच्छा थी। इस द्वन्द्व का मुझे सामना करना पडा था। मगर फिर भी मैंने महसूस किया कि मैंने उन्हे प्रसन्नता का सदेश नहीं भेजा, और अब जब कि वह अपनी भयकर अग्नि-परीक्षा मे से, जिसमे उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, गुजरने का निश्चय कर ही चुके है, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मैं उन्हे प्रसन्न बनाऊँ। छोटी-छोटी बातो का भी मन पर बड़ा असर होता है, और उन्हे जीवन बनाये रखने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पडेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी होकर रहे, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय तो उसे भी कडे दिल से बरदाश्त कर लेना चाहिए। इसलिए मैने उन्हे दूसरा तार भेजा —

"अब तो जब आपने अपना जोखों का काम शुरू कर ही दिया है, तो मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब मुझे यह ज्यादा साफ़ तौर पर दिखाई देता है कि जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है, और कुछ भी नतीजा हो, आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास पूरा हो गया और वह जीवित रहे। उपवास के पहले ही दि वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छ हफ्तो के लिए सविनय भ स्थगित कर दिया गया।

मैंने देखा कि उपवास के बीच मे देश मे भावना का फिर एक उभाड आया मैं ज्यादा-ज्यादा सोचने लगा कि क्या राजनीति मे यह सही तरीका है ? मु तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार कर का तरीका बिलकुल नही ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका ज्यादातर हिस्स सम्मान से महात्माजी की तरफ निगाह गडाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायं, अस्पृश्यता का नाश कर दे और स्वराज्य हासिल करले, इत्यादि, और खुद कुछ भी न करे। गांधीजी भी दूसरो को विचार करने के लिए प्रोत्साहित नही करते थे, उनका जोर पवित्रता और बलिदान पर था। मुझे लगा कि हालाकि मैं गांधीजी पर बडी भावुकतापूर्ण आसक्ति रखता हूँ फिर भी मानसिक दृष्टि से मै उनसे दूर होता चला जा रहा हूं। अक्सर व

अपनी राजनैतिक हलचलों में अपनी सहज वृत्ति से, जो गलती नहीं करती थी, काम लेते थे। अच्छा और फायदेमन्द काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है, लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है ? कुछ वक्त के लिए तो यह फायदेमन्द हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा ?

और मैं यह नहीं समझ सका कि वह वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी बुनियाद हिंसा और संघर्ष पर है, कैसे मंजूर कर लेते हैं, जैसाकि वह मंजूर करते हुए दीखते हैं ? मेरे अन्दर जोर से संघर्ष चलने लगा, और मैं दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओं की चक्की में पिसने लगा। मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहारदीवारी से बाहर निकलूँगा, तब भविष्य में मेरे सामने मुसीबत ही खड़ी मिलेगी। मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूँ, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और हड़बड़ाहट में डालनेवाला देश मालूम होने लगा। क्या यह मेरा कुसूर था कि मैं अपने मुल्कवालों की स्पिरिट और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका ? मुझे मालूम हुआ कि अपने गहरे-से-गहरे साथियों के और मेरे बीच में एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी हो गई है, और उसको पार करने में अपने-आपको असमर्थ पाकर मैं दुःखी हो गया और मन मसोस कर बैठ गया। उन सब पर मानों पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचारधाराओं, पुरानी आशाओं और पुरानी इच्छाओं की दुनिया ने अपना आवरण डाल रक्खा था। नई दुनिया का निर्माण होना तो अभी बहुत दूर था।

> दो लोकों के बीच भटकना,
> आश्रय की कुछ आस नहीं,
> मरी पड़ी है एक दूसरे में
> उठने की शक्ति नहीं।'

हिन्दुस्तान, सब बातों से ज्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिख और दूसरे लोग अपने-अपने मतों का अभिमान रखते हैं, और एक-दूसरे के सिर फोड़कर उनकी सचाई का सुबूत देते हैं। हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में मजहब के, और कम-से-कम मौजूदा रूप में संगठित मजहब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है. मैंने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड़-मूल से

' मूल अंग्रेजी पद्य निम्नप्रकार है --

> Wandering between two worlds, one dead
> The other powerless to be born
> With nowhere yet to rest his head

मिटा देने तक की ख्वाहिश की है। मुझे तो प्राय-हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्ध-विश्वास और प्रतिगामिता, जड सिद्धान्त और कट्टरपन, मिथ्या-विचार और शोषण और स्थापित स्वार्थों के सरक्षण का ही नाम मजहब है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि उसमे और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज भी है जो इन्सानों की गहरी आन्तरिक आकाक्षा को भी पूरा करती है। वरना उसका इतनी जबरदस्त ताकत बनना जैसाकि वह बना हुआ है कैसे मुमकिन था, और उससे बेशुमार पीड़ित आत्माओं को शान्ति और विश्राम कैसे मिल सकते थे? क्या वह शान्ति सिर्फ अन्ध-विश्वास की छाया या शका के अभाव का बहाना ही था? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र के तूफानो से बचकर किसी बन्दरगाह मे मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी? कुछ बातो मे तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का सगठित मजहब तो ज्यादातर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तत्त्व नही है। श्री जी० के० चेस्टरटन ने इसके लिए (अपने खास तरह के मजहब के लिए नही, मगर दूसरा के लिए!) भूगर्भ मे पाये जानेवाले ऐसे 'फॉसिल' की उपमा दी है, जो किसी ऐसे जानवर या सजीव वस्तु का सिर्फ ढाचामात्र है कि जिसके अन्दर से उसका अपना जीवित तत्त्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन जिसका ऊपरी पञ्जर रह गया है और जिसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज भर दी गई है। और, अगर किसी मजहब मे कोई महत्वपूर्ण चीज रह भी गई है तो, उसपर और दूसरी हानिकर चीजो का आवरण चढ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वी मजहबो मे, और पश्चिमी मजहबो मे भी, हुई है। चर्च आफ इग्लैण्ड एक ऐसे मजहब की मिसाल है, जो किसी भी मानी मे मजहब नही है। किसी हद तक, यही बात सारे सगठित प्रोटेस्टेण्ट मजहबों के बारे मे सही है, लेकिन इसमे सबसे आगे बढा हुआ चर्च आफ इग्लैण्ड ही है, क्योंकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[1]

१. हिन्दुस्तान मे चर्च आफ इग्लैण्ड तो प्राय. सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊँचे सरकारी मुलाजिम साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक है उसी तरह (हिन्दुस्तान के खजाने से) सरकार की तरफ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चैपलेन भी है। हिन्दुस्तान की राजनीति मे चर्च कुल मिलाकर एक रूढिवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आम तौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और सस्कृति से आम तौर पर बिलकुल

उसके बहुत-से अनुयायियों का चारित्र्य बेशक ऊँचे-से-ऊँचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की गरज को पूरा किया है, और पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस मजहब ने एशिया और अफ्रीका में अंग्रेजों की लुटेरी नीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेजों में एक गैरमामूली और रश्क करने योग्य भावना भरदी है कि हम हमेशा ठीक ही और सही काम करते हैं। इस बड़प्पन-भरी परमार्थ-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह खुद उसमें पैदा हुई है, यह मैं नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैण्ड के बराबर खुश-नसीब नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज मक्कार हैं—'परफ़ाइड एल्बियन' ना-वाक़िफ़ होते हैं और वे यह जानने की जरा भी तकलीफ़ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे गैरईसाइयों के पापों और कमजोरियों को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊँचे अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्ड्रूज से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा दोस्त नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमड़ती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई है। पूना के क्राइस्ट सेवा संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज हैं जिनके मजहब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और जो अपनी सारी बड़ी-बड़ी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

१० दिसंबर १९३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए कैंटरबरी के धर्माध्यक्ष ने १९१७ के माण्टेगु चेम्सफ़ोर्ड-सुधारों की प्रस्तावना का जिक्र करते हुए कहा था कि "कभी-कभी मुझे ख़याल आता है कि यह बड़ी घोषणा कुछ जल्दबाज़ी में कर दी गई है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता-पूर्ण प्रदर्शन कर दिया गया है, लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस नहीं लिया जा सकता।" [illegible] और ध्यान देने लायक़ बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति [illegible] ऐसा अनुदार दृष्टिकोण रखता है। जो चीज़ भारतीय लोकमत के अनुसार [illegible] नाकाफ़ी समझी गई, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद [illegible] घटनायें हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारता-[illegible]' [illegible] हैं। इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोषप्रद सिद्धान्त [illegible] और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, [illegible] [illegible] तक पहुँच जाता है उनके अन्दर सन्ताप [illegible] [illegible] न रहता होगा।

यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलजाम तो अंग्रेजो की कामयाबी प
हसद के सबब से लगाया जाता है, और निश्चय ही कोई दूसरे मुल्क भी इंग्लैंड
दोष नहीं निकाल सकते, क्योंकि उनके भी कारनामे इतने ही खराब है। जो ग
जानता हुआ भी मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-सग्रह नहीं
सकता, जैसा कि अंग्रेजो ने बार-बार दिखलाया है, ओर इसमे उसके खास तरह
'मजहब' ने जहाँ अपना स्वार्थ सधता हो वहाँ नीति-अनीति की चिन्ता करने
भावना को भोथरा करके उसे मदद दी है। दूसरी जातियो और राष्ट्रो ने अक्सर
अंग्रेजो से भी बहुत खराब काम किये है, लेकिन अंग्रेजो की बराबर वे अपनी स्वार्थ
साधना को गुण बनाने मे कामयाब नहीं हुए है। हम सभीके लिए यह बहुत आसा
है कि हम दूसरो के तिल के बराबर दोष को ताड के बराबर बता दे, लेकिन शाय
इस करतब मे भी अंग्रेज ही सबसे ज्यादा बढकर है।[1]

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नई परिस्थिति के मुताबिक बन जाने की कोशिश की, औ
दोनो दुनिया का ही ज्यादा-से-ज्यादा फायदा उठाना चाहा। जहाँतक इस दुनिया
ताल्लुक था वहाँतक तो वह खूब ही कामयाब हुआ, लेकिन मजहब की दृष्टि से
सगठित मजहब के रूप मे न घर का रहा न घाट का। और धीरे-धीरे मजहब
जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन केथोलिक मत इस नतीजे से
गया। क्योंकि वह पुरानी जड को ही पकडे रहा, और जबतक वह जड कायम रहेगी
तबतक वह भी फलता-फूलता रहेगा। पश्चिम मे आज वही एक अपने सीमित अर्थ
जिन्दा मजहब है। एक रोमन केथोलिक दोस्त ने जेल मे मेरे पास केथोलिक-मत प
कई पुस्तकें और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैंने उन्हे बडी दिलचस्पी से पढा था
उन्हे पढने पर मुझे लगा कि अब भी बहुत लोगो पर उसका बडा प्रभाव है। इस्ला
और प्रचलित हिन्दू-धर्म की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से रह

१. चर्च आफ इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्य
असर डालता है, इसकी हाल ही में एक मिसाल मेरे देखने में आई है। ७ नवम्ब
१९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेन्स में स्वागताध्यक्ष श्री ई
डी० डेविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि
हम सम्राट् के राजभक्त रहे, जो कि हमारे 'धर्म के सरक्षक' हैं।" लाजिमी तौर प
इसका मतलब है हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई
सी० एस०, पुलिस और सारे प्रस्तावित विधान के बारे में, जिसमें उनके विचारानुसा
हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन खतरे में पड सकते हैं, इंग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगों
की राय के साथ भी अपनी सहानुभूति जाहिर की थी।

मिल जाती है और भविष्य के जीवन के बारे में एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

मगर, मेरा खयाल है कि, इस तरह की सुरक्षितता चाहना मेरे लिए तो नामुमकिन है। मै तो खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हू, जिसमे चाहे जितनी आंधियां और तूफान हो, न मुझे पर-लोक की या मौत के बाद क्या होता है इसके बारे मे मुझे कोई दिलचस्पी नही है। इस जीवन की समस्याये ही मेरे दिमाग को भर देने के लिए काफी मालूम होती है। चीनियो की परम्परागत जीवन-दृष्टि, जो कि मूलत नैतिक है लेकिन फिर भी गैर-मजहबी या नास्तिकता का रग लिये हुए है, मुझे पसन्द आती है, हालॉकि जिस तरह वह अमल मे लाई जा रही है वह मुझे पसन्द नही है। मुझे तो 'ताओ' यानी मार्ग या जीवन के पथ मे दिलचस्पी है, मै चाहता हूं कि जीवन को समझा जाय, उसका त्याग नही बल्कि उसको अगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम मजहबी दृष्टिकोण इस दुनिया से ताल्लुक नही रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योंकि उसकी बुनियाद सिर्फ कुछ स्थिर और अपरिवर्तनीय मतो और सिद्धान्तो को बिना [illegible] किये स्वीकार कर लेने पर ही नही है, बल्कि वह मानसिक प्रवृत्ति, भावना और भावुकता पर भी आधारित है। वह, मै जिन्हे आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बाते समझता हूँ, उनसे बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान मे इस डर से कि शायद असलियत पूर्व-निर्धारित विचारो से मेल न खाय, असलियत से [illegible] आंखे बन्द कर लेता है। वह सकुचित है, और दूसरी तरह की रायो या खयालात को बरदाश्त नही करता। वह आत्म-मर्यादित और अहकारपूर्ण है, और अक्सर [illegible] और स्वार्थ-परस्तो को अपनेसे बेजा फायदा उठाने देता है।

इसके मानी यह नही है कि मजहब को माननेवाले अक्सर ऊंचे-से-ऊंचे नैतिक और [illegible] ढग के लोग नही हुए है, या अभी भी नही है। लेकिन इसके यह मानी [illegible] कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरी दुनिया के पैमाने से न [illegible] दुनिया के पैमाने से नापना हो तो मजहबी दृष्टिकोण अवश्य ही [illegible] [illegible] और आध्यात्मिक प्रगति मे सहायता नही देता बल्कि बाधा [illegible] [illegible] तौर पर, मजहब ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या व्यक्तिगत [illegible] [illegible] बन जाता है, और मजहबी आदमी समाज की भलाई की बनिस्बत [illegible] [illegible] ज्यादा फिक्र करने लगता है। रहस्यवादी अपने [illegible] [illegible] करता है, और इस कोशिश मे अक्सर [illegible] [illegible] है। नैतिक पैमानो का ताल्लुक समाज की [illegible] [illegible]

लेकिन उनका आधार पाप के निहायत गूढ आध्यात्मिक उसूलो पर हो जाता है ओर, सगठित मजहब तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस त लाजिमी तोर पर परिवर्तन ओर प्रगति के लिए एक विरोधी प्रतिगामी श बनता है ।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनो मे ईसाई मजहब ने गुलाम लोगो को अ सामाजिक दर्जा सुधारने मे मदद नही दी थी । ये गुलाम ही योरप के मध्यकालीन मे, आर्थिक परिस्थितियो के कारण, भू-स्वामियो के क्रीत-दास बन गये । मजहब रुख, दो सो वर्ष पहले तक (१७२७ मे), क्या था, यह अमेरिका के दाक्षिणी उपनिवे के दास-स्वामियो को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र पर से मालूम सकता है ।[१]

विशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरि सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धो से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यो मे जरा भी तबदीली नही आती मगर इन मामलो मे 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' मे रहते है जिस अवस्था मे वे पहले थे ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनु के 'काम', 'क्रोध' और तीव्र 'वासना' के प्रदेश से है । मगर, उनकी बाहरी हाल बपतिस्मा दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले जैसी गुलाम या आजाद थी उस वह किसी भी तरह की तबदीली नही करता ।"

आज कोई भी सगठित मजहब इतने साफ ढग से अपने खयालात जाहिर करेगा, लेकिन मिल्कियत और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख मुख्य यही होगा ।

यह सभी जानते है कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन और उनका भाव अक्सर बहुत जुदा-जुदा समझा जाता है । किसी भी भाषा मे भि भिन्न लोग किसी भी दूसरे शब्द का इतना भिन्न-भिन्न भावार्थ नही समझते जित कि मजहब का (या उन भिन्न-भिन्न भाषाओ मे इसके समान किसी शब्द का) 'मजहब' शब्द को पढने या सुनने से शायद किन्ही भी दो मनुष्यो के मन मे एक-से विचार या भाव-समूह पैदा नहीं होगे । इन विचारो या भावो मे, रिवाजो या रस्म के, धर्म-ग्रन्थो के, मनुष्यो के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तो के नीति-नियमो, आदर, प्रेम, भय, घृणा, दान, त्याग, वैराग्य, उपवास, भोज, प्रार्थना,

१. यह पत्र रेनहोल्ड नेबुहर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) मे दिया हुआ है । यह किताब बडी ही दिलचस्प और विचार-प्रेरक है ।

पुराने इतिहास, शादी गमी, परलोक, दंगों और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातों के विचार और भाव शामिल हैं। इन असंख्य प्रकार के ख़यालों और अर्थों के कारण दिमाग में ज़बरदस्त गड़बड़ी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज़ भावुकता भी उमड़ पड़ेगी, जिससे अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। 'मज़हब' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ (अगर कभी था, तो) अब बिलकुल नहीं रहा है, और जब अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका इस्तेमाल होता है तब तो वह सिर्फ़ गड़बड़ी ही उत्पन्न करता है और उससे बहस और बातचीत का कभी ख़ात्मा ही नहीं हो सकता। बहुत ज़्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का इस्तेमाल ही कतई छोड़ दिया जाय और उसके बजाय ज़्यादा महदूद मानी रखनेवाले लफ़्ज़ इस्तैमाल किये जायँ, जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, नीति नियम, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वगैरा। यों तो ये शब्द भी काफ़ी अस्पष्ट हैं, लेकिन ये 'मज़हब' की बनिस्बत बहुत परिमित अर्थ रखते हैं। इनमें यह बड़ी सहूलियत है कि अभीतक इन शब्दों के साथ उतनी भावुकता और भावना नहीं लग पाई है जितनी कि 'मज़हब' के साथ लग चुकी है।

तो, मज़हब (इस लफ़्ज़ की ज़ाहिरा हानियों के बावजूद उसीका इस्तेमाल कर, तो) क्या चीज़ है ? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति और एक ख़ास दिशा में, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होना चाहिए यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय ही होगा। लेकिन जहाँतक मैं समझता [illegible] मज़हब इसी आन्तरिक परिवर्तन पर ज़ोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को उस आन्तरिक विकास का ही एक अंग या रूप मानता है। इसमें शक नहीं हो सकता कि [illegible] आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ता है। मगर, [illegible] साथ ही यह भी ज़ाहिर है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी [illegible] असर पड़ता है। दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और प्रतिक्रिया भी [illegible] रहती है। यह सब जानते हैं कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशों में आन्त-[illegible] विकास से बाहरी विकास बहुत ज़्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नहीं [illegible], जैसा कि पूर्वीय देशों के कई लोग शायद ख़याल करते हैं कि चूंकि हम [illegible] बातों में पीछे हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है इसलिए हमारा [illegible] विकास उनसे ज़्यादा हो गया है। यह एक मिथ्या-विचार है जिससे हम [illegible] दिल लेते हैं और अपने छोटे-पन की भावना पर हावी होने की [illegible] [illegible] कहा जाता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थिति से और हालत से ऊपर

लेकिन उनका आधार पाप के निहायत गूढ आध्यात्मिक उसूलो पर हो जाता है और, सगठित मजहब तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस त लाजिमी तौर पर परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी प्रतिगामी शक्ति बनता है ।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनो मे ईसाई मजहब ने गुलाम लोगो को अप सामाजिक दर्जा सुधारने मे मदद नही दी थी । ये गुलाम ही योरप के मध्यकालीन य मे, आर्थिक परिस्थितियो के कारण, भू-स्वामियो के क्रीत-दास बन गये । मजहब रुख, दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ मे), क्या था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवे के दास-स्वामियो को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र पर मे मालूम ह सकता है ।[१]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने मे नागरि सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धो से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यो मे जरा भी तबदीली नही आती मगर इन मामलो मे 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' मे रहते है जिस अवस्था मे वे पहले थे ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनु के 'काम', 'क्रोध' और तीव्र 'वासना' के प्रदेश से है । मगर, उनकी बाहरी हाल बपतिस्मा दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले जैसी गुलाम या आजाद थी उस वह किसी भी तरह की तबदीली नही करता ।"

आज कोई भी सगठित मजहब इतने साफ ढग से अपने खयालात जाहिर करेगा, लेकिन मिल्कियत और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख मुख्य यही होगा ।

यह सभी जानते है कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन और उनका भाव अक्सर बहुत जुदा-जुदा समझा जाता है । किसी भी भाषा मे भि भिन्न लोग किसी भी दूसरे शब्द का इतना भिन्न-भिन्न भावार्थ नही समझते जित कि मजहब का (या उन भिन्न-भिन्न भाषाओ मे इसके समान किसी शब्द का) 'मजहब' शब्द को पढने या सुनने से शायद किन्ही भी दो मनुष्यो के मन मे एक-से ही विचार या भाव-समूह पैदा नही होगे । इन विचारो या भावो मे, रिवाजो या रस्मा के, धर्म-ग्रन्थो के, मनुष्यो के एक समुदाय-विशेप के, कुछ निश्चित सिद्धान्तो के और नीति-नियमो, आदर, प्रेम, भय, घृणा, दान, त्याग, वैराग्य, उपवास, भोज, प्रार्थना,

१. यह पत्र रेनहोल्ड नेबुहर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) मे दिया हुआ है । यह किताब बड़ी ही दिलचस्प और विचार-प्रेरक है ।

पुराने इतिहास, शादी गमी, परलोक, दगो और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातो के विचार और भाव शामिल है। इन असख्य प्रकार के खयालो और अर्थों के कारण दिमाग मे जबरदस्त गडबडी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज भावुकता भी उमड पडेगी, जिससे अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। 'मजहब' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ (अगर कभी था, तो) अब बिलकुल नही रहा है, और जब अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थों मे उसका इस्तेमाल होता है तब तो वह सिर्फ गडबडी ही उत्पन्न करता है और उससे बहस और बातचीत का कभी खात्मा ही नही हो सकता। बहुत ज्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का इस्तेमाल ही कतई छोड दिया जाय, और उसके बजाय ज्यादा महदूद मानी रखनेवाले लफ्ज इस्तैमाल किये जायँ, जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, नीति नियम, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वगैरा। यो तो ये शब्द भी काफी अस्पष्ट है, लेकिन ये 'मजहब' की बनिस्बत बहुत परिमित अर्थ रखते है। इनमे यह बडी सहूलियत है कि अभीतक इन शब्दो के साथ उतनी भावुकता और भावना नही लग पाई है जितनी कि 'मजहब' के साथ लग चुकी है।

तो, मज़हब (इस लफ्ज की जाहिरा हानियो के बावजूद इसीका इस्तैमाल करे, तो) क्या चीज़ है ? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति और एक खास दिशा मे, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय ही होगा। लेकिन जहाँतक मै समझता हूँ, मज़हब इसी आन्तरिक परिवर्तन पर जोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अग या रूप मानता है। इसमे शक नही हो सकता कि इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बडा जबरदस्त असर पडता है। मगर, इसके साथ ही यह भी जाहिर है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पडता है। दोनो का एक-दूसरे पर प्रभाव पडता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते है कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशो मे आन्तरिक विकास से बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नही निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशो के कई लोग शायद खयाल करते है, कि चूँकि हम कल-कारखानो मे पीछे हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज्यादा हो गया है। यह एक मिथ्या-विचार है जिससे हम अपनेको तसल्ली दे लेते है, और अपने छोटे-पन की भावना पर हावी होने की कोशिश करते है। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थिति और हालतो मे ऊपर

उठ सके, और ऊंचे आन्तरिक विकास पर पहुंच सके। लेकिन बहुत लोगों और राष्ट्र के लिए तो, आन्तरिक विकास होने से पहले, किसी हद तक बाहरी विकास के होने की जरूरत है। जो आदमी आर्थिक परिस्थितियों का शिकार है, और जो जीवन-मार्ग की बंदिशों और रुकावटों से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊंचे दरजे की आत्म-चेतनता प्राप्त कर सके। जो वर्ग पददलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नहीं कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप में दूसरे पराधीन है और बन्धनों मे पड़ा परिस्थितियों से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति में कामयाब नहीं हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आजादी और अनुकूल परिस्थिति की जरूरत होती है। इस बाहरी आजादी के हासिल करने, और परिस्थिति को इस तरह बदलने के लिए कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें हट जायँ, यह वाञ्छनीय है कि साधन ऐसे इस्तेमाल किये जायँ जिनसे असली उद्देश्य ही न नष्ट हो जाय। मैं समझता हूँ कि जब गांधीजी कहते हैं कि उद्देश्य से साधन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। मगर साधन ऐसे जरूर होने चाहिए जो कि उस उद्देश्य तक पहुँचा दें, नहीं तो उनसे सारी शक्ति ही बरबाद होगी, और उससे शायद भीतरी और बाहरी दोनों तरह का पतन ही ज्यादा होगा।

गांधीजी ने कहीं लिखा है कि—"कोई भी आदमी धर्म के बगैर जिन्दा नहीं रह सकता। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी अक्ल की शेखी में कहते हैं कि हमें धर्म से कोई ताल्लुक नहीं है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी सांस तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नहीं है।" फिर वह कहते हैं—"सत्य के प्रति मेरी लगन ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खींचा है। और मैं बगैर किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूँ, कि वे लोग जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई ताल्लुक नहीं है, यह समझते ही नहीं कि धर्म का क्या अर्थ है।" शायद अगर वह ऐसा कहते कि, ज्यादातर वे लोग जो जीवन और राजनीति में से मजहब को निकाल डालना चाहते हैं 'मजहब' शब्द से उसके अर्थ से बहुत भिन्न कोई दूसरा अर्थ निकालते हैं, तो यह ज्यादा सही होता। यह साफ जाहिर है कि वह 'मजहब' शब्द को उसके समालोचकों की बनिस्बत बहुत भिन्न भाव में—शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक—ग्रहण कर रहे हैं। एक ही शब्द को भिन्न भिन्न अर्थों में इस तरह इस्तेमाल करने में एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

मजहब की एक और बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिसमें कि मजहबी लोग

सहमत न होंगे, प्रोफेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय मे मजहब "वह चीज है जो जीवन या अस्तित्व के एक-एक करके और बदलते रहनेवाले प्रसगो या घटनाओ को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है", या दूसरी तरह से कहे तो, "जो प्रवृत्ति उसके व्यापक और स्थायी महत्त्व के विश्वास के कारण बाधाओ के विरोध मे भी और व्यक्तिगत नुकसान होने की आशका होने पर भी एक आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जारी रक्खी जाती है, वह धार्मिक स्वरूप की है।" अगर मजहब यही चीज है, तब तो निश्चय ही उसपर किसीको भी ऐतराज नही हो सकता।

रोम्याँ रोलाँ ने भी मजहब का ऐसा मतलब निकाला है जिससे शायद सगठित मज़हब के कट्टर लोग खौफ खा जायँगे। परमहस 'रामकृष्ण के जीवनचरित्र' मे वह लिखते है —

" ... 'बहुत-से व्यक्ति ऐसे है जो सभी तरह के मजहबी विश्वास से बरी है, या उनका खयाल है कि वे बरी है, लेकिन दर-असल वे एक अति-बौद्धिक चेतना की हालत मे डूबे रहते है, जिसे वे समाजवाद, कम्यूनिज्म, जीव-दया-वाद, राष्ट्रीयता, या बुद्धिवाद भी कहते है। विचार की वस्तु से नही, किन्तु विचार की उच्चता या गुण मे उसका उद्गम निश्चित होता है। और हम यह तय कर सकते है कि वह मजहब से उत्पन्न होता है या नही। अगर वह विचार हर तरह की मुसीबत सहकर, एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ निर्भयता-पूर्वक जाता है, तो मै उसे मज़हबी ही कहूँगा। क्योकि, मजहब के अन्दर यह विश्वास शामिल ही है कि इन्सानी कोशिश का उद्देश्य मौजूदा समाज के जीवन से ऊँचा, और सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सोलहो आना सच्ची बलवती प्रकृतियो से निकलती है, और जब वह कमजोरी का नही बल्कि ताकत का एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के मार्च मे शामिल हो जाती है।"

मै नही कह सकता कि मै रोम्याँ रोलाँ की इन शर्तो को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तो पर तो इस महान् सेना का एक नम्र अनुयायी बनने को मै तैयार हूँ।

४८

ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी नीति'

यरवडा-जेल से, और बाद मे बाहर से, गाधीजी के नेतृत्व मे हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश की अडचने दूर करने के लिए बडा भारी आन्दोलन खडा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली मे भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया कि काग्रेस के एक बडे नेता दिल्ली मे असेम्बली के मेम्बरो के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश बिल के पक्ष मे राये माँग रहे थे। खुद गाधीजी ने भी उनके जरिये असेम्बली के मेम्बरो के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय भग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे, काँग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमे से निकलकर चले आये थे। जो मेम्बर वहाँ बच गये, और वे लोग जो खाली हुई जगहो मे चुनकर आ गये थे, उन्होने इस सकट-काल मे काग्रेस की मुखालिफत करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सो की असाधारण धाराओ को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी कानून की शक्ल मे पास कर देने मे इन लोगो के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होने ओटावा का समझोता मजूर कर लिया था, और दिल्ली, शिमला और लन्दन मे बड़े प्रभुओ के साथ दावते उडाई थी। वे हिन्दुस्तान मे अग्रेजो की हुकूमत की प्रशसा करने मे शामिल हो गये थे, और हिन्दुस्तान मे 'दो-रुखी' नामक नीति की कामयाबी की प्रार्थना करते थे।

उस समय की परिस्थिति मे गाधीजी के अपील निकालने से मै हैरत मे पड गया। और इससे भी ज्यादा मै राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशो से चकित हुआ, जो कि कुछ ही हफ्ते पहले काँग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामो से सविनय भग को नुकसान पहुँचा, लेकिन मुझे तो इसके नैतिक पहलू से ज्यादा चोट पहुँची। मेरी निगाह मे गाधीजी या किसी भी काग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुसंख्यक लोग जेल मे थे या लडाई चला रहे थे, उनके साथ करीब-करीब विश्वासघात ही था। लेकिन मै जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस वक्त और बाद मे मन्दिर-प्रवेश बिल की तरफ सरकार का रुख आंख खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थको के रास्ते मे हर तरह की कठिनाइयां डाली। वह उसको मुलतवी करती चली गई, और उसके विरोधियो को प्रोत्साहन देती गई,

और अखीर में उसपर अपना विरोध जाहिर करके उसका खात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान में सामाजिक सुधार की सभी कोशिशों की तरफ किसी-न-किसी हद तक उसका यही रुख रहा है, और मजहब में दखल न देने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की जरूरत नहीं कि इसमें वह हमारी सामाजिक बुराइयों की नुक्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरों को प्रोत्साहित करने से बाज नहीं आई। एक इत्तफाक से ही शारदा का बाल-विवाह-निरोधक बिल कानून बन गया था, लेकिन इस बदकिस्मत कानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज्यादा यह जाहिर हो गया कि इस तरह के कानूनों की पाबन्दी कराने में सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातों-रात आर्डिनेन्स पैदा कर सकती थी, जिनमें अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गये और जिनमें एक के कुसूरों के लिए दूसरों को सजायें दी जा सकती थीं और जिनके भंग करने के कारण वह हजारों लोगों को जेल भेज सकती थी, वही सरकार शारदा एक्ट सरीखे अपने नियमित कानून की पाबन्दी कराने के खयाल से स्पष्टतः दुबकने लगी। इस कानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ़ गई। क्योंकि लोगों ने छः महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि कानून में बहुत ही बेवकूफी से रख दी गई थी, फायदा उठाने की एकदम जल्दी की। और फिर यह मालूम हो गया कि कानून तो बहुत कुछ एक मज़ाक ही है, और आसानी से उसका भंग हो सकता है और सरकार उसमें कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ से उसके प्रचार की जरा भी कोशिश नहीं की गई, और देहात के ज्यादातर लोगों को यह भी पता न लगा कि यह कानून क्या है। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान प्रचारकों से, जो खुद भी सही वाकयात शायद ही जानते हों, उसका तोड़ा-मरोड़ा हुआ हाल सुना।

जाहिर है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक बुराइयों के प्रति ब्रिटिश सरकार ने सहिष्णुता की यह जो असाधारण वृत्ति दिखाई है, वह उन बुराइयों के लिए किसी पक्षपात के कारण नहीं है। यह तो सही है कि वह इनको दूर करने की ज्यादा परवा नहीं करती, क्योंकि ये बुराइयाँ उनके हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने और उसका सब तरह शोषण करने के कार्य में रुकावट नहीं डालतीं। लेकिन सुधारों की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र में काफी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नहीं है कि वह अपनी मुसीबतों को और बढ़ा ले। मगर इन पिछले दिनों से समाज-सुधारकों की दृष्टि में स्थिति और भी खराब होती जा रही है, क्योंकि अंग्रेज लोग इन बुराइयों के ज्यादा-ज्यादा मौन आश्रयदाता होते जा रहे हैं। यह उनके हिन्दुस्तान

के सबसे प्रतिगामी लोगो के गहरे सम्बन्ध मे आने के कारण हो रहा है । ज्यो-ज्यो उनकी हुकूमत के प्रति मुखालिफत बढती जाती है, त्यो-त्यो उन्हे अजीब-अजीब मार्ग ढूँढने पडते हैं । आज हिन्दुस्तान मे अंग्रेजी हुकूमत के सबसे जबरदस्त हिमायती उग्र सम्प्रदायवादी और मजहबी प्रतिगामी और जागृति-विरोधी लोग है । मुस्लिम साम्प्रदायिक सगठन तो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर दृष्टि से प्रतिगामी मजहूर ही है । उसका मुकाबिला हिन्दू-महासभा करती है, लेकिन मुसलमानो को भी इस पीछे जाने की दौड मे मात करनेवाले सनातनी है, जिनमे मजहबी दकियानूसीपन बहुत तेज है, और उसके साथ-ही-साथ दमकती हुई या कम-से-कम बुलन्द आवाज से चिल्लाई जाने वाली ब्रिटिश-राजभक्ति भी है ।

अगर ब्रिटिश-सरकार सुस्त थी, और उसने शारदा-कानून का प्रचार करने और उसकी पाबन्दी कराने की कोई कार्रवाई न की, तो कॉंग्रेस या दूसरी गैरसरकारी सस्थाओ ने उसके पक्ष मे प्रचार क्यो नही किया ? अंग्रेज और दूसरे समालोचको ने अक्सर यह सवाल किया है । जहाँतक कॉंग्रेस का ताल्लुक है, वह तो पिछले पन्द्रह साल से, खासकर १९३० से , ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन-मरण की भीषण लडाई लड रही है । दूसरी सस्थाओ मे असली ताकत या जनता तक पहुँच नही है । आदर्श और चरित्रबल और जनता पर असर रखनेवाले स्त्री-पुरुष तो कॉंग्रेस मे आ गये थे, और ब्रिटिश जेलखानो मे जीवन बिता रहे थे ।

दूसरी सस्थाये कुछ चुने हुए लोगो द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्राय नही बढी । वे शरीफाना तरीके से, या अखिल-भारतीय महिला-सघ की तरह जनाने तरीके से ही, काम करती थी, और उनमे आक्रामक प्रचार की वृत्ति नही थी । इसके अलावा, वे भी आर्डिनेन्सो और उनके बाद के कानूनो द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियो के भयकर दमन से कुछ भी नही कर सकती थी । फौजी कानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सभ्यता को और निहायत सभ्य प्रवृत्तियो को भी निर्जीव-सा कर देता है।

मगर कॉंग्रेस और दूसरे गैर-सरकारी सगठन क्यो ज्यादा सामाजिक सुधार नही कर सकते, इसका असली सबब और भी गहरा है । हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसीपर हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जबतक हमे राजनैतिक आजादी न मिलेगी तबतक वह उसीमे लगता भी रहेगा । जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने कहा है—"पराजित राष्ट्र नासूर के बीमार की तरह होता है, वह और किसी बात का खयाल नहीं कर सकता " । वास्तव मे किसी भी राष्ट्र मे राष्ट्रीय आन्दोलन से बढकर कोई अभिशाप नही होता, जोकि दबाई हुई प्राकृतिक क्रिया का

एक दु:खदायी लक्षण मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड़ में अपना स्थान खो बैठते हैं, क्योंकि वे इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों से छुटकारा पाने की कोशिश करें।"

पिछला तजुर्बा भी हमें बताता है कि मौजूदा हालतों में चुने हुए मिनिस्टरों के हाथ में जाहिरा तौर पर कुछ महकमों के बदल दिये जाने के बावजूद प्रायः हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नहीं कर सकते। सरकार की जबरदस्त अकर्मण्यता रूढ़ि-प्रेमियों के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढ़ियों से ब्रिटिश सरकार ने लोगों की खुद काम करने की आदत को कुचल दिया है, और वह एक तंत्री ढंग से, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, मा-बाप की तरह से हुकूमत करती है। गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा किसी भी बड़े काम का किया जाना वह पसन्द नहीं करती, और उसमें छिपे इरादों का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के संगठनकर्त्ताओं ने हालाँकि हर तरह एहतियात से काम लिया है, लेकिन फिर भी वे वक्तन फवक्तन सरकारी कर्मचारियों के संघर्ष में आ ही गये हैं। मुझे यकीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज्यादा इस्तैमाल करने का राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहों पर सरकार के संघर्ष में आ जायगा।

मेरा खयाल है कि अगर शासन सामाजिक सुधार के मामले को हाथ में लेले, तो जनता को उसके माफिक बना लेना मुश्किल नहीं है। मगर विदेशी हाकिमों पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरों को अपनी राय का बनाने में वे ज्यादा कामयाब नहीं हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जायें, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बड़े सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

मगर जेल में हमारे दिमागों में सामाजिक सुधार और शारदा-कानून और हरिजन आन्दोलन के ही विचार नहीं भरे हुए थे, सिवा इस हद तक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय भंग के रास्ते में आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ़ गया था। मई १९३३ के शुरू में सविनय भंग छः हफ्तों के लिए मुल्तवी कर दिया गया था, और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता में हम रहे। इस मुल्तवी होने से तो आन्दोलन पर आखिरी प्रहार ही हो गया, क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ उठक-बैठक का खेल नहीं खेला जा सकता, न वह जब मर्जी आवे तब चालू और जब मर्जी आवे तब बन्द की जा सकती है। मुल्तवी होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व में बहुत सी कमजोरी और प्रभावहीनता आ गई थी। कई छोटी-छोटी कान्फ्रेन्से हो रही थीं,

ओर तरह-तरह की अफवाहे फैल रही थी, जिनसे सक्रिय कार्य होने मे रुकावट पड़ती थी। कॉग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट बडे सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लडाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज्यादती करना था। उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये है और इस मुश्किल स्थिति से निकलना चाहते है। इस अस्थिरता और अनिश्चय के खिलाफ ऊँचे हलको मे बेचैनी थी, लेकिन उसको सगठित रूप से जाहिर नही किया जा सकता था, क्योंकि सभी कॉग्रेसी सस्थाये गैर-कानूनी थी।

इसके बाद गाधीजी का इक्कीस दिन का उपवास, उनका जेल मे छूटना, और छ हफ्ते तक सविनय भग का मुल्तवी किया जाना यह सब हुआ। उपवास खत्म हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फिर तन्दुरुस्त हुए। जून के मध्य मे सविनय भग की मौकूफी की मोहलत छ हफ्ते के लिए और बढा दी गई। इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान द्वीपो मे राजनैतिक कैदी (बगाल मे जिन्हे क्रान्तिकारी हिसा के लिए सजा दी जाती थी वे वहाँ भेजे जाते थे) जेल-बर्ताव के सवाल पर भूख-हडताल कर रहे थे, और उनमे से एक या दो तो भूखे रह-रहकर मर भी गये थे। हिन्दुस्तान मे जिन लोगो ने अण्डमान मे जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओ मे भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हे सजाये दे दी गई। भले ही कैदी, भूख-हडताल के सिवा विरोध जाहिर करने का दूसरा रास्ता न मिलने पर, भूख की भयकर अग्नि-परीक्षा मे से गुजरते हुए मर जायँ, लेकिन हमे सिर्फ तकलीफे ही बरदाश्त नही करना चाहिए था, बल्कि हमे शिकायत भी नही करनी चाहिए थी। कुछ महीने बाद सितम्बर १९३३ मे (जबकि मै जेल से बाहर था) बहुत-से दस्तखतो से एक अपील निकली थी, जिसमे अण्डमान के कैदियो के साथ ज्यादा मनुष्योचित्त बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान मे बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ० एण्डरूज और दूसरे कई मशहूर लोगो के भी दस्तखत थे, जिनमे ज्यादातर कॉग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग थे। इस बयान पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बडी नाराजगी जाहिर की, और कैदियो के साथ हमदर्दी जाहिर करने के लिए उसपर दस्तखत करनेवालो की सख्त समालोचना की। बाद मे, जहाँतक मुझे याद आता है, बगाल मे ऐसी हमदर्दी जाहिर करना भी एक जुर्म करार दे दिया गया।

सविनय भग की छ हफ्ते की मौकूफी की दूसरी मोहलत पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल मे, हमे खबर मिली कि गाधीजी ने पूना मे एक अनियमित कान्फ्रेंस बुलाई थी। वहाँ दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गाधीजी की सलाह से सामूहिक

सविनय भंग बिलकुल मुल्तवी कर दिया गया, और व्यक्तिगत सविनय भंग की इजाजत खुली रक्खी गई, और सब तरह के गुप्त तरीके बन्द कर दिये गये। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्तीदायक नहीं थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे उनपर खास एतराज नहीं हुआ। सामूहिक सविनय भंग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था, क्योंकि वस्तुतः उन दिनों सामूहिक सविनय भंग था ही नहीं। और, गुप्त काम भी इसका एक बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे हैं, और अक्सर उससे अपने आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहस-हीनता भी पैदा होती थी। किसी हद तक तो, हिदायतें भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह जरूरी भी था, लेकिन खुद सविनय भंग तो गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था ?

मुझे जिस बात से ताज्जुब और दुःख हुआ, वह यह थी, कि पूना में मौजूदा परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे में कोई असली चर्चा नहीं हुई। कांग्रेसवाले करीब दो साल की भीषण लड़ाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठा हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया में और हिन्दुस्तान में बहुत-सी घटनायें हुई थीं, जिनमें 'व्हाइट पेपर' का प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमें ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना दी हुई थी। इस अर्से में हमें तो मजबूरन चुप रहना पड़ा था, और दूसरी तरफ असली सवालों को छिपाने के लिए लगातार और झूठा प्रचार होता रहा था। न सिर्फ सरकार के हिमायतियों ने ही, बल्कि लिबरल और दूसरे लोगों ने भी, अक्सर यह कहा था कि कांग्रेस ने स्वाधीनता का अपना लक्ष्य छोड़ दिया है। मेरे खयाल से हमें कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर जोर देते, हम उसे फिर साफ कर देते, और अगर मुमकिन होता तो उसमें सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी बढ़ा देते। इसके बजाय बहस शायद सिर्फ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय भंग अच्छा है या व्यक्तिगत, और गुप्तता रखना ठीक है या नहीं। सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी। जहाँतक मुझे याद है, गांधीजी ने वाइसराय से मुलाकात मांगने के लिए एक तार भेजा, जिसका जवाब वाइसराय की तरफ से इन्कारी में आया, और फिर गांधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमें कि 'सम्मान-युक्त सुलह' की कोई बात कही गई थी। लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहाँ, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने में कामयाब हो रही थी और अण्डमान में लोग भूखे रह-रहकर अपनी जानें दे रहे थे ? लेकिन मैं जानता था कि, नतीजा कुछ भी हो, गांधीजी का यह तरीका रहा है कि वह हमेशा अपनी तरफ से समझौते का पूरा मौका देते हैं।

दमन पूरे जोरो पर था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियो को दबानेवाले सारे वि
कानून लागू थे। फरवरी १९३३ मे मेरे पिताजी की मृत्यु की सालाना यादगार
की जानेवाली एक सभा को पुलिस ने मना कर दिया, हालाकि वह गैर-कांग्रेसी मी
थी और उसका सभापतित्व करनेवाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे अच्छे मांडरेट
और मानो भविष्य मे मिलनेवाले उपहारो की पूर्व-सूचना देने के लिए हमे 'व्हा
पेपर' की सौगात दी जा रही थी।

यह एक अनोखा कागज था, जिसको पढकर चकित रह जाना पडता था। इस
मुताबिक, हिन्दुस्तान एक वढी-चढी हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जायगी, और
मे देशी-राज्यो के प्रतिनिधियो का ही ज्यादा बोलबाला रहेगा। लेकिन खुद रियास
मे कोई भी बाहरी दखल बरदाश्त न किया जायगा, और पूरी तरह से एकतन्त्री
वहाँ जारी रहेगी। साम्राज्य की अमली कडियाँ, कर्जे की जजीरे, हमे हमेशा लन्
शहर के साथ बाँधे रहेगी, और एक रिजर्व बैंक के जरिये मुद्रा की और आर्थिक नी
भी बैंक आफ इग्लैण्ड के नियन्त्रण मे रहेगी। सब स्थापित स्वार्थो की हिफाजत के लि
अटूट दीवारे खडी हो जायँगी, और और भी नये स्थापित स्वार्थ पैदा कर दिये जाय
इन स्थापित स्वार्थों के फायदे के लिए हमारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रहन रा
गई थी। हमे स्व-शासन की अगली किस्तो की तालीम देने के लिए साम्राज्य के उ
पदो पर, जिनको हम इतना चाहते है, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा। प्रान्ती
स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था मे रखनेवाला एक दयालु और
सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबसे ऊपर रहेगा सबसे बडा डिक्टेटर वाइसराय,
जिसे जो मर्जी मे आवे सो करने और जिस बात को चाहे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता
होगी। सच है, उपनिवेशो की हुकूमत के लिए अग्रेज शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का
परिचय कभी नही दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी
खूब स्तुति कर सकते है, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी ईर्ष्या की दृष्टि से देख
सकते है।

ऐसा विधान तैयार करके, कि जिसमे हिन्दुस्तान के हाथ-पैर पूरी तरह से बा
दिये गये थे, उसमे कुछ जायद हथकडियो के तौर पर 'खास जिम्मेदारियाँ'
और सरक्षण भी रख दिये गये, जिससे कि यह बदकिस्मत मुल्क एक ऐसे कैदी
मानिन्द हो गया कि जो जरा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री नेविल चेम्बरलेन
ने कहा था, "उन्होने सारी ताकत लगाकर योजना मे ऐसे सब सरक्षण रख दिये
जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग मे आ सकती थी।"

इसके बाद, हमे यह भी कहा गया कि इन उपहारो के लिए हमे भारी का

ना पडेगा—शुरू मे एक-मुश्त कुछ करोड, और फिर सालाना रकम। स्वराज का रदान हमे काफी रकम दिये वगैर नही मिल सकता था। हम तो इस धोखे मे ही डे हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्रता-ग्रस्त देश है और अव भी उसपर वहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और उसे कम करने के लिए ही हम आजादी की तलाश मे थे। आज़ादी के लिए जनता इसी प्रेरणा से तैयार हुई थी। लेकिन अव तो मालूम हुआ कि वह वोझा और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हल हमे सच्ची अग्रेजो जेसी ही वज़ादारी के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे हाकिम कितने फय्याज़-दिल है। किसी भी साम्राजवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी रैयत के लिए अपनी खुशी से ऐसे अख्त्यारात और मौके नही दिये थे। ओर इग्लैण्ड मे इसके देनेवालो मे और इसपर ऐतराज करनेवालो मे, जो इस भारी फय्याज-दिली से खोफ खा रहे थे, वडी भारी बहस-वाजी हुई। तीन साल मे हिन्दुस्तान और इग्लैण्ड के बीच वारबार वहुत लोगो के आने और जाने का, तीन गोलमेज-कान्फ्रेन्सो का, और वेशुमार कमिटियो और मशविरो का यह नतीजा था।

मगर, इग्लैण्ड की यात्राये तो अव भी खत्म नही हुई थी। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमिटी 'व्हाइट पेपर' पर फैसला देने के लिए बैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमे असेसरो या गवाहो की तरह से गये। लन्दन मे और भी कई तरह की कमिटियाँ वैठ रही थी, और इन कमिटियो की मेम्बरी, जिसके मानी थे इग्लैण्ड जाने और लन्दन मे ठहरने का मुफ्त खर्चा मिलना, हासिल करने के लिए भीतर-भीतर वडी भद्दी छीना-झपटी हुई थी। वडे-वडे दिलेर लोगो ने, जिनके हौसले 'व्हाइट पेपर' की निराशापूर्ण तजवीज़ो से भी ठण्डे नही पडे थे, अपनी सारी वक्तृत्व-कला और लुभा लेने की शक्ति से 'व्हाइट-पेपर' की तजवीजो को वदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा की मुसीवतो का और लन्दन शहर मे ठहरने के और भी ज्यादा खतरो का मुकाविला करने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे और कहते थे कि प्रयत्न मे कुछ दम तो दिखाई नही देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले न थे, और चाहे उनकी कोई न सुने तो भी वह अपनी बात तो वरावर कहते ही रहेगे। उनमे से एक व्यक्ति, जोकि प्रति-सहयोगियो का एक नेता था, सवके चले जाने पर भी ठेठ अन्त तक टिका ही रहा, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहता है, वह लन्दन के नेताओं से मुलाकात-पर-मुलाकात लेता रहा, और उनके साथ दावत-पर-दावत उडाता रहा। ओर आखिरकार जव वह अपने देश मे लौटा तव प्रतीक्षा करनेवाले लोगो से

उसने कहा कि मराठो की प्रसिद्ध दृढता को कायम रखते हुए मैने अपना काम-धंधा छोड दिया और विलकुल अन्त तक भी अपनी वात कहने के लिए मै लन्दन मे ठहरा रहा।

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि प्रति-सहयोगी मित्रो मे मजाक का गुण नही होता। अपनी कुछ मजाक-भरी वातो से, जो प्रति-सहयोगियो को विलकुल पसन्द नही आती थी, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियो से) अक्सर झगडा हो जाता था, और फिर उन्हे उनको समझाना पडता था और तसल्ली देनी पडती थी, जोकि एक वडा थका देनेवाला काम था। मैने सोचा कि मराठो मे लडने की कितनी वढिया स्पिरिट रही है, जो सिर्फ भूतकाल मे ही नही वल्कि वर्तमान मे भी हमारी राष्ट्रीय लडाइयो मे प्रकट हो रही है, और महान् निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आती थी, जो टूक-टूक भले ही हो जायँ लेकिन झुकना न जानते थे।

लिवरल व्हाइट-पेपर को विलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान मे दिन-व-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वें पसन्द नही करते थे, और कभी-कभी, हालाकि वहुत कम वार, उन्होने इसका विरोध भी किया था, लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि वे कॉग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते है। सरकार को मौके-वेमौके वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह किसी वडे कॉग्रेसी को जेल से रिहा करदे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियो को जानते थे उन्हीके विषय मे सोच सकते थे। लिवरलो और प्रति-सहयोगी लोगो की दलील यह होती थी कि चूँकि अव सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई खतरा नही है इसलिए अव अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड देना चाहिए। और अगर फिर भी वह व्यक्ति वेजा काम करे तो सरकार उसको दुवारा गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक औचित्य-पूर्ण होगा। इग्लैण्ड मे भी कुछ लोगो ने इसी दलील की विना पर कार्य समिति के कुछ मेम्बरो या खास व्यक्तियो की रिहाई की पैरवी करने की महरवानी दिखाई थी। जव हम जेलो मे पडे हुए थे। तव हमारे मामलो मे जिन्होने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए विना नही रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमे यह भी महसूस होता था कि अगर ये भले आदमी हमे हमारे ही ऊपर छोड देते तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना मे हमे शक न था, लेकिन यह जाहिर था कि उन्होने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को ही ग्रहण कर रक्खा था, और उनके और हमारे वीच वहुत अन्तर था।

हिन्दुस्तान मे जो कुछ हो रहा था वह लिवरलो को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हे दुःख होता था, लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे? सरकार के खिलाफ कोई भी कारगर कदम उठाने का तो वे खयाल तक नही कर सकते थे। सिर्फ अपने

समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हे जनता से और सक्रिय लोगो से दूर-दूर ही हटना पडा, उन्हे नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पडा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा मे फर्क जानना मुश्किल हो गया। तादाद मे कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लडाई मे कोई फर्क न पड सका। मगर उनमे कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी जाती तौर पर इज्जत होती थी। लेकिन इन्ही नेताओ ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलो ने भी मजमुई तौर पर, सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन सकट के समय मे ब्रिटिश सरकार की अपार सेवा की। सरकार के बल-प्रयोगो को और कानून को बालायताक रख देने की कार्रवाई को भी लिबरलो के द्वारा कारगर समालोचना के अभाव मे और मौके-ब-मौके उनकी तरफ से उसे दी गई मान्यता और समर्थन से फायदा मिला। इस तरह ऐसे समय मे जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व बलप्रयोग को मुनासिब बताना मुश्किल हो रहा था, उसको लिबरलो और प्रति-सहयोगियो ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेताओ ने कहा कि व्हाइट-पेपर खराब है—बहुत ही खराब है; लेकिन अब उसके लिए करे क्या? अप्रैल १९३३ मे कलकत्ता मे लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमें श्री श्रीनिवास शास्त्री ने, जोकि लिबरलो के सबसे प्रख्यात नेता है, समझाया कि वैधानिक-परिवर्तन कितने भी असतोप-जनक क्यो न हो, हमे उनको काम मे लाना ही चाहिए। उन्होने कहा कि "यह ऐसा वक्त नही है जबकि हम एक ओर खडे रहे और अपने सामने सब कुछ योही हो जाने दे।" जाहिर है कि, उनके खयाल मे सिर्फ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम मे लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होने कहा—"अगर हममे समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को माइल करने और चुपचाप असर डालने की कुव्वत और असली कार्यदक्षता है, अगर हममे ये गुण है, तो उन्हे पूरी तरह से दिखलाने का यही अवसर है।" इस वक्तृत्वपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बडे "प्रभावपूर्ण शब्द" थे।

श्री शास्त्री हमेशा लम्बे-चौडे भाषण देते है, और वक्ताओ की तरह सुन्दर शब्दो के और उनके सुरीले उपयोग का उन्हे शौक है। मगर वह अपने उत्साह मे बह भी जाते है, और शब्दो का जो इन्द्रजाल वह खडा करते है वह उनका मतलब दूसरो के लिए और शायद खुद उनके लिए भी धुँधला कर देता है। उन्होने अप्रैल १९३३ मे, कलकत्ता में, सविनय भग के चालू रहते हुए, जो यह अपील की थी उसकी जरा जाँच करनी चाहिए। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दे, तो भी

उसने कहा कि मराठों की प्रसिद्ध दृढ़ता को कायम रखते हुए मैंने अपना काम-धंधा छोड़ दिया और बिलकुल अन्त तक भी अपनी बात कहने के लिए मैं लन्दन में ठहरा रहा।

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि प्रति-सहयोगी मित्रों में मजाक का गुण नहीं होता। अपनी कुछ मजाक-भरी बातों से, जो प्रति-सहयोगियों को बिलकुल पसन्द नहीं आती थीं, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियों से) अक्सर झगड़ा हो जाता था, और फिर उन्हें उनको समझाना पड़ता था और तसल्ली देनी पड़ती थी, जोकि एक बड़ा थका देनेवाला काम था। मैंने सोचा कि मराठों में लड़ने की कितनी बढ़िया स्पिरिट रही है, जो सिर्फ भूतकाल में ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी हमारी राष्ट्रीय लड़ाइयों में प्रकट हो रही है, और महान् निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आती थी, जो टूक-टूक भले ही हो जायँ लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल व्हाइट-पेपर को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान में दिन-ब-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नहीं करते थे, और कभी-कभी, हालांकि बहुत कम बार, उन्होंने इसका विरोध भी किया था, लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि वे कॉंग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते हैं। सरकार को मौके-बेमौके वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह किसी बड़े कॉंग्रेसी को जेल से रिहा करदे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियों को जानते थे उन्हींके विषय में सोच सकते थे। लिबरलों और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूँकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई ख़तरा नहीं है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। और अगर फिर भी वह व्यक्ति बेजा काम करे तो सरकार उसको दुबारा गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक औचित्य-पूर्ण होगा। इंग्लैण्ड में भी कुछ लोगों ने इसी दलील की बिना पर कार्य समिति के कुछ मेम्बरों या खास व्यक्तियों की रिहाई की पैरवी करने की महरबानी दिखाई थी। जब हम जेलों में पड़े हुए थे। तब हमारे मामलों में जिन्होंने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमें यह भी महसूस होता था कि अगर ये भले आदमी हमें हमारे ही ऊपर छोड़ दें तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना में हमें शक न था, लेकिन यह जाहिर था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को ही ग्रहण कर रक्खा था, और उनके और हमारे बीच बहुत अन्तर था।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह लिबरलों को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हें दुःख होता था, लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे? सरकार के खिलाफ कोई भी कारगर क़दम उठाने का तो वे ख़याल तक नहीं कर सकते थे। सिर्फ अपने

समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हे जनता से और सक्रिय लोगो से दूर-दूर ही हटना पडा, उन्हे नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पडा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा मे फर्क जानना मुश्किल हो गया। तादाद मे कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लडाई मे कोई फर्क न पड सका। मगर उनमे कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी जाती तौर पर इज्जत होती थी। लेकिन उन्ही नेताओ ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलो ने भी मजमुई तौर पर, सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन सकट के समय मे ब्रिटिश सरकार की अपार सेवा की। सरकार के बल-प्रयोगो को और कानून को बालायताक रख देने की कार्रवाई को भी लिबरलो के द्वारा कारगर समालोचना के आभाव मे और मोके-ब-मोके उनकी तरफ से उसे दी गई मान्यता और समर्थन से फायदा मिला। इस तरह ऐसे समय मे जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व बलप्रयोग को मुनासिब बताना मुश्किल हो रहा था, उसको लिबरलो और प्रति-सहयोगियो ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेताओ ने कहा कि व्हाइट-पेपर खराब है—बहुत ही खराब है, लेकिन अब उसके लिए करे क्या? अप्रैल १९३३ मे कलकत्ता मे लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमे श्री श्रीनिवास शास्त्री ने, जोकि लिबरलो के सबसे प्रख्यात नेता है, समझाया कि वैधानिक-परिवर्तन कितने भी असतोष-जनक क्यो न हो, हमे उनको काम मे लाना ही चाहिए। उन्होने कहा कि "यह ऐसा वक्त नही है जबकि हम एक ओर खड़े रहे और अपने सामने सब कुछ योही हो जाने दे।" जाहिर है कि, उनके खयाल मे सिर्फ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम मे लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होने कहा—"अगर हममे समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को माइल करने और चुपचाप असर डालने की कुव्वत और असली कार्यदक्षता है, अगर हममे ये गुण है, तो उन्हे पूरी तरह से दिखलाने का यही अवसर है।" इस वक्तृत्वपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बडे "प्रभावपूर्ण शब्द" थे।

श्री शास्त्री हमेशा लम्बे-चौडे भाषण देते है, और वक्ताओ की तरह सुन्दर शब्दो के और उनके सुरीले उपयोग का उन्हे शौक है। मगर वह अपने उत्साह मे बह भी जाते है, और शब्दो का जो इन्द्रजाल वह खडा करते है वह उनका मतलब दूसरो के लिए और शायद खुद उनके लिए भी धुँधला कर देता है। उन्होने अप्रैल १९३३ मे, कलकत्ता मे, सविनय भग के चालू रहते हुए, जो यह अपील की थी उसकी जरा जाँच करनी चाहिए। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दे, तो भी

उसमे दो वाते गौर के काबिल दिखाई देती है। पहली वात तो यह कि कुछ भी न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारी कितनी भी तौहीन, दमन, अपमान, रक्त-ञ क्यो न होता हो, हमे उसको मानना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नहीं बनाई सकती जिसके बाहर हम हरगिज न जावे। एक जरा-सा कीडा भलेही एक मुकाबिला करने पर अमादा हो जाय, लेकिन श्री शास्त्री की सलाह पर च हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नही कर सकते। उनकी राय के मुताबिक इसके सिवा रास्ता ही नही है। इसका मतलब यह है कि जहाँतक उनका ताल्लुक है, ि सरकार के फैसले के सामने झुक जाना और उसे मजूर कर लेना उनका धर्म (मै इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूँ) हो गया है। ओर हम चाहे या न हमारी किस्मत मे उसको मान लेना ही बदा है

यह गौर करने की वात है कि वह किसी निश्चित और जानी हुई परिस्थिति पर अपनी राय नही दे रहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालाकि सबको यह काफी तौर पर मालूम था कि वे बहुत बुरे होगे। अगर उन्होने यह कहा होता कि, ''हालाकि 'व्हाइट-पेपर की तजवीजे' खराब है, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हीको कानून का रूप दे दिया जाय तो मै उनको काम मे लाने के हक मे हूँ,'' तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा वाकयात से सबद्ध तो होती। लेकिन श्री शास्त्री तो बहुत आगे बढ गये ओर उन्होने कहा कि आनेवाले वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोष-जनक हो, फिर भी उनकी सलाह तो वही रहेगी। राष्ट्र की दृष्टि मे जो सबसे ज्यादा जरूरी वात थी, उसके बारे मे वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना जरा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी उसूल या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल खाली न हो और शासको के फरमानो की हमेशा ताबेदारी करना ही उसका ध्येय और नीति न हो, तब-तक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है ?

दूसरी जिस बातकी तरफ मेरा ध्यान जाता ह, वह है शुद्ध युक्ति-कौशल की। नये सुधारो के कानून बनने की लम्बी मजिल मे व्हाइट-पेपर तो सिर्फ एक सीढी ही थी। सरकार की निगाह मे वह एक जरूरी सीढी थी, लेकिन अभी तो कई सीढिया बाकी थी, और मञ्जिले-मकसूद तक जाते-जाते मुमकिन था उसमे आगे, अच्छी या बुरी, कई तबदीलिया हो जाती। इन तबदीलियो का आधार जाहिरा यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना दबाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी मे यह समझा जा सकता था कि हिन्दुस्तान के लिबरलो को

अपनी तरफ मिलाने की इच्छा से सरकार पर कुछ असर पडता और उससे वह योजनाओ को जरा और उदार बनाती या कम-से-कम उसमे कोई कमी तो न करती। लेकिन नये सुधारो की मजूरी या नामजूरी, या उन्हे काम मे लाने या न लाने का सवाल उठने से बहुत पहले ही श्री शास्त्री की ज़ोरदार घोषणा ने सरकार को यह साफ बता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिबरलो की परवा नही करनी चाहिए। अब उन्हे अपनी तरफ मिलाने का सवाल ही नही रहा। चाहे उन्हे धक्का देकर भी बाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोडेगे। इस मामले मे, भरसक लिबरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री शास्त्री का कलकत्तेवाला भाषण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक था, और उससे लिबरल-पक्ष को भी नुकसान पहुँचा।

मैने श्री शास्त्री के पुराने भाषण पर इस कारण इतना ज्यादा लिखने की धृष्ठता नही की है कि वह भाषण या लिबरल फेडरेशन का जलसा असल मे कोई महत्व रखते थे, लेकिन इसलिए कि मै समझना चाहता हूँ कि लिबरल नेताओ की मनोवृत्ति और विचार कैसे है। वे सुयोग्य और आदरणीय लोग है, फिर भी मै यह नही समझ पाया हूँ कि वे ऐसे काम क्यो करते है। श्री शास्त्री के एक और भाषण का भी, जिसे मैने जेल मे पढा था, मुझपर बहुत असर पडा। जून १९३३ मे वह पूना मे भारत-सेवक-समिति के, जिसके वह अध्यक्ष है, सामने बोल रहे थे। कहा जाता है कि उन्होने बतलाया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अग्रेजी प्रभाव हट जाय, तो यह ख़तरा हो सकता है कि राजनैतिक हलचलो की एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सताव और उसपर जुल्म करे। लेकिन इसके वखिलाफ ब्रिटिश राजनैतिक जीवन मे हमेशा सहिष्णुता की खासियत रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य ब्रिटेन के साथ-साथ रहते हुए जितना बन सकेगा, उतनी ही ज्यादा हिन्दुस्तान मे सहिष्णुता जारी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल मे रहने के कारण श्री शास्त्री के भाषण का जो मुख़्तसर हाल कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पडता है। 'स्टेट्समैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त है, और हम देखते है कि डाक्टर मुजे के भाषणो मे भी यही भाव रहा है।' कहा जाता है कि श्री शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी म भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहा बडी असहिष्णुता और जगलीपन से काम लिया जाता है।

जब मैने यह हाल पढा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध मे ब्रिटेन के 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनो मे तफसील के बारे मे बेशक फर्क है। लेकिन मूलत विचार-धारा एक ही

है। श्री विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासो के साथ किसी-किस्म की ज्यादती न कर
हुए ठीक ऐसी ही भाषा मे अपने खयालात जाहिर कर सकते थे। फिर भी, श्री शास्
लिबरल-पार्टी मे उग्र विचार के समझे जाते है, और उसके सबसे ज्यादा-गो
नेता है।

श्री शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या ससार के प्रश्नो पर उनकी राय से मै सहम
नही हूँ, खासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने मे मै बिल्
असमर्थ हूँ। शायद कोई विदेशी भी, जो अग्रेज न होगा, उससे सहमत न होगा।
शायद उन्नत विचारो के कई अग्रेज भी उनकी राय को न मानेगे। अग्रेजी शासक
रगीन चश्मो से दुनिया और अपने देश को देखना, यह उन्हीकी खुश-किस्मती है
फिर भी, यह गौर करने लायक बात है कि पिछले अठारह महीनो से जो गैर-माम्
वाकयात हिन्दुस्तान मे रोजाना हो रहे थे, और जो उनके भाषण के वक्त भी हो
थे, उनका उन्होने इसमे जिक्र तक नही किया। उन्होने रूस, इटली, जर्मनी का न
तो लिया, लेकिन उनके देश मे ही जो भयकर दमन और स्वतन्त्रता का दलन
रहा था उसका नाम तक नही लिया। मुमकिन है उन्हे वे सारे खौफनाक वाकयात
मालूम हो जो सीमा-प्रान्त मे हुए थे और बगाल मे हुए थे—जिनको राजेन्द्र
ने हाल मे कॉंग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण मे 'बग-भूमि पर बलात्क
कहा है—क्योकि सेन्सर के परदे ने सब वाकयात को छिपा रक्खा था। लेकिन
उन्हे भारत-भूमि का दु ख और जबरदस्त मुखालिफ के मुकाबिले मे हिन्दुस्तान
लोग जो जीवन और स्वतन्त्रता की लडाई लड़ रहे थे वह भी याद न रही ?
उन्हे पुलिस-राज का, जो बडे-बडे हिस्सो मे छाया हुआ था, फौजी कानून
परिस्थिति का, आर्डिनेन्सो, भूख-हडतालो और जेल के दूसरे कष्टो का हाल मा
न था ? क्या उन्होने यह महसूस न किया कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के
वह ब्रिटेन की तारीफ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान मे कुचल डाला है ?

वह कॉंग्रेस से सहमत थे या नही, इसकी परवा नही। उन्हे कॉंग्रेस की नीति
समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख्त्यार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के न
एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देशवासी स्त्री
पुरुष जो अद्भुत साहस और बलिदान दिखा रहे थे उसके प्रति उनके क्या विचार
जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के हृदय पर कुल्हाडी चला रहे थे, तब क्या उन्हे
और कष्ट नही मालूम होता था ? हजारो आदमी एक मगरूर साम्राज्य की जिस्म
ताकत के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा को झुकाने के ब
अपने शरीरो का कुचला जाना, अपने परिवारो का बरबाद हो जाना, और प्यारो

कष्ट उठाना ज्यादा पसन्द कर रहे थे। क्या वह इसका महत्व कुछ नही समझते थे? हम जेलो मे और बाहर हिम्मत रक्खे हुए थे, और हम हँसते थे और खुश थे, लेकिन हमारी प्रसन्नता तो आँसुओ मे से होकर निकलती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अग्रेज श्री वेरियर एलविन हमे बताते है कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे मे वह कहते है कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमागी बन्धनो को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लडाई मे ज्यादातर कॉंग्रेसी स्वय-सेवको ने आश्चर्यजनक अनुशासन बताया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ की है‥ ‥"

श्री श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और भावुक आदमी है, जिनकी उनके देशवासी बडी इज्जत करते है, और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लडाई मे उनके भी ऐसे ही विचार न हो और उन्हे भी अपने देशवासियो से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियो के दमन की निन्दा मे अपनी आवाज उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबमे ज्यादा दबाये हुए प्रान्तो—बगाल और सीमा-प्रान्त—मे खुद जाते, इसलिए नही कि किसी भी तरह कॉंग्रेस या सविनय भग मे मदद दे, बल्कि अधिकारियो और पुलिस की ज्यादतियो को जाहिर करने और इस तरह उन्हे रोकने के लिए। दूसरे देशो मे आजादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते है। लेकिन ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुषो को पैरो-तले रौंद रही थी, और जब उसने रोजमर्रा की आजादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनाये हो रही है, कम-से-कम यही तलाश करने के बजाय, उन्होने ठीक ऐसे वक्त मे अग्रेजो को सहिष्णुता और आजादी के प्रमाण-पत्र दे देना पसन्द किया जबकि हिन्दुस्तान के अग्रेजी शासन मे ये दोनो गुण बिल्कुल ही नही रह गये थे। उन्होने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य मे उनका हौसला बढाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यकीन है कि उसका यह तात्पर्य नही रहा होगा, या उन्हे यह खयाल नही रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा इसमे तो शक नही हो सकता। तो, इस तरह उन्हे विचार और कार्य क्या करना चाहिए था?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नही मिला है कि लिबरल

नेताओ ने अपने-आपको अपने देशवासियो और समस्त आधुनिक विचारो से बिल्कु
दूर कर लिया है । जिन पुराने ढग की किताबो को वे पढते है, उन्होने उनकी निगा
से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमे एक तरह से अपनी
खूबियो पर मरने की आदत पैदा हो गई है । हम लोग जेलो मे गये और हमारे शरी
कोठरियो मे बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग आजाद फिरते थे और हमारा होसर
दबा नही था । लेकिन उन्होने तो अपने ढग का दिमागी कैदखाना खुद ही बना लि
था, जहा वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा करते थे और उसमे निकल नही सकते थे
वे 'मौजूदा हालात' के ही ईश्वर की पूजा करते थे, और जब हालात बदल ग
जैसाकि इस परिवर्तनशील दुनिया मे होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार र
न कम्पास; दिमाग और जिस्म दोनो बेकार हो गये, न उनके पास आदर्श रहे
नैतिक नाप । इन्सान को या तो आगे जाना पडेगा या पीछे हटना पडेगा । हम इ
गतिशील ससार मे एक ही जगह खडे नही रह सकते । परिवर्तन और प्रगति मे डर
के कारण, लिबरल अपने आस पास के तूफानो को देखकर भयभीत हो गये, हाथपै
से कमजोर होने के कारण आगे न बढ सके, और इसलिए वे लहरो मे इधर-उ
उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हे मिल जाता था उसीका सहारा लेने की
कोशिश करते रहे । वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गये, 'तरह-तरह
विचारो की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड गये'; हमेशा सदेह, हिचकिचा
और अनिश्चय मे पडे रहे ।

> अय ईर्ष्यारत दुष्ट ! मेल का समय कहाँ अब,
> लगा सदा मै रहा ठीक ही करने मे सब ![1]

'सर्वेण्ट आफ इण्डिया' नामक एक लिबरल अखबार ने सविनय भग-आन्दोल
के आखिरी दिनो मे कॉग्रेसी लोगो पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जे
जाना चाहते है, और जब वहाँ पहुँच जाते है तब फिर बाहर आना चाहते है । उस
कुछ चिढते हुए कहा कि यही एकमात्र कॉग्रेस की नीति है । स्पष्टत, इसके बदले
लिबरलो का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियो की सेवा मे इग्लैण्ड डेप्यूटेशन भेजना,
इग्लैण्ड मे शासक-दलो के परिवर्तन का इन्तजार करना और उसके लिए दुआ
माँगना ।

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनो कॉग्रेस की नीति खासकर यही

१ मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है :—

> "The time is out of joint O cursed spite !
> That ever I was born to set it right."

कि आर्डिनेन्स ओर दूसरे दमनकारी कानूनो को तोडा जाय, ओर इसकी सजा जेल थी। यह भी सच था कि कांग्रेस और राष्ट्र लम्बी लडाई के बाद थक गये थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नही डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नगा बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान मे किया जा रहा था, शासको के लिए बडा खर्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दु खदाई ओर घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, ओर वे अच्छी तरह जानते है कि अन्त मे इससे भी उनकी बुनियाद कमजोर पड जाती है। इससे जनता के सामने ओर सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप हमेशा प्रकट होता रहता है। इसके बनिस्वत वह यह बहुत ज्यादा पसन्द करते है कि अपने फौलादी पजे को छिपाने के लिए हाथ पर मखमली दस्ताना पहने रहे। जो लोग सरकार की इच्छाओ के सामने झुकना नही चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुकाबिला करने से बढकर रोषोत्पादक और अन्त मे हानिकर बात किसी भी शासन के लिए दूसरी नही है। इसलिए दमनकारी कानूनो का कभी-कभी भग होता रहना भी एक महत्व रखता था। उससे जनता की ताकत बढती थी, और सरकार के नैतिक बल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज्यादा जरूरी थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर थोरो ने लिखा है कि, "ऐसे समय मे जबकि स्त्री और पुरुष अन्यायपूर्वक जेल मे डाले जाते हो, तब न्यायी स्त्री-पुरुषो का स्थान भी जेल ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगो को न जँचे, लेकिन हममे से कई लोग ऐसा महसूस करते है कि मौजूदा हालत मे, जब कि सविनय भग के अलावा भी हमारे कई साथी हमेशा जेल मे रक्खे जाते है, और जबकि सरकार का बल-प्रयोजक तन्त्र निरन्तर हमारा दमन और हमारी बेइज्जती कर रहा है और हमारे लोगो के शोषण मे मदद दे रहा है, तब किसी के लिए नैतिक जीवन बिताना सम्भवनीय नही है। अपने ही देश मे हम सदिग्ध होकर आते-जाते है। हमपर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दो को इसलिए नोट किया जाता है कि वे कही राजद्रोह के व्यापक कानून को तोडते तो नही है, हमारी खतो-किताबत खोली और पढी जाती है, और हमेशा यह सम्भावना बनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह की मुमानियत लगा देगी या हमे गिरफ्तार कर लेगी। ऐसी हालत मे हमारे सामने दो ही रास्ते है—या तो सरकारी ताकत के मुकाबिले मे हमारे सिर बिलकुल झुक जायँ, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उससे इन्कार कर दिया जाय, और जिन प्रयोजनो को हम बुरा समझते है उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो, या

उसका मुकाबिला किया जाय, और उसका जो कुछ नतीजा हो वह बर्दाश्त किया जाय। कोई भी शख्स योंही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नहीं चाहता। मगर, अक्सर दूसरे रास्तों की बनिस्बत जेल जाना ही ज्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शा ने लिखा है, "जीवन में असली दुःख की बात सिर्फ यही है कि जिन उद्देश्यों को तुम पतन-पूर्ण समझते हो उन्हींके लिए स्वार्थी लोगों द्वारा तुम्हारा उपयोग हो। इसके सिवा और जो कुछ है वह तो सिर्फ बदकिस्मती या मृत्यु है, और एकमात्र यही है मुसीबत, गुलामी और दुनिया का दोजख है।"

४९

लम्बी सजा का अन्त

मेरी रिहाई का वक्त नजदीक आ रहा था। मुझे 'नेकचलनी' की मामूली छूट मिली थी, और इससे मेरी दो साल की मियाद मे से साढे तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शान्ति मे, या जेल-जीवन से जो आम दिमागी सुस्ती पैदा हो जाती है उसमे, रिहाई के खयाल ने खलल पैदा कर दिया। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी खुशी कम करदी। लेकिन वह भी क्षणिक भाव था, और मेरी लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता फिर उमडने लगी और मै बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त मे एक बहुत ही दर्दनाक और बेचैनी पैदा करनेवाली खबर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु हो गई। हम दोनो कई साल से कार्य-समिति मे सिर्फ गहरे साथी ही नही थे, बल्कि उनसे मुझे केम्ब्रिज के अपने गुरु के दिनो की भी याद आ जाया करती थी। हम दोनो सबसे पहले केम्ब्रिज मे ही मिले थे—मै तो नया दाखिल हुआ था और उन्होने उसी समय अपनी डिग्री हासिल की थी।

सेनगुप्त का देहान्त नजरबन्दी की हालत मे हुआ। १९३२ के शुरू मे जब वह योरप से लौटे थे, तो बम्बई मे जहाज पर ही वह शाही कैदी बना लिये गये थे। तभीसे वह कैदी या नजरबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती खराब हो गई। सरकार ने उन्हे कई तरह की सहूलियते दी, लेकिन वह बीमारी की रफ्तार को न रोक सकी। कलकत्ता मे उनकी अन्त्येष्टि के समय जनता ने खूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया, ऐसा दिखाई देता था कि बगाल की लम्बे अर्से मे दबी और कष्ट पाती हुई आत्मा को कम-से-कम थोडी देर के लिए प्रकट होने को मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त तो चल बसे। दूसरे शाही कैदी सुभाष बोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसो नजरबन्दी और कैद से बर्बाद हो गई थी, आखिरकार सरकार ने इलाज के लिए योरप जाने की इजाजत दे दी। लेकिन और भी कितने लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलो की शारीरिक थकावट को बरदाश्त न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे, या मर चुके थे! और कितने लोगो के, हाला-

कि ऊपर से उनमे बडी तबदीली दिखाई न देती थी, दिमागो मे उस गैर-मामूली जिन्दगी के कारण जो उन्हे जेल मे बितानी पडी थी गहरी मानसिक अव्यवस्था और विषमताये पैदा हो गई थी ।

सेनगुप्त की मृत्यु से बहुत साफ तौर पर मुझे मालूम होने लगा कि सारे देश भर मे कितना भयकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मैं निराश और उदास सा हो गया। यह सब किसलिए हो रहा है ? आखिर किसलिए ?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे मे मैं खुशकिस्मत था, और कांग्रेस की प्रवृत्तियो की मेहनत और अनियमित जीवन के होते हुए भी मै कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे खयाल से, इसका कुछ कारण तो यह था कि मुझे पैतृक रूप से ही अच्छा शरीर मिला था, और कुछ कारण यह भी था कि मैंने अपने शरीर की फिक्र रक्खी थी। बीमारी और कमजोरी और ज्यादा मुटापा मुझे बहुत भद्दा मालूम पडा, और कसरत, ताजा हवा और साधारण भोजन की मदद से मैं उनमे बच सका। मेरा अपना तजुर्बा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की बहुत-सी बीमारियाँ तो गलत भोजन से होती है। वे तरह-तरह के पक्वान्न और सो भी ज्यादा मिकदार मे खाते है। (यह बात उन्ही पर लागू होती है जिनकी ऐसी फजूलखर्च आदते रखने की हैसियत होती है।) लाड-प्यार करनेवाली माताये बच्चे को मिठाइयाँ और दूसरी बढिया कही जानेवाली चीजे ज्यादा खिला-खिलाकर जिन्दगीभर के लिए बदहजमी की पक्की नीव डाल देती है। बच्चे को कपडे भी बहुत-से पहना दिये जाते है। हिन्दुस्तान मे अग्रेज लोग भी बहुत ज्यादा खाते है, हालॉकि उनके खाने मे इतने पक्वान्न नही होते। शायद उन्होने पिछली पीढी से, जो गरम-गरम और तेज भोजन अधिक मात्रा मे किया करते थे उसमे, अब कुछ सुधार कर लिया है।

मैने शौकिया चीजे खाने की या भोजन-सबन्धी प्रयोग करने की तरफ कोई ध्यान नही दिया, और सिर्फ ज्यादा मिकदार और पकवानो से बचता रहा। करीब-करीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणो की तरह हमारा परिवार भी मासाहारी परिवार था, और बचपन से मै हमेशा मास खाता रहा था, हालॉकि मुझे उसका बहुत शौक कभी नही रहा। पर १९२० मे असहयोग के वक्त से मैंने मास छोड दिया, और मै शाकाहारी बन गया। इसके छ साल बाद योरप जाने पर मै फिर मास खाने लगा। मगर फिर हिन्दुस्तान आने पर मै शाकाहारी बन गया, और तबसे मै बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूँ। मास-भोजन मुझे अच्छी तरह माफिक पडता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है और तबीयत उसके खाने से कुछ कचवाती है।

मेरी बीमारियो के दौरान मे, खासकर १९३२ मे जेल मे जबकि कई महीने

तक रोजाना मुझे हरारत हो आया करती थी, मुझे बडा गुस्सा-सा आता था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुँचती थी। और मुझमें जीवन और शक्ति होने की अपनी सदा की धारणा के विरुद्ध, मैं पहली ही बार सोचने लगा, और मुझे खयाल आया, कि मेरी तन्दुरस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूँ, और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा खयाल है कि मैं मौत से खास तौर पर डरता नहीं हूँ। लेकिन शरीर और मस्तिष्क से धीरे-धीरे घुलते जाना दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर जरूरत से ज्यादा था और मैं अपनी अस्वस्थता से छूटने और अपने शरीर को काबू में लाने में कामयाब हुआ। जाड़े में बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपनेको तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी अपने कोटों और दुशालों में लिपटे हुए कॉंपा करते थे, मैं खुले बदन सूर्य-किरणों में बैठ जाया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज होती है।

मेरी कसरतों में मुझे खासकर शीर्षासन बहुत पसन्द आता था। मैं दोनों हाथों के पंजों को जोडकर उनपर सिर का पिछला हिस्सा रखकर और कोहनियों को ज़मीन पर टिकाकर बदन को सिर के बल उलटा करके खड़ा हो जाता था। मेरा खयाल है कि शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और मुझपर हुए उसके मानसिक प्रभाव के कारण भी मैं उसे पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ बेतुके आसन से मेरी तबीयत खुश हो जाती थी, और मैं मनुष्य की ऐसी तरह तरह की तरंगों के प्रति ज्यादा सहनशील हो गया था।

उदासी के दौरों को, जोकि जेल-जीवन में लाजिमी तौर पर आते ही हैं, पार करने के लिए मेरी आम तौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और अच्छा स्वास्थ्य होने की शारीरिक भावना ने बड़ी सहायता की। इनसे मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे हैं, जिनसे उस वक्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी उनसे बरी हो जाता था। मेरी राय में, मेरी मूलभूत शान्तता और स्वस्थता का एक सुबूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नहीं हुआ और न मुझे कभी नींद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की आम बीमारियों से और ऑंख की कमजोरी से भी बच गया हूँ, हालॉंकि मैं पढ़ने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की खराब रोशनी में भी ऑंखों का बहुत ज्यादा इस्तैमाल करता रहा। पिछले साल एक ऑंखों के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-

शक्ति पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना बहुत गलत निकला, और मैं अब भी बगैर चश्मे के अच्छी तरह काम चला रहा हूं। हालांकि इन बातों से मैं शान्त और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूं, लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि मैं उन लोगों से बहुत खौफ खाता हूं जो जब देखो तब हमेशा ही एक-से शान्त और गम्भीर बने रहते हैं।

जबकि मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तजार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय भंग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गांधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फैसला किया, और अधिकारियों को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानों में सविनय भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फौरन गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हें एक साल की सजा देदी गई और वह यरवडा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गये। मुझे खुशी हुई कि वह वापस वहाँ चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गांधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें मांगी जो उन्हें पहले मिली थीं। सरकार ने उन्हें देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गांधीजी ने फिर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी जबर्दस्त कार्रवाई के लिए हमें वह बहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नहीं कर सकते थे। असमंजस में पड़े हुए हम देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते बाद उनकी हालत तेजी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुँचा दिये गये थे, लेकिन वह कैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियतें देने के मामले में न झुकी। उन्होंने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासों में कायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नजदीक दीखने लगा। उन्होंने लोगों से विदाई लेली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीजों को भी इस-उसको बाँट देने का इन्तजाम कर दिया, जिनमें से कुछ नर्सों के लिए रहीं। लेकिन सरकार यह नहीं चाहती थी कि उनकी मौत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये। एक दिन और हो जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवतः सी० एफ० एण्ड्रूज़ को है, जो गांधीजी के मना करने पर भी हिन्दुस्तान जल्दी से आ गये थे।

इस बीच, २३ अगस्त को, मैं देहरादून-जेल से बदल दिया गया, और दूसरी जेलों

में करीब-करीब डेढ साल रहने बाद फिर नैनी-जेल में आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मैं नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योंकि मेरी मा की हालत खतरनाक समझी गई। मामूली तौर पर मैं अपनी मियाद खतम होने पर ज्यादा-से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

५०

गांधीजी से मुलाक़ात

जेल से रिहा होते ही मै अपनी बीमार मा के पास लखनऊ पहुंचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मै काफी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था और मुझे लगा कि मै आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग सा हो गया हूँ। मैने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा जैसा कि आमतोर पर होता ही है, कि जब मै जेल मे पडा-पडा सड रहा था, तो दुनिया आगे चली जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लडकिया और लडके बडे होते जा रहे थे, शादिया, पैदाइशे और मौते हो रही थी। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दु ख और सुख सब हो रहे थे। जीवन मे दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बाते हो गई थी, बातचीत के विषय नये हो गये थे, मै जो कुछ देखता और सुनता था, सबपर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाडी मे छोडकर दुनिया का जहाज आगे बढ गया था। यह भावना सब तरह सुखदायिनी नही थी। जल्दी ही इस स्थिति के माफिक मै अपनेको बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नही होती थी। मेरे दिल ने कहा कि जेल के बाहर सैर करने का मुझे यह तो थोडा-सा मौका मिला है और जल्दी फिर मुझे जेल मे ही जाना पड़ेगा, इसलिए जिस जगह से जल्दी चल ही देना है, उसके अनुकूल अपनेको बनाने की झझट क्यो मोल ली जाय ?

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान खामोश था। सार्वजनिक प्रवृत्तियो पर ज्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ्तारिया कभी-कभी हो जाया करती थी। मगर हिन्दुस्तान की उस वक्त की खामोशी बहुत मानी रखती थी। वह वैसी अशुभ खामोशी थी, जैसी कि भयकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है, जो खामोशी अक्सर प्रभाव के साथ बोलती है, लेकिन उसे दमन करनेवाली सरकार नही सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामो मे पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी। जाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के माफिक न हो, दबा दी जाती थी और देशभर मे खुफिया और छिपे कारिन्दो की बडी भारी फौज फैली हुई थी। लोगो मे आम तौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारो ओर आतक छा गया था। कोई भी राजनैतिक प्रवृत्ति, खासकर देहाती हलको मे हो तो, फौरन कुचल दी

जाती थी और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारे म्युनिसिपेलिटियो और लोकल वोर्डो मे से ढूंढ-ढूंढकर कॉग्रेसवालो को निकालने की कोशिश कर रही थी। हर शख्स, जो सविनय कानून भग करके जेल गया था, सरकार की राय मे म्युनिसिपल स्कूलो मे पढाने या म्युनिसिपेलिटी मे और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटी आदि पर वडा भारी दवाव डाला गया और ये धमकियाँ दी गई कि अगर कॉग्रेसवाले निकाले न जायँगे तो सरकारी इमदाद वन्द कर दी जायगी। इस वल-प्रयोग की सबसे वदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन मे हुई। आखिरकार, मेरा खयाल हे, सरकार ने एक कानून ही वना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियो को मुलाजिम नही रख सकता, जो राजनैतिक अपराधो पर सजा पा चुके हो।

जर्मनी मे नाजियो की ज्यादतियो की खबरो का हिन्दुस्तान के व्रिटिश अफसरो और उनके अखवारो पर एक विचित्र प्रभाव पडा। उन ज्यादतियो से उन्हे हिन्दुस्तान मे उन्होने जो कुछ किया था उस सवको उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होने मानो अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमे वताया, कि अगर यहा नाजियो की हुकूमत होती, तो हमारा हाल कितना ज्यादा खराव हुआ होता। नाजियो ने तो विलकुल नये पैमाने कायम कर दिये है, उन्होने नई व्यवस्था ही लिख डाली हे और उनका मुकाविला करना निश्चय ही आसान नही था। सम्भव है कि हमारा हाल ज्यादा खराव होता, लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योकि पिछले पाच वर्षो मे हिन्दुस्तान मे क्या-क्या हुआ, इसके सारे वाकयात मेरे पास नही है। हिन्दुस्तान की व्रिटिश सरकार ऐसे पुण्य मे विश्वास रखती है कि वाये हाथ से जो काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जॉच कराने की हर तजवीज को नामजूर कर दिया, हालॉकि ऐसी जाचो का पलडा हमेशा सरकारी पक्ष मे ही भारी हुआ करता है। मेरे खयाल से, यही सच है कि आसत अग्रेज वे-रहमी से नफरत करता है और मै ऐसे अग्रेजो की कल्पना नही कर सकता, जो नाज़ियो की तरह से "व्रूतैलितात" (पशुता या वेरहमी) लफ्ज को खुले तार पर कहने और उसे प्रेमपूर्वक दोहराने मे शान मानते हो। जव वे ऐसा काम कर भी डालते है, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा भी होते है। लेकिन चाहे हम जर्मन हो या अग्रेज हो या हिन्दुस्तानी हो, मेरा खयाल है कि सभ्यातापूर्ण व्यवहार का हमारा खाल इतना पतला है कि जव हमे रोप चढ आता है तो वह खुरचकर निकल जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नही लगता। महायुद्ध ने मनुष्यजाति को भयकर रूप से पाशविक वना दिया है, और उसके

रोध करके उसे भूखो मारा गया। एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि "यह एक मनम अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित जुर्म था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ के वाकयात हिन्दुस्तान भूला नही है। जब हमारे स्वार्थ खतरे मे पड जाते है, तब हम अपने सारे समाज-व्यवहार और और सारी शराफत को भूल जाते है और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, पशुता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'कानून और व्यवस्था' की रक्षा बन जाती है।

यह किन्ही व्यक्तियो या किसी खास जाति का दोष नही है। वैसी ही परिस्थितियो मे थोडा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान मे, और विदेशी हुकूमत के मातहत हर मुल्क मे, हुकूमत करनेवाली शक्ति के खिलाफ हमेशा एक मुस्त चुनौती खडी रहती है और वक्तन-फवक्तन वह ज्यादा प्रकट और तेज भी होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग मे हमेशा फौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते है। पिछले कुछ सालो मे हिन्दुस्तान मे हमे इन फौजी गुण-दोषो का दृश्य बहुत ही ज्यादा मिकदार मे देखने को मिला, क्योकि हमारी चुनौती जोरदार और कारगर हो गई थी। लेकिन हिन्दुस्तान मे हमे तो हमेशा ही फौजी मनोवृत्ति (या उसके अभाव) को सहन करना पडता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनो पक्षो का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज्यादा सूक्ष्म है, संकट-काल मे वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदकिस्मती से दोनो तरह का पतन भोगना पडता है।

जेल मे मुझे ऊँचे-ऊँचे अफसरो के भाषण, असेम्बली और कौसिलो मे उनके जवाब और सरकारी बयानात पढने की काफी फुरसत मिली। पिछले तीन सालो मे मैने देखा कि उनमे एक स्पष्ट तबदीली हो रही है, और यह तबदीली अधिक-अधिक प्रकट होती गई है। उनमे डराने और धमकाने का रुख ज्यादा-ज्यादा बढता गया और वह रुख ऐसा हो गया था मानो कोई सार्जेण्ट मेजर अपने मातहतो से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ मे, शायद मिदनापुर डिवीजन के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणो मे 'हम विजयी है, हम चाहे वह करेगे' की भावना लगातार रहती थी। गैर-सरकारी यूरोपियन तो, खास बंगाल मे, सरकारी लोगो मे भी आगे बढ जाते है और उनके भाषणो और क दोनो मे उन्होने बहुत निश्चित फासिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नंगी मिसाल थी हाल मे सिन्ध मे कुछ मृत्युदण्ड पाये हुए मुजरिमो को खुली फासी देना। क्योकि सिन्ध मे बढ रहे थे, इसलिए अधिकारियो ने तय किया कि इन मुजरिमो को सबके सामने फ

दी जाय, ताकि दूसरे भी आगाह हो जायँ। इस भयकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सुहूलियत दी गई और कहा जाता है कि कई हजार लोग गये भी थे।

जेल से रिहा होने के बाद, मैने हिन्दुस्तान मे राजनैतिक और आर्थिक हालत का मुआयना किया और मुझे उन्हे देखकर जरा भी उत्साह मालूम न हुआ। मेरे कई साथी जेल मे थे, नई गिरफ्तारियाँ जारी थी, सारे आर्डिनेन्स अमल मे आ रहे थे, सेन्सर-शिप से अखबारो का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफीअहमद किदवई को अपने पत्रो पर सेन्सर की लहरो के कारण बडा गुस्सा आया। उनके खत रोक लिये जाते थे या देर से आते थे या गुम ही हो जाते थे और इससे उनके काम-काज मे बडी रुकावट हो जाती थी। वह अपने पत्रो के बारे मे ज्यादा एहतियात से काम लेने की अपील सेन्सर मे करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नही था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफसर था, जो अपना काम गुप्त रूप से करता था, जिसका कि अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मजर भी नही किया गया था। रफीअहमद ने इस मुश्किल को इस तरह हल किया कि उन्होने सेन्सर के नाम एक खत लिखा, लेकिन उसपर खुद अपना पता लिखकर डाल दिया। निश्चय ही खत अपने ठीक मुकाम पर पहुँच गया और बाद मे रफीअहमद के पत्र-व्यवहार के बारे मे कुछ सुधार हो गया।

मै फिर वापस जेल जाना नही चाहता था। उससे मेरा पेट काफी भर गया था, लेकिन मुझे नही सूझता था कि मै उससे कैसे बच सकता था, जबतक कि मै सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड दूँ। मेरा यह इरादा न था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के सघर्ष मे आना ही पडेगा। किसी वक्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मै कोई खास काम न करूँ, और मेरी सारी प्रकृति किसी खास काम के लिए मजबूर किये जाने के खिलाफ बगावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगो को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मै लाचार था और बडे क्षेत्र मे कुछ नही कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मै जाती तौर पर डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

जेल वापस जाने से पहले मै कुछ मामले निवटा डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी मा की बीमारी की तरफ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधरती गई, लेकिन वह इतनी धीरे-धीरे सुधरी कि एक साल तक वह

हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-सुधार कर रहे थे। दो साल से ज्यादा अर्से में उनसे नहीं मिला था। ज्यादा-से-ज्यादा मै अपने प्रान्तीय साथियो से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि ससार की परिस्थिति पर और उन सब विचारो पर बातचीत करूं, जो मेरे दिमाग मे भरे हुए थे। उस वक्त मेरा खयाल था कि दुनिया बडी तेजी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम को बनाते वक्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घर के मामलो की तरफ भी मुझे ध्यान देना था। अभीतक मैंने उनकी तरफ कतई ध्यान नही दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके कागजात की देख-भाल भी नही की थी। हमने अपना खर्चा बहुत कम कर दिया था, लेकिन ताहम वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। फिर भी हम जबतक उस मकान में रहते, तबतक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नहीं रख रहे थे, क्योंकि उसका खर्च हम उठा नही सकते थे, और एक सबब यह भी था कि सरकार उसे कभी भी कुर्क कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयो के बीच मे, मेरे पास आर्थिक सहायता मांगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिंच जाता था। (सेन्सर ये पत्र मेरे पास ढकेल देता था।) एक बडा आम और गलत खयाल, खासकर दक्षिण भारत मे, यह फैला हुआ था कि मै कोई बडा दौलतमन्द आदमी हूं। मेरी रिहाई के बाद फौरन ही मेरी छोटी बहन कृष्णा की सगाई हो चुकी थी और मैं चिन्तित था कि जल्दी हो शादी जाय—इससे पहले कि मुझे जेल जाना पडे। कृष्णा खुद भी एक सालतक जेल काटकर कुछ ही महीने पहले छूटी थी।

जैसे ही मा की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मै गाधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालाकि वह कमजोर थे, लेकिन वह अच्छी प्रगति कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीतें हुई। यह साफ जाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणों में काफी फर्क था, लेकिन मैंने उनका अहसान माना कि उनसे जहांतक बना उन्होंने उदारता-पूर्वक मेरे दृषटिकोण से अधिक-से-अधिक नजदीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार मे, जो बाद मे प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग मे भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नो पर विचार किया गया था, और हालाकि उनका जिक्र कुछ गोलमोल भाषा मे हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य भेद तो साफ दीखता था। मुझे खुशी हुई कि गाधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थो को अस्थापित कर देना चाहिए, हालाकि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से

नही, बल्कि हृदय-परिवर्त्तन से होना चाहिए। चूकि मेरे खयाल से, उनके हृदय-परिवर्त्तन के तरीके भी नम्रता और विचार पूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न नही है, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक्त, पहले की ही तरह, मेरी उनके विषय मे यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तो पर विचार नही किया करते, तो भी घटनाओ के तार्किक परिणामो को देखकर, कदम-ब-कदम, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को मान लेगे। वह एक अजीब चीज है—श्री वेरियर एलविन के शब्दो मे वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओ के ढग के आदमी' है—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी है और उनकी नब्ज का सम्बन्ध हमेशा हिन्दुस्तान के किसानो के साथ है। सकट-काल मे वह किस दिशा मे मुड जायँगे, यह कहना मुश्किल था, लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जबरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह गलत रास्ते जावे, लेकिन हमेशा वह सीधा रास्ता ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर जरूरत होगी, तो अलग-अलग रास्तो से भी जाना पडेगा।

उस वक्त, मेरा खयाल था कि, यह सवाल नही उठता था। हम अपनी राष्ट्रीय लडाई के मध्य मे थे, और अभीतक सविनय भग ही सिद्धान्तत कॉंग्रेस का कार्यक्रम था, हालाकि व्यक्तियो तक ही उसकी सीमा बाँध दी गई थी। हमारी लडाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगो मे और खासकर अधिक राजनैतिक मनोवृत्ति रखनेवाले कॉंग्रेसी कार्यकर्त्ताओ मे फैलाने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौका आवे तो हम काफी आगे कदम बढाने को तैयार मिले। इस बीच कॉंग्रेस तो गैर-कानूनी सगठन था और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमे उस हमले का सामना करना था।

गाधीजी के सामने जो खास सवाल था, वह था व्यक्तिगत। उन्हे खुद क्या करना चाहिए? वह बडी उलझन में थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतो का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करे। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-बिल्लीवाली नीति के सामने उन्होने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा कि 'अगर मुझे उन सहूलियतो के लिए उपवास करना पडा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मै उपवास जारी रक्खूँगा।' इसके मानी थे आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सजा की मियाद तक (जिसमे मे अभी साडे दस महीने बाकी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवाये और सिर्फ हरिजन-कार्य मे ही अपने-आपको लगा दे, लेकिन साथ ही, वह कॉंग्रेस-कार्यकर्त्ताओ से मिलते

उन्होने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया, कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और उसे (उनके ही शब्दो मे) 'नई पीढी' के हाथो मे छोड दे ।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममे से कोई भी सिफारिश नही कर सकता था । तीसरा रास्ता भी, जब कि कांग्रेस एक गैर-कानूनी सस्था थी, ठीक मालूम नही हुआ । इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय भग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फौरन वापस ले ली जाती और फिर कानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पडता, या कांग्रेस गैर-कानूनी और सबसे, अब तो गाधीजी तक से, अकेली छोडी जाकर सरकार द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक गैर-कानूनी सस्था के, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नही कर सकती थी, किसी दल के कब्जे मे आने का सवाल ही नही पैदा होता था। इस तरह और रास्तो को छोडते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममे से ज्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय भग को एक भारी आघात पहुँचेगा । अगर नेता ही लडाई में से हट जायगा, तो यह सभव नही था कि बहुत उत्साही कॉंग्रेसी-कार्यकर्त्ता आग मे कूद पडे, लेकिन उलझन मे से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गाधीजी ने अपनी घोषणा कर दी ।

गाधीजी और मै, दोनो इस बात पर सहमत थे, हालॉकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय भग को वापस लेने का अभी वक्त नही आया है और चाहे आन्दोलन धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए । और, कुछ भी हो, मै लोगो का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तो और ससार की परिस्थिति पर भी खीचना चाहता था।

लौटते वक्त मैने कुछ दिन बम्बई मे बिताये। मेरी खुशकिस्मती से उदयशकर उन दिनो वही थे । मैने उनका नृत्य देखा । मैने इस मनोरजन से, जिसका पहले मे कोई खयाल नही था, बडा आनन्द उठाया । नाटक, सिनेमा, टॉकी रेडियो, ब्रॉडकास्टिंग— यह सब पिछले कई वर्षो से मै देख ही न सका था, क्योकि स्वतत्र रहने के वक्त भी मै दूसरी प्रवृत्तियो मे बहुत ज्यादा लगा रहता था । अभीतक मै सिर्फ एक बार ही टॉकी देख पाया हूँ, और बडे-बडे अभिनेताओ के मै सिर्फ नाम ही सुनता हूँ। मुझे नाटक देखने का अभाव खास तौर पर अखरता है और विदेशो मे नये-नये खेलो के तैयार होने का वर्णन मै बडे रश्क से पढता रहता हूँ । उत्तर हिन्दुस्तान मे, जेल से बाहर होने की हालत मे भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौका न था, क्योकि मै मुश्किल से उनतक पहुँच पाता था । मेरा खयाल है कि बगाली, गुजराती और मराठी नाटक-

साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंग-मंच ने, जो कि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योंकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नहीं मालूम, कुछ भी प्रगति नहीं की। मैंने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फ़िल्मे, मूक और सवाक्, दोनों में कला का प्राय अभाव ही रहता है। उनमें आम तौर पर सुरीले गानों या गजलों की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणों में से लिया हुआ होता है।

मेरे खयाल से, इनमें वह सब चीज मिल जाती है जिसकी शहर के लोग कद्र करते हैं। इन भद्दे और दु खदायी प्रदर्शनों में और साधारण जनता के अब भी बचे-खुचे संगीत, नृत्य और देहाती नाटकों तक की कला में अन्तर साफ दिखाई देता है। बंगाल में, गुजरात में और दक्षिण में कभी-कभी यह देखकर बड़ा आश्चर्य और आनंद होता है, कि मूलत, लेकिन अनजान में, देहात के लोग कितने कलामय हैं। लेकिन मध्यम-वर्गों का हाल ऐसा नहीं है। उनकी तो मानो जड़ों का ही पता नहीं है, और उनके पास सौंदर्य या कला की कोई परम्परा नहीं रही है, जिसे वे पकड़े रहें। वे जर्मनी और ऑस्ट्रिया में बहुतायत से बने हुए सस्ते और बीभत्स चित्रों को रखने में ही अपनी शान समझते हैं, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते हैं। संगीत में उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज-सरकार के शुरुआती कामों में एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे।) लेकिन दर्दनाक भद्दापन और कला के सब सिद्धान्तों के भंग की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों के घरों में दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने को पैसा होता है और और दिखावा करने की ख्वाहिश, और ऐसा ही वे करते भी हैं, और जो लोग उनके यहाँ जाते हैं, उन्हें उनकी इस अभिलाषा की पूर्ति का दु खी गवाह बनना पड़ता है।

हाल में ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है, लेकिन जबकि देश के लोगों पर जगह जगह रुकावटें और बन्धन डाले जाते हैं और उन्हें दबाया जाता है और वे दहशत के वातावरण में रहते हैं, तब कोई भी कला किसी बड़े पैमाने पर कैसे फल-फूल सकती है?

बम्बई में मैं कई दोस्तों और साथियों से मिला, जिनमें से कुछ तो हाल में ही जेल से निकले थे। समाजवादी लोगों की तादाद वहाँ ज्यादा थी और कांग्रेस के ऊपरी [illegible] के लोगों की हाल की घटनाओं पर वहाँ बड़ा रोष था। गांधीजी राजनीति में जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख्त आलोचना होती थी। अधिकांश

आलोचना से मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ राय थी कि हमारी उस वक्त परिस्थिति मे और कोई चारा न था और हमे अपना काम जारी ही रखना था सविनय भग को वापस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमे भी हमे कोई रा न मिलती, क्योकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर क किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐ हालत मे पहुँच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पडा, वरना ब्रिटिश सरक को हमारी इच्छा माननी पडती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत मे आ ग था कि जब उसका हमेशा ही गैर-कानूनी करार दिया जाना मुमकिन था आन्दोलन के रूप मे, चाहे सविनय भग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, वह प नही हट सकता था। असल मे, सविनय भग के जारी रहने से कोई फर्क नही प था, लेकिन असली महत्व था चुनौती के काम का ही। लडाई के बीच नये विन का फैलाना उस वक्त की बनिस्वत आसान था, जबकि लड़ाई बन्द कर दी गई और लोगो का हौसला पस्त पडने लगा हो। लडाई के अलावा दूसरा रास्ता यही था कि ब्रिटिश ताकत के साथ समझौते की मनोवृत्ति स्वीकार की जाय कौंसिलो मे जाकर वैध कार्य किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूँढना आसान न था अपने साथियो के मानसिक सघर्षो को मै समझ सकता था, क्योकि खुद मुझे भी उन सामना करना पडा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान मे दूसरी जगह भी पाया है, वहा मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये, जो ऊँचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ न करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ होती थी कि जो लोग खुद कुछ करे, वे उन दूसरे लोगो को, जिन्होने लडाई के मैदान की धूल और धूप मे सारा उठाया, प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करे। ये आराम-कुरसीवाले समाजवादी ल गाँधीजी पर खास तौर पर जोर का वार करते हुए उन्हे प्रतिगामियो के सिरत बताते है और ऐसी-ऐसी दलीले देते है, जिनमे तर्क की दृष्टि से कोई कसर नही रहती लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह "प्रतिगामी" व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता समझता है और किसान-हिन्दुस्तान का करीब-करीब मूर्त्तिमान् स्वरूप बन गया है इसने इस कदर हिन्दुस्तान मे हलचल पैदा करदी है जैसी क्रातिकारी कहे ज वाले किसी भी व्यक्ति ने नही की है। उनके सबसे ताजे हरिजन-सम्बन्धी कार्य भी, हलके-हलके लेकिन अबाध रूप से, हिन्दू कट्टरता का प्रभाव कम कर दिया है उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर पन्थी लोग उनके खिलाफ उठ खडे हुए और उन्हे सबसे खतरनाक दुश्मन समझते है, हालाकि वह उनके साथ सोलहो अ

शिष्टता और सम्मान ही का व्यवहार करते है। अपने खास ढग से जबरदस्त ताकतो को जागृत करके छोड देने का उनमे स्वभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी की लहरो की तरह चारो ओर फैल जाती है और लाखो आदमियो पर अपना असर डालती है। चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिकारी, उन्होने हिन्दुस्तान की सूरत तबदील कर दी है। उस जनता मे, जो हमेशा हाथ जोडती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्र-बल भर दिया है। उन्होने आम लोगो मे शक्ति और चेतनता पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या को ससार की समस्या बना दिया है। इस बात को जुदा रखते हुए कि अहिसात्मक असहयोग या सविनय भग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या है, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और दुनिया के लिए उनकी एक अनोखी देन है और इसमे कोई शक नही हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए खास तौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे खयाल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करे और अपनी समस्याओ पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद हो सके करे। बदकिस्मती से गाधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हदतक इस प्रकार के वाद-विवाद मे रुकावट पड गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्हीपर छोड देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टत यह गलत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यो और साधनो को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही बढ सकता है और जब उन्हीके आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बडा क्यो न हो, आलोचना से परे नही होना चाहिए, लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का बहाना-मात्र बन जाती है, तो उसमे कुछ-न-कुछ बिगाड समझना चाहिए। अगर समाजवादी लोग इस तरह का काम करेगे, तो वे जनता की निन्दा के पात्र बन जायँगे, क्योकि जनता तो काम मे आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामो के स्वप्नो के नाम पर वर्तमान के सख्त कामो को करना छोड देता है, वह मौकापरस्त बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका मतलब है असली जीवन मे उस समय होनेवाली घटनाओ पर अपना आधार रखने मे विफल होना, ताकि स्वप्नो के नाम पर उनसे अपने-आपको अलग रख सके।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने खयालात ज्यादातर उस साहित्य पर से बनाते है, जो औद्योगिक मजदूर-वर्ग की बाबत है। कुछ खास हलको मे, जैसे बबई मे या कलकत्ते के पास, कारखानो के मज़दूर बडी तादाद मे है, लेकिन हिन्दुस्तान का बाकी हिस्सा तो किसानो का ही है और कारखानो के मज़दूरो के

दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नही मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रवाद और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बडे सवाल है और योरप का समाजवाद इनके बारे मे शायद ही कुछ जानता हो। रूस मे महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और गैर-मामूली घटनाये हो गईं और वैसी ही घटनाये फिर दूसरी जगह हो यह उम्मीद करना बेवकूफी होगी। लेकिन इतना मै जरूर जानता हूँ कि कम्यूनिज्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने मे सहायता मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है, लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह जबरदस्ती और बेइन्साफी होगी कि उसे वाकयात और हालात का मुनासिब खयाल न रखते हुए अधे की तरह हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बडा पेचीदा मामला है और जीवन के सघर्षो और विरोधो से कभी-कभी आदमी कुछ निराश-सा हो जाता है। इसमे कोई ताज्जुब की बात नही कि लोगो मे मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओ पर एक ही दृष्टिकोण से देखते है, अलग-अलग नतीजो पर पहुँचे, लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमजोरी को बडे-बडे वाक्यो और ऊँचे-ऊँचे उसूलो के परदे मे छिपाता है, जरूर सदेह का पात्र बन सकता है। जो शख्स सरकार को इकरारनामे और वादे लिखकर या और किसी सदेहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरो की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुकसान पहुँचाने की सँभावना पैदा करता है।

बम्बई बडा शहर है और उसमे सब जगह के लोग रहते है। वहाँ सभी तरह के लोग मौजूद थे। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण मे बडी मार्के की उदारता दिखाई। मजदूर नेता की हैसियत से वह समाजवादी थे, राजनीति मे वह आम तौर पर अपनेको डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे, हिन्दू-सभा भी उन्हे बहुत चाहती थी। उन्होने वादा किया कि मै पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो की रक्षा करूँगा और उनमे कौसिल को दखल देने न दूँगा, मगर चुनाव के वक्त मे वह सनातनियो की तरफ से उम्मीदवार हुए, जोकि प्राचीन रहस्यो के महान् पुजारी होते है। इस भिन्न-भिन्न प्रकार से बदलनेवाले जीवन से जब वह न थके, तो उन्होने अपनी शेष शक्ति कांग्रेस की आलोचना करने और गाधीजी को प्रतिगामी बताने मे लगाई। कुछ और लोगो के सहयोग से उन्होने कांग्रेस डिमोक्रेटिक—लोकतन्त्रात्मक—पार्टी शुरू की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो कांग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती

थी कि उस महान् सस्था पर हमला करे। इससे भी ज्यादा प्रवृत्तियो मे हाथ डालने की दृष्टि मे, वह मजदूरो के प्रतिनिधि की हैसियत से जेनेवा-मजदूर-कान्फ्रेन्स मे भी शरीक हुए। किसीको प्राय यह भी खयाल होता था कि शायद वह इग्लैण्ड के ढग की हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान-मन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे है।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो और प्रवृत्तियो का लाभ शायद बहुत थोडे लोग उठा सकते थे, लेकिन फिर भी कॉग्रेस के समालोचको मे ऐसे कई लोग थे, जिन्होने भिन्न-भिन्न क्षेत्रो का अनुभव किया था, और जो कई जगहो मे अपनी टॉग अडाते थे। इनमे से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

५१

लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके सा 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। करीब एक घण्टे सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलो पर सवालात करते रहे और व उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक्त वहाँ सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट श्री श्रीनिवा शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ही, जो कि शायद बाकी सदस्यो मे सबसे ज्यादा योग्य है, लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममे कुछ लोग, जो उस वक्त वहाँ उपस्थित थे, बडे अचरज मे सब कुछ सुनते रहे, क्योंि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओ के बारे मे पूछे जा रहे थे। वे ज्यादात वाइसराय से मुलाकात की पुरानी दरख्वास्त और उनके इन्कार के बारे मे थे। ज कि खुद उनका ही देश आजादी की अच्छी करारी लडाई लड़ रहा था और सैकडो संस्था गैर-कानूनी करार दी जा रही थी, तब क्या केवल अनेक समस्याओ से भरी हुई दुनि मे यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था ? किसान नाजुक वक्त मे गुज रहे थे ओर औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी बगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो मे भयकर घटनाये घट रही थ विचार, भाषण, लेखन और सभाओ की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याये मौजूद थी। लेकिन सवालात सिर्फ महत्त्वशू घटनाओ के बारे मे या इस बारे मे पूछे गये कि अगर गाधीजी वाइसराय से फि मिलना चाहे तो वाइसराय और भारत-सरकार क्या करेगी ?

मुझे बड़े जोरो से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मैं किसी धार्मिक मठ आ घुसा हूँ, जिसके रहनेवालो का बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्य सम्बन्ध नही रहा है। फिर भी हमारे दोस्त 'एक्टिव' (क्रियाशील) राजनीति थे, जिनकी सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी का लम्बा रिकार्ड था। उन्होंसे अ कुछ और लोगो से मिलकर लिबरल-पार्टी की मूल ताकत बनी हुई थी। बाकी की पा तो वे सिर-पैर की थी जिसमे ऐसे-ऐसे आदमी थे, जो कभी-कभी राजनीति से सम्ब जोडने का मजा लेना चाहते थे। इनमे से कुछ लोग तो—खासकर बम्बई और मद्रा मे—ऐसे थे, जिनमे और सरकारी अधिकारियो मे शायद ही कुछ फर्क था।

जिस तरह के प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हदतक उसकी राजनैतिक

प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नही पूछा। जिस हदतक हम कोंसिलो की सीटो के बँटवारे पर अपना वक्त और ताकत व अपना मिज़ाज बिगाडा करते है, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते है और उसपर फजूल का वाद-विवाद इतना करते है कि उससे जरूरी सवालात ही छूट जाते है, उसी हदतक हमारी पिछडी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गाधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन मे जो-जो सवालात पूछे गये थे, उनसे ही उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक उसूल है, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसो के दीवान-खानो या दरबारो की-सी चीज दिखाई देती थी। मानो, उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेगे, या क्या नही करेगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्को मे और खासकर इग्लैण्ड मे, उस लफ्ज से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त और अनियंत्रित व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आजादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओ के एक खास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इग्लैण्ड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार मे आज़ादी की और राजा के एकाधिकारो और मनमाने टैक्सो से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलो का ऐसा कोई आधार नही है। मुक्त व्यापार मे उनका विश्वास नही, क्योकि वे करीब-करीब सभी सरक्षणवादी है और जैसा कि हाल की घटनाओ ने बता दिया है, वे नागरिक स्वतन्त्रताओ का भी कोई महत्त्व नही समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतो के साथ, जहाँ कि प्रजातन्त्रवाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भी मामूली रूप-रेखा नही है, उनका गहरा सम्बन्ध रहना और उनका सामान्य रूप से समर्थन करना साबित करता है कि वे यूरोपियन टाइप के लिबरलो से बहुत भिन्न है। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी मे भी लिबरल नही है, या वे सिर्फ कही-कही और किसी-किसी अश मे ही लिबरल है। वे क्या है, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारो का कोई एक निश्चित दृढ आधार नही है, और हालाकि उनकी तादाद थोडी ही है, लेकिन आपस मे भी उनके विचार नही मिलते। वे नकारात्मक रूप मे ही दृढता दिखाते है। हर जगह उन्हे गलती-ही-गलती दिखाई देती है। उससे बचने की वे कोशिश भी करते रहते है और आशा यह करते है कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेगे। उनकी निगाह मे सचाई सिर्फ दो

अतियो के बीच ही हुआ करती है। हर ऐसी चीज की निन्दा करके, जिसे पराकाष्ठा मानते है, वे समझते है कि वे गुणवान, समझदार और नेक आदमी है। इस तरीके से वे विचारो के कष्ट-प्रद और कठिन तौर-तरीके से तथा रचनात्मक विचार को पेश करने की आफत से बच जाते है। उनमे से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते है कि पूँजीवाद योरप मे पूरी तरह कामयाब नही हुआ है और संकट मे पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ, समाजवाद तो जाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थों पर हमला होता है। शायद भविष्य मे कोई रहस्यवादी उपाय, कोई बीच का मुकाम मिल ही जायगा। इस दरम्यान, स्थापित स्वार्थों की रक्षा होनी ही चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि जमीन चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनो ही पराकाष्ठाओं के विचारो की निन्दा करेंगे और आरजी तौर पर यही सुझायँगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार है।

बहुत छोटे-छोटे और बेवजनी मामलो पर भी वे बहुत भड़क जाते है और इतना होहल्ला और शोर-गुल मचा देते है कि कुछ पूछिए नही। जान मे या अनजान मे वे मौलिक सवालों को हाथ नही लगाते, क्योंकि ऐसे सवालो के लिए मौलिक इलाज और विचार और कार्य के साहस की जरूरत होती है। इसलिए लिबरलो की सफलता या असफलता का कोई नतीजा नही होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नही होता। इस पार्टी की बड़ी विशेषता और खास लक्षण, अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात मे मातदिल रहना। यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

> "माडरेट होने मे ही हम फूले नहीं समाते है,
> नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते है।"[१]

लेकिन माडरेट-वृत्ति कितनी भी अच्छी क्यो न हो, वह कोई तेज-पूर्ण और ओजस्वी गुण नही है। यह वृत्ति तेजोहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदकिस्मती से एक 'तेजोहीन दल' बन गये है—वे चेहरे से मंद-तेज और संजीदा, लेखो और बातचीत मे उत्साहहीन होते है और विनोद-प्रियता से खाली रहते है। निश्चय ही, इनमे कुछ अपवाद भी है और एक सबसे बड़े अपवाद है सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही विनोद-रहित नही है, बल्कि जो अपने विरुद्ध मजाक मे भी रस लेते है। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गीय

१. एलेक्ज़ेण्डर पोप का मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है.—

> "In moderation placing all my glory
> While Tories call me Whig and Whigs a Tory"

की पराकाष्ठा का साकार रूप है, और उसमे ऐसा ठोसपन है,जो सुस्ती या मदी का दूसरा नाम है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने, जो कि प्रमुख लिबरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख मे लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बडे और असाधारण लोगो ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतो मे डाला है। इसलिए उसकी राय थी कि, मामूली औसत दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते है। बडे ही नाजुक और साफ ढग से इस अखबार ने औसतपने के साथ अपने झडे का गठ-बन्धन कर लिया।

मर्यादा के अन्दर रहना, रूढि-प्रियता और खतरो तथा अचानक परिवर्तनो से बचने की इच्छा बुढापे के अनिवार्य साथी है। ये बाते नौजवानो को बिलकुल नही सोहती। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढा है, कभी-कभी इसके बच्चे भी पदाइश से ही कमजोर और थके हुए दिखाई देते है और उनमे तेजहीनता और बुढापे के चिन्ह होते है। लेकिन जो तबदीली हो रही है, उसकी ताकतो से ऐसा पुरातन देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले भी इसे देखकर घबरा-से गये है। पुरानी दुनिया गुजर रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्ता-पूर्ण काम करने की मीठी सलाह दे, उससे कोई फर्क नही पडता। तूफान या बाढ या भूकम्प को समझाने से कही रोका जा सकता है? उनकी पुरानी धारणाये टिकती नही है, और नई-नई तरह के विचार और काम की उनमे हिम्मत नही। यूरोपियन परम्परा के बारे मे डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते है—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा से आच्छादित है कि हर पीढी बहुत-कुछ उन्ही परिस्थितियो मे जीवन बितायगी, जिन्होने उसके पुरखो के जीवन का निर्माण किया था, और वही परिस्थितियाँ आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तान के जीवन को बनायँगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास-युग के पहले चरण मे रह रहे है, जिसके लिए कि यह धारणा बिलकुल गलत है।" डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण मे थोडी नरमी दिखलाने की गलती की है, क्योकि शायद वह धारणा हमेशा ही गलत रही है। अगर योरप की परम्परा वही पुरानी लकीर पीटती रही है, तो फिर हमारी परम्परा का तो हिसाब लगाइए, उसकी क्या हालत होगी? लेकिन इतिहास को घडनेवाले, जब तबदीली का वक्त आ जाता है तब, इन परम्पराओ की तरफ जरा भी ध्यान नही देते। हम लाचारी से देखते रह जाते है और अपनी योजनाओ की असफलताओ का दोष दूसरो के मत्थे मढ देते है। और जैसा कि डा० व्हाइटहेड बतलाते है, "सबसे ज्यादा बरबादी करनेवाला वहम यही खयाल है कि मनुष्य दिल मे यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की गलती से नही बल्कि किसी दूसरे के जानबूझकर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयकर वहम के शिकार हम सभी है। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि गाधीजी भी इससे वरी नही है। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही है, जीवन के सम्पर्क मे तो आने की कोशिश करते है ओर तजुर्बे और गलतियो के जरि भी हम इस वहम की ताकत को कम कर देते है, ओर लुढकते हुए भी किसी तर आगे वढते तो जाते है, लेकिन इन लिवरलो मे यह दोप अधिक गहरा है। क्योंकि इ डर से कि कही हमसे कोई गलत काम न हो जाय, वे काम ही नही करते, ओर गि या फिसल जाने के डर से वे आगे कदम ही नही वढाते। जनता के साथ वे अच्छ हार्दिक सम्पर्क पैदा करने मे दूर ही रहते है, और अपने ही विचारो की तग कोठरि मे मोहित ओर समाधिस्थ मे वेठे रहते है। डेढ साल पहले श्री श्रीनिवास शास ने अपने सगी-साथी लिवरलो को आगाह किया था कि उन्हे चुपचाप खडे देखते रहना चाहिए और घटनाओ को यो ही गुजरने न देना चाहिए। उस आगाही मे ३ जितनी सचाई समझते थे, उससे कही ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इ दृष्टि से हमेशा विचार करने के कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनो की त इशारा कर रहे थे, जिन्हे भिन्न-भिन्न सरकारी कमिटियाँ वना रही थी, लेकि लिवरलो की वदकिस्मती यह थी कि जव उनके ही देशवासी आगे वढ रहे थे, तव चुपचाप खडे-खडे तमाशा देख रहे थे ओर घटनाओ को योही गुजरने दे रहे थे। वे अ ही लोगो से डरते थे और हमारे शासको से अलहदा होने के वजाय उन्होने इन अ लोगो से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमे आश्चर्य ही क्या था कि अपने ही मुल्क मे अजनवी-से वन गये। दुनिया आगे वढ गई ओर उन्हे वही-का-वही छ गई। जव लिवरलो के देशवासी जिन्दगी और आजादी के लिए भयकर लडाइयाँ रहे थे, तव इसमे कोई शुवहा नही था कि लिवरल मोर्चेवदी के किस तरफ खडे मोर्चेवदी की दूसरी तरफ से वे हमे नेक सलाह दे रहे थे और वडी-वडी नैतिक करते थे, और इस चिपचिपे रोगन की तह-पर-तह हमारे ऊपर चढाते जाते गोलमेज-कान्फ्रेन्सो और कमिटियो मे जो सहयोग उन्होने दिया, वह सरकार के हक वडी महत्वपूर्ण नैतिक चीज थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो वडा फर्क जाता। यह ध्यान देने की वात है कि एक कान्फ्रेन्स मे व्रिटिश मजदूर-पार्टी तक अ रही, लेकिन हमारे लिवरल साहवान तो उसमे भी अलग नही रहे और कुछ अ सज्जनो ने उनसे न जाने की अपील की तो भी वे वहाँ चले ही गये।

यो तो हमारे जुदे-जुदे मकसदो के लिहाज से हम सव नरम या गरम है। सिर्फ मात्रा का है। जिस वात के वारे मे हमे अधिक चिन्ता हो, उसके विषय मे हम भावना भी तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध मे 'गरम' हो जाते है, नही तो

दयादर्शक सहनशीलता धारण कर लेते है, एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता अखत्यार कर लेते है जोकि, असल मे, कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है। मैंने नरम-से-नरम माडरेटो को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश मे कुछ स्थापित स्वार्थो को उडा देने की बात रक्खी गई। हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनी-मानी और समृद्ध लोगो का प्रतिनिधित्व करते है। स्वराज के लिए उन्हे बहुत दिनो तक इन्तजार करना पुसा सकता है और इसमे उसके लिए उन्हे व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की जरूरत नही। लेकिन जहाँ कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमे खलबली मची। तब वे न तो उसके विषय मे माडरेट ही रह जाते है और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही कायम रहती है। इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे है, कि यदि वे काफी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस सलूक के पुरस्कार मे उनकी बात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नही सकते। 'ब्ल्यू बुक' उनके गंभीर अध्ययन की वस्तु बनती है। इरशकिन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबे उनकी जीवन-संगिनी होती है। नई सरकारी रिपोर्ट उनके तर्क और तर्क-वितर्क का विषय बनती है। इंग्लैड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हाल के देवताओ के कारनामो के बारे मे रहस्यमय वक्तव्य देते है, क्योकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलो, प्रतिसहयोगियो और ऐसे ही दूसरे दलो की दृष्टि मे सूरमाओ का स्वर्ग है। पुराने जमाने मे यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलो की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदिवारी का कभी-कभी चक्कर लगाती रहती है।

यहाँ लिखा तो मैंने लिबरलो के बारे मे है, लेकिन यही बात बहुतेरे कांग्रेसियो पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियो पर तो और भी ज्यादा लागू होती है, क्योकि नरमी मे तो उन्होने लिबरलो को भी मात कर दिया है। औसत दरजे के कांग्रेसी मे बडा फर्क है। मगर इस सम्बन्ध मे विभाजक रेखा न तो साफ ही है, न निश्चित ही। जहाँतक विचार-धारा से संबध है, आगे बढे हुए लिबरल और नरम कांग्रेसी मे कोई ज्यादा फर्क मालूम नही होता। मगर भला हो गांधीजी का, जो हरेक कांग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगो के साथ थोडा-बहुत सपर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसीकी बदौलत वह एक धुधली और अधूरी विचार-धारा के परिणामो से बच गया है। मगर लिबरलो की बात ऐसी नही है। उन्होने

पुराने और नये दोनो ही विचार के लोगो से अपना नाता तोड लिया है। एक जमात की हैसियत से वे उन लोगो के प्रतिनिधि है, जो मिटते जा रहे है।

मै खयाल करता हूँ कि हममे से बहुतो की वह पुरानी व्यक्तिपूजा की भावना नष्ट हो चुकी है, लेकिन नई अतर्दृष्टि प्राप्त नही हुई है। न तो हमे समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[1] के दर्शन सुलभ है और न हमारे कान बूढे ट्रिटन[2] की पुष्प-माला-विभूषित शृगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते है। हममे से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली है जो—

"पिड मे ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन मे स्वर्ग को है देखते,
अजली मे बाँधते निस्सीम को,
एक पल मे नापते चिरसीम को।"[3]

दुर्भाग्य से, हममे से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से दूर है। वह रहस्य-ध्वनि हमारे कानो के पास तो गूँजती है, लेकिन हम सुन नही पाते। उस स्पर्श के मधुर कपन का सुख नही उठाते। वे दिन अब चले गये, लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सके, तो भी मानवजाति के गौरव और कारुण्य मे, उसके बडे-बडे स्वप्नो और आन्तरिक तूफानो मे, उसकी पीडा और विफलताओ मे, उसके सघर्षो और विपत्तियो मे, और इन सबसे बढकर उसके महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा मे तथा उन महत्त्वाकाक्षाओ की प्राप्ति मे हमने उसे पाने का प्रयत्न किया है। जो कष्ट और क्लेश इस खोज मे हमे उठाने पडे है, वे बिलकुल ही व्यर्थ नही है। इस खोज ने समय-समय पर हमे जीवन की तुच्छता

१. **प्रोटियस**— प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपने मनचाहे रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति के लिए भी, अब इस शब्द का प्रयोग होता है।

२. **ट्रायटन**—पोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध-मत्स्य था। इसका खास काम शख-ध्वनि द्वारा सागर-तरगो को कम-ज्यादा करते हुए उनपर नियत्रण रखना था।

३ मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है :—

"To see a World in a Grain of Sand
And a Heaven in a Wild Flower,
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour"

ऊँचा उठाया है। लेकिन बहुतो ने इस शोध का प्रयत्न ही नही किया है और पुराने तरीको से अपनेको बिलकुल अलहदा कर रक्खा है, लेकिन वर्तमान मे उनको कोई रास्ता नही मिल रहा है। न तो उनकी भावनाये ही ऊँची है, न कुछ वे करते ही है। वे फ्रास की महान् राज्यक्राति या रूसी राज्यक्राति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नही समझते। चिरकाल से दबी हुई मानवी अभिलाषाओ के जटिल तेज और निठुर स्फोटो या उभाडो से वे भयभीत हो जाते है। उनके लिए बेस्टिली (फ्रास) का किला अभी सर नही हुआ है।

बडे रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि 'देश-भक्ति का ठेका कुछ कॉग्रेस-वालो ने ही नही ले रक्खा है।' यही शब्द बारबार दोहराये जाते है, जिनमे कोई नवीनता नही दिखाई देती। यह देखकर कुछ दु ख होता है। मै समझता हूँ, अपने लिए इस भावना के एक अश का भी कभी किसी कॉग्रेसी ने दावा नही किया होगा। अवश्य ही, मै नही समझता कि कॉग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है और मै बडी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेट करने को तैयार हूँ। यह तो अवसर से फायदा उठानेवालो और सुखी और निश्चित जीवन चाहनेवालो के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियो, स्वार्थो और वर्गो के अनुकूल उसके कई रूप है। अगर आज 'जूडस' जीवित होता तो वह भी, इसमे कोई शक नही, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफी नही है, अब तो हमे कोई उससे ज्यादा ऊँची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज चाहिए।

और नरमी स्वत ऐसी कोई चीज नही है, जो काफी समझी जाय। हॉ, सयम एक अच्छी चीज है और वह हमारी सस्कृति का एक पैमाना है, मगर कोई चीज भी तो हो, जिसका हम सयम और निग्रह करे। मनुष्य सदा से पचतत्त्वो पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गॉठता आ रहा है, लपकती हुई आग और वेगयुक्त और गिरते-पडते हुए पानी को अपने काम मे लाता रहा है और यह सब वह अब भी करता है, लेकिन उसके लिए इन सबसे ज्यादा मुश्किल हुआ है उसको खाये डालनेवाले विकारो का निग्रह करना या उन्हे सयम मे रखना। जबतक वह इन्हे अपने काबू मे नही कर लेता तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत को पूरी तरह नही पा सकता। पर क्या हम उन पैरो को रोक रक्खे, जो हिलते ही नही है या उन हाथो को, जिन्हे लकवा मार गया है?

इस प्रसग पर मै रॉय केम्पबेल की चार पक्तियॉ देने का लोभ सवरण नही कर सकता, जो उन्होने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यासकार के सबध मे लिखी थी

"विश्व आपके दृढ़ संयम का गाता है यश-गान,
मैं भी उसमें देता उसका साथ आज, मतिमान।
खूब जानते आप खींचना और मोड़ना वाग
पर कमबख्त कहां वह घोड़ा, है इसका कुछ ध्यान?"[1]

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते हैं कि वे श्रेयस्कर माध्यमिकता के संकीर्ण पथ पर चलते हैं और एक तरफ कांग्रेस और दूसरी तरफ सरकार दोनों की अतियां बचा कर अपना रास्ता निकालते हैं। वे दोनों की कमियां बतानेवाले मुंसिफ बनते हैं और इस बात के लिए अपने-आपको बधाई देते हैं कि वे उन दोनों की बुराइयों में बचे हैं। मेरी समझ में आंखों पर पट्टी बांधकर वे निष्पक्ष बनने की कोशिश करते हैं। कहीं यह मेरी खब्त ही तो नहीं है जो, आज मेरे कानों में सदियों पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"स्क्राइब्स[2] और फेरिसियो[3]... .. ओ अंधे पथ-प्रदर्शको! तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज करते हो।"

१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है —

"They praise the firm restraint with which you write
I'm with you there, of course
You use the snaffle and the curb all right
But where's the bloody horse?"

२. **स्क्राइब्स**—यहूदी स्मृतिकार और उनके आचार-विचार के व्याख्याता।

३. **फ़ेरिसी**—प्राचीन यहूदियों के एक दल वालों का नाम, जो प्रचलित रस्मों और रिवाजों पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए मशहूर थे। इसीलिए रूढ़िवादी, धर्मध्वजी और पाखण्डी लोगों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

५२

डोमीनियन स्टेटस और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमें से ज्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हों चाहे कांग्रेसी, आये हैं सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियों में उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनका रहन-सहन, उनके मेल-मुलाकाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे हैं और शुरू में जिन दो किस्मों के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहनेलायक अंतर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदों ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे मुख्तलिफ दिशाओं में देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगों—ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगों—की तरफ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियों की तरफ। विचारधारा अब भी दोनों की एक-सी थी और ध्येय में भी कोई फर्क नहीं था। लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब साधारण पेशेवर और बेकार पढ़े-लिखे लोगों का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमें वह अदब और शायस्तगी न रही, बल्कि उसका लहजा करारा और हमलावर हो गया। कारगर ढंग से काम करने की ताकत तो थी नहीं, सो कड़ी जबान में उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर माडरेट लोग कांग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने में ही उन्होंने अपनेको महफूज़ समझा। फिर भी ऊपरी मध्यमवर्गियों का उसमें जोर था, हालांकि, तादाद में छोटे मध्यमवर्गियों का प्राधान्य था। वे अपने राष्ट्रीय संग्राम में महज कामयाबी की ख्वाहिश से ही नहीं आये थे, बल्कि इसलिए कि उस संग्राम में ही उन्हें सच्चा संतोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने तहस-नहस हुए गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यों तो एक राष्ट्रवादी के मन में सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालांकि सभीके मन में उठती है, तो भी यहीं से नरम और गरम दोनों की स्वभावगत भिन्नता सामने आ गई। धीरे-धीरे कांग्रेस में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानों ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यों-ज्यों कांग्रेस ग्रामीण-जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई त्यों-त्यों उसके और लिबरलों के बीच की खाई और-और चौड़ी होती गई और लिबरलों के लिए कांग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी कदर करना नामुमकिन हो गया।

उच्चवर्ग के दीवानखाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोपडे को समझना आसान नही है। फिर भी, इन मतभेदो के रहते हुए भी, दोनो की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फर्क था वह मात्रा का था, प्रकार का नही। काग्रेस मे आखिर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो नरम दल मे बडे मजे से खपने और रहते

कई पीढियो से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने खास मोज व आराम का घर समझते आये है। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक—उसके आवश्यक हिस्सो पर अपना कब्जा किये हुए—उधर हिन्दुस्तानियो के हवाले नौकरो की कोठरिया सामान-घर और रसोई-घर वगैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह वह नौकरो के कई दर्जे बधे हुए है—खानसामा, जमादार, रसोइया, कहार वगैरा-वगैरा—और उनमे छोटे-बडे का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाता है। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सो मे एक ऐसी जबरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड लगादी जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा ही नही सकता। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नही है। मगर यह जरूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममे से बहुतो ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नोकर का-सा अपना दिमाग बना लिया। कभी-कभी हमारी बडी इज्जत करदी जाती है—दीवानखाने मे चाय का एक प्याला हमे दे दिया जाता है। हमारे होसलो की उडान होती है सम्मानित बनने तक, व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे मे चढा दिय जाने तक। सचमुच हथियारो और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय से ब्रिटिशो की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कही बढकर है। पुराने समझदारो ने कहा ही है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है'

अब जमाना बदल गया और अब न इग्लैण्ड मे और न हिन्दुस्तान मे विश्रान्ति भवन की वह नमूनेदार सभ्यता राजी-खुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हम ऐसे लोग है जो उन्ही नोकरो की कोठरियो मे पडे रहने की ख्वाहिश रखते है और अपनी सुनहरी चपरासो, पट्टो, वर्दियो और बिल्लो पर नाज करते है। दूसरे कुछ लोग लिबरलो की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यो-का-त्यो कायम रहने देना चाहते है, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते है, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक है कि धीरे-धीरे उसके मालिको की जगह खुद उन्हे मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते है। उनके लिए शासको का रग बदल जाना और अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा मे कभी नही सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी है—और सब बाते ज्यो-की-त्यो चलती रहे, सिर्फ उसका काला रग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते है, जिसमे वे या उनके जैसे लोग सूत्र-सचालक रहे और अग्रेज हाकिमो की जगह ले ले—जिसमे कि उसी तरह की नोकरियाँ, महकमे, धारा-सभाये, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहे। राजा-महाराजा अपनी जगह बरकरार रहे, कभी-कभी जर्क-वर्क पोशाक और जवाहरात से सजकर रिआया पर रोब गाँठते हुए दर्शन दिया करे, जमीदार एक तरफ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहे और दूसरी तरफ काश्तकारो को परेशान करते रहे, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो जमीदार और काश्तकार दोनो को तग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहे और ईश्वर की ज्योति स्वर्गपुरी मे जगमगाती रहे।

हाँ, तो उनका दृष्टिकोण आवश्यक रूप से इसी बात पर आधार रखता है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तबदीलियाँ वे चाहते है वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते है, और वे इन परिवर्तनो को ब्रिटिशो की सद्भावना से बूँद-बूँद करके कराना चाहते है। उनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और दृढता पर है। वे देखते है कि इस साम्राज्य की नीव हिल नही सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, तो फिर वे उसके माफिक अपने-को बनाते है और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचार धारा को ही ग्रहण करते है, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शो को भी अपनाते है, जो कि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गये है।

लेकिन कॉग्रेस का रुख मूल से ही भिन्न है, क्योकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसका स्पष्ट खयाल एक औसत कॉग्रेसी के दिमाग मे आज नही है और इसके बारे मे राये भी अलग-अलग हो सकती है। मगर कॉग्रेस मे शायद माडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते है, कुछ इने-गिने लोगो को छोडकर, कि मौजूदा अवस्था और तरीके कायम नही रह सकते और न रहने चाहिएँ और बुनियादी तबदीलियाँ लाजिमी है। यही फरक है डोमीनियन स्टेटस—औपनिवेशिक स्वराज—और पूर्ण स्वाधीनता मे। पहला उसी पुराने ढाँचे को दृष्टि मे रखता है, जो हमे ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनो से बाँधे हुए है, और दूसरा हमे अपने हालात के माफिक एक नया ढाचा खडा करने की स्वतत्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इग्लैण्ड या अग्रेज लोगो से अटल शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे

सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नही है । परन्तु जो कुछ हो चुका है उसीकी तरह अगर इग्लैण्ड और हिन्दुस्तान मे वैमनस्य बना रहा तो उसका कुदरती नतीजा यही होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते है कि "सत्ता का अनाडीपन ताले की कुजी को त खराब कर देता है और फिर उसकी जगह गेती मे काम लेता है ।' हॉ, हमारे दिल की कुजी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और गेतियो का जो भरपूर उपयोग हमपर किया गया है उसने हमे अग्रेजो का तरफदार नही बनाया । लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितो की सेवा करने का दावा करते है, तो हम अपनेको क्षणिक विकारो और भावनाओ मे नही बहने दे सकते, और अगरचे हम उस तरफ झुक भी जायें तो गाधीजी ने जो १५ साल तक हमको कडी तालीम दी है वह ह उससे रोक लेगी । यह मै एक ब्रिटिश जेलखाने मे बैठकर लिख रहा हूं, महीनो से मेरा दिमाग चिन्ताकुल है और इधर मुझपर जेल मे जो कुछ बीती है उससे कही ज्याद मैने इस तनहाई मे कष्ट सहे है । कई घटनाओ के अवसरो पर गुस्से और नाराज से मेरा दिल अक्सर भर गया है, लेकिन फिर भी यहॉ बैठा हुआ जब मै अपने दि और दिमाग की गहराई को टटोलता हूँ तो उसमे कही भी इग्लैंड या अग्रेज़ो के प्रति रोष या द्वेष नही दिखाई पडता । हॉ, मै ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मै नाराज हूँ । मुझे पूँजीवादी प्रणाल नापसन्द है । ब्रिटेन के शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे है उसे जरा भी पसन्द नही करता और उसपर मुझे रोष है । मगर मै कुल मिलाकर इग्लैं या अग्रेजो को इसके लिए जिम्मेदार नही ठहराता, और अगर मै ऐसा करूँ भी त उससे कोई ज्यादा फर्क नही पडता, क्योकि सारी जाति पर नाराज़ होना या उसक निन्दा करना जरा बेवकूफी की ही बात है । वे भी उसी तरह परिस्थितियो के शिका बन गये है जैसे कि हम ।

मै खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूँ। इतना कि उसके प्रति जरा भी शत्रुता का भाव नही रख सकता और मै जो चाहूँ करूँ, लेकिन मै अपने मन के उन सस्कारो से और दूसरे देशो के और आम तौर पर जीवन के बारे मे विचार करने की पद्धतियो और आदर्शो से, जो मैने इग्लैण्ड के स्कूल और कालेजो मे प्राप्त किये है, मुक्त नही हो सकता । राजनैतिक योजना को छोड दे, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इग्लैण्ड और अग्रेज लोगो की ओर दौडता है, और अगर मै हिन्दुस्तान म अग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूं तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है ।

हम जिसपर एतराज करते है और जिसके साथ हम कभी राजी-खुशी से समझौता

नही कर सकते वह अग्रेजो का शासन है, आधिपत्य है, नकि अग्रेज़ लोग। हम शोक से अग्रेजो से और दूसरे विदेशियो से घनिष्ठ सम्पर्क बाँधे। हम हिन्दुस्तान मे ताजी हवा चाहते है, ताजा और चेतनामय विचार और निर्मल सहयोग चाहते है, क्योकि हम जमाने से बहुत पीछे पड गये है। लेकिन अगर अग्रेज शेर बनकर यहाँ आते है तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नही रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहाँ प्राण-पण से मुकाबला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पडा है। जगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सभव हो सकता है, लेकिन पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को, जब कि ये दोनो मिलकर एक अभागे देश पर टूट पडे है, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नही है।

किसीके लिए यह कहना कि वह या उसका देश किसीसे समझोता नही करेगा, एक तरह से बेवकूफी की बात है, क्योकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है, और जब दूसरे देश या वहाँ के लोगो पर यह बात लागू की जाती हो तब तो यह बिलकुल ही बेवकूफी की बात है। लेकिन जब यह किसी प्रणाली या किन्ही खास हालतो के लिए कहा जाता है तो उसमे कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा मे समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनो परस्पर बेमेल है और न तो फौजी कानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपडी बाते ही उन्हे एकसाथ मिला सकती है। सिर्फ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज़ है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थाये पैदा हो सकेगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया मे स्वाधीनता एक सकुचित ध्येय है, क्योकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए मुकम्मिल आजादी का मतालबा करके हम घडी का काँटा पीछे घुमा रहे है। लिबरल और शातिवादी, यहाँतक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, इस दलील को पेश करके हमे अपने सकुचित उद्देश पर लताडते है और साथ ही यह कहते है कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-सघ' मे से होकर गुजरता है। यह अजीब-सी बात है कि इग्लैण्ड मे तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शातिवाद, समाजवाद वगैरा, साम्राज्य को कायम रखने की ओर ही ले जाते है। ट्राटस्की कहता है—"शासक-राष्ट्र की [illegible] व्यवस्था को कायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' से श्रेष्ठ होने का [illegible] पहन लेती है, ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को [illegible] की अभिलाषा आसानी से शातिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह

मैकडानल्ड गांधी के मुकाबिले मे ऐसा महसूस करता है मानो वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।"

मै नही जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आजाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा। लेकिन मै इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी है, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती है। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ ही नही है, लेकिन बहुतेरे कांग्रेसी, जो समाजवादी नही है लेकिन आगे बढे हुए है, वे पक्की अन्तर्राष्ट्रीयता के उपासक है। स्वाधीनता हम इसलिए नही चाहते कि हमे सबसे कटकर अलग-सलग रहने की ख्वाहिश है। इसके बर्खिलाफ हम तो बिलकुल राजी है कि और देशो के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड दे कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्टीय व्यवस्था बन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम कितना ही बडा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शांति कभी स्थापित नही हो सकती।

इधर हाल मे जो घटनाये हुई है उन्होने सारी दुनिया को बता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियाँ स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सबसे जुदा कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीयता की बढती के बजाय हम उसका उलटा ही देख रहे है। इसके कारणो को खोजना मुश्किल नही है। वे मौजूदा अर्थ-व्यवस्था की बढती हुई कमजोरी को जाहिर करते है। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहाँ वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज्यादा सहयोग पैदा करती है तहाँ दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सो से अपनेको अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्बन्धी तथा दूसरे निर्णयो से यह देख लिया है कि दूसरे देशो से हमारा सपर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धो के आश्रित हो रहे है और, इसमे कई बातो मे जो तात्कालिक नुकसान हुए है उनको अलग रखदे तो भी, इस नीति से पैदा होने-वाले खतरे स्पष्ट है। इस प्रकार 'डोमिनियन स्टेटस' हमे व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सपर्क की ओर ले जाने के बजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त दुनिया को और खास करके खुद अपने मुल्क को असली नीले रग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते है। इस बात को समझने की कोशिश किये बगैर ही कि कांग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यो कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते है कि डोमिनियन स्टेटस की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कही सकीर्ण और नैतिक

उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नजदीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी ह्वाइट-हॉल होते हैं, क्योंकि उनको दूसरे देशों का तो कुछ पता ही नहीं है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक्कत है, मगर उससे भी ज्यादा कठिनाई यह है कि उन्हें उनकी उपेक्षा करने में ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी किस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के खिलाफ हैं। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओं को, अगर दूसरे देशों में ये तरीके अख्त्यार किये जायं, तो कोई एतराज नहीं होता। वे दूर रहकर ही उनकी कदर और इज्जत कर सकते हैं और पश्चिमी देशों के कुछ मौजूदा डिक्टेटरों को तो उनका मानसिक पूजा-सत्कार भी प्राप्त है।

नामों से धोखा हो सकता है। मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान में तो असली सवाल यह है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते हैं, या सिर्फ एक नया शासक-मंडल बनाना चाहते हैं? लिबरलों का जवाब स्पष्ट है। वे पिछली बात से ज्यादा कुछ नहीं चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रम-क्रम से प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'डोमिनियन स्टेटस' का जिक्र अबतक कई बार किया गया है। मगर उसका असली उद्देश्य फिलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' इन गूढ शब्दों-द्वारा प्रकट किया गया है। सत्ता, स्वाधीनता, आजादी, स्वतन्त्रता आदि उनके जोरदार शब्द उनके लिए नहीं हैं। उन्हें तो ये खतरनाक मालूम होते हैं। एक वकील की भाषा और तरीके उन्हें ज्यादा जँचते हैं—चाहे भले ही बहुजन-समाज को वे उत्साहित न करते हों। इतिहास में ऐसी बेशुमार मिसालें मिलती हैं कि जहाँ व्यक्तियों और समूहों ने अपने सिद्धान्तों और अपनी आजादी के लिए खतरों का मुकाबिला किया है और अपनी जान जोखिम में डाली है। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे कानूनी शब्दों के लिए कोई जान-बूझकर एक दफा खाना छोड़ देगा या अपनी नींद हराम करेगा।

यह तो है उनका मकसद और इसको भी हासिल करना है 'सीधे हमले' या और किसी उग्र उपाय से नहीं, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—'समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली सेवापरायणता' का परिचय देकर। यह आशा की जाती है कि हमारे इस सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त में जाकर अपने शासकों को इस बात के लिए राजी कर सकेंगे कि वे अपने अधिकार छोड़ दें। दूसरे शब्दों में वे हमारा विरोध इसीलिए करते हैं कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढ़े हुए हैं या उन्हें हमारी क्षमता में शक है, या इन दोनों बातों के कारण। साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति

का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है। मगर प्रोफेसर आर० एच० टानी नामक एक विद्वान् अंग्रेज लेखक ने क्रम-क्रम से और शासकवर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार के सम्बन्ध में बहुत मौजूं और हृदयाकर्षक भाषा में अपने भाव प्रकाशित किये हैं। उन्होंने तो ब्रिटिश लेबरपार्टी को ध्यान में रखकर लिखा है, लेकिन उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज्यादा लागू होते हैं, क्योंकि इंग्लैण्ड में कम-से-कम लोकतन्त्रात्मक संस्थायें तो हैं जहां बहुमत की इच्छा, सिद्धान्त-रूप में तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफेसर टानी लिखते हैं —

"प्याज का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है, लेकिन आप एक जिन्दा शेर के एक-एक पंजे की खाल नहीं उतार सकते। यह काम तो शेर का है और खाल को पहले उतारनेवाला वह होता है।"

"अगर कोई ऐसा देश है कि जहां के विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग निरे बुद्धू हों तो कम-से-कम इंग्लैण्ड वह नहीं है। यह खयाल गलत है कि लेबरपार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इससे वे इस धोखे में आ जायंगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते पुर्जे कानून-दां को झांसा देकर उस मिलकियत को हथिया लेना, जिसका कि हकनामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही में ऐसे हरदिलअजीज, चालाक, प्रभावशाली, आत्मविश्वासी और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की पर्वा न करनेवाले लोग हैं, जो अच्छी तरह जानते हैं कि रोटी किधर से चुपडी जा रही है और जो चुपडने के घी में कभी कमी होने देना नहीं चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशंका होती है तो वे राजनैतिक और आर्थिक शतरंज के हरेक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते हैं। हाउस आफ लॉर्ड्स, सम्राट्, अखबार, फौज, आर्थिक प्रणाली—इनमें से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये बिना वे न रहेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें भी पैदा कर सकते हैं, और जैसा कि १९३१ में पौण्ड की विनिमय दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओं से साबित होता है, वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राजनैतिक भगोडों की तरह अपनी जेब की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते हैं।

ब्रिटिश लेबरपार्टी का जोरदार संगठन है। उसके पीछे कई ट्रेड यूनियनें, जिनके लाखों चन्दा देनेवाले मेम्बर हैं, सहयोग-समितियों का एक बहुत समुन्नत संगठन तथा पेशेवर वर्गों के बहुत-से मेम्बर और हमदर्द लोग हैं। ब्रिटेन में बालिग मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोक-तन्त्री पार्लमेण्टरी संस्थायें हैं और वहां बरसों से ...रिक स्वतन्त्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सब बातों के बावजूद

मि० टानी की यह राय है—और हाल की घटनाओ ने उसको सही साबित कर दिया है—कि लेबरपार्टी खाली मुस्कराकर और समझा-बुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नही कर सकती । हालाकि इन दोनो साधनो का प्रयोग करना लाभप्रद और वाञ्छनीय जरूर है । टानी साहब तो यहाँ तक कहते है कि अगर कामन-सभा मे मजदूर दल का बहुमत हो जाय तो भी विशेष लाभ-प्राप्त वर्गो के मुकाबिले मे वह कोई भी आमूल परिवर्तन नही कर सकेगी, क्योकि उनके हाथ मे आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फौजी तथा राजस्व-सम्बन्धी जबरदस्त ताकते अपनी हिफाजत के लिए है । हिन्दुस्तान मे यह बताने की जरूरत नही है कि हालात बिलकुल दूसरी तरह के है । न तो यहाँ लोकतन्त्रात्मक सस्थाये ही है और न ऐसी परम्पराये ही । उसके बजाय, यहाँ आर्डिनेन्सो और तानाशाही हुकूमत का और बोलने, लिखने, सभा करने और अखबारो की आजादी को कुचलने का खासा रिवाज पडा हुआ है, और न लिबरलो का यहाँ कोई खासा मजबूत सगठन है । ऐसी हालत मे उन्हे अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है ।

लिबरल लोग अवैध या 'गैरकानूनी' कार्रवाइयो के सख्त खिलाफ है, लेकिन जिन देशो का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहाँ वैध शब्द का व्यापक अर्थ होता है । उसमे कानून बनाने का अधिकार आ जाता है, वह स्वतन्त्रताओ की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश मे रखता है, उसमे राजनैतिक और आर्थिक ढाचे मे परिवर्तन करने के लिए लोकतन्त्रात्मक साधनो की गुजाइश रहती है, लेकिन हिन्दुस्तान मे ऐसा कोई विधान नही है, और यहाँ विधान के मानी भी इस तरह के नही है ।' यहा उसका इस्तेमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान मे कोई जगह नही है । और आश्चर्य के साथ कहना पडता है कि यहा वैध शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मनमाने कार्यो के समर्थन मे किया जाता है, या दूसरी तरह उसका 'कानूनी' के भाव मे व्यवहार किया जाता है । इससे तो यह कही बेहतर है कि हम कानूनी और गैरकानूनी शब्दो का ही व्यवहार करे, हालाकि वे काफी गोलमोल है और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है ।

[1] श्री० सी वाई चिन्तामणि ने, जो कि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान सम्पादक है, युक्तप्रान्त की कौन्सिल मे पार्लमेटरी ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए खुद इस बात पर जोर दिया था कि हिन्दुस्तान मे किसी भी किस्म के वैध शासन का अभाव है—"अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज्यादा अवैध भावी सरकार को मजूर करने की बनिस्बत तो बेहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिए बैठे रहे ।"

नये-नये आर्डिनेन्स या नये नये क़ानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है, इसी तरह साइकल पर सवार होना, खास किस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना, पुलिस को रोज अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में जुर्म समझी जाती हैं। एक काम देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जाता है और दूसरे में नहीं। जब एक गैर-जिम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे कानून बहुत थोड़े-से या नोटिस पर बना दिये जा सकते हैं, तब 'कानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकते हैं? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राजी से हो चाहे गैरराजी से। क्योंकि उसके भंग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख्स के लिए यह कहना कि मैं सदा ही उसका पालन करता रहूँगा, मानो तानाशाही या गैरज़िम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को गिरो रख देना है और अपनी प्रकृतियों के लिए आजादी को असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतत्री देश में महज इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मात्र वैधानिक तत्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्त्तन किये जा सकते हैं या नहीं? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नहीं हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम में लाना होगा। लेकिन जहांतक हम हिन्दुस्तान का ताल्लुक है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसे वैधानिक साधन ही नहीं हैं जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्त्तन कर सके। यदि श्वेत-पत्र या वैसा ही कोई चीज कानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओं में वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा में सिवा क्रान्ति या गैरकानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नहीं रह जाता। तब हमें करना क्या चाहिए? क्या परिवर्त्तन की सब आशाओं को तिलाञ्जलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहें?

हिन्दुस्तान में तो आज हालत और भी असाधारण हो गई है। कार्यकारिणी हर किस्म के सार्वजनिक कामों को रोक सकती है, और उनपर बंदिश लगा देती है। जो भी काम उसकी राय में उसके लिए खतरनाक है वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसे कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और यह मान लेना तो किसी तरह मुमकिन नहीं है।

यह कोई नहीं कह सकता कि वह हमेशा और बिला नागा कानून के मुताबिक

ही काम करेगा। लोकतंत्री राज्य में भी ऐसे मौके पैदा हो सकते हैं जब किसीकी अन्तरात्मा उसके खिलाफ चलने के लिए मजबूर करदे और उस देश में जहाँ स्वेच्छाचारी या निरंकुश शासन हो, ऐसे मौके और भी बारबार आ सकते हैं। क्योंकि ऐसे राज्य में कानून के लिए कोई नैतिक आधार नहीं रह जाता है।

लिबरल लोग कहते हैं—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से, और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते हैं उन्हें सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का गलत सोचना और गलत लिखना हुआ। बाज वक्त सीधा हमला—जैसे मजदूरों की हड़ताल—भी कानूनी हो सकता है। मगर यहाँ उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी में, जहाँ कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या गैरकानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहाँ लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम लिया करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके पास जाने की इच्छा नहीं रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बड़े लिबरल नेता हैं, मई, १९३४ में कहा था—"विधानकारिणी सभा के आयोजन की पैरवी करते हुए कांग्रेस जन-समूह की समझदारी पर जरूरत से ज्यादा भरोसा रखती है और उन लोगों की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम इन्साफ करती है, जिन्होंने कि भिन्न-भिन्न गोलमेज-कान्फ्रेन्सों में भाग लिया है। मुझे तो इस बात में बड़ा शक है कि विधानकारिणी सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-संबंधी धारणा 'जन-समूह' से कुछ अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामजद 'सच्चे और योग्य' लोगों के जमघट में ज्यादा अच्छी तरह बैठ जाती है। आगे चलकर वह श्वेत-पत्र को अपना आशीर्वाद देते हैं, क्योंकि, यद्यपि वह उससे 'पूरी तरह' संतुष्ट नहीं हैं, तथापि "देश के लिए उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नहीं दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

कांग्रेस के द्वारा सविनय भंग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलों की ओर से होना कुदरती ही था। और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है जो वे इस बात में अपनी समझदारी मानें कि उन्होंने इस "मूर्खतापूर्ण और गलत आन्दोलन" से अपने को अलग रक्खा। वे हमसे कहते हैं—"क्या हमने पहले ही ऐसा नहीं कहा था?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योंकि जब हम कमर कसकर खड़े हुए

और एक करारी लड़ाई लड़ी तो हम नीचे गिरा दिये गये, इसपर से हम न
नसीहत दी जाती है कि खड़ा होना ही गलत था। पेट के बल रेंगना ही सबसे अच
और निरापद बात है। क्योंकि, उस पड़े रहने की हालत में गिरना या गिरा दि
जाना बिलकुल नामुमकिन है।

५३

हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और लाजिमी बात थी कि हिन्दुस्तान मे राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहु[illegible] मध्यक पढ़े-लिखे लोग १९ वी सदी के अन्ततक, जान मे या अनजान मे, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श मे विश्वास करते थे। वही उनकी दलीलो का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी अलामात पर ही वे नुक्ताचीनी करके सतुष्ट हो जाते थे। स्कूलो और कालिजो मे इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमे हमारी पिछली और मोजूदा रहनेरी बुराइयो और अग्रेजो के सद्गुणो और उज्ज्वल भविष्य पर जोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोडे-मरोडे वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कही हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमे से निकल ही नही सकती थी, क्योंकि हमारे पास न तो दूसरे वाकयात थे और न दलीले। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कोई जाति हमसे बढकर नही है। हमने अपनी इस बदबख्ती और गिरावट मे भी इस बात मे तसल्ली की कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नहीं है तो भी हमारे पास अन्दर की चीज है जो कि उससे कही ज्यादा कीमती और रखने लायक निधि है। विवेकानन्द और दूसरो ने तथा पश्चिमी विद्वानो ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रो मे जो दिलचस्पी ली उसने हमे कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के [illegible] अभिमान का जो भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मोजूदा अवस्था के सम्बन्ध में अग्रेजो के [illegible] पर हमे शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। [illegible] तब भी हम उसी ब्रिटिश विचारावली के घेरे मे ही सोचते और काम करते [illegible]। अगर कोई चीज खराब होती तो वह अ-ब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अग्रेज ने हिन्दुस्तान मे खराब बर्त्ताव किया तो वह उसका कसूर समझा जाता था, उस [illegible] का नही। लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-शासन-सम्बन्धी [illegible] हाथ लगी और जो सग्रह हुआ उसने, लेखकों का दृष्टिकोण माडरेट रहते

आर्थिक पाये पर खडा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया' और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्वी आदि की किताबो ने हमारे राष्ट्रीय विचारो के विकास मे एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध मे आगे चलकर जो और खोज हुई उसने भी बहुत प्राचीन काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगो का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बडे सतोष के साथ उन्हे पढते है। हमे यह भी पता लगा कि अग्रेजो के लिखे इतिहास। म हिन्दुस्तान मे अग्रेजो के कारनामो के बारे मे हमारे मन मे जो धारणा बन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे है।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत मे उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके वर्णनो को उत्तरोत्तर चुनोती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हीकी विचार धारा के घेरे मे करते थे। १९ वी सदी के आखिर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे ओर छोटे-छोटे दलो का और कुछ नरम कॉग्रेसियो का भी, जो भावुकता मे कभी-कभी आगे बढ जाते है लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी १९ वी सदी मे रह रहे है, यही हाल है। यही सबब है कि एक लिबरल हिन्दुस्तान की आजादी के भाव ग्रहण करने मे असमर्थ है, क्योंकि ये दोनो चीजे मूलत अनमेल है। वह सोचता है कि कदम-ब-कदम म ऊँचे पदो पर पहुँचता चला जाऊँगा और बडी-बडी तथा महत्त्व की फाइलो पर कार्रवाई करूँगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ वह उसका एक पुर्जा बन जायगा और ब्रिटिश फौज जरूरत के वक्त उसकी रक्षा करने के लिए, बिना ज्यादा दखल दिये, किसी कोने मे पडी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य—डोमिनियन स्टेटस—से उसका यही मतलब है। यह एक बिलकुल वाहियात बात है जो कभी पार नही पड सकती, क्योकि अग्रेजो-द्वारा रक्षित होने की कीमत है हिन्दुस्तान की गुलामी। यदि यह मान भी ले कि एक विशाल देश के आत्म-सम्मान को यह गिराने वाला न हो तो भी हम दही और मही दोनो एकसाथ नही खा सकते। सर फ्रेडरिक व्हाइट, जिन्हे भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नही कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ्युचर ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' मे लिखते है—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयगा तो इग्लैण्ड उसके और तबाही के बीच मे आकर खडा हो जायगा, और जबतक वह इस धोखे मे है तबतक वह खुद अपने स्वराज की भी बुनियाद नही डाल सकता।" जाहिर है कि उनकी मन्शा उन लिबरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढग के हिन्दुस्तानियो से है जिनसे उनका साबका हिन्दुस्तान की असेम्बली के अध्यक्ष की हैसियत से पडा होगा। काग्रेस का ऐसा विश्वास नही

है। तब और आगे बढ़ी हुई दूसरी जमातों का तो जरूर ही नहीं हो सकता। मगर हाँ, वे सर फ्रेडरिक की इस बात से सहमत हैं कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है—और अगर उसकी तकदीर में कोई तबाही लिखी ही हो और वह उसका मुकाबिला करने के लिए अकेला न छोड़ दिया जाय—तबतक हिन्दुस्तान को आजादी नहीं मिल सकती। जिस दिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फौज का दौर-दौरा मुकम्मिल तौर पर हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आज़ादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि १९ वीं सदी के पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव में आ जायँ, लेकिन बड़े ताज्जुब की बात तो यह है कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों और दिल हिलादेनेवाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम में पड़े हुए हों। १९वीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन कुलीन वर्गों में से था, जिनके पास काफी धन-दौलत, हुकूमत और सफलतायें थीं। इस लम्बी जिन्दगी और तालीम ने उनमें कुछ श्रीमतशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात में सुख मान सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुँचाने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हें काफी मदद की। वे अपनेको—जैसा कि कितनी ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाडले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दर्जे और रुतबे को मानते रहें और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी खातिर करेंगे, बशर्ते कि उससे उनका कुछ नुकसान न हो। लेकिन उनकी मुखालिफत करना मानो ईश्वरी व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आन्द्रे सीगफ्रीद ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मजेदार प्रकाश डाला है—

'परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पड़ी हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो [illegible] था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य जाति समझने [illegible] का एक अजीब-सा रंग पड़ा हुआ था। यहाँतक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती [illegible] जाने पर भी यह ढंग वास्तव में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। [illegible] के अन्त का नवयुवक-सम्प्रदाय स्वभाव से ही यह विश्वास करने लगा कि यह [illegible] तो उसका हक है।

[illegible] घटनाओं (के रहस्य) को समझने के इस ढंग पर जोर देना इसलिए दिल-

चस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, खासकर इस नाजुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियायें स्पष्ट हो जाती हैं। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज जाति इन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं में ही ढूँढने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरुआत सदा किसी दूसरे के कुसूर से होती है और अगर यह (कुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राजी हो जाय तो इंग्लैंड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त करले ···(अंग्रेज जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि खुद तो न बदले, लेकिन दूसरे बदल जायं।'

सारे जगत् के प्रति अंग्रेजों का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान में तो वह और भी ज्यादा प्रकट है। अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान के मसलों को जिस तरह हल करना चाहते हैं, वह है तो कुछ आकर्षक मगर है भड़कानेवाला। शांति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी जिम्मेदारी को बहुत योग्यता के साथ निबाहा है, अपनी जाति की भवितव्यता पर और अपने नमूने के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस सच्ची श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिकों और पापियों पर क्रोध और घृणा—इन भावों की तह में एक किस्म का धार्मिक जोश-सा दिखाई देता था। मध्यकालीन रोमन केथोलिक धर्म-विचारकों की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए हमारे उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार में रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को शाही योजनाओं के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश सांचे में ढालना हो गया। जितना ही ज्यादा हम ब्रिटिश आदर्शों और ध्येयों को मानते जायँगे उतना ही ज्यादा हम स्वराज या स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायँगे। ज्योंही हम इस बात की गैरंटी दे दें और यह दिखला दें कि हम अंग्रेजों की इच्छा के अनुसार ही अपनेको मिली हुई आजादी का उपयोग करेंगे, त्योंही आजादी हमारे पास आ जायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के इस कच्चे चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज एकमत न होंगे। और, शायद, यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफसर, यहाँतक कि भारत-मंत्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खींचते हैं और ऐसी बातें कहते हैं जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नहीं होती, तो एक बड़ा धक्का लगता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगों को छोड़कर अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान के बारे में

असाधारण रूप से बेखबर है। जबकि हकीकतें ही उनको धोखा दे जाती है तब हिन्दुस्तान की स्पिरिट तो उनकी पहुँच के कितने परे होगी ? उन्होने उसके शरीर को जोर-जबरदस्ती से पकड़कर अपने कब्जे मे कर तो लिया है, लेकिन वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते है और न समझने की कोशिश ही करते है। उन्होने कभी उसकी आँख से आँख नही मिलाई। वह मिलाते भी कैसे ? क्योकि उनकी तो आँखे फिरी हुई थी और उसकी शर्म व जिल्लत मे झुकी हुई थी। सदियो के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते है, तो अब भी अजनबी-से बने हुए है और दोनो के मन मे एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए है।

अपने इस घोर अध पतन और दरिद्रता के बावजूद, हिन्दुस्तान काफी शरीफ और महान् है। और हालाकि वह पुरानी परपरा और मौजूदा मुसीबतो से काफी दबा हुआ है और उसकी पलके थकान से कुछ भारी मालूम होती है, फिर भी "अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु मे अद्भुत विचारो, स्वच्छद कल्पनाओ और उत्कृष्ट मनोभावो की झलक दिखाई देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर मे अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा मे वह कई युगो मे से होकर गुजरा है, और रास्ते मे उसने बहुत ज्ञान और अनुभव सचित किया है, दूसरे देश-वासियो से देन-लेन किया है, उन्हे अपने बड़े कुनबे मे शामिल कर लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे है, बड़ी-बड़ी जिल्लते उठाई है, महान् दुख झेले है और कई अद्भुत दृश्य देखे है, लेकिन अपनी इस सारी लबी यात्रा मे उसने अपनी अति प्राचीन सस्कृति को नही छोड़ा। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगो को उसका स्वाद भी चखाया है। घड़ी के लटकन की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारो से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुँचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये है और उसे नरक-कुण्ड मे गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दुखदाई वहमो और पतनकारी रस्म-रिवाजो के बावजूद, जोकि उसमे घुस आये है और जिन्होने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस शान्ति और जीवन को अपने हृदय मे कभी नही भुलाया, जो उसकी कुछ अनुभवी आत्माओ ने इतिहास के उस काल मे उसे दी है और जो उपनिषदो मे सचित है। उनकी प्रखरबुद्धि सदा खोज मे लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की खोज मे व्याकुल रहती थी। वह जड सूत्रो को पकड़कर नही बैठी रही और न मुर्दा विधि-विधानो, ध्येय-वचनो और निरर्थक कर्म-काण्डो मे डूबी रही। न तो उसने इस लोक मे खुद अपने लिए कष्टो मे छुटकारा चाहा, न उस लोक मे स्वर्ग

की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश मांगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा, मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[१] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री-मंत्र—में जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते है, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालांकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकडे-टुकडे होते रहे है, लेकिन उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य विरासत की रक्षा की है और उसकी विविधताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है[२]। तमाम पुराने मुल्कों की तरह इसमें भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पडता था, लेकिन हाम की बदबू जाहिर थी और सूरज की कडी और निठुर धूप ने उसकी उस बुराई को दुनिया के सामने लाकर रख दिया।

इटली और भारतवर्ष में कुछ समता है। दोनों प्राचीन देश है और दोनों की संस्कृति भी पुरानी है, हालाँकि हिन्दुस्तान के मुकाबिले में इटली जरा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनों के टुकडे-टुकडे हो गये है लेकिन इटैलियनों की यह भावना कि हम 'इटैलियन' है, हिन्दुस्तानियों की तरह कभी नही मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधों में एकता ही मुख्य रही। इटली में वह एकता अधिकांश में रोमन एकता थी, क्योंकि उस विशाल नगर का उस देश में बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान में ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नहीं रहा। हालाँकि काशी को पूर्वी देशों की मोक्षपुरी कह सकते है—हिन्दुस्तान के ही लिए नहीं बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर में पड़ने की कोशिश नहीं की। सारे हिन्दुस्तान में भारतीय संस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को संस्कृति का केन्द्र नहीं कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर

१ 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७

२. "हिन्दुस्तान में सबसे बड़ी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समाई हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती, क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बाँधने के रूप में इतिहास में उसने अपनेको प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह कुबूल करना पडता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ्यूचर आफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में सर फ्रेडरिक व्हाइट।

हिमालय मे अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारो का प्रचार था और यदि किसी एक जगह मे विचारो का विरोध होता तो उसकी आवाज़ देश के दूर-दूर हिस्सोतक पहुँच जाती थी।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी योरप को धर्म और सस्कृति की भेट दी उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को सस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालाकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित पड गया था, उसकी सस्कृति का योरप मे बोलबाला था।

मेटरनिक ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है, और कितने ही दूसरे मेटरनिको ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनो देशो की भौगोलिक स्थिति मे भी समता है। लेकिन इग्लैण्ड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है। क्योकि बीसवी सदी के इग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवी सदी के मगरूर, हठी और प्रतापी उस आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जडो ने उसे ताकत दी थी वे सिकुड रही थी और उस जबर्दस्त वृक्ष मे ह्रास के कीटाणु घुसकर उसे खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को देवी-देवता के रूप मे मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नही सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड गई है और पहले के सस्कार भी ऐसे ही है। हिन्दुस्तान 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी दीखने मे युवती, जिसकी ऑखो मे दुख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगो के द्वारा अपमानित और प्रपीडित और अपने पुत्र-पुत्रियो को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हजारो लोगो की भावनाओ को उभाड देता है और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यत उन किसानो और मजदूरो का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नही है, क्योकि गरीबी खूबसूरत नही होती। क्या वह खूबसूरत महिला जिसका हमने काल्पनिक चित्र खडा किया है, नगे बदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतो और कारखानो मे काम करनेवाले किसानो और मज़दूरो की भावनाओ को प्रकट करती है? या वह उन थोडे से लोगो के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होने युगो से जनता को कुचला और चूसा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये है और उनमे से बहुतो को अछूत तक करार दे दिया है? हम अपने कल्पना-निर्मित जीवो को खडा करके सत्य को छिपाने की कोशिश करते है और असलियत से अपनेको बचाकर सपने की दुनिया मे विचरने का प्रयत्न करते है।

मगर इन अलग-अलग जात-पात और उनके आपसी संघर्षों के बावजूद उन सबमें एक ऐसा सूत्र रहता है जो हिन्दुस्तान को एकसाथ बाँधे हुए है, और उसके आग्रह, दृढता और सहिष्णुता को देखकर दांतो अंगुली दबानी पड़ती है। इस ताकत का क्या कारण है ? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जडता और परम्परा का प्रभाव ही नहीं है, हालांकि यो तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नहीं है। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व है, क्योंकि उसने जोरदार बाहरी प्रभावो का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया है और जो-जो भीतरी ताकते उसके मुकाबिले के लिए उठ खड़ी हुई उन्हे आत्मसात् कर लिया । और फिर भी, इस सारी ताकत के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को कायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका । ऐसा जान पडता है कि ये दोनो बाते इतनी तरद्दुद करने लायक नही जान पडी । उनके महत्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इसने हमे बड़ी हानि उठानी पडी है । सारे इतिहास मे भारत के प्राचीन आदर्श मे कही भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नही किया गया । वह धन-संपत्ति को और धन कमानेवाले वर्गों को हिकारत की दृष्टि से देखता था, सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनो एकसाथ नही रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त मे, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए ।

यो तो पुरानी संस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफानो और बवण्डरो का मुकाबिला करके भी अपनेको जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप कायम रख छोड़ा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्त्व खो चुकी है । आज वह चुपचाप और जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्तिमान् प्रतिद्वन्द्विनी-पश्चिम की बनिया संस्कृति से लड रही है । यह नवआगन्तुक वाणिज्य उसपर हावी हो जायगा, क्योंकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखो भूखो को भोजन देता है । मगर पश्चिम इस एक-दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयो का इलाज भी अपने साथ लाया है— साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त । यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नही है, लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियो, वर्गों और समूहो को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ मे नही) और जाति-भेद को मिटा देना । हो सकता है कि जब [illegible] इस लिबास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिबास तो [illegible]ड-चिथडे हो गया है, तो उसे उसमे इस तरह काट-छाट करनी पडेगी जिससे वह [illegible] अवस्थाये और पुराने विचार दोनो का मेल साध सके । जिन विचारो को वह ग्रहण करे वे अवश्य ऐसे हो जाने चाहिए जो उसकी भूमि के समरस हो जावे ।

५४

ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा है? मुझे यह सम्भव नही मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अग्रेज इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से विचार कर सकता हो। और यह सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्म घटनाओ को तोलना और जाचना तो और भी कठिन होगा। हमसे कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज दी है जो सदियो मे भी उसे हासिल नही हुई—अर्थात् ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उप-महाद्वीप के कोने-कोने मे मानी जाती है,"[1] इसने कानून का राज्य और एक न्यायोचित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है, इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्टरी-शासन की कल्पना तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है, और "ब्रिटिश भारत को एक सगठित एकछत्र राज्य मे परिवर्तित करके भारतवासियो मे परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है", और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अकुर का पोषण किया है।[1] अग्रेजो का यही दावा है और इसमे बहुत-कुछ सचाई भी है, हालांकि न्याययुक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातत्र्य बहुत वर्षो से नजर नही आ रहे है।

इस युग का भारतीय सिहावलोकन अन्य कई बातो को महत्त्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुँची है। दोनो के दृष्टि-कोण मे इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस बात की अग्रेज लोग तारीफ करते है उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते है। जैसा कि डॉक्टर आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है—"भारत मे अग्रेजी राज्य की एक सबसे ज्यादा विलक्षण बात यह रही है कि हिन्दुस्तानियो को पहुँचाई जानेवाली बड़ी से बड़ी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा बरसो मे हिन्दुस्तान मे जो परिवर्तन हुए है वे ससारव्यापी है, और वे पूर्व व पश्चिम के अधिकाश देशो मे समान रूप से हुए है। पश्चिमी योरप मे, और इसके बाद बाकी के देशो मे भी, उद्योगवाद के उत्थान के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ एकछत्र राज्य-सत्ता का

[1] ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी-ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी की रिपोर्ट से लिये गये है।

उदय हुआ । अंग्रेज लोग इस बात का श्रेय ले सकते है कि उन्होने पहली बार भारतवर्ष का पश्चिम के साथ सम्बन्ध जोडा और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया । परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज आने के लिए उन्हे मजबूर नही कर दिया । हिन्दुस्तान तो पहले ही दो सस्कृतियो का सम्मिलन-क्षेत्र था, एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की सस्कृति और दूसरी स्वय उसकी पूर्वी सस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी । और अब सुदूर पश्चिम से एक तीसरी और अधिक जोरदार लहर आई, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारो का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया । इसमे शक नही कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालो को हल कर देती, लेकिन अंग्रेजो ने, जो खुद इस लहर को लाने मे सहायक हुए थे, इसकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया । उन्होने हमारी औद्योगिक तरक्की को रोक दिया और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति मे बाधा डाल दी, और जितनी असामयिक माडलिकशाही या या दूसरी पुरानी रूढियाँ उन्हे यहाँ मिली उन सबका उन्होने पोषण किया । उन्होने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हदतक प्रगतिशील, कानूनो और रिवाजो तक को भी जिस स्थिति मे पाया उसी स्थिति मे जमा दिया और हमारे लिए उनकी जजीरो से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया । हिन्दुस्तान मे मध्यमवर्ग का उदय कोई इन लोगो की सद्भावना या सहायता से नहीं हुआ परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणो का प्रचार करने के बाद वे परिवर्तन की गति को बद नही कर सके, वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने मे ही समर्थ हुए और इससे उन्हे स्पष्ट रूप मे लाभ हुआ ।

"भारतीय शासन की शाही इमारत इसी पुख्ता नीव पर खडी की गई है और बडे भरोसे के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से, जबकि ईस्टइडिया कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट् की हुकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-सबन्धी और माली तरक्की उससे कही ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढाव के इतिहास के किसी भी काल मे हासिल करना उसके लिए सम्भव था।"[1] लेकिन यह बात ऐसी नही मालूम होती जैसी कि बताई गई है और यह बार-बार कहा गया है कि अंग्रेजी राज्य का उदय होने से साक्षरता मे तो दरअसल कमी आ गई है। लेकिन यह कथन बिलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगो से तुलना करना । विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के करीब

१. ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी १९३४ की रिपोर्ट ।

ीब सभी देशों में, पिछली सदी में, बड़ी भारी तालीमी और माली तरक्की हुई है, र ऐसे किसी भी देश के बारे में यह यकीनन कहा जा सकता है कि इस तरह की न्नति "उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के ल्मी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।", हालांकि शायद उस देश ा इतिहास भारत के इतिहास के मुकाबिले में पुराना न हो। अगर हम यह कह कि स तरह की औद्योगिक उन्नति हमको इस औद्योगिक युग में ब्रिटिश शासन के न ोने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फजूल का ही झगड़ा या जिद है? ौर सचमुच में अगर हम बहुत-से दूसरे देशों की हालत से अपनी हालत का मुकाबिला कर तो क्या हम यह कहने का साहस न करें कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा ोती? क्योंकि हमें अंग्रेजों के उस प्रयत्न से भी तो भिड़ना पड़ा है जो उन्होंने उस उन्नति का गला घोटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि अंग्रेजी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नहीं माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूँकि अंग्रेज लोग संयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमें उनका शुक्रगुजार होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास खास तौर पर ब्रिटिश राज्य को मजबूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसें और नाड़ियां थीं जिनमें होकर राष्ट्र के खून को गर्दिश करनी चाहिए थी, जिससे व्यापार की तरक्की होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाई जाती, और करोड़ों मनुष्यों को नई जिन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आखिरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलता ही, लेकिन इन्हें जमाने और काम में लाने का मकसद ही दूसरा था—साम्राज्य के पंजे को मजबूत करना और अंग्रेजी माल का बाजार में खपाना—जिसके पूरा करने में ये लोग कामयाब भी हो गये। मैं औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीकों के बिल्कुल पक्ष में हूं, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान में सफर करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे की जंजीरों के समान मालूम पड़ी है, जो भारतवर्ष को जकड़े हुए और बन्दी बनाये हुए है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजों ने अपने शासन का आधार जिस कल्पना पर रखा है वह [illegible] ही है जैसी कि एक पुलिस-राज्य की होती है। शासन का काम तो सिर्फ [illegible] [illegible] करना था और बाकी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक [illegible] [illegible] सम्बन्ध फौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और [illegible] [illegible] [illegible] की आर्थिक उलझनों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और [illegible] [illegible] दी जाती थी। जनता की सांस्कृतिक और [illegible] [illegible]

कता, कुछ थोडी-सी को छोडकर, बिलकुल बालाये ताक रखदी जाती थी। सार्वजनिक राजस्व की परिवर्त्तनशील धारणाये, जिनके फलस्वरूप अन्य देशो मे निःशुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्तियो का पालन, श्रमजीवियो का बीमारी, बुढापे तथा बेकारी के लिए बीमा, वगैरा जारी हुए, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बाते थी। वह इन खर्चीले कामो म नही पड सकती थी, क्योकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा कम आमदनीवालो से ज्यादा आमदनीवालो की बनिस्बत ज्यादा वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामो पर उसका इतना अधिक खर्च था कि वह करीब-करीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेज़ी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ ऐसी ही बातो पर ध्यान दिया जाय जिनसे कि मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक कब्ज़ा मज़बूत हो। बाकी सब बाते गौण थी। अगर उन्होने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-फोर्स की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते है, लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सके। एकता चीज अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नही है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बडा भारी बोझ बन सकता है, और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओ मे निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगो की वह रक्षक मानी जाती है उन्हीके खिलाफ खडी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बर्ट्रेन्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना ग्रीस की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही मे लिखा है—'हमारी सभ्यता के मुकाबिले मे ग्रीस की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चगुल से बचा सकते थे।"

भारत मे अग्रेजो के आधिपत्य से हमे अमन-चैन मिला है। हिन्दुस्तान को मुगल-साम्राज्य के पतन के पीछे होनेवाली तकलीफो और कम्बख्तियो के बाद अमन-चैन की जरूरत भी थी इसमे शक नही। अमन-चैन एक बडी कीमती चीज है जो किसीभी तरह की तरक्की के लिए जरूरी है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसकी कीमत की भी एक हद होनी चाहिए। अगर वह किसी भी कीमत पर खरीदी जायगी तो उससे हमे जो शान्ति मिलेगी वह स्मशान-शान्ति होगी। और उसके जरिये हमे जो हिफाजत मिलेगी वह होगी पिजरे या जेलखाने की-सी हिफाजत। या अमन ऐसे लोगो की बेकस मायूसी हो सकता है, जो अपनी बहबूदी करने के काबिल

न रह हो। विदेशी विजेता की जबरन कायम की हुई शान्ति मे वे विश्रामप्रद और शान्तिदायक गुण मुश्किल से पाये जाते है जो सच्ची शान्ति मे होते है। युद्ध बडी भयकर चीज है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणो को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, मिलकर रहने की शक्ति, दृढता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, मौलिकता, मितव्ययिता, शारीरिक स्वस्थता और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूप तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयकरता के बिना ही किसी जाति मे ऊपर के इन गुणो को उत्तेजन दे। अगर उन्हे असहयोग और सविनय-भग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शान्तिमय सादृश्य मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओ पर विचार करना फजूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान योरप के सम्पर्क मे आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बडी भारी देन है और हिन्दुस्तान मे इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर भी, शायद सिर्फ जोर-जोर की लगातार टक्करे ही हमे गहरी नीद से जगा सकती। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेन्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सेक्सन अग्रेज लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योंकि अन्य पश्चिमी जातियो की बनिस्बत उनमे और हमारे मे बहुत ज्यादा फर्क था और वे हमे अधिक जोर की ठोकर लगा सकते थे।

उन्होने हमे राजनैतिक एकता दी, जो एक वाञ्छनीय वस्तु थी, पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढती ही और इस प्रकार की एकता का तकाजा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख्तलिफ रियासतो मे बटा हुआ है, जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि है। लेकिन उन सबमे [illegible] अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड रही है। इसमे कोई शक नही कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ उसके मार्ग मे बाधक न हो तो अरबी राष्ट्रीयता [illegible] हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान मे किया जा रहा है इन शक्तियो का इरादा यही रहता है कि झगडालू प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन दिया [illegible] और अल्प मत की समस्याये पैदा कर दी जायं जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठडा [illegible] और कुछ अश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और [illegible] पच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

[illegible] हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की बढोतरी के प्रगाश्च-

न्याय से प्राप्त हुई है। बाद मे जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और फिरकेबंदी को जान-बूझकर बढाये जाने के दृश्य आने लगे और ये दोनो बाते हमारी भावी उन्नति के मार्ग मे बडे जबरदस्त रोडे है।

अंग्रेजो को यहा आये हुए कितना लम्बा अर्सा हो गया और उन्हे शक्तिशाली हुए भी पौने दो सौ वर्ष हो गये। स्वेच्छाचारी शासकों की भाति वे मनचाही करने मे स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्जी के मुताबिक ढालने का उनके पास काफी सुन्दर मौका था। इन वर्षो मे ससार बिल्कुल ही बदल गया है—इग्लैण्ड, योरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये है। अठारहवी सदी के अटलाण्टिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान मे सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये है, जापान मे थोडे से ही समय मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है, रूस का विशाल प्रदेश, जहा अभी कल तक ही जार के शासन का फौलादी पंजा सब प्रकार की उन्नतियो का गला दबा रहा था, आज नवजीवन से परिप्लावित हो रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खडी कर रहा है। हिन्दुस्तान मे भी बडे भारी परिवर्तन हुए है और यह देश उससे बहुत भिन्न है जो अठारहवी शताब्दी मे था—रेले, नहरे, कारखाने, स्कूल और कॉलेज, बडे-बडे सरकारी दफ्तर, आदि बन गये है।

और फिर, बावजूद इन परिवर्त्तनो के, आज हिन्दुस्तान की क्या हालत है? वह एक गुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिजडे मे बन्द करदी गई है जो खुलकर सास लेने की भी हिम्मत नही कर सकता; जो दूर देश मे रहनेवाले विदेशियो द्वारा शासित है, जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोडी उम्र मे मरनेवाले और रोगो तथा महामारियो से अपने-आपको बचाने मे असमर्थ है, जहाँ अशिक्षा चारो ओर फैली हुई है, जहाँके बहुत-से बडे-बडे प्रदेश हर तरह की सफाई या चिकित्सा के साधनो से रहित है और जहाँ मध्यमवर्ग और जनता दोनो मे बडे भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि स्वाधीनता, जनसत्तावाद, समाजवाद, वर्गवाद, आदि अव्यावहारिक आदर्शवादियो, सिद्धान्तवादियो और धोखेबाजो की पुकार है, असली कसौटी तो सारी जनता की भलाई को समझना चाहिए। यह वास्तव मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी है, लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशो मे होनेवाली बेकारी कम करने तथा कष्टो को दूर करने की बडी-बडी योजनाओ की बाते पढते है, लेकिन हमारे यहाँ के करोडो बेकारो और चारो ओर फैले हुए स्थायी घोर कष्टो को कौन पूछता है? हम दूसरे देशो की गृह-योजनाओ के विषय

मे भी सुनते है, हमारे यहाँ के करोडो मनुष्यो के, जो कच्ची झोपडियो मे रहते है या जिनके पास रहने तक को जगह नही, मकान कहाँ है ? क्या हमे दूसरे देशो की हालत से ईर्ष्या न होगी जहाँ शिक्षा, सफाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सास्कृतिक सुविधाये, और पैदावार बडी शीघ्रता से तरक्की कर रही है, जबकि हम लोग जहाँ थे वही खडे हुए है या बडी दिक्कत के साथ जूँ की तरह रेग रहे है ? रूस ने बारह साल के थोडे-से समय मे ही आश्चर्यजनक प्रयत्नो से अपने विशाल देश की अशिक्षा का करीब-करीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की ऐसी सुन्दर और नई-से-नई प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछडे हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफा कमाल के नेतृत्व मे देश-व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग मे बहुत लम्बा कदम बढाया है। फासिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ मे ही जोरो से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेन्टाइल ने आवाज उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोडा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सडा रहा है, गरम लोहे से दाग दिया जाना चाहिए।" घर मे बैठकर बाते करने मे ये शब्द भले ही कठोर और भद्दे मालूम हो, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह मे रहने-वाली दृढता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र है और बहुत चिकने-चुपडे वाक्यो का प्रयोग करते है। हम लोग खूब फूँक-फूँककर कदम रखते है और अपनी तमाम शक्तियो को कमीशनो और कमिटियो मे बरबाद कर देते है।

हिन्दुस्तानियो पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बाते तो बहुत ज्यादा करते है पर काम जरा भी नही। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अग्रेजो की [illegible] कमिटियो और कमीशनो की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करे जिनमे [illegible] [illegible], बडे परिश्रम के बाद, एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—"एक महान् सरकारी [illegible] [illegible]"—तैयार करता है, जो बाकायदा तारीफ किये जाने के बाद दाखिल-दफ्तर [illegible] [illegible] दी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढने का, तरक्की का, भास तो [illegible] [illegible] है लेकिन हम रहते वही-के-वही है। मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित [illegible] [illegible] भी अछूते और सुरक्षित बने रहते है। दूसरे देश यह सोचते है कि किस तरह [illegible] [illegible], हम रुकावटो, अटकावो और सरक्षणो का विचार करते है कि कही उन्नति [illegible] [illegible] ज्यादा तेज न चलने लगे।

[illegible] [illegible] शान-शौकत रिआया की गरीबी का नाप बन गई'—मुगल साम्राज्य के [illegible] [illegible] यह बात हमको (ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी १९३४ के द्वारा) बताई [illegible] [illegible] यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम मे नही ला [illegible] [illegible] यह वाइसराय की शान-शौकत और तडक-भडकवाली नई दिल्ली और

प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है ? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की गरीबी । यह भिन्नता दिल को चोट पहुँचाती है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बरदाश्त कर सकते हैं । तमाम शाही वैभववाली इस ऊँची दूकान के पीछे आज हिन्दुस्तान का एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय चित्र है । जोड़-तोड़ मिलाकर और दिखावटी बातों से शाही शान-शौकत बढ़ादी गई है, लेकिन इसके पीछे निम्न मध्यमवर्ग के कमबख्त लोग हैं, जो जमाने की हालतों में पिसते ही चले जा रहे हैं । इनके पीछे श्रमजीवी लोग हैं, जो पीस डालनेवाली गरीबी में कमबख्ती की जिन्दगी बसर कर रहे हैं और इनके बाद किसान लोग हैं जो हिन्दुस्तान का वह नमूना है जिनकी किस्मत में "अनन्त अवकाश में रहना" ही लिखा है ।

"आह ! कितनी सदियों के भार से दबा हुआ यह झुका खड़ा है—
झुका हुआ है अपने फावड़े के सहारे पर, और देख रहा है जमीन की ओर
उसके चेहरे पर शून्यता का यह आलेखन तो देखो
और उसकी जर्जरित पीठ पर यह दुनिया भर का बोझ है ।

× × × ×

युगों की पीडायें झाँक रही है इस भयावने हड्डियों के पिंजड़े में से ।
वह झुका है या यह महाकाल की दुःखान्त पीड़ा है,
जगत की निर्मातृ शक्तियों के आगे मानवता रो रही है—
अपना दुःख सुना रही है इन हड्डियों के झरोखों से वह मानवता —
ठगी हुई, लुटी हुई और अधिकार पद से उतारी हुई,
उसका यह विरोध-रोदन भविष्यवाणी भी तो है ।[1]

१ **ये उद्धरण अमेरिका के कवि ई० मारखम की** The man with the Hoe **नामक कविता से लिये गये हैं । मूल अंग्रेज़ी कविता इस प्रकार है—**

'Bowed by weight of centuries he leans
Upon his hoe and gazes on the ground
The emptiness of ages on his face,
And on his back the burden of the world

× × × ×

"Through this dread shape the suffering ages look
Time's tragedy is in that aching stoop,
Through this dread shape humanity betrayed
Plundered, profaned and disinherited,
Cries protest to the powers that made the world,
A protest that is also prophecy."

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफों का दोष अंग्रेजों के सिर मढ़ना ठीक नहीं होगा। इसकी जिम्मेदारी तो हमको अपने ही कंधों पर लेनी पड़ेगी और उससे हम बच भी नहीं सकते, अपनी कमजोरी के अनिवार्य परिणामों के लिए दूसरों को दोष देना अच्छा नहीं मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, खासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली, जरूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टिकोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवकों की सबसे सुन्दर प्रवृत्तियों—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, बल-वीर्य—को पीस डालना और जी चुराना, लकीर के फकीर बने रहना और अफसरों की कदमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्वजनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नहीं होती, यह तो ऐसे लोगों को छाँट लेती है जिनमें सेवा के भाव बहुत कम हों और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से जिन्दगी बसर करना हो। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज लोग कैसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं ! इनमें से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक होते हैं। ये लोग दूसरी जगह मौका न मिलने के कारण सरकारी या नीम-सरकारी नौकरियों में पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते हैं और उस बड़ी मशीन के पुर्जे मात्र बन जाते हैं, उनके दिमाग काम के सुस्त ढरें में कैद हो जाते हैं। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का खूब अच्छा ज्ञान, और दफ्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते हैं। सार्वजनिक सेवा में ज्यादा-से-ज्यादा उनकी सात्त्विक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहाँ न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य में यह सम्भव ही नहीं है।

लेकिन इनके अलावा, छोटे-मोटे अफसरों में भी अधिकतर किसी तारीफ के [illegible] काबिल नहीं होते। क्योंकि उन्होंने तो सिर्फ अपने बड़े अफसरों की कदमबोसी करना और अपने मातहतों को डाटना ही सीखा है। इसमें उनका कुसूर नहीं है। यह शिक्षा तो [illegible] शासन-प्रणाली से मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारों के साथ रियायत [illegible] फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमें ताज्जुब ही क्या है ? नौकरी में [illegible] और आदर्श नहीं रहता, उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप [illegible] के डर का भूत लगा रहता है, और उनकी खास नीयत यह रहती है कि [illegible] नौकरी से चिपके रहें और अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए और दूसरी [illegible] प्राप्त करें। जहाँ भेदिया, और सबसे ज्यादा घृणित जीव, मुखबिर, [illegible] पीछे लगे फिरते रहते हैं, वहाँ लोगों में अधिक वाञ्छनीय गुणों की वृद्धि [illegible] है।

हाल की घटनाओं ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भाववाले व्यक्तियों के लिए सरकारी नौकरी में घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती नहीं और वे उससे उस समय तक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना नहीं चाहते जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायं।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरों पर है, काले पर नहीं। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरि और उनके विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए, संरक्षणों की हमारे य भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब हैं हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊँची नौकरियों के स्व हितों और उन्नति के साथ बँधा हुआ है। हमसे कहा जाता है कि अगर भारतं सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊँचा ओहदा छीन लिया गया तो उस नतीजा बदइन्तजामी और रिश्वतखोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्वि की रिजर्व की हुई नौकरियाँ कम करदी गई तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती लिए खतरनाक" हो जाती है। और हाँ, अगर फौजों में अंग्रेजों की संख्या को ह लगाया गया तो दुनियाभर के भयंकर खतरे हमारे सामने आ जाते हैं।

मेरा खयाल है कि इस बात में कुछ सचाई है कि अगर ऊँचे अफसर यकाय चले गये और अपने महकमों को मातहतों के भरोसे छोड़ गये तो इन्तज़ाम में क जरूर आयगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बन गई है, और मातहत लोग किसी हालत में भी कोई बहुत लायक नहीं हैं, न उ कन्धों पर कभी ज़िम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास होता है कि हिन्दुस्त में अच्छी सामग्री बहुतायत से पड़ी हुई है और वह थोड़े ही समय में मिल भी सक है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम में लाये जायँ। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शा और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ है एक राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान में चाहे जो परिव हमारे सामने आवे, हमारी देखरेख करनेवाला और हमें आश्रय देनेवाला बड़ी-ब नौकरियों का मजबूत ढाँचा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढ़ रहस्यों को जानने और दूसरों को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उस रक्षा करेंगे और अनधिकारी लोगों को उस पवित्र प्रांगण में न घुसने देंगे। क्रम-क से जैसे-जैसे हम अपनेको उसके योग्य बनाते जायँगे, वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे प को हमारे सामने से उठाते जायँगे, और इस तरह अन्त में किसी सुदूर भवि

। अन्तर्कपाट खुलेंगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धायुक्त आँखों के सामने वह विनम्र देवमूर्ति खडी दिखाई देगी ।

इन शाही नौकरियों मे सबसे ऊँचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और न्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या लानत ज्यादातर सीको मिलनी चाहिए। हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक गुण बतलाये जाते है। ाम्राज्य की योजना मे इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा बन गया है। हिन्दुस्तान इसकी सर्वमान्य अधिकारपूर्ण स्थिति और उससे उत्पन्न स्वेच्छाचारिता और र्याप्त परिमाण मे मिलनेवाली तारीफ और वाहवाही, यह सब किसी भी व्यक्ति या ामुदाय के दिमाग को स्थिर रखने के लिए बहुत अच्छी चीजे नही हो सकती। इस ।विस के लिए प्रशंसा के भाव रखते हुए भी मुझे सकोच के साथ स्वीकार करना ड़ना है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो ही तरह यह पुरानी लेकिन कुछ-कुछ ।वीन बीमारी—उन्माद—की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइयो से इन्कार करना फजूल है, क्योकि हमे नको भूलने ही नही दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे मे इतनी निरर्थक बाते ही गई और कही जाती है कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोडी-सी लई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेबलेन ने विशेष अधिकार- ाप्त वर्गो को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे खयाल से, इण्डियन सिविल सर्विस और सरी शाही नौकरियो को भी 'सुरक्षित नौकरिया' कहना उतना ही युक्ति-युक्त ोगा। यह एक बडी महँगी ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर रह चुके है और हिन्दुस्तान के मामलो मे बहुत दिलचस्पी लेते है, कुछ दिन हुए, 'माडर्न रिव्यू' ा एक लेख लिखा था, जिसमे उन्होने बताया था कि "अभीतक इस बात पर किसीने आपत्ति नही की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार [illegible]र चीज है।" चूंकि इस प्रकार की बाते इग्लैण्ड मे अक्सर कही जाती है और उस- र विश्वास किया जाता है, इसलिए इसकी परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के [illegible] निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही मे काटे जा सके, हमेशा खतरनाक होता [illegible]र मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल गलत है कि इस बात पर कभी किसी- [illegible] राज नही किया। इसको तो बारबार चुनौती दी गई है और ठीक नही माना [illegible]र काफी अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन सिविल सर्विस [illegible] बहुत-सी कड़वी बाते कही थी। औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—वह कांग्रेसमैन [illegible] हो—मेजर ग्रैहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नही हो

सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनों कुछ अंश तक ठीक हों और भिन्न-भिन्न गुणों को मद्देनजर रखकर सोचते हों। आखिर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मजबूत बनाये रखने और देश को चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस जरूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज्यादा जाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढंग के लिहाज से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फर्ज है और दरअसल जिसके पास से इनकी उतनी लम्बी-चौड़ी तनख्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आम तौर पर इस सर्विस ने अपना एक खास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालाँकि वह स्टैण्डर्ड लाजमी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले हैं। ऐसी किसी सर्विस से ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती। इसके अन्दर लाजिमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये हुए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी (हालाँकि इंडियन सिविल सर्विस के बहुत-से अफसर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं)। हालाँकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के खास गुण रोजमर्रा के नीरस काम-काजों में, और कुछ इस डर से कि कहीं दूसरों से भिन्न न नजर आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत-से उत्साही लोग भी थे, और बहुत से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कहीं दूसरे नम्बर में आता था। जिस तरह की तालीम उन्हें मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ ऐसा ही कर सकते थे। चूँकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बैर-भरे वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक खास स्टैण्डर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तकाजा था, और चूँकि उनको मनमानी करने के खूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज होते थे और उसे बड़ा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और गैर-जिम्मेदार राज्य-शासकों के बहुत-से दुर्गुण अपने अन्दर भरते जाते थे। वे अपने ही में सन्तुष्ट रहने और किसी

दूसर की कुछ दरकार नहीं समझते थे। उनके दिमाग सकीर्ण और घडे-घडाये थे, जो परिवर्तनशील समाज मे भी अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्य और स्थिति को अच्छी तरह समझनेवाले हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज होते, उन्हे खरीखोटी सुनाते, उनको दबाने और उनके मार्ग मे सब तरह रोडे अटकाते। जब युरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्तनो ने गतिशील स्थिति उत्पन्न कर दी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और सकीर्ण शिक्षा ने उन्हे ऐसी सकटापन्न और नवीन परिस्थितियो के योग्य नही बनाया था। लम्बे अर्से तक गैर-जिम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड चुके थे। समुदाय-रूप मे तो उनको करीब-करीब बिलकुल निरकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिसपर सिर्फ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमे बिगाड देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड देती है।"

मामूली तौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे मे विश्वासपात्र अफसर होते थे, जो अपना रोजमर्रा का काम काफी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमे प्रवीणता नही होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हे घबरा देती थी। हालाकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी कायदे के साथ काम करने की आदते और उनका आपसी भ्रातृ-भाव, उनको तात्कालिक कठिनाइयो पर विजय पाने मे सहायता देते थे। मेसेपोटेमिया मे की हुई मशहूर गडबड ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जडता का भडा-फोड कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गडबडे जाहिर ही नही होने पाती है। सविनय-भग मे जो प्रतिक्रिया इनपर हुई वह भी भोडी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोडी देर के लिए दुश्मनो से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नही होता। और उच्चता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसकी जड पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होने एक बढनेवाले और तेज-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुकाबिला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमे कोई [illegible] की बात नही थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योकि साम्राज्यो का आधार [illegible] होता है और विरोध का मुकाबिला करने के लिए उन्हे दूसरा तरीका ही नही [illegible] था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया [illegible] इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल काबू नही रहा था, [illegible] आत्म-सयम और निग्रह नही रह गया था जो साधारण अवस्थाओ मे

उनमे रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक वक्तव्यो मे भी फजूल बकवास-सी नजर आती थी। मामूली तौर पर रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। खतरा बडी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी कमजोरियो का भडा-फोड कर देता है। सविनय भग एक ऐसा ही खतरा और ऐसी ही परीक्षा थी, और लडनेवाले दोनो दलो—कॉंग्रेस या सरकार—मे से कोई भी उस परीक्षा मे पूरा नही उतरा। मि० लाइड जार्ज कहते है कि खतरे के समय मे ऊँचे दर्जे की दिमागी ताकत रखनेवाले पुरुष और स्त्रियो की सख्या बहुत कम मिलती है, और "बाकी लोगो की खतरे मे कोई गिनती नही। छोटी-छोटी पहाडियाँ, जो सूखे मौसम मे उभरी हुई-सी दिखाई पडती है, जोर की बाढ मे फौरन डूब जाती है, जबकि सिर्फ सबसे ऊँची चोटियाँ ही पानी की सतह के ऊपर नजर आती है।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इडियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग से तैयार न थे। उनमे से बहुतो की आरम्भिक शिक्षा पुराने शाही जमाने की थी, जिसकी वजह से उनमे कुछ सस्कृति और आकर्षण बना हुआ था। यह तो पुरानी दुनिया का रुख था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओ मे जिसके लिए कोई स्थान न था। वे लोग अपने सकुचित और गूलर के समान 'ऐंग्लो-इडिया' ससार मे निवास करते थे जो न इग्लैण्ड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज मे जो शक्तियाँ काम कर रही थी उनकी कदर वे कर ही नही सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मजेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे मे कुछ नही जानते थे, और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे मे तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियो की योग्यता का अन्दाज उन चापलूसो और नौकरी के उम्मीदवारो से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाकी लोगो को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज कहकर उडा देते थे। लडाई के बाद होनेवाले ससार-व्यापी और खासकर आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनो का उन्हे बहुत थोडा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक मे फँस गये थे कि परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल अपनेको बना नही सकते थे। वे इस बात को महसूस नही करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतो मे पुरानी पड चुकी थी, और न कि वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस जाति के निकट पहुँच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० इलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' मे किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जबतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तबतक कायम रहेगा और यह अभीतक काफी शक्तिशाली है और अब भी उसमे योग्य और कुशल नेता है। भारत मे अग्रेजी-राज्य एक सडते हुए दॉत के समान है जो अभीतक

मज़बूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नहीं जा सकता। यह दर्द सम्भवत जारी रहेगा और बढ़ता भी रहेगा, जबतक कि दांत निकाला न जाय या खुद गिर न पड़े।

पब्लिक स्कूलवालों के दिन इंग्लैण्ड में भी पूरे हो गये और अब उनकी वैसी निष्ठा नहीं है जैसी पहले थी, हालाँकि सार्वजनिक मामलों में वे अब भी प्रमुख। हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा गैरमौजूँ है और उग्र राष्ट्रीयता के साथ तो उसका मेल बैठ सकता है और न उसके साथ सहयोग ही हो सकता है, सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस में अनेक बढ़िया आदमी भी हैं, अंग्रेज भी और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली कायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों के पूरा करने में खर्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियों को कुछ फायदा नहीं है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफसर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने गुलाम हैं कि वे अपनेको सम्राट् से भी ज्यादा शाही समझते हैं। मुझे याद है कि मेरी मुलाकात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफसर से हुई थी जो अपने लिए बड़ी ऊंची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मैं सहमत नहीं हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत-से गुण गाये और अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में यह लाजवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चंगेजखां तथा तैमूर के साम्राज्यों से बेहतर नहीं है?

इण्डियन सिविल सर्विसवालों की मुख्य भावना यह है कि वे अपना फर्ज बड़ी होशियारी के साथ अदा करते हैं, और इसलिए वे अपने दावों पर जोर दे सकते हैं, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के हैं। अगर हिन्दुस्तान गरीब है तो यह कसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजों का, महाजनों और रुपया उधार देनेवालों का, और सबसे ज्यादा उसकी बड़ी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बड़ी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे में वे क्या करना चाहते हैं यह मैं नहीं जानता, क्योंकि अकालों, महामारियों और आम तौर पर बड़ी तादाद में मौतों से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहां की आबादी अभी बहुत ज्यादा है। सन्तति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मैं तो यद्यपि इसके पक्ष में हूँ कि सन्तति-निग्रह के ज्ञान और तरीकों का प्रचार किया जाय, लेकिन खुद इन तरीकों का प्रयोग ही जनता के रहन-सहन का एक काफी ऊंचा दर्जा, हदतक मामूली शिक्षा और सारे देश में अनन्य चिकित्सालयों की अपेक्षा रखता है। मौजूदा हालत में सन्तति-निग्रह के तरीके साधारण जनता की

पहुंच से बिलकुल बाहर है। मध्यम वर्ग के लोग उनसे फायदे उठा सकते हैं और मैं समझता हूं कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण में ऐसा कर भी रहे हैं।

लेकिन ज़रूरत से ज्यादा जन-संख्या-सम्बन्धी यह दलील और भी गौर किये जाने के काबिल है। आज सारी दुनिया में सवाल यह नहीं है कि खाने की या दूसरी ज़रूरी चीजों की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालों की, या दूसरे शब्दों में, कमी है उन लोगों के लिए खाना वगैरा खरीदने की शक्ति की कि जो भूखों मर रहे हैं। अकेले हिन्दुस्तान को भी खाने की कोई कमी नहीं है, हालांकि आबादी बढ़ गई है, खाने का सामान भी बढ़ गया है, और आबादी के मुकाबिले में ज्यादा मिकदार में बढ़ सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की बढ़ोतरी का जिस कदर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवाय पिछले दस वर्षों के) ज्यादातर पश्चिमी देशों से बहुत नीची है। यह सच है कि भविष्य में यह फर्क बढ़ता जायगा, क्योंकि पश्चिमी देशों में आबादी की बढ़ोतरी को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की बढ़ोतरी को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति में होगा कि वह अपनेको जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे जरूर अपने सबसे अच्छे पुत्रों और पुत्रियों की आवश्यकता होगी। ऊँचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बड़ी मुश्किल से मिलते हैं और हिन्दुस्तान में तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योंकि हमें ब्रिटिश राज्य में उन्नति करने का मौका ही नहीं मिला। हमें सार्वजनिक कार्यों के अनेक विभागों में विदेशी विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होगी, खासकर ऐसे कामों के लिए, जिनमें खास तौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत हो। जो लोग इंडियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियों में रह चुके हैं उनमें बहुत-से ऐसे हिन्दुस्तानी और विदेशी होंगे जिनकी ज़रूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यकीन है कि जबतक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियों में सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी तबतक हिन्दुस्तान में किसी नई व्यवस्था की रचना नहीं की जा सकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और यह दोनों साथ साथ नहीं रह सकतीं। या तो यह स्वतन्त्रता को पीस डालने में सफल होगी, या खुद उखाड़ फैंकी जायगी। सिर्फ एक तरह की राज्य-प्रणाली में इसकी दाल गल सकती है, और वह है फासिस्ट प्रणाली। इसलिए मुझे यह निहायत जरूरी मालूम देता है कि, पेश्तर इसके कि हम नई व्यवस्था का कोई अमली काम शुरू करें, सिविल सर्विस और

न तरह की दूसरी शाही सर्विसों का खातमा हो जाना चाहिए। उन सर्विसों के अलग-लग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरी के लिए राजी हों और योग्य हों, खुशी के साथ वें, लेकिन सिर्फ नई शर्तों पर। यह तो कल्पना ही नहीं की जा सकती कि उनको ही फजूल की मोटी-मोटी तनख्वाहें और भत्ते मिलेंगे जो आज उन्हें दिये जा रहे हैं। वीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्ताओं की सेवायें चाहिएं जिन्हें उस हित में हार्दिक विश्वास हो जिसके लिए वे कार्य कर रहे हों, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हों, और जो बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के लोभ में नहीं, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हों। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना चाहिए। विदेशी सहायकों की बहुत ज्यादा जरूरत पड़ेगी, लेकिन मेरे खयाल से ऐसे राज-काज चलानेवालों की जरूरत सबसे कम होगी जिनको औद्योगिक ज्ञान न हो। ऐसे आदमियों का तो हिन्दुस्तान में कुछ अभाव न होगा।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि भारत के नरम दलवालों और उनके समान अन्य दलवालों ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय में अंग्रेजी विचार-सरणि को स्वीकार कर लिया है। सर्विसों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी साफ जाहिर हो जाती है, क्योंकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसों के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना में आमूल परिवर्तन के लिए नहीं। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नहीं सकता, क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता न केवल ब्रिटिश फौज और सर्विसों के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है बल्कि उसके लिए उनके दिमागों में घुसी हुई शासक-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख्वाहों और रिआयतों को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल में संरक्षणों की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित में रक्खे जायं, तो उनमें दूसरे बातों के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वगैरा का उनके वर्तमान रूप में तथा उनको मिली हुई शक्तियों और विशेष अधिकारों के साथ अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फौजी सर्विसों का हाल तो और भी रहस्यमय और भयकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते हैं, न उनके बारे में कुछ कह सकते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में हम समझते ही क्या हैं? हमारा काम तो सिर्फ मोटी तनख्वाह चुकाते रहने का है—बिना कोई चू-चपड़ किये। कुछ ... सितम्बर १९३४ में, हिन्दुस्तान के जंगी लाट (कमाण्डर-इन-चीफ) ... फिलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-ऑफ-स्टेट में बोलते हुए चुभती हुई ...

भाषा मे हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञो से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खे, हमारे काम मे दखल न दे। किसी प्रस्ताव पर एक सशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह खयाल करते है कि बहुत सी लडाइया लडी हुई और युद्ध-प्रवीण अग्रेज-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के ज़ोर से जीता है और तलवार के ही जोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, उस अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुरसियां तोडनेवाले आलोचको से सीखेगी ?" उन्होने और भी बहुत-सी मजेदार बाते कही थी, और कही हम यह खयाल न करने लगे कि उन्होने तैश मे आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमे बतलाया गया था कि उन्होने अपना भाषण बडे विचारपूर्वक लिखा था और उसी हस्तलिपि को पढकर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फौजी मामलो पर एक जगी लाट से भिड पड़ना दरअसल गुस्ताखी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोडनेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ मे आ सकती है कि जिन्होने साम्राज्य को तलवार के जोर से कब्जे मे कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक दूसरे से भिन्न हो। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फौज हिन्दुस्तान के हितो या साम्राज्य के हितो के लिए काम मे लाई जाय और इन दोनो हितो मे भिन्नता ही नही बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोडनेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवो के बाद भी प्रमुख सेनानायको का यह दावा कि उनके कामो मे दखल न दिया जाय कहाँतक जायज़ है। उस समय उनको बहुत अशो तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहाँतक मालूम हुआ है, उन्होने सारी सेनाओ मे—अग्रेजी, फ्रासीसी, जरमन, आस्ट्रियन, इटैलियन, रूसी—करीब-करीब तमाम बातो मे एक बडी भयकर गडबड पैदा करदी थी। मशहूर अग्रेज फौजी इतिहासज्ञ और युद्ध विद्या-विशारद कैप्टन लिडैल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड वार' मे लिखा है कि महायुद्ध मे एक बार जब अग्रेज सिपाही दुश्मनो से लड रहे थे, उसी समय अग्रेज फौजी अफसर आपस मे लड रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय खतरे के वक्त मे भी वे लोग विचारो और कार्यो मे एकता न ला सके। वह फिर लिखते है, "महायुद्ध ने, अपने आराध्य देवो के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावो को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नही होते जिसके साधारण मनुष्य होते है। नेताओ की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममे इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यो की तरह है, हमको उनमे बहुत ज्यादा

गशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के खतरों से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० डेविड लाइड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमायर्स' नामक स्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायकों की गलतियों का—ऐसी गलतियों ा, जिनके कारण लाखों आदमियों की जानें गईं—बड़ा भयंकर चित्र खींचा है। ग्लैण्ड और उसके सहायकों ने महायुद्ध में विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह 'विजय र एक रक्त-रंजित प्रहार था।" ऊंचे अफसरों-द्वारा फौजों और परिस्थितियों के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त उपयोग ने इंग्लैण्ड को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी और उसके सहायकों की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओं की ऐसी भूलों के कारण हुई जिनके होने का सहज ही विश्वास नहीं हो सकता। इंग्लैण्ड का महायुद्ध के समय का महान् प्राइम मिनिस्टर इस प्रकार लिखता है और वह बतलाता है कि किस प्रकार उन्हें लार्ड जेलीको के दिमाग में कुछ बातें बिठाने के लिए, खासकर पथ-रक्षक-प्रणाली के प्रस्ताव के बारे में, उनके साथ सख्ती से पेश आना पड़ा था। फ्रांसीसी मार्शल जॉफर के बारे में तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उनका सबसे बड़ा गुण एक दृढता-सूचक चेहरा था जो हृदय में दृढता की भावना को पैदा करता था। "यही चीज है जो त्रस्त लोग संकट के समय में खोजते हैं। वे यह समझने की भूल करते हैं कि चतुरता किसी चेहरे में निवास करती है।'

लेकिन मि० लाइड जार्ज का मुख्य आरोप तो खास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ फील्ड-मार्शल हेग पर, है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख्वामख्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञों इत्यादि की बात सुनने से इन्कार करके खास ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में ही महत्त्वपूर्ण बातों को छिपाया, जिसके कारण फ्रांस में अंग्रेजी फौज को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी और [illegible] नने पर भी, जबकि असफलता सामने नजर आरही थी, वे आखिर तक अपनी जिद [illegible] अड़े रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पॅम्शन्डेल तथा कैम्ब्राई की भयंकर दलदलों [illegible] महीने तक चलाते रहे, यहाँतक कि सत्रह हजार तो अफसर ही वहां काम [illegible] गये और चार लाख वीर अंग्रेज सिपाही हताहत हो गये। सन्तोष की बात इतनी [illegible] है कि आज भी 'बेनाम सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, [illegible] कि अपने जीवन-काल में उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ [illegible]।

[illegible] की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर गलतियाँ करते हैं, लेकिन जन-सत्ता-[illegible] राजनीतिज्ञों को जनता के रुख और घटनाओं पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित [illegible] हैं और वे आम तौर पर अपनी गलतियों को स्वीकार करके उन्हें दुरुस्त

करने की कोशिश करते है। पर सिपाही का शिक्षण एक भिन्न वातावरण मे होता है, जहा हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नही होता। इसलिए वह दूसरे की सलाह मे बुरा मानता है और अगर वह गलती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस गलती को किये ही जाता है। उसके लिए दिल और दिमाग की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान मे हमे एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौका मिला है, क्योंकि खुद मुल्की शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण मे पला और निवास करता है और इस कारण बहुत अशो तक सिपाहियाना रोबदाब आदि विशेषताये उसमें मौजूद है।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक बरसो मे एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान मे पैदा हो जाय। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष मे कुछ ही ज्यादा बरसो मे भारतीयकरण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि खतरे के समय मे इग्लैण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से मे ही लाखो की फौज खडी करदी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए है, तो शायद वह बडी चौकसी और होशियारी से फूक-फूककर आगे कदम बढाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा मे इस सुसगठित सेना के तैयार होने से बहुत पहले ही युद्ध खतम हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओ का भी विचार होता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनो के ही अकस्मात् तैयार हो गई और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओ से लोहा लेती हुई उन्हे हराने लगी। आज इन सेनाओ की ससार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियो मे गणना की जाती है। शायद इनके पास सलाह देने के लिए "सग्राम लड़े हुए और युद्ध-प्रवीण" सेनापति नही थे!

हमारे यहाँ देहरादून मे एक फौजी शिक्षणालय है, जहाँ शिक्षार्थियो को फौजी अफसर बनने की तालीम दी जाती है। वे बडी चतुरता से परेड करते है और कहा जाता है कि बेशक वे बडे अच्छे अफसर बनकर निकलेगे। लेकिन मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि इस तालीम से क्या फायदा है, जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय? पैदल और घुडसवार सेनाये आज-कल उतने ही काम की है जितनी रोमन फौजे होती, और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैक और प्रचण्ड तोपो के युग मे बन्दूक तीर-कमान से ज्यादा कारगर नही है। इसमे शक नही कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते है।

हिन्दुस्तान मे अग्रेजी राज्य का इतिहास कैसा रहा है? हम उसकी खामियो के बारे मे शिकायत करनेवाले होते कौन है, जबकि ये खामिया हमारी ही कमजोरियो के

उम्वल्ता है ? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड़ दें और दलदल में फस
यें, एकांगी और स्वयं-सन्तोषी बन जायं और शुतुर्मुर्ग की तरह अपने चारों ओर की
नाओं से आंख मूंद लें, तो इसमें हमारा ही नुकसान है। अंग्रेज लोग हमारे यहां
गर-सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक
तियों को लाये जिनका खुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफान की
कायत करें जो हमें उखाड़कर इधर-उधर फेंक देता है, या उस ठंडी हवा की जो
स कम-कश देती है ? हमें तो भूतकाल और उसके झगड़े-टंटों को तिलांजलि ही दे
नी चाहिए और भविष्य का मुकाबिला करना चाहिए। हमें एक महान् भेंट के लिए
ग्रेजों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और
सके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नों को भी भूल जाना या
ान्ति के साथ बरदाश्त करना मुश्किल है जो उन्होंने देश के झगड़ालू, प्रतिक्रियावादी
ाम्प्रदायिक, जातिगत तथा मौके से लाभ उठानेवाले लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए
ये। शायद यह भी हमारे लिए एक जरूरी परीक्षा और चुनौती है, और पेश्तर
सके कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पड़ेगा
ो शुद्ध और दृढ़ बनाती है और जो दुर्बल पतित और आचार-भ्रष्टों को जलाकर
ाक कर देती है।

५५

अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच मे करीब एक हफ्ता बम्बई और पूना मे रहने के बा मै लखनऊ लौट आया। मेरी मा अभीतक अस्पताल मे थी, और उनक हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ मे, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने मे तत्पर थी। हर सप्ताह के आखिरी दिनो मे मेरी बहने भी इलाहाबाद से आती रहती थी। लखनऊ मे मै दो-तीन हफ्ते रहा। वहाँ इलाहाबाद के मुकाबिले मे ज्यादा फुर्सत मिली थी। मेरा खास काम दिन मे दो बार अस्पताल जाना था। मैने अपना यह फुरसत का समय अखबार के लिए लेख लिखने मे लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अखबारो मे छपे। 'हिन्दुस्तान किधर' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफी ध्यान गया। इस लेखमाला मे मैने दुनिया की हलचलो पर, हिंदुस्तान के साथ उनके सबन्ध को ध्यान मे रखकर, विचार किया था। मुझे बाद मे मालूम हुआ कि इन लेखो का फारसी मे तर्जुमा हुआ था और वह तेहरान और काबुल मे भी छापे गये थे। आजकल के पश्चिमी विचारो और हलचलो से जानकारी रखनेवालो के लिए इन लेखो मे कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नही थी। मगर हिन्दुस्तान मे लोग अपने घरेलू मामलो मे ही इतने व्यस्त रहते है कि दूसरी जगह क्या हो रहा है इसपर वे ज्यादा ध्यान नही दे सकते। मेरे लेखो का ज स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारो से मालूम पडा कि लोगो का दृष्टिकोण व्याप हो रहा है।

माताजी अस्पताल मे पडी-पडी ऊबती-सी जा रही थी, इसलिए हमने उन इलाहाबाद वापस ले आने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारण मे से एक कारण मेरी बहन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्ही दिनो घोषित की गई थी। पेश्तर इसके कि मै फिर से जेल मे ठूस दिया जाऊँ, हम चाह थे कि जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय। मुझे कुछ खयाल न था कि मै कितने सम तक बाहर रहने दिया जाऊँगा। क्योकि सविनय-भग कॉग्रेस का बाकायदा कार्यक्र था और स्वय काग्रेस और दूसरी बीसियो सस्थाये गैर-कानूनी थी।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह मे इलाहाबाद मे विवाह करने का निश्च किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक होनेवाला था। मै इस बात खुश था, हालाँकि सच पूछो तो इसके सिवा हमारे पास और कोई उपाय भी न था

क्योंकि यह विवाह दो मुख्तलिफ बिरादरीवालों में, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, के बीच, होनेवाला था, और हिन्दुस्तान के मौजूदा कानून के मातहत ऐसा विवाह किसी भी धार्मिक विधि से क्यों न किया जाय, जायज नहीं हो सकता। खुशकिस्मती से उन्हीं दिनों में पास हुआ सिविल मैरिज एक्ट हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो कानून थे, जिनमें से दूसरा कानून, जिसके मातहत मेरी बहन की शादी हुई, हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म से सम्बद्ध दूसरे धर्मवालों के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू में से कोई एक भी जन्मतः या बाद में धर्म-परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा कानून उसपर लागू नहीं होता। ऐसी हालत में पहले कानून का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस पहले कानून के अनुसार दोनों को सभी मुख्य धर्मों का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममें से कोई किसी भी धर्म को नहीं मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक ऐलान बड़ा वाहियात है। बहुत-से ऐसे लोगों को भी, जिनका कि मजहब की तरफ कोई रुझान नहीं है, इस ऐलान पर एतराज है और इस तरह वे इस कानून से फायदा नहीं उठा सकते। मुख्तलिफ मजहबों के कट्टर लोग ऐसी सब तब्दीलियों का विरोध करते हैं जिनमें अन्तर्जातीय विवाहों के होने में आसानी हो। इससे जो लोग इस कानून के मातहत विवाह करना चाहें, उन्हें या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालों को उसके मुताबिक अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमें से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। जाती तौर पर मैं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना पसन्द करूँगा, लेकिन उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय या नहीं, एक ऐसे अनुमतिदायक अन्तर्जातीय विवाह-कानून का बनना तो निहायत जरूरी है जो आम तौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हें मजहब छोड़ने या बदलने की जरूरत न हो।

मेरी बहन की शादी में कोई धूमधाम नहीं हुई, सारा काम बड़ी सादगी से [illegible] हिन्दुस्तानी विवाहों में जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौर पर, वह सब [illegible] भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक [illegible] सविनय-भंग जारी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलों में पड़े [illegible] विवाह के रूप में कोई भी बात करना था भी बिलकुल बेमौज़ू। [illegible] रिश्तेदारों और स्थानीय मित्रों को ही निमन्त्रित किया गया। [illegible] मित्रों को इससे सदमा भी पहुँचा। क्योंकि उन्हें यह लगा, हालांकि वह [illegible] ने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लेटिन अक्षरों में
हिन्दुस्तानी भाषा में छापा था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अबतक इस तरह
के निमन्त्रण-पत्र आम तौर पर नागरी या फारसी लिपि में ही लिखे जाते थे। फ़ौज
या ईसाई मिशनवालों के सिवाय कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लेटिन अक्षरों में नहीं
लिखी जाती थी। मैंने रोमन लिपि का इस्तेमाल केवल यह देखने के लिए किया था
कि इसका मुख्तलिफ किस्म के लोगों पर क्या असर होता है। इसे कुछने पसन्द किया
कुछने नहीं। ज्यादा संख्या नापसन्द करनेवालों की ही थी। बहुत कम लोगों के पास
यह निमंत्रण भेजा गया था, और, अगर ज्यादा लोगों के पास भेजा जाता तो इसका
असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गांधीजीने भी इसे पसन्द नहीं किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तेमाल नहीं की थी कि मैं उसके पक्ष में हो गया
था, हालां कि उसने मुझे बहुत दिनों से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की
और मध्य-एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के
पक्ष में जो दलीलें हैं उसमें काफी वजन है, फिर भी मैं भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि
के पक्ष में नहीं हो गया था। अगर मैं उसके पक्ष में हो भी जाता तो भी मैं अच्छी
तरह जानता था कि वर्त्तमान भारत में उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना
न थी। राष्ट्रीय, मजहबी, हिन्दू-मुस्लिम, नये-पुराने सब दलों की ओर से इसका बहुत
सख्त विरोध होता, और यह मैं मानता हूँ कि यह विरोध महज भावुकतावश ही नहीं
होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका पुराना जमाना उज्ज्वल रहा हो, लिपि का
बदलना बहुत बड़ी तबदीली है, क्योंकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध
रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नजर आयेंगे, ध्वनि
बदल जायगी, भाव बदल जायँगे। पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार
उठ खड़ी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा में लिखा हुआ-सा जान
पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना
चाहिए, कि जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान में तो मैं ऐसे रद्दो-
बदल का खयाल भी नहीं कर सकता हूँ। क्योंकि हमारा साहित्य केवल समृद्ध और
अनूठा ही नहीं, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी
सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा है। हमारे देश
पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और
सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का
विषय ही नहीं है। मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला कदम होना

चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदरा— हिन्दी, बंगला, मराठी, गती—भाषाओं के लिए एक-सी लिपि बनाना। इन चारों भाषाओं की लिपियों उद्गम एक ही है और इनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए सबके लिए एक ही लिपि तैयार करने में कोई खास दिक्कत नहीं होनी चाहिए। य ये चारों भाषायें एक-दूसरे के नजदीक आ जायेंगी।

हमारे अंग्रेजी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो भ्रमपूर्ण बातें संसारभर में [illegible] रक्खी हैं, उनमें से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में कईसौ भाषायें बोली जाती [illegible] मुझे उनकी ठीक तादाद याद नहीं है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया [illegible]ता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कईसौ भाषाओं के देश में सारा जीवन [illegible]तान पर भी बहुत कम अंग्रेज एक भाषा में मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं। [illegible] सब भाषाओं को 'वर्नाक्युलर' नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा [illegible]टिन verna का अर्थ घर में पैदा हुआ गुलाम है)। हममें से बहुतों ने बिना समझे- [illegible] इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी [illegible]दगी इस देश में रहकर भी अंग्रेज लोग यहाँ की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना [illegible]म चला लेते हैं। अपने खानसामा व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्णकटु काम [illegible]ऊ नई हिन्दुस्तानी खिचड़ी भाषा ईजाद करली है, जिसको वे असली भाषा समझ[illegible] [illegible]हैं। जैसे वे भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरों व जीहुजूरों से मालूम करते उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में अपने विचार अपने घर नौकरों से [illegible] [illegible]। साहब लोगों से वे अपनी इस 'कामचलाऊ खिचड़ी भाषा' में ही बोल[illegible] [illegible]क्योंकि उन्हें डर है कि वे और कोई भाषा समझेंगे भी नहीं। वे इस बात से [illegible]कुल अपरिचित मालूम पड़ते हैं कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओं का [illegible]हित्य बहुत ऊंचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान में दो सौ या [illegible] भाषायें हैं, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहां पर भी [illegible] ५०-६० भाषायें हैं। मुझे खयाल नहीं कि कभी किसीने इसके कारण ही [illegible] असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो [illegible] मर्दुमशुमारी में सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओं का भी जिक्र किया [illegible] [illegible]हे उन भाषाओं के बोलनेवाले कुछ हजार ही व्यक्ति क्यों न हों [illegible] [illegible] थोड़ा-थोड़ा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए भाषाओं का [illegible] [illegible] [illegible] किया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी [illegible] [illegible] [illegible] ताज्जुब की बात मालूम होती है। यूरप के इतने [illegible] को देखा

मुकाबिला करे तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान मे उतने भेद नही मिलेगे। लेकिन हिन्दुस्तान मे आम जनता मे शिक्षा का फैलाव न होने के कारण यहाँ भाषाओ का समान-स्टैण्डर्ड नही बन पाया और कई बोलियाँ बन गई। वर्मा को छोड़कर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषाये ये है---हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू किस्म की) बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, मलायालम और कन्नड। इनमे अगर आसामी, उड़िया, सिंधी, पश्तो और पंजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाड़ी और जंगली हिस्सो को छोड़कर सारे देश की भाषाये इनमे आ जाती है। इनमे से भारतीय आर्यभाषाये जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत मे प्रचलित है आपस मे बहुत मिलती-जुलती है और दक्षिणी द्राविड़ी भाषाये भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफी प्रभावित हुई है और उनमे संस्कृत शब्दो की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओ मे पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषाये देश के काफी बड़े हिस्से मे बोली जाती है। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालो की संख्या की दृष्टि से देखे तो ये भाषाये संसार की प्रमुख भाषाओ मे आ जाती है। बंगला बोलनेवालो की संख्या साढ़े पांच करोड़ है। जहाँतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहाँ संख्याये नही है, लेकिन मेरे ख़याल मे वह अपने नाना रूपो सहित १४ करोड़ भारतवासियो मे बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते है।[१] साफ तौर पर ऐसे

१. हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आंकड़े पेश करते है। मै नही कह सकता कि ये संख्याये १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक है या १९२१ के। मेरे ख़याल मे ये १९२१ की गणना के मुताबिक़ है। इसलिए १९३१ की संख्या तो जरूर इससे भी ज्यादा होगी।

१ हिन्दुस्तानी (जिसमे पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी राजस्थानी शामिल है)	१३९.३	लाख
२ बंगला	४९.३	,,
३ तेलुगु	२३.६	,,
४ मराठी	१८.८	,,
५ तामिल	१८.८	,,
६ कन्नड	१०.३	,,
७ उड़िया	१०.१	,,
८ गुजराती	९.६	,,

पश्तो, आसामी, वर्मी आदि कुछ भाषाये जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज से बिलकुल अलग है, इस सूची मे शामिल नहीं की गई है।

भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक है, वह संस्कृत की मजबूत नीव पर जमी हुई है और फारसी का भी उसपर काफी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षों से वह अंग्रेजी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविड़ी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहां हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नजर आती है। लेकिन वहां के निवासी उसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। दो बरस पहले, १९३७ में, मैंने एक संस्था के आंकड़े देखे थे। यह संस्था दक्षिण में हिन्दी-प्रचार करने के लिए कुछ मित्रों ने खोली थी। उसके काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १८ बरसों में, अकेली उस संस्था की कोशिश से मद्रास प्रान्त में लगभग ५५,००० लोगों ने हिन्दी सीखली है। एक ऐसी संस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नहीं मिलती, यह सफलता अनोखी है। वहां हिन्दी सीखनेवालों में से अधिकतर खुद भी इस कार्य के प्रचारक बन जाते हैं।

मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोजमर्रा के काम-काज के लिए वह एक बड़ी हद तक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने उसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनों दलों की इस कोशिश ने भी उसकी प्रगति में रुकावट खड़ी करदी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते हैं कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवाय और कोई उपाय ही मालूम नहीं होता कि दोनों लिपियों को अधिकृत रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमें से किसीको भी काम में लाने की छूट देदी जाय। संस्कृत व फारसी के शब्दों को ज्यादा काम में लाने की जो [illegible] प्रवृत्ति चल पड़ी है उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए और [illegible] व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा [illegible] देनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने-आप ऐसा [illegible] जायगा। इस समय मध्यमश्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के [illegible] बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के [illegible] और अपरिवर्त्तनवादी हैं। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से उनका [illegible] सम्पर्क है।

[illegible] हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को भारत की दूसरी बड़ी भाषाओं—बंगला, [illegible] मराठी, उड़िया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि [illegible] र आना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषाएं तो अब

भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र मे शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहार के लि अधिकृत रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ इन्हींके जरिये साधार जनता मे शिक्षा और सस्कृति तेजी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगो का खयाल है कि बहुत करके अग्रेजी ही भारत की आम भाषा जायगी, लेकिन ऊँचे दर्जे के गिने-चुने पढे-लिखो को छोडकर साधारण जन इसे अपनायगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई द है। साधारण जनता की शिक्षा और सस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोक नही है। यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगि वैज्ञानिक और तिजारती कामो मे, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो मे, अग्रे ज्यादा इस्तैमाल मे आने लगे। हममे से बहुतो के लिए विदेशी जबानो सीखना व जानना बहुत जरूरी है, ताकि ससार के विचारो व प्रगतियो से हमा जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान मे रखते हुए मै तो पसन्द करूँगा। हमारी यूनिवर्सिटियो मे अग्रेजी के अलावा फ्रेंच, जरमन, रूसी, स्पैनिश और इटैलि भाषाये सीखने के लिए विद्यार्थियो को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मत नही है कि अग्रेजी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमे ससार की हलचलो निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमे अपनेको अग्रेजी सीखने तक ही सीमित नही रख चाहिए। केवल अग्रेजी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को अभीसे एकागी अ सकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारो का एक ही दृष्टि और मत ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात अन्दाजा लगा सकते है कि अपने देश के सम्बन्ध मे उनके दृष्टि-बिन्दु पर अग्रे विचार-सरणि का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओ को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यो न बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अग्रेजी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमे कुछ हर्ज नही है। हम कई पीढियो से अग्रेजी सीखने की कोशिश कर रहे है और इसमे काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफी होगी इतने अर्से की मेहनत से हमे लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अग्रेजी आज ससार सबसे ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओ पर वह अप सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब राष्ट्रीय व्यवहारो मे और रेडि आदि के लिए वह माध्यम-भाषा का रूप धारण करले, बशर्ते कि 'अमरेकिन' उस गह न लेले। इसलिए हमे अग्रेजी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रख

चाहिए। अंग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सके उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको उसकी जरूरत नहीं मालूम होती कि अंग्रेजी की बारीकियों को सीखने में हम लोग अपना वक्त लगायें, जैसा कि आज कल हममें से बहुत-से करते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसा कर सकते हैं, लेकिन बहुसंख्यक लोगों के सामने इस बात को आदर्श रूप में रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओं में प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनों से मूल अंग्रेजी (Basic English) ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेजी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अंग्रेजी तो विशेषज्ञों तथा कुछ और विद्यार्थियों के लिए छोड़ देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता में इस मूल अंग्रेजी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मैं खुद इस बात को पसन्द करूंगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओं से बहुत-से शब्द अपने में लेले। इस बात की जरूरत है, क्योंकि आजकल जो नई चीजें निकली हैं हमारी भाषा में उनके अर्थ-प्रदर्शक शब्द नहीं, इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत फारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढ़ने के बजाय हम उन्हीं सुप्रचलित शब्दों को काम में लावें। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तेमाल का विरोध करते हैं, लेकिन मेरा खयाल है कि वे गलती करते हैं। क्योंकि किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीका यही है कि वह उतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओं के भाव और शब्द उसमें शामिल होकर उसीके हो जायं।

अपनी बहन की शादी के बाद ही मुझे अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस जाने का इत्तिफाक हुआ। गुप्तजी एक अरसे से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल में थे, अचानक उनपर [illegible] का वार हुआ और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे हैं। बनारस की इस यात्रा के [illegible] पर मुझे हिन्दी-साहित्य की एक छोटी-सी संस्था की ओर से मानपत्र दिया गया [illegible]। उसके सदस्यों से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौका मिला। मैंने उनसे [illegible] कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर बोलते हुए मुझे हिचक [illegible] है, लेकिन फिर भी मैंने उन्हें थोड़ी-सी सूचनायें दीं। आजकल हिन्दी [illegible] कठिन और आलंकारिक भाषा इस्तैमाल की जाती है उसकी मैंने [illegible] [illegible] की। उसमें कठिन, बनावटी और पुरानी ढंग के संस्कृत शब्दों की भरमार [illegible] मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोड़े-से लोगों के काम में आने- [illegible] शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी लेखकों को अब [illegible] [illegible]

करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखे और ऐसी भाषा मे लिखे जिसे लोग समझ सके। आम जनता के संसर्ग मे भाषा मे नया जीवन और असली ओजस्विता आ जायगी। इससे उनकी अनुभूति बढ जायगी और वे अधिक अच्छा लिख सकेगे। साथ ही मैने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारो व साहित्य का अध्ययन करे तो उससे उन्हे बडा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि योरप की भाषाओ के पुराने अमर साहित्य और नवीन विचारो के ग्रथो का हिन्दी मे अनुवाद कर डाला जाय। मैने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बगला और मराठी साहित्य इन बातो मे आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षों मे हिन्दी की अपेक्षा बगला मे कही अधिक उत्पादक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयो पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मै चला गया। मुझे इस बात का जरा भी खयाल न था कि मैने जो कुछ कहा वह अखबारो मे दे दिया जायगा, लेकिन वहाँ उपस्थित लोगो मे किसीने हमारी उस बातचीत को हिन्दी अखबारो मे प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखबारो मे मेरे और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी आलोचना के खिलाफ बडा भारी बावैला मच गया। लोगो को मेरी यह धृष्टता खास तौर पर अखरी कि मैने हिन्दी को वर्त्तमान बगला, गुजराती और मराठी से हीन क्यो कहा। मुझे अनजान—इस विषय मे मै सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मुझे कुचलने व दबाने के लिए बहुत-से कठोर शब्द काम मे लाये गये। मुझे इस वाद-विवाद मे पडने की फुरसत ही न थी, लेकिन मुझे बताया गया है कि यह झगडा कई महीनो चलता रहा—तबतक, जबतक कि मै फिर जेल मे नही चला गया।

यह घटना मेरे लिए आँखे खोलनेवाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी के साहित्यिक और सम्पादक कितने ज्यादा तुनकमिजाज है। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नही थे। साफ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी तह मे अपनेको छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी मे पूरी कमी है और आलोचना का स्टैण्डर्ड बहुत ही नीचा है। लेखक और उसके टीकाकारो के लिए एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज शुरू कर देना हिन्दी मे कोई असाधारण बात नही है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत सकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से [illegible] के लिए लिखते हो। उन्हे आम जनता और उसके हितो मे मानो कोई सरोकार

ही नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमें इन त्रुटियों का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी लेखकों का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा उज्ज्वल रहा, लेकिन वह सदा के लिए उसी के बल पर तो जिन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यकीन है कि उसका भविष्य भी काफी उज्ज्वल है, और मैं यह भी जानता हूं कि किसी दिन देश में हिन्दी के अखबार एक जबरदस्त ताकत बन जायंगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियों व बन्धनों से अपने आपको बाहर नहीं निकालेंगे और आम जनता को साहस के साथ सम्बोधित करना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

५६

साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहन की शादी के करीब, योरप से श्रीयुत् विट्ठलभाई पटेल के अन्तकाल की खबर आई। वह बहुत दिनों से बीमार थे और सेहत खराब होने की वजह से ही वह हिन्दुस्तान में जेल से छोड़े गये थे। उनकी मृत्यु एक दुखद घटना थी। हमारे बुजुर्ग नेताओं का इस तरह हमारे बीच में, लड़ाई के बीच में ही, एक के बाद एक का उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धाञ्जलियां अर्पण की गई जिनमें से अधिकतर में उनके कुशल पार्लमेंटेरियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेंट की हैसियत से उन्होंने हासिल की थी, जोर दिया गया था। यह बात थी तो बिल्कुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ़-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान में कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगों की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ निबाह सके? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमें बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई में और भी कहीं अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आजादी के लिए एक जबरदस्त और निडर योद्धा थे।

जब नवम्बर में मैं बनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैंने बड़ी खुशी से इस निमन्त्रण को मंजूर कर लिया और एक बड़े मजमे में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने साम्प्रदायिकता के बारे में बहुत कुछ कहा और जोरदार शब्दों में उसकी मलामत की, खासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैंने कड़ी निन्दा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले ही से इरादा रहा हो सो बात नहीं, बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फिरकों के सम्प्रदायवादी लोगों की बढ़ती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग में गुस्सा भरा हुआ था और जब मैं अपने विषय पर जरा जोश से बोलने लगा तो उस गुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पड़ा। मैंने जानबूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओं के दकियानूसीपने पर जोर दिया, क्योंकि हिन्दुओं की जमात के सामने मुसलमानों पर टीका-टिप्पणी करने का कोई मतलब न था। उस वक्त यह बात तो मेरे ध्यान ही में नहीं आई कि सिवा

सभा के सभापति हिन्दू-महासभा के स्तम्भ मालवीयजी हो उसमे हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत मौजू न था। मैंने इस बात का विचार ही नहीं किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनो से हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नहीं था और करीब-करीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओं ने मालवीयजी जैसे व्यक्ति के लिए उसमे कोई स्थान ही नहीं रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ मे रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक प्रगति व उन्नति के मार्ग मे रोडा अटकानेवाली नहीं थी। लेकिन कुछ दिनो से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यकीन था कि मालवीयजी का उसमे कोई सम्बन्ध नहीं होगा, बल्कि उन्होंने उसको नापसंद भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात जरा अनुचित तो थी कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति खराब हो, उनके निमंत्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफसोस भी हुआ।

उस मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसमे कि मैं फँस गया था। किसीने हमको डाक मे एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी जो अजमेर मे हिन्दू युवको की एक सभा मे पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण मे जिक्र किया था। असल मे ऐसा प्रस्ताव किसी संस्था द्वारा पास ही नहीं हुआ था और हम एक धोखे ही के शिकार हो गये थे।

मेरी बनारस की स्पीच की रिपोर्ट संक्षेप मे प्रकाशित हुई। इसपर बड़ा [illegible] मचा। हालाकि मैं ऐसी चिल्ल-पुकार सुनने का आदी था, लेकिन हिन्दू-महासभा के नेताओं के जबरदस्त हमलो से मैं सकते मे आ गया। ये हमले ज्यादातर [illegible] थे और असली विषय से तो प्रायः सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। वे हद से [illegible] बढ़ गये और मुझे इस बात से खुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस [illegible] पर अपनी बात कहने का मौका मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीनो [illegible] कि जेल मे भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ मे नहीं आता [illegible] उस विषय को किस तरह छेड़ूँ। वह एक बर्रे का छत्ता था और हालाकि मुझे [illegible] मे हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादो मे पडना पसंद नहीं [illegible] मे तू-तू मैं-मैं पर आ जावे। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता [illegible] और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक विचारपूर्ण लेख [illegible] मैंने यह बताया कि दोनो ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदा-[illegible] बल्कि साम्प्रदायिक आवरण मे ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनै-

तिक सकीर्णता थी। इत्तिफाक से मेरे पास कई अखबारों के कटिंग थे, जो मैंने जेल मे इकट्ठे किये थे। उनमे साम्प्रदायिक नेताओ के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे। सचमुच मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मैं किस तरह एकसाथ उसे एक लेख मे समेट दूँ।

मेरे उस लेख को हिन्दुस्तान के अखबारो मे खूब प्रकाशन मिला। यद्यपि उसमे हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियो के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ बाते थी, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनो की ओर से कोई उत्तर न मिला। हिन्दू-महासभा के जितने नेताओ ने मुझे बड़ी जोरदार और तरह-तरह की भाषा मे आडे हाथो लिया था, वे भी चुप्पी मारे रहे। मुसलमानो की तरफ से सर मुहम्मद इकबाल ने गोलमेज-परिषद् सम्बन्धी मेरी कुछ बातो मे सुधार करने की कोशिश की, लेकिन मेरी दलीलो के सम्बन्ध मे तो उन्होने कुछ भी नही कहा। उनके जवाब मे मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधान-विधायक सभा (कन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनो विषयो का निर्णय होना चाहिए। उसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे।

इन लेखो का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियो पर प्रकट रूप से जो कुछ उनका प्रभाव पडा उससे मेरा उत्साह बहुत-कुछ बढ गया।

असल मे मैंने इस बात का तो अनुमान ही नही किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह मे जो जोश छिपा रहता है मैं उसे हटा सकूँगा। मेरा उद्देश तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इग्लैण्ड के घोर प्रतिक्रियावादी फिरको से मिले रहते है और वे असल मे राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी है। उनकी सभी माँगो का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नही है। उनका उद्देश यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलो का भला हो जाय।

मेरा इरादा था कि इस पुर-दलील हमले को जारी रक्खूँ, लेकिन जेल ने फिर मुझे खीच लिया। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए आयेदिन जो अपील होती रहती है उसके निस्सन्देह फायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल फजूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणो को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगो का यह खयाल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बारबार रटने से अन्त मे एकता जादू की तरह आ टपकेगी।

सन् १८५७ के गदर से अबतक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेजो की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नजर डालना दिलचस्प बात होगी। दरअसल और

ज़रूरी तौर पर ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू मुसलमान मिलकर न चलें, और आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहें। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमें ताज़ी थी। इस वजह से अंग्रेज उनको ज्यादा उग्र, लड़ाकू और खतरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियों में भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणों से अंग्रेज लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं ने अंग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरियों को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अंग्रेजों को ये ज्यादा मुनासिब मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अंग्रेजी-दाँ शिक्षितों में हुआ। इस भावना का हिन्दुओं तक महदूद रहना स्वाभाविक ही था, क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज से बहुत पिछड़े हुए थे।

इस राष्ट्रीयता का रूप बड़ा विनम्र और दब्बू था, पर फिर भी सरकार इसको न दबा सकी और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानों की पीठ ठोकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रक्खा जाय। मुसलमानों के लिए तो अंग्रेजी शिक्षा का न होना ही एक काफी रुकावट थी। लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाजिमी था। अंग्रेजों ने बड़ी दूरदेशी से आगे के लिए इन्तजाम कर लिया और इस काम में उन्हें सर सैयदअहमदखाँ की जोरदार हस्ती से बहुत बड़ी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दुखी थे कि उनकी जाति पिछड़ी हुई है, खासकर शिक्षा [illegible] में, और इस बात से उनके दिल में दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो [illegible] की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नज़रों में मुसलमानों का कुछ प्रभाव ही था। [illegible] ज़माने के बहुत-से दूसरे लोगों की तरह वह भी अंग्रेजों के बहुत बड़े प्रशंसक थे और [illegible] होता है कि उनपर योरप-यात्रा का और भी जबरदस्त असर पड़ा था।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी ज़माने में योरप, या यों कहो कि, पश्चिमी योरप की [illegible] सितारा बहुत बुलन्दी पर था। योरप उस समय संसार का एकछत्र [illegible] था और उसमें वे सब गुण भलीभांति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे [illegible] प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी पैतृक सम्पत्ति को सुरक्षित समझते [illegible] रहे थे, क्योंकि उनको यह डर नहीं था कि कोई उनसे मुकाबिला करने [illegible] निकलेगा। वह ज़माना प्रगतिशील प्रजातन्त्रीय सुधारवादियों का था, जिनका [illegible] उन्नति में दृढ़ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि यो

हिन्दुस्तानी उधर गये वे वहा का शानदार नजारा देखकर मोहित हो गये। शुरू-शुरू में हिन्दू लोग ही ज्यादा गये और वे योरप और इंग्लैण्ड के प्रशंसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे उस तड़क भड़क और चमक-दमक के आदी हो गये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होना था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयदअहमद को पहली ही बार वहां की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ जाहिर है। वह सन् १८६९ में इंग्लैण्ड गये थे। उस समय उन्होंने घर को जो पत्र लिखे उनमें उन्होंने वहां के सम्बन्ध में अपने खयालात जाहिर किये थे। उनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालांकि अंग्रेज लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नहीं करते और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हेच, नीच और घृणित समझते हैं इसके लिए उनको बख्शा नहीं जा सकता, फिर भी मेरा खयाल है कि वे इस तरह का बरताव इसीलिए करते हैं कि वे हम लोगों को समझ नहीं पाते हैं। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पड़ती है कि उन्होंने जो राय हमारे बारे में कायम की है वह ज्यादा गलत नहीं है। मैं अंग्रेजों की झूठी तारीफ नहीं कर रहा हूं, यदि मैं सचमुच यह कहूं कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊँच हों या नीच, बड़े व्यापारी हों या छोटे दूकानदार, पढ़े-लिखे हों या अपढ़ अंग्रेजों की तालीम, तमीज और ईमानदारी के मुकाबिले में ऐसे हैं जैसे किसी काबिल और खूबसूरत आदमी के मुकाबिले में एक गन्दा जानवर। अंग्रेज लोग अगर हम हिन्दुस्तानियों को निरा जंगली समझें तो उनके पास इसकी वजह है। मैं रोजमर्रा जो-कुछ देख रहा हूँ वह एक हिन्दुस्तानी के कयास के बिलकुल बाहर की बात है' 'परलोक और इस लोक दोनों लोकों की सारी सुन्दर वस्तुयें, जो इन्सान में होनी चाहिएँ, खुदा ने योरप को, खासकर इंग्लैण्ड को, बख्श दी हैं।''[1]

कोई भी आदमी अंग्रेजों की और योरप की इससे ज्यादा तारीफ नहीं कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होंने ऐसी जोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियों को गाढ़ी नींद से जगाने और उनको आगे कदम बढ़ाने के लिए उकसाने की नीयत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह कदम पश्चिमी शिक्षा की तरफ बढ़ना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज्यादा पिछड़ती और कमजोर होती जायगी। अंग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियाँ, हिफाजत, दबदबा और इज्जत। इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताकत इस तालीम के लिए लगादी।

१. यह उद्धरण हेन्स कोहन की "हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट" से लिया गया है।

और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके हम-ख्याल हो जायँ। मुसलमानों की सुस्ती और झिझक को दूर करना बड़ा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नहीं चाहते थे कि उनके रास्ते में कहीं बाहर से कोई बाधा या रुकावट आवे। मध्यम-वर्ग के हिन्दुओं-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होंने इस कार्य की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होंने इसका विरोध किया। शिक्षा में ... वर्ष आगे बढ़े हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना खुशी से कर सकते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में सरकार की पूरी सहायता पर आँखें गड़ा रक्खी थीं और वे कोई ऐसा जल्दबाजी का काम नहीं करना चाहते थे जिससे उन्हें इस मार्ग में जोखम उठाना पड़े। इसलिए उन्होंने नवजात राष्ट्रीय महासभा को धता बताई। ब्रिटिश सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष जोर देने का सर सैयद का निर्णय दरअसल बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगों के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण में कारगर हिस्सा ले सकना असम्भव था और उनको लाजिमी तौर पर हिन्दुओं के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही रहना पड़ता, क्योंकि हिन्दुओं में शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी माली हालत भी ज्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनमें हिन्दुओं की तरह कोई मध्यम-वर्ग नहीं बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयाँ ऊपर से भले ही नरम दीखती हों, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रान्ति की ओर ले जानेवाली थीं। मुसलमान अभीतक प्रजातन्त्रविरोधी जागीरदाराना विचारादर्श में जकड़े हुए थे, जब कि प्रगतिशील मध्यम-श्रेणी के हिन्दू अंग्रेज प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियों के से विचार रखने लग गये थे। ... ... नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर ... की नरम नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम नीति थी, जिसमें मुट्ठी-भर धन-... ... शामिल थे। उधर हिन्दुओं की नरम नीति थी उस होशियार पेशेवर ... की नरम नीति, जो उद्योग-धंधों और व्यापार में धन लगाने का मानन ... । इन हिन्दू राजनीतिज्ञों की नजर हमेशा इंग्लैण्ड के उदार दल के मुखियान ... , ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानों ने कभी ... । शायद वे लोग अनुदार दल और इंग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशंसक ... आरमीनियनों के कत्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ... सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन यदि डिज-

रेली का टर्की की तरफ कुछ ज्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव में वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलों में दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयदअहमद के कुछ व्याख्यानों को अगर आज पढ़ा जाय तो बड़े अजीबसे मालूम होंगे। सन् १८८७ के दिसम्बर में उन्होंने लखनऊ में उस अवसर पर एक भाषण दिया था जब कांग्रेस का सालाना जलसा वहाँ हो रहा था। उसमें उन्होंने कॉंग्रेस की बहुत नरम मांगों की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होंने कहा था—"अगर सरकार अफगानिस्तान में लड़े या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नहीं है। सरकार ने कानून बनाने के लिए कौंसिल बना रक्खी है। उस कौंसिल के लिए वह सभी प्रान्तों में उन अधिकारियों को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाकिफ हैं और कुछ रईसों को भी चुनती है जो समाज में अपने ऊँचे रुतबे की वजह से असेम्बली में बैठने के काबिल हैं। कुछ लोग पूछ सकते हैं कि उनका चुनाव इसलिए क्यों किया जाय कि वे रुतबेवाले हैं? काबलियत का खयाल क्यों न रक्खा जाय? मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आपके मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेंगे कि छोटी जाति और ओछे खानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यों न हों और जरूरी योग्यता रखते हों, उनपर हुकूमत करें और उनकी जानोमाल के मुतल्लिक कानून का भेद बनाने की ताकत रक्खें?'

"वाइसराय ऐसा कभी नहीं कर सकता कि सिवाय ऊँचे खानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी कबूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतों में निमन्त्रण दे जिनमें उसे इंग्लैण्ड के अमीर-उमरा के साथ दस्तरखान पर बैठना पड़ता हो। ... क्या हम कह सकते हैं कि कानून बनाने के लिए जो तरीके सरकार ने अख्त्यार किये हैं, वे लोगों की मर्जी का खयाल रक्खे बिना ही किये गये हैं? क्या हम कह सकते हैं कि कानून बनाने में हमारा कुछ भी हाथ नहीं है? बेशक हम ऐसा नहीं कह सकते।"[1]

ये थे भाव उस व्यक्ति के जो भारत में 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमें शक है कि अवध के ताल्लुकेदार या आगरा, बिहार या बंगाल प्रान्त के बड़े-बड़े जमींदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेंगे। लेकिन सर सैयद में ही यह निरालापन हो सो बात नहीं है। कांग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढ़े जायँ तो ऐसे ही अजीब मालूम होंगे। लेकिन

[1] हेन्स कोहन की 'हिस्ट्री इन दी ईस्ट' में उद्धृत।

यह तो साफ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से आसूदा मध्यम श्रेणी के (हिन्दू) लोगों का पुराने ढंग का कुछ जागीरदार वर्ग (मुसलमान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था।

हिन्दू जमींदारों का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यमवर्ग की माँगों के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनमें सहानुभूति रखते थे और इन माँगों के बनाने में भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज लोग हमेशा की तरह जमींदारों का साथ देते थे। दोनों ओर की साधारण जनता और दोनों निम्नश्रेणी के मध्यमवर्ग की ओर तो किसीका कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद की प्रभावशाली और ज़ोरदार हस्ती का मुसलमानों पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़-कालिज उनकी उम्मीदों और ख्वाहिशों का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। संक्रमणकाल में अक्सर ऐसा होता है कि तरक्की की तरफ ले जानेवाला आग बहुत जल्द अपना मकसद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसकी एक जाहिरा मिसाल है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते हैं कि कांग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही हैं और हम लोग, जो बाद में उसमें शामिल हुए हैं, सिर्फ दाल-भात में मूसलचन्द हैं। [illegible] ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते हैं कि दुनिया बदलती रहती है और कांग्रेस की वह पुरानी परम्परा समय के गर्भ में विलीन होकर अब सिर्फ एक यादगार भर रह गई है। इसी तरह सर सैयद की आवाज़ भी उस ज़माने के लिए [illegible] और ज़रूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नहीं हो [illegible] थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढ़ी और रहे होते तो उन्होंने [illegible] अपने संदेश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने [illegible] नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के माफिक [illegible]। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो [illegible] रह गई उसने दूसरों के लिए पुरानी लकीर को छोड़ देना मुश्किल कर [illegible] हिन्दुस्तान के मुसलमानों में ऐसी ऊँची काबलियत के लोगों का बहुत [illegible] अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ़-कालेज ने बड़ा [illegible] और उसने एक बड़ी तादाद में अच्छे काबिल आदमी तैयार करके [illegible] का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन जिस साँचे में वह [illegible] न निकल सका—उसके ऊपर ज़मींदाराना व्यवस्था का असर बना [illegible] उद्देश सिर्फ सरकारी नौकरी ही था। [illegible]

के साथ जीवन-संग्राम में उतरने या किसी ऊँचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नहीं थी। वह तो अगर उसे कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमें अपनेको धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ इस बात की याद दिलाने से ठंडा हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अंग है। इस भाईचारे के प्रमाण-स्वरूप वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फेज कहते हैं और जिसको खुद तुर्कों ने ही बाद में बिलकुल उतार फेंका। जहां उसे अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास हुआ—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—कि फिर वह इस बात के सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नहीं।

यह तंग दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही महदूद न था। हिन्दू विद्यार्थियों में भी—जो स्वभाव से ही खतरों से घबराते थे—यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बहुतों को उस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी संख्या तो थी बहुत ज्यादा और मिलनेवाली नौकरियाँ थीं बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारक लोगों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयदअहमदखां के राजनैतिक संदेश के गलाघोंटू असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफी जोर पकड़ चुका था) बीच खाई चौड़ी करने में सहायक हो गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० में 'इंडियन अनरेस्ट' नामक पुस्तक में लिखा था—"यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिक रूप में कभी अपने हितों और आकांक्षाओं को ब्रिटिश राज के संगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नहीं मिलाया। राजनीति की दुनिया में भविष्यवाणियाँ करना खतरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पाँच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे बढ़ने से रोक रही थीं, तोड़ने और कांग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्वपूर्ण थे। इन्हीं दस बरसों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू भी हुआ

और खतम भी हो गया और अपनी विरासत मे एक नष्ट-भ्रष्ट ससार छोड गया ।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजो पर पहुँचे जाहिरा तौर पर ना उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे । आगाखा मुसलमानो के नेता के रूप मे प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफी सबूत था कि मुसलमान लोग अभी-तक अपनी जागीरदाराना परम्परा से चिपके हुए थे, क्योंकि आगाखा कोई मध्यम-वर्ग के नेता नही थे । वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे । ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण, अंग्रेजो के लिए वह अपने आदमी बन गये थे । बडे शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाडी की भांति ज्यादातर योरप मे ही पडे रहनेवाले । इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मजहबी या फिरकेवाराना मामलो मे सकीर्ण विचारो से बहुत दूर थे । उनका मुसलमानो का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम जमींदार और बढते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायँ, साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने जोरो के साथ जाहिर की जाती थी । सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखा ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "बग-भग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के बारे मे मुसलमानो की क्या राय है ताकि जल्दबाजी मे हिन्दुओ को कही ऐसी राजनैतिक सुविधाये न दे दी जायँ जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दे---जो बहुमत ब्रिटिश राज [illegible] और मुस्लिम अल्पमत के हितो के लिए, जिसकी राजभक्ति मे किसीको सन्देह नही हो सकता था, समान रूप से खतरनाक था ।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार की इन जाहिरा हिमायती ताकतो के सिवा और दूसरी [illegible] की शक्तियाँ भी काम कर रही थी । नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति [illegible] दिन दिन लाजिमी तौर पर असतुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन [illegible] खिचता जा रहा था । आगाखाँ को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना [illegible] और उन्हे अंग्रेजो को एक खास ढग की चेतावनी भी देनी पडी । जनवरी १९१४ [illegible] महायुद्ध से बहुत पहले) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अक मे उन्होने एक [illegible] था, जिसमे सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानो को लडाने [illegible] का परित्याग कर दिया जाय और दोनो सम्प्रदायो के नरम खयाल के लोगो [illegible] के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे कि तरुण भारत की हिन्दू और मुसल-[illegible] शक्तियो की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियो से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो [illegible] यह साफ है कि आगाखाँ हिन्दुस्तान की राजनैतिक तबदीली को रोकने [illegible] दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानो के साम्प्रदायिक हितो मे उतनी नही ।

के साथ जीवन-संग्राम में उतरने या किसी ऊंचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नहीं थी। वह तो अगर उसे कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमें अपनेको धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ उस बात की याद दिलाने में ठंडा हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अंग है। इस भाईचारे के प्रमाण-स्वरूप वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्की फेज कहते हैं और जिसको खुद तुर्कों ने ही बाद में बिल्कुल उतार फेंका। जहां उसे अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास हुआ—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—कि फिर वह इस बात के सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नहीं।

यह तंग दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही महदूद न था। हिन्दू विद्यार्थियों में भी—जो स्वभाव से ही खतरों से घबराते थे—यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बहुतों को उस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी संख्या तो थी बहुत ज्यादा और मिलनेवाली नौकरियां थीं बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारक लोगों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयदअहमदखां के राजनैतिक संदेश के गलाघोंटू असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफी जोर पकड़ चुका था) बीच खाई चौड़ी करने में सहायक हो गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० में 'इंडियन अनरेस्ट' नामक पुस्तक में लिखा था—"यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिक रूप में कभी अपने हितों और आकांक्षाओं को ब्रिटिश राज के संगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नहीं मिलाया।" राज-नीति की दुनिया में भविष्यवाणियां करना खतरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पांच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे बढ़ने से रोक रही थीं, तोड़ने और कांग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्वपूर्ण थे। इन्हीं दस बरसों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू भी हुआ

और खतम भी हो गया और अपनी विरासत मे एक नष्ट-भ्रष्ट ससार छोड गया ।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजो पर पहुँचे जाहिरा तौर पर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे । आगाखा मुसलमानो के नेता के रूप मे प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफी सबूत था कि मुसलमान लोग अभी-तक अपनी जागीरदाराना परम्परा से चिपके हुए थे, क्योकि आगाखा कोई मध्यम-वर्ग के नेता नही थे । वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे । ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण, अग्रेजो के लिए वह अपने आदमी बन गये थे । बडे शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाडी की भाति ज्यादातर योरप मे ही पडे रहनेवाले । इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मजहबी या फिरकेवाराना मामलो मे सकीर्ण विचारो से बहुत दूर थे। उनका मुसलमानो का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम जमींदार और बढते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायं, साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने जोरो के साथ जाहिर की जाती थी । सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखा ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "बग भग मे पैदा होनेवाली राजनेतिक स्थिति के बारे मे मुसलमानो की क्या राय है ताकि जल्दबाजी मे हिन्दुओ को कही ऐसी राजनैतिक सुविधाये न दे दी जायँ जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दे---जो बहुमत ब्रिटिश राज की दृढता और मुस्लिम अल्पमत के हितो के लिए, जिसकी राजभक्ति मे किसीको सन्देह नहीं हो सकता था, समान रूप से खतरनाक था ।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार की इन जाहिरा हिमायती ताकतो के सिवा और दूसरी तरह की शक्तियाँ भी काम कर रही थी । नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति पर दिन-दिन लाजिमी तौर पर असतुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिचता जा रहा था । आगाखाँ को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना पडा और उन्हे अग्रेजो को एक खास ढग की चेतावनी भी देनी पडी । जनवरी १९१४ (यूरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अक मे उन्होने एक लेख लिखा, जिसमे सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानो को लडाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय और दोनो सम्प्रदायो के नरम खयाल के लोगो को एक झडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे कि तरुण भारत की हिन्दू और मुसलमान दोनो जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियो से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय। इसलिए यह साफ है कि आगाखाँ हिन्दुस्तान की राजनैतिक तबदीली को रोकने मे जितनी ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानो के साम्प्रदायिक हितो मे उतनी नहीं।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानों की अनिवार्य प्रगति को न तो आगाखाँ और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। समस्तव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही वैसे आगाखा का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहाँतक कि अलीगढ़ कालेज का भी रुख बदल गया। नये नेताओं में सबसे अधिक जोरदार अली बन्धु निकले, ये दोनों ही उस कालेज में निकले हुए थे। डॉक्टर मुख्तारअहमद अन्सारी मौलाना अबुलकलाम आजाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानों के राजनैतिक मामलों में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह लेकिन कुछ कम परिमाण में मि० जिन्ना भी भाग लेते थे। गाधीजी ने इनमें से अधिकाश नेताओं (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आम तौर से मुसलमानों को भी अपने असहयोग आन्दोलन में घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनों में इन लोगों ने हमारी लड़ाई में खासा प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनों कौमों के साम्प्रदायिक और पिछड़े हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र में बरबस पीछे हट चुके थे, वे फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर थी लगातार। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की खासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण, मगर राजनैतिक दृष्टि से वह कांग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्थायें मुस्लिम जनता में अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अंश तक फिर प्राप्त करने में अधिक सफल रहीं। फिर भी मुस्लिम नेताओं का एक जबरदस्त गिरोह सदा कांग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं को, जो राजनैतिक दृष्टि से पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने में कोई कसर नहीं रक्खी। इन प्रतिक्रियावादियों की सफलता को देखकर हिन्दू महासभा के मुँह में भी पानी आ गया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया में इनके साथ होड़ लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोंवाले बहुतसे लोग या तो निकाल दिये गये या खुद ही निकल गये और मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनों ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलों की सीटों के बारे में बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सरकारी क्षेत्रों में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए नौकरियों की लड़ाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियाँ इतनी तो हो ही नहीं सकतीं

जो सबको मिल जाती, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी उन्हीके बारे मे लडते-झगडते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फिक्र मे थे, क्योंकि ज्यादातर नौकरियाँ उन्होने घेर रक्खी थी और मुसलमान लोग सदा "और-और" की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियो की लडाई के पीछे एक और भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो ठेठ साम्प्रदायिक तो नही थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड जरूर रहा था। पजाब, सिन्ध और बगाल मे हिन्दू लोग सब तरह से ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तो के मुसलमान गरीब, कर्जदार, और देहाती थे। इसलिए इन दोनो की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रग दे दिया जाता था। पिछले महीनो मे प्रान्तीय धारा-सभाओ मे पेश किये गये देहाती कर्ज के भार को घटानेवाले मुतल्लिक बिलो पर, खासकर पजाब मे, जो बहसे हुई है उनसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है। हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियो ने इन युक्तियो का दृढता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानो की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को जाहिर है कि मुस्लिम सस्थाओ ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नही है, क्योंकि वह राष्ट्रीयता का नकली चोगा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो, जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओ का हित-विरोध होता हो और वह उसकी मुखालफत न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौके आये है, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा मे बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितो के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओ के खिलाफ हिन्दुओ ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनो ही दलो के सम्प्रदायवादियो द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियो की सबसे अजीब नुमाइश तो गोलमेज कान्फ्रेन्स मे हुई। ब्रिटिश-सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानो को नामजद करने पर तुली हुई थी जो [illegible] तरह सम्प्रदायवादी थे। और आगाखा के नेतृत्व मे तो ये लोग इतने नीचे उतर [illegible] थे कि इग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही [illegible] बल्कि सभी उन्नतिशील सम्प्रदायो की दृष्टि से सबसे खतरनाक व्यक्तियो तक के [illegible] साथ मिलने को उतावले हो गये थे। आगाखा और उनके गिरोह का लार्ड लायड और [illegible] पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध एक बडी असाधारण-सी बात थी। इतना ही

नहीं, इन लोगों ने गोलमेज परिषद में गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियों तक से समझौता कर लिया था। यह बड़े दुख और निराशा की बात थी, क्योंकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और ज़ोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होंने, खासकर पंजाब के लिए, स्वतन्त्रता के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रतिबन्ध माँगे जो अंग्रेज़ों के हक में संरक्षण थीं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्न में मुसलमानों को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नहीं, उल्टे अपने पक्ष को ही उन्होंने नुकसान पहुँचाया और स्वतन्त्रता के पक्ष के साथ विश्वासघात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग में कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियों के पास तो यह भी न था।

मुझे तो यह बात मालूम पड़ती है कि दोनों तरफ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नहीं हैं। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग करते हैं और उससे बेजा फायदा उठाते हैं। दोनों ओर आर्थिक प्रश्नों को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नों को दबाया जा सकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनों दलों के साम्प्रदायिक नेता निस्सदेह आगाखा की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम विचारवालों को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब यह बात जाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक-दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहें, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहों में सरकार को राष्ट्र-विरोधी कानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनों ही मिल जाते हैं। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनों को एकसाथ ला मिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मजेदार बात भी ध्यान में रखने की है कि आगाखां का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है। १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी लीग के सहभोज में, जिसके सभापति लार्ड लायड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहाँ आपने लार्ड लायड के उन प्रस्तावों का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होंने ब्रिस्टल की कंज़रवेटिव कान्फ्रेन्स में ब्रिटिश जहाज़ी बेड़े की शक्ति को और अधिक मज़बूत ... की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की

रक्षा और इग्लैण्ड की हिफाजत के लिए इतने आतुर थे कि वह इग्लैण्ड की फौजी ताकत बढाने के काम मे मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जा रहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर !

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ मे, यह खबर लगी कि लन्दन मे, खानगी तौर पर, एक फिल्म दिखलाई गई है, जिसका उद्देश था मुसलमानो को अग्रेजी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र म बाँध देना। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आगाखा और लार्ड लायड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा मालूम पडता है कि शाही मामलो मे आगाखा और लार्ड लायड दोनो इस तरह एक जान दो कालिब है जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र मे सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर। यह बात भी गौर करने के काबिल है कि इन महीनो मे, जबकि ये दोनो एक-दूसरे मे इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक्त लार्ड लायड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओ के विरुद्ध इसलिए एक अत्यत कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्त्व कर रहे थे कि उन्होंने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमजोरी दिखलाई थी।[1]

इधर पिछले दिनो कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओ के व्याख्यानो और वक्तव्यो मे एक मजेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नही है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगो की शायद यह राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गई है। हिन्दुस्तान मे 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम सस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो की घोर असम्बद्धता पर खूब जोर दिया जा रहा है। इसका परिणाम लाजिमी तौर से यही निकलता है (हालाकि वह इतने खुले तौर पर नही रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनो सस्कृतियो मे बीच-बचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अग्रेजो का अनन्तकाल तक बना रहना बहुत जरूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा मे बह रहे है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि उन्हे यह आशा है कि चूकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त मे उन्हीकी 'सस्कृति' का बोलबाला होगा।

हिन्दू और मुस्लिम 'सस्कृतिया' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनोमोहक दृश्य उपस्थित कर देते है !

[1] अभी हाल ही में कुछ अग्रेज़ लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनाई है, जिसका उद्देश इन दोनों घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और पुख्ता करना है।

हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी ठोस नहीं बल्कि डावाँडोल, बिखरा हुआ और अनिश्चित ! राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिल्कुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से सोचनिकलियाना है, यह तो ध्यान में लाने लायक भी नहीं है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके जरिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है।

मध्यवर्ती युग में, और उसके बाद भी, ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस में न मिल सकनेवाली जातियां एकसाथ मिलकर रहती थीं। टर्की के सुल्तानों के आरम्भ-काल में भी कुस्तुन्तुनिया में ऐसी हरेक 'जाति'—लेटिन, ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वगैरा—अलग-अलग रहती थी और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थीं। यह उस देशेतर भावना का प्रारम्भ था जो, अबसे कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशों का हौवा बन गई थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज नहीं है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा में) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताई जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज अख्त्यार करलें। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार, अन्त में मस्तिष्क की एक भावुक स्थिति और असलियतों से, खासकर आर्थिक असलियतों से, मुँह छिपाने की एक ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा इसका और कुछ अर्थ नहीं है। भाव-वृत्तियाँ कभी-कभी तर्क का भी तख्ता उलट देती हैं और हम उनको सिर्फ इस बिना पर दरगुजर नहीं कर सकते कि वे हमें इतनी तर्क रहित मालूम होती हैं। मगर यह मुस्लिम राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियों की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अखबारों में इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने में भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमें विश्वास रखते हों, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह गायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृति' की भावना भी इसी किस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओं का भी जमाना तेजी के साथ जा रहा है और सारा संसार एक सांस्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनोंतक अपनी-अपनी विशेषताओं, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोड़े, और शायद बहुत कालतक छोड़े भी नहीं, मगर मशीनों का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वगैरा हैं—इन विशेषताओं को अधिकाधिक एकरूप बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नहीं कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला संसार-व्यापी विप्लव ही

~सको रोक सकता है। हिन्दुओ और मुसलमानो के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारो मे जरूर काफी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनो की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करे, तो यह मत-भेद करीब करीब लुप्त हो जाता है, क्योकि इस दृष्टि-कोण और जीवन के उपर्युक्त विचारो मे भी आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान मे इस समय असली झगडा हिन्दू-सस्कृति और मुस्लिम-सस्कृति का नही, बल्कि इन्ही जीवन के विचारादर्श तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक सस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम-सस्कृति' की, जैसी जो कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते है, उन्हे हिन्दू-सस्कृति से घबराने की जरूरत नही, लेकिन उन्हे पश्चिमी दैत्य का मुकाबिला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमे कुछ भी सन्देह नही मालूम होता है कि हिन्दुओ या मुसलमानो के, आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के, सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल सावित होगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफसोस न होगा। जिस समय रेल वगैरा ने हमारे यहाँ प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयदअहमद ने भी अलीगढ-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानो के लिए जोरो से इसी मार्ग को चुन लिया था।

लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवाय ऐसी चीज को पकडने के और कोई चारा नही रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल मे हममे से किसीके लिए उसके सिवा और कोई मार्ग न था।

लेकिन यह 'मुस्लिम सस्कृति' आखिर चीज क्या है? क्या यह अरबी, फारसी, तुर्की वगैरा के महान् कार्यो की कोई जातीय स्मृति है? या भाषा है? या कला और सगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नही पडता कि किसीने आधुनिक मुस्लिम कला या सगीत का जिक्र किया हो। हिन्दुस्तान मे मुस्लिम विचार-धारा पर अरबी और फारसी दो भाषाओ का, और खासकर फारसी का, प्रभाव पडा है। लेकिन फारसी के प्रभाव मे धर्म का कोई निशान नही है। फारसी भाषा, और बहुत-सी फारसी रीति-रस्म और परम्पराये हजारो वर्षो के समय मे हिन्दुस्तान मे आई और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका जोरदार असर पडा। फारस तो पूर्व का फ्रास था, जिसने अपनी भाषा और सस्कृति अपने पास-पडोस सब देशो मे फैलादी। यह हम सब भारतीयो की एक-समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान जातियो और देशो के पुराने कारनामो का गर्व मुसलमानो को एक-साथ बाधनेवाले सूत्रो मे शायद सबसे अधिक मजबूत सूत्र है। क्या किसीको इन

जातियों के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानों में हसद है ? जबतक वे इसे याद करें और दिल से उसका पोषण करना चाहें तबतक इसे कोई भी उनसे छीन नहीं सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभीके लिए समान रूप से गौरव की चीज है, क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि योरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बांध देने-वाली यही चीज है। मैं जानता हूं कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड' के वक्त में अरब लोगों के साथ हुए झगड़ों का हाल पढ़ा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों के साथ रही है। मैं निष्पक्ष और बेलौस होने की कोशिश करता हूं पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूं, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आखिर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज। लेकिन मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इसमें सफल नहीं हुआ। मैं देखता हूँ कि उत्तरी हिन्दुस्तान में ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानों और हिन्दुओं की एक नगण्य-सी संख्या है जिनपर फारसी भाषा और परम्पराओं की छाप पड़ी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम-संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिन्ह नजर आते हैं। एक खास तरह का पायजामा, न ज्यादा लम्बा न ज्यादा छोटा, डाढ़ी का बढ़ाया जाना और मूंछों के बनाने का एक खास तरीका, और एक खास तरह का टोंटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढंग के रस्म-रिवाज हैं। धोती पहनना, चोटी रखना, और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये भिन्नतायें भी ज्यादातर शहरी हैं और अब कम होती जा रही हैं। मुसलमान किसान और मजदूर और हिन्दू किसान और मजदूरों में कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। मुसलमानों के शिक्षितवर्ग में डाढ़ी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालांकि अलीगढ़ में लाल रंग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब भी पसंद की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालांकि तुर्कों ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रक्खा है)। मुसलमान स्त्रियां साड़ी को अपनाने लगी हैं और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही हैं। मेरी अपनी रुचि तो इनमें से कुछ तौर-तरीकों को पसन्द नहीं करती और डाढ़ी, मूंछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है, लेकिन मैं अपनी रुचि-सम्बन्धी धारणाओं को दूसरों के गले नहीं मढ़ना चाहता। हाँ, डाढ़ियों के विषय में मैं यह

१. मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—कहा जाता है।

मानता हूँ कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उडाना शुरू किया था तो मुझे बडी खुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पडता है कि उन हिन्दुओ और मुसलमानो को देखकर मुझे बडी दया आती है जो हमेशा पुराने जमाने का रोना रोया करते है और उन चीजो को पकडने की कोशिश करते रहते है जो उनके हाथ से खिसकती जा रही है। मै प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिल्कुल छोड ही देना चाहता हूँ, क्योकि हमारे अतीत मे बहुत-सी ऐसी बाते है जो सुन्दरता मे अनुपम है। वे सदा रहेगी, इसमे मुझे सन्देह ही नही है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओ को तो नही पकडते, बल्कि ऐसी चीजो को पकडने दौडते है जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती है।

पिछले कुछ वर्षो मे मुसलमानो को बार-बार हादसे पहुँचे है और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये है। इस्लाम के बानी उस टर्की ने खिलाफत को ही खतम नही कर दिया जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० मे बडी बहादुरी से लडे थे, बल्कि वह तो मजहब से भी दूर-दूर कदम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान मे एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई खाम-खयाली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ मे कहा था—"विधान मे यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रखली गई है और पहला मौका मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिश्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और अपनी राजनीति को मज़हब से बिलकुल अलग रक्खे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे है, सिवा खास अरब के, जो बहुत पिछडा हुआ है। फारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व-मुस्लिम काल की याद कर रहे है। हर जगह मज़हब पीछे हटता जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप मे प्रकट हो रही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' है जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियो को लिये हुए है। इस 'मुस्लिम-राष्ट्र' और 'मुस्लिम-संस्कृति' का क्या होगा? भविष्य मे क्या वे सिर्फ अंग्रेज़ो के कृपा-शासन की छत्रछाया मे मग्न पडे हुए उत्तर-भारत मे ही मिलेगे?

उन्नति अगर इसी बात मे है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे तो यह कहना पडेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियो का और हमारी सरकार का भी उद्देश, इरादतन और हमेशा, इसमे उलटा यानी सकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

५७

दुर्गम घाटी

दुबारा गिरफ्तार होने और सजा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेन्स वगैरा का दौर-दौरा था, और क्‌ कॉंग्रेस भी तब गैर-कानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख अख्त्यार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा थ उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर प सवार रहनेवाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पड़े बिना न रहा में जमकर कोई काम नहीं कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितन कुछ हो सके कर डालूँ।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नहीं थी और जहाँतक हो सकता था मैं ऐसी कार्रवाइयों से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियों का कारण बने। अपन प्रान्त में और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहों से निमन्त्रण आ रहे थे। मैंने सबसे इन्कार कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि कोई भी व्याख्यानों का दौरा तूफानी हलचल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता था, और वह सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नहीं सकता था। जब कभी मैं किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता—जैसे गांधीजी या वर्किंग कमिटी के सदस्यों से सलाह-मशविरा करने के लिए—तो मैं सार्वजनिक सभाओं में भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर में एक बहुत बड़ी सभा हुई और बड़ा शानदार जुलूस निकाला गया, दिल्ली की सभा में तो इस कदर भीड़ थी जितनी मैंने पहले कभी वहाँ देखी ही नहीं। वास्तव में इन सभाओं की सफलता से ही यह स्पष्ट हो चला था कि सरकार ऐसी सभाओं का बारबार होना कभी सहन नहीं करेगी। दिल्ली में, सभा के बाद ही, बड़े जोरों की अफवाह फैली कि मेरी गिरफ्तारी होनेवाली है, लेकिन मैं बच गया और इलाहाबाद लौट आया। रास्ते में मैं अलीगढ़ ठहरा, जहाँ मैंने मुस्लिम यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के सामने एक भाषण दिया।

ऐसे समय में, जब कि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामों को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नहीं था कि राजनीति से ... र कार्यों में भाग लिया जाय।

कांग्रेसवालो मे मुझे एक जोरदार प्रवृत्ति यह नजर आई कि उग्र राजनैतिक कार्यों से बचकर ऐसे मामूली कामो मे पड जाना जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नही था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए था।

अक्तूबर १९३३ के मध्य मे हमने इलाहाबाद मे, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चत करने के लिए, युक्तप्रान्त के काग्रेसी कार्यकर्त्ताओ की मीटिंगे की। प्रान्तीय काग्रेस कमिटी एक गैर-कानूनी सस्था थी, और चूकि हमारा उद्देश कानून की अवज्ञा करने का नही बल्कि आपस मे मिलने का था, इसलिए हमने इस कमिटी को बाकायदा नही बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यो को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्त्ताओ को खानगी तौर पर विचार-विनिमय की नीयत से बुलाया था। हमारी मीटिंगे खानगी तो होती थी, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नही किया जाता था। इसलिए आखिरी दमतक हमे इस बात का पता नही लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नहीं। इन मीटिंगो मे हम लोग ससार की स्थिति—घोर मन्दी, नाजीवाद, समाजवाद वगैरा पर बहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ हो रहा है उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखे। इस कान्फ्रेन्स ने अन्त मे एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमे भारतवासियो के लक्ष्य का बयान और सविनय भग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देश-व्यापी सविनय भग की कोई सम्भावना नहीं थी और व्यक्तिगत सविनय भग भी या तो शीघ्र ही खतम हो जानेवाला था या एक बहुत ही सकुचित रूप मे जारी रह सकता था। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति मे कोई फर्क नही पडता था, क्योकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो बरकरार था। इसलिए बाकायदा सविनय भग जारी रखने का जो निश्चय हमने किया, वह कहने ही के लिए था। असल मे तो हमारे कार्यकर्त्ताओ को यह आदेश था कि जान-बूझकर व्यर्थ ही गिरफ्तार न हो। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहे और अगर काम के दौरान मे गिरफ्तारी हो जाय तो उसे खुशी के साथ मजूर करले। उनसे खासकर यह कहा गया था कि देहात मे अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करे और यह जानने की कोशिश करे कि लगान मे छूट और सरकार की दमन-नीति इन दोनो के परिणामस्वरूप किसानो की क्या अवस्था है। उस वक्त लगानबन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना कान्फ्रेन्स के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जा चुका था

और यह साफ जाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमें वस्तुतः कोई गैरकानूनी बात नहीं थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इसमें गिरफ्तारियाँ तो होंगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्त्ता गाँवों में पहुँचते, वे गिरफ्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी-आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा जुर्म लगाया जाता और सजा देदी जाती। अपने बहुतसे साथियों की गिरफ्तारियों के बाद मेरा इरादा भी था कि मैं इन देहाती क्षेत्रों में जाऊँ। लेकिन कई और जरूरी कामों में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पड़ा, और बाद में तो इसके लिए मौका ही न रहा।

इन महीनों में वर्किंग कमिटी के सदस्य सारे देश की स्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमिटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था—इसलिए नहीं कि वह गैरकानूनी थी, लेकिन इसलिए कि पूना के बाद, गांधीजी के आदेश से, सारी कॉंग्रेस कमिटियाँ और कांग्रेस दफ्तर अस्थायी तौर पर बन्द दिये गये थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी, क्योंकि जेल से छू आने पर मैंने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया अपने-आपको कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अ भी शून्य में था। उस समय न तो कोई ठीक दफ्तर था, न कोई कर्मचारी, न स्थानापन्न सभापति, और गांधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बड़े भारी अखिल-भारतीय दौ मशगूल थे। हमने उनको दौरे के बीच में जबलपुर और दिल्ली में पकड़ पाया वर्किंग कमिटी के मेम्बरों के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरों ने यह किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरों के मतभेद को साफ तौर से सामने लाकर रख दि बस, यहीं गाड़ी अटक गई और कोई ऐसा रास्ता नहीं नजर आता था जो सबको प हो। दोनों पक्षों, सत्याग्रह जारी रखने और बन्द करनेवालों, के बीच गांधीजी ही व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य हो सकता था। और चूंकि वह बन्द करने के मे नहीं थे इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वही चलती रही।

कॉंग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ने के प्रश्न पर कांग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालाँकि इस समय तक वर्किंग क के सदस्यों की इस तरफ कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह प्रश्न अभी उठता ही न , इसके लिए अभी समय भी नहीं आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन सा

तक असली मूरत में आनेवाले नहीं थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई जिक्र ही न था। अपनी जाती राय मे तो मुझे चुनाव लड़ने में सिद्धान्त-रूप से कोई आपत्ति नहीं थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पड़ेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायँगे और समझौते की प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेंगे।

उस दर्मियान मैं लगातार लेख और वक्तव्य अखबारों में भेजता रहा। कुछ हद तक मुझे अपने लेखों को नरम करना पड़ता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे भांति-भांति के कानूनों का भयानक जाल दूर तक फैला हुआ था। मैं कुछ खतरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। वैसे तो सब अखबार मेरी खातिर रखते थे और बहुत-सी बातों में मेरे हक में रिआयत भी कर जाते थे। लेकिन हमेशा नहीं। कभी-कभी वक्तव्य और लेखांश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बड़ी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही न होने पाया। जनवरी १९३४ में, जब मैं कलकत्ते में था, एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रों के सम्पादक-शिरोमणि के पास मशविरे के लिए भेज दिया गया था, और चूंकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामंजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' और कोई नहीं थे सिवा कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय के।

अखबारों को दी गई कुछ मुलाकातों और वक्तव्यों में मैंने कई दलों और व्यक्तियों की बड़ी कड़ी आलोचना करने की धृष्ठता की थी। इससे लोग बहुत नाराज हुए। इस नाराजी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति—जिसके प्रसार में गांधीजी का भी हाथ था। खुद गांधीजी ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया था और प्रमुख कांग्रेसियों ने भी कुछ घट-बढ़ मात्रा में उनके मार्ग का अनुसरण किया, हालांकि हमेशा ऐसा नहीं होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावनायुक्त वाक्यों का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचकों को गलत और समय-साधक चालों को काम में लाने का मौका मिल जाता था। असली बातों को दोनों दल बचा जाते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-खरोश के ऐसा वाद-विवाद शायद ही कभी होता जिसमें सनातनी और जोश-खरोश की

नौबत आय, जैसाकि उन देशो को छोडकर, जहाकि फासिज्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशो मे होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मै कद्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यो की तेजी पर उनको थोडा-सा आश्चर्य हुआ—इसलिए कि मै करीब-करीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओ पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था ? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी था, क्योकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब टूटी हुई आशाओ को लिये बैठे है। व्यक्तिगतरूप स भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का खयाल नही होता था, क्योकि खुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नही हो रही थी। जबसे गाधीजी मेरे राजनैतिक मानसपटल पर आये, मैने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामो के डर से अपने हृदयगत भावो को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने—राजनैतिक क्षेत्र मे पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रो मे इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और खतरनाक हो जाना सम्भव है)—मुझे अक्सर कठिनाई मे डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ सतोष भी प्रदान किया है। मै समझता हू, केवल इसी कारण हममें से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावो से बचे रहे है। यह खयाल भी, कि लोगो की एक बहुत बडी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सात्वना पहुँचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय की भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरो से भुला दिये जाने का खयाल, मै समझता हू सब खयालो से ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दु खमय ससार मे मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है ? कितनी ही बार हरेक बात बिगडती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढते जाते है फिर भी, जब हम अपने चारो ओर रहनेवाले लोगो को देखते है तो तरह-तरह की शकाये आ घेरती है। मुझे भय है, कि मुख्तलिफ घटनाओ और परिवर्त्तनो, यहाँतक कि व्यक्तियो और दलो पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और खीझ हो आती है। और पिछले कुछ दिनो से तो मै ऐसे लोगों पर बहुत ज्यादा भिन्नाने लगा हूँ जो जीवन की समस्याओ पर सजीदगी से विचार नही करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को भूल जाते है और उनका जिक्र करना भी बेजा समझते है, क्योकि इन प्रश्नो का असर उनके पेशो या उनकी पोषित धारणाओ पर पडता है। लेकिन मै समझता हूँ कि इस रोष, इस पराजय

ओर इस खिसियाहट के बावजूद मैने अपनी ओर दूसरो की बेवकूफियो पर हँसने की अपनी सहज प्रवृत्ति को नही खोया है ।

परमात्मा की कृपालुता मे लोगो की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है । किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है ओर किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की दृढता की परीक्षाये मान ली जाती है। जेराई हॉपकिन्स की ये सुन्दर पक्तियाँ अनेक हृदयो मे [illegible]जती है —

"सचमुच तू न्यायी हे स्वामी, यदि मै करूँ विवाद,
किन्तु नाथ, मेरी भी है यह न्याय युक्त फरियाद।
फलते और फूलते है क्यो पापी करकर पाप ?
मुझे निराशा देते है क्यो सभी प्रयत्न-कलाप ?
हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहाँ वे मद्य और विषयो के दास,
भोग रहे वे पडे मौज मे है जीवन के विभव-विलास !
और, यहाँ मै तेरी खातिर काट रहा हूँ जीवन नाथ !
हाँ, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओ के साथ ।"[१]

विश्वास—उन्नति मे, शुभकार्यो मे, आदर्शो मे, मानवी सज्जनता मे ओर मानव भविष्य की उज्ज्वलता मे । क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नही है ? यदि हम इनको बुद्धि ओर तर्क से साबित करना चाहे तो तुरन्त हम कठिनाई मे पड जायँगे । पर हमारे अन्तस्तल में कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास मे चिपटी हुई है, अन्यथा इनके बिना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान हो जाय ।

१ मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है :—

"Thou art indeed just, Lord if I contend
With thee, but, sir, so what I plead is just
Why do sinners' ways prosper ? and why must
Disappointment all I endeavour end?
Wert thou my enemy, O thou my friend,
How wouldst thou worse, I wonder, than thou dost
Defeat, thwart me ? Oh, the sots and thralls of lust
Do in spare hours more thrive than I that spend,
Sir, life upon thy cause "

मेरे समाजवादी प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमिटी के कुछ सहयोगियों तक को घबरा दिया। वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहे थे, लेकिन अब तो ऐसा खयाल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मैं स्थापित स्वार्थों को भड़का रहा हूं, और मेरी गति-विधि अहानिकर नहीं कही जा सकती थी। मैं जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नहीं है, लेकिन मैं यह हमेशा खयाल करता रहा कि कांग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत से मुझे, बिना कांग्रेस को जवाबदेह ठहराये, समाजवादी प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। जब मैंने यह महसूस किया कि वर्किंग कमिटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं उनको एक विकट परिस्थिति में डाल रहा था और इसपर उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की। लेकिन मैं करता भी तो क्या? जिस चीज को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग समझता था उसे छोड़ देने के लिए मैं कभी तैयार नहीं था। अगर दोनों में झगड़ा होता तो मैं वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे देना इससे कहीं बेहतर समझता। लेकिन जब कि कमिटी गैरकानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मैं उससे इस्तीफा कैसे देता?

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आई। मेरा खयाल है यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गांधीजी ने मद्रास से मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होंने मेरे पास 'मद्रास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमें उनकी दी हुई एक इंटरव्यू का वर्णन था। इंटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय में प्रश्न किये थे और उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने मेरे कार्य-कलापों पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ़ आशा प्रकट की थी, और यह भी कहा था कि मैं कांग्रेस को इन नवीन मार्गों में नहीं घसीटूंगा। अपने बारे में इस तरह का जिक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—उसी इंटरव्यू में आगे दी हुई—जमींदारी-प्रथा के लिए गांधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत जरूरी अंग है। इसने मुझे बहुत हैरत में डाल दिया, क्योंकि बड़ी-बड़ी जमींदारियों या ताल्लुकेदारियों की वकालत करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे संसार में ये प्रथायें नष्ट हो चुकी हैं और हिन्दुस्तान में भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं कि इनका अन्त दूर नहीं है। खुद ताल्लुकेदार और जमींदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफी मुआवजा मिल जाय।[1]

१. सर्व-बंगाल जमींदार कान्फ्रेन्स की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी०

यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापो के बोझ से डूबी जा रही है। लेकिन फिर भी गाधीजी इसके पक्ष मे थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बाते करते थे। मैने फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मै ताज्जुब करने लगा कि भविष्य मे मै कहाँतक उनके साथ सहयोग कर सकूँगा। क्या म वर्किंग कमिटी का सदस्य बना रहूं ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही न था, और कुछ हफ्तो बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासगिक ही हो गया।

घरेलू झगडो मे मेरा बहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी मा का स्वास्थ्य धर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभीतक रोगशय्या पर पडी थी, र उनके जीवन का कोई खतरा नही मालूम होता था। मैने अब अपना ध्यान अपने ार्थिक मामलो की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनो से परवा नही की गई थी ार जो बडी गडबड मे पड गये थे। हम लोग अपने बूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे ार खर्च कम करने की जाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नजर नही आती थी। मुझे र का खर्च चलाने की तो कोई खास फिक्र न थी। मै तो करीब-करीब उस वक्त के न्तजार मे था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान ससार मे धन और सम्पत्ति डी उपयोगी चीजे है, लेकिन जिस मनुष्य का उद्देश बहुत ऊँचा हो उसके लिए तो अक्सर भार-रूप बन जाती है। धनवान आदमियो के लिए ऐसे कामो मे हाथ ालना बहुत कठिन हो जाता है जिनमे कुछ खतरा हो, उनको सदा अपने धन-दौलत चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार पनी मर्जी के मुताबिक उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे जब्त कर सकती ? इसलिए जो थोडा-बहुत मेरे पास था उससे भी मै छुटकारा पाना चाहता था। ारी आवश्यकताये बहुत थोडी थी और मुझे जरूरत के मुताबिक कमा लेने की नी शक्ति मे विश्वास था। मुझे सबसे बडी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी उनके जीवन की इस सान्ध्यवेला मे तकलीफ न उठानी पडे या उनके रहन-सहन के

टैगोर ने, २३ दिसम्बर १९३४ को, अपने भाषण मे कहा था—"जाती तौर पर उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन ज़मीदारों को पर्याप्त मुआवज़ा देकर की ज़मीन का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लैण्ड मे किया गया है।" यह है याद रखने की है कि दायमी-बन्दोबस्त (Permanent Settlement) के मातहत के कारण बगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली ज़मीनों के ज़मींदारों से ादा आसूदा है। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।

ढग मे कोई खास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फिक्र थी कि मेरी लडकी की शिक्षा मे कोई वाधा न पडे, जिसके लिए म उसका योरप मे रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई खास जरूरत नही थी। कम-से-कम हमारा खयाल ऐसा ही था, क्योकि हमे कभी रुपये की सच्ची कमी का तजुर्बा नही हुआ था। मुझे यकीन है कि अगर कभी ऐसा समय आया जबकि हमे रुपये की कमी महसूस करनी पडी तो मुझे निश्चय है कि हमे दु.ख ही होगा। एक खर्चीली आदत जिसका छोडना मेरे लिए मुश्किल होगा, वह है किताबे खरीदना।

उस वक्त की बिगडी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के जेवर, हमारी सोने-चादी की चीजे और छोटा मोटा गाडिया सामान वेच दिया जाय। कमला को अपने जेवर बेचने का खयाल पसन्द नही आया, हालाकि करीब १२ साल से उसने उन्हे नही पहना था और वे बैक मे पडे हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लडकी को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद जिले के गाँवो मे हमारे कार्यकर्त्ता कोई गैर कानूनी कार्रवाइयाँ नही कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ्तारियाँ हो रही थी। इन गिरफ्तारियो का तकाजा था कि हम लोग उनका अनुकरण करे और उन गाँवो मे जायँ। युक्तप्रान्तीय काँग्रेस कमिटी के हमारे महान् प्रभावशाली मत्री रफीअहमद किदवाई भी गिरफ्तार हो चुके थे। २६ जनवरी का स्वतन्त्रता दिवस नजदीक आ रहा था। उसे दरगुज़र नही किया जा सकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने मे, आर्डिनेसो और पाबन्दियो के बावजूद नियमित रूप से मनाया जाता रहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता और किस तरह से इसे आगे बढाया जाता? मेरे सिवा आल इडिया काँग्रेस कमिटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रो से सलाह की तो करीब-करीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए, लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय कायम न हो सकी। मुझे आम तौर पर लोगो मे ऐसे कामो से दूर रहने की प्रवृत्ति नजर आई कि जिनके फलस्वरूप बहुत-से लोग पकडे जा सकते थे। आखिरकार मैंने स्वतन्त्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढग हर जगह के स्थानीय लोगो के निश्चय पर छोड दिया। इलाहाबाद मे हमने सारे जिले मे काफी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा खयाल था कि इस स्वतन्त्रता-दिवस के सयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायँगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बगाल का एक दौरा करना चाहता था।

इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियो से मिलना था, पर असल मे यह बगालियो के प्रति, उनकी गत वर्षो की असाधारण मुसीवतो के लिए, श्रद्धाञ्जलि थी। मैं भलीभाति जानता था कि मै उनकी कुछ भी सहायता नही कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज की दवा नही थे, मगर फिर भी इनका स्वागत ही किया गया होता—और खासकर बगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था और इस बात से दु खी हो रहा था कि जरूरत के वक्त वाकी हिन्दुस्तान ने उसे छोड दिया। यह भावना न्यायोचित तो नही थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरो से उसकी ारी के बारे मे सलाह लूँ। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनो छ हदतक इसे दरगुजर करने की ओर ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, के कारण हमको कलकत्ते मे या किसी और जगह बहुत दिनो तक ठहरना पडता। से मेरे वाहर रहने के थोडे समय मे हम दोनो यथासभव एकसाथ ही रहना चाहते । मैने सोचा कि जब मै जेल चला जाऊँगा तो इसको डाक्टरो और इलाज के चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूँकि गिरफ्तारी नजदीक नजर आ रही इसलिए मैने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते मे कम-से-कम मेरी दगी मे हो जाय, वाकी वाते तो वाद मे भी तय की जा सकती थी।

इसलिए हम दोनो ने—कमला ने और मैने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने निश्चय कर लिया। स्वतत्रता-दिवस की सभाओ से हम पहले ही लौट आना ते थे।

५८

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद मे अपने मकान के बरामदे मे खड़ा किसानो के एक गिरोह को मै कुछ बाते बतला रहा था। माघ मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहा मिलने-जुलनेवालो का तांता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और सम्हलना मुश्किल हो गया। मैने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाजो के किवाड़ भड़भड़ाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन मे, जिसके ऊपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, एक गड़गड़ाहट की आवाज आने लगी। मुझे भूकम्पो का कुछ अनुभव नही था। इसलिए पहले तो मै यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैने जल्दी ही महसूस कर लिया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैने किसानो से बातचीत जारी रक्खी और उन्हे भूचालो के बारे मे बतलाने लगा। मेरी बूढ़ी चाची ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझसे मकान के बाहर दौड़ आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल बेहूदा मालूम हुआ। मैने भूकम्प को कोई गभीर बात नही समझा, और कुछ भी हो, मै ऊपर की मजिल मे अपनी माता को खाट पर पड़ी हुई, और अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बाँध रही थी, छोड़ जाने और अपनी रक्षा का इन्तजाम करने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफी देर तक जारी रहे और बाद मे बन्द हो गये। उन्होने चन्द मिनटो की बातचीत के लिए मसाला पैदा कर दिया और लोग उन्हे जल्दी ही करीब-करीब भूल गये। उस वक्त हम नही जानते थे, और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानो के लाखो आदमियो के लिए कितने घातक साबित हुए होगे।

उसी शाम को कमला और मै कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाडी मे बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-प्रदेश के दक्षिण हिस्से मे होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते मे भूकम्प-जनित घोर अनर्थ के बारे मे कोई खबर नही थी। दूसरे दिन इधर-उधर से समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको वज्रपात का कुछ-कुछ आभास मिलने लगा।

हम अपने कलकत्ते के प्रोग्राम मे लग गये। अनेक डाक्टरो से बारबार मिलना पड़ा और अन्त मे यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ते

आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अर्से से नही मिले थे। चारो तरफ दमन के कारण लोगो के दिलो मे जो डर बैठ गया था उसका, जबतक मै वहा रहा, मुझे काफी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कही उनपर आफत न आ जाय, वे बहुत आफते झेल चुके थे। अखबार भी, वहाँ के, अन्य प्रान्तो के अखबारो से अधिक फूक-फूककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय मे भी वैसी ही शका और उलझने थी, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागो मे। वास्तव मे यह शका ही थी, भय उतना नही, जो सब प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यो मे बाधा डाल रही थी। फासिस्ट प्रवृत्तियाँ बहुत जोरो से उदय हो रही थी, और सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तिया कुछ-कुछ धुँधले अस्पष्ट रूप मे और आपस मे इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थी कि इन गिरोहो मे भेद-निर्णय करना कठिन था। आतकवादी आन्दोलन के बारे मे, जिसपर सरकारी हलको का बहुत ज्यादा ध्यान खिचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध मे उसकी ओर से खूब विज्ञापन किया जा रहा था, ज्यादा पता लगाने की न तो मुझे फुरसत थी और न कोई मौका ही। जहातक मुझे मालूम हुआ, इसमे कोई राजनैतिक महत्ता नही रह गई थी और न आतकवादी दल के पुराने सदस्यो की इसमे कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही बदल गई थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियो का सयम छुडा दिया था और उससे बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनो तरफ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतकवादियो की तरफ से तो यह काफी स्पष्ट था। सरकार की तरफ से भी यही रुख ज्यादातर प्रकट हो रहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लडाई जारी रक्खी जाय, बजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुकाबिला करके उसे रोका जाय। आतकवादी कार्यो से वास्ता पडने पर कोई भी सरकार उनका मुकाबिला किये बिना और उनको दबाने की कोशिश किये बिना नही रह सकती। लेकिन शान्ति और गभीरता के साथ नियत्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की बात है, बनिस्बत ऐसे अतिरजित अनाचारो के जो अपराधियो और निरपराधो पर अन्धाधुन्धी से किये जायँ—खासकर निरपराधो पर, क्योकि इनकी सख्या जरूर ही बहुत ज्यादा होती है। शायद ऐसे खतरे के समय मे गभीर और धीर रहना आसान नही है। आतकवादी घटनाये बहुत कम होती जा रही थी, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी, और यह बात उन लोगो के धैर्य का उथाडोल करने के लिए काफी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनाये खुद कोई बीमारी नही है, बल्कि बीमारी का एक लक्षण

है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणों का उपचार करना बिलकुल बेकार है

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियां, जिनका आतंकवादि से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित हो जाते हैं साहसी नवयुवकों का गुप्तमंत्रणा और खतरे की तरफ हमेशा झुकाव हो जाता है उनकी इच्छा जानकार बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते हैं कि यह हल्ला-गुल्ला किसलिए है और इन मामलों की तह में कौन-कौन लोग हैं। दुनिया कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा का यह तकाज़ा है इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नहीं होती—आतंकवादी कार्य करने तो किसी हालत में भी नहीं,—लेकिन उनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्दे दृष्टि है, सिर्फ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देह-भाजन बना देने के लि काफी होता है। अगर इनकी किस्मत में कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इ बात की तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नजरबन्दों की जमात या नजरबन्दों की किसी जेल में धर दिये जायं।

न्याय और व्यवस्था भारत में ब्रिटिश-राज्य की गौरव-पूर्ण सफलताओं में गि जाते हैं। मैं खुद भी सहज-स्वभाव से उनका समर्थक हूं। मुझे जीवन में अनुशा पसंद है और अराजकता, अशान्ति और ढीला-ढालापन नापसंद। लेकिन कटु अनु ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय में मेरे हृदय में शंका पैदा कर है जिनको राज्य और सरकारें किसी राष्ट्र पर जबरन लाद देती हैं। कभी कभी उ लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, और न्याय तो केवल प्र राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतंक प्रतिबिम्ब। कभी-कभी तो, जो चीज न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअस उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है। कं सफलता, जो चारों ओर छाये हुए आतंक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय न हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और इसके बिना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फौजी शासन के समान है, कानू शासन नहीं। कल्हण कवि के हजार वर्ष पुराने 'राजतरंगिणी' नामक कश्मीर ऐतिहासिक महाकाव्य में न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बारबार प्रयु हुए हैं और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे हैं 'धर्म' अ 'अभय'। न्याय सिर्फ कानून से कुछ बेहतर चीज थी और व्यवस्था लोगों की निर्भय थी। निर्भयता सिखलाने की यह भावना सशंकित जनता को जबरन व्यवस्था पाठ पढ़ाने से कितनी अधिक वाञ्छनीय है!

हम साढे तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्स मे मैंने तीन सार्वजनिक सभाओ मे भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ते मे किया था, मैंने (इस वार भी) आतंकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियाँ वतलाई, और इसके वाद मैं उन तरीको पर भी बोला जो सरकार ने बंगाल मे अख्त्यार किये थे। मैं काफी जोश के साथ बोला, क्योकि इस प्रान्त की घटनाओ के विवरणो से मैं बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुँचाई वह था वह तरीका जिसके जरिये सारी जनता का अन्धाधुन्ध दमन कर मानव-सम्मान पर वलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद मे, कलकत्ते मे मुझपर जो मुकदमा चला उसमे मेरे यही तीनो भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सजा इन्हीका परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुँचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नजदीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली वार आना था, और वह इस स्थान को देखने के लिए खास तौर पर आई थी, क्योकि हम अपनी लडकी को वहाँ भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनो बाद मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमे परेशान कर रहा था। मैं इसके बिलकुल खिलाफ था कि वह सरकारी या नीम-सरकारी यूनिवर्सिटियो मे दाखिल हो, क्योकि मैं उन्हे नापसन्द करता था। उनके चारो ओर का वातावरण सरकारी, गलाघोटू और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमे से पहले भी ऊँचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियाँ निकली है और आगे भी निकलते रहेगे। पर ये थोडे-से अपवाद यूनिवर्सिटियो को, नौजवानो की उदात्त प्रवृत्तियो को दवाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नही बचा सकते। शान्ति-निकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहाँ इस घातक वातवरण से बचा जा सकता था। इसलिए हमने वही उसे भेजने का निश्चय किया, हालाकि कुछ बातो मे वह अन्य यूनिवर्सिटियो की मानिन्द बिलकुल अप-टू डेट और सब तरह के सामानो से पूर्ण [illegible] थी।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीडितो की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। जेल से छूटकर वह अभी आये ही थे और लाजिमी तौर पर उन्होने पीडितो की सहायता के गैर-सरकारी काम मे सबसे आगे कदम रखा। हमारा वहाँ पहुँचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योकि हमारा कोई भी तार

उन्हें नहीं मिला था। कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह टूटा-फूटा पड़ा था, पहले वह ईंटों की एक बड़ी भारी दुमंजिला इमारत थी। इसलिए और बहुत-से लोगों की तरह हम भी खुले में ही ठहरे।

दूसरे दिन मैं मुजफ्फरपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे, पर अभीतक, सिवाय कुछ बड़े रास्तों के, कहीं भी मलबा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। उन रास्तों को साफ करते वक्त बहुत-सी लाशें निकली थीं। इनमें कुछ तो विचित्र भाव-प्रदर्शक अवस्थाओं में थीं, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हों। इमारतों के खंडहरों का दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कॉंग्रेस में थे वे भी और जो नहीं थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमें जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायं। लेकिन दूसरे साथियों को, और मुझे, कोई कारण नहीं नजर आता था कि भूकंप से भी हमारे प्रोग्राम में क्यों खलल पड़े। बहुत-से लोगों का खयाल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाजी और गिरफ्तारियां करे और उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाजी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहां के कुछ गांवों और कुछ दूसरे शहरों में गिरफ्तारियां की गईं।

बिहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैंने भूकम्प के सम्बन्ध में एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त में धन के लिए अपील की गई थी। इस वक्तव्य में मैंने बिहार सरकार की उस अकर्मण्यता की आलोचना की, जो भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिन तक उसने बताई थी। मेरा इरादा भूकम्प-ग्रसित इलाकों के अफसरों की आलोचना करने का नहीं था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी महाकठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा था जिससे बड़े-से-बड़े दिलेरों के भी दिल हिल जाते। और मुझे इस बात का अफसोस हुआ कि मेरे कुछ शब्दों से ऐसा आशय निकाला जा सकता था। लेकिन मैंने यह तो जरूर बड़े जोरों से महसूस किया कि शुरू में बिहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियोंने कुछ ज्यादा कारगुजारी नहीं दिखलाई, खासकर मलबा हटाने में, जिससे बहुत-सी जानें बच जातीं। खाली मुंगेर शहर में ही हजारों की जानें गईं, और तो हफ्ते बाद भी मैंने देखा कि मलबे का पहाड़-का-पहाड़ ज्यों-का-त्यों पड़ा था, हालांकि कुछ ही मील दूर जमालपुर में हजारों रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प

के पीछे कुछ ही घण्टों में इस काम में लगाया जा सकता था। भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी जिन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तजाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दब गये थे उनकी जान बचाने में उसने तत्परता नहीं दिखाई। इन इलाकों में म्युनिसिपैलिटियां तो रही ही नहीं थीं।

मैं समझता हूं कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद में मुझे पता लगा कि भूकम्प-ग्रसित इलाकों के ज्यादातर लोग मुझसे सहमत थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गई थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नहीं बल्कि उसको तेजी से काम करने के लिए प्रेरित करने की नीयत से की गई थी। इस बारे में किसीने भी सरकार पर यह दोष नहीं लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई गलत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने में आनाकानी की। यह तो एक अजीब और पस्तहिम्मत कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमें होनेवाली भूलें क्षम्य थीं। जहाँतक मुझे मालूम है (क्योंकि मैं जेल में हूं), बिहार सरकार ने बाद में भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बड़ी तेजी और मुस्तैदी से काम किया।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनों बाद बिहार के कुछ लोगों ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशंसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य करीब-करीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गई। यह बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गई है, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए।

हिन्दुस्तान में फैले हुए उस रवैये का यह एक मजेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशों में जो एक बहुत मामूली चीज समझी जाती है—पसन्द नहीं करता। यह फौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नहीं कर सकती। सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उसके ऊँचे हाकिम-हुक्काम, कोई गलती नहीं कर सकते। ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राज-द्रोह है।

इसमें विचित्रता यह है कि शासन में असफलता और अयोग्यता का आरोप बहुत ज्यादा बुरा खयाल किया जाता है, बनिस्बत कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल में डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी हो गई है और असल में इसकी परवा भी नहीं करती।

आखिर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह करीब-करीब एक वाहवाही की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक और कमजोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड पर कुठाराघात करना है, इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज हाकिमो की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अंग्रेज पादरी की तरह है जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपच बरदाश्त करने के लिए तैयार था लेकिन अगर उसे कोई बेवकूफ या नालायक क तो वह गुस्सा होकर मारने को दौडता था।

अंग्रेज लोगो मे एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बया किया जाता है मानो कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश-प्रभाव कम हो जाय या निकल जा तो यहाँ का शासन और भी ज्यादा खराब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास रखते हुए भी, लेकिन अपने जोश मे उदारता का भाव रखनेवाले, उग्रमतवादी जो उन्नतिशील विचारोवाले अंग्रेज यह कहते है कि सु-राज स्व-राज का स्थानाप नही हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे मे गिरना ही चाहते है तो उन गिरने दिया जाय। मै नही जानता कि ब्रिटिश-प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्ता की क्या हालत होगी। यह बात इसपर बहुत कुछ निर्भर है कि अंग्रेज लोग कि तरह से निकलकर जायँ और उस समय भारत मे किसका अधिकार हो, इस अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बाते और भी है।

हाँ, अंग्रेजो की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की भी मै अच्छी तर कल्पना कर सकता हूँ जो वर्तमान मे सम्भव होनेवाली किसी हालत से कही बदत और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योकि उसमे मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होगे औ गुण एक भी नही। इससे भी ज्यादा आसानी से मै उस दूसरी अवस्था की कल्पन कर सकता हूँ जो, भारतवासियो के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधि योग्य और लाभकारी होगी जिसकी हमे आज मिलने की सम्भावना हो सकत है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की शक्ति इतनी कारआमद हो और शासन-विधान इतना भडकदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता शारीरिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक आदर्श को ऊँचा उठानेवाले कार्य अधि योग्यता से होगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज किसी भी देश के लिए लाभकारी है लेकिन मै स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नही हूँ स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव मे ता के लिए सु-राज हो। चूकि मेरा विश्वास है कि भारत मे ब्रिटिश सरकार

भूतकाल मे उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मै महसूस करता हूँ कि भारत मे उसकी उपयोगिता जो कुछ भी थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्वतत्रता का सच्चा औचित्य इसीमे है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊँची हो, उसकी औद्योगिक और सास्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम होता है। ब्रिटिश सरकार और इडियन सिविल सर्विस भारत मे मनमानी करने की ताकत भले ही रखते हो, पर वे भारत के तात्कालिक प्रश्नो को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मे है। भविष्य के प्रश्नो के लिए तो और भी कम। क्योकि इनके मूल सिद्धान्त और धारणाये बिलकुल गलत है और वास्तविकता से उनका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया योग्य नही है या जो पतनशील व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज्यादा दिनोतक मनमानी नही कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायता कमिटी ने मुझे भूकम्प-पीडित इलाको मे जाने के लिए और वहाँ भूकम्प-पीडितो की सहायता के लिए जो ढग अख्त्यार किया गया था उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मै फौरन अकेला ही चल पडा और दस दिन तक उन फटे हुए और नष्ट-भ्रष्ट इलाको मे घूमा।

इस दौरे मे बडा श्रम करना पड़ा और इन दिनो मुझे सोने को बहुत कम मिला। सुबह के पाँच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोवाली टूटी-फूटी सडको पर मोटर मे जा रहे है, तो कभी छोटी-छोटी डोगियो के द्वारा ऐसे स्थानो मे उतर रहे है जहाँ पुल गिर पडे थे या जहाँ जमीन की सतह मे फर्क आने से सडके पानी मे डूब गई थी। शहरो मे ढेर-के-ढेर खडहरो और टूटी हुई, या मानो किसी देव के द्वारा मरोडी हुई, या दोनो ओर के मकानो की कुर्सी से ऊपर उठी हुई, सडको का दृश्य बडा हृदय-स्पर्शी था। इन सडको की बडी-बडी दरारो मे से पानी और बालू-रेत ने फूट फूटकर मनुष्यो और जानवरो को बहा दिया था। इन शहरो से भी ज्यादा उत्तर बिहार के मैदानो पर—जिनको बिहार का बाग कहा जाता था—उजाड और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलो तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बडे-बडे तालाब और विशालकाय दरारे और असंख्य छोटे-छोटे ज्वालामुखी के-से मुँह थे जिनमे से यह बालू-रेत और पानी निकले थे। इस इलाके के ऊपर हवाई जहाज मे बैठकर उडनेवाले कुछ अग्रेज अफसरो ने कहा था, कि यह कुछ-कुछ लडाई के जमाने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रान्स के युद्ध-क्षेत्र से मिलता-जुलता था।

यह एक बड़ा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प जोरदार, इधर-उधर दोनों ओर की गति में, शुरू हुआ, जिससे खड़े हुए मनुष्य गिर पड़े। उसके बाद ऊपर-नीचे की गतियां हुईं और एक ऐसी गड़गड़ाहट करती और गूंजती हुई भयंकर आवाज हुई जैसे तोपें चल रही हों या आकाश में सैकड़ों हवाई जहाज उड़ रहे हों। अगणित स्थानों पर बड़ी-बड़ी दरारों और गड्ढों में से पानी फूट निकला और उसकी धारें दस-बारह फुट तक ऊंची उछलीं। यह सब शायद तीन या चार मिनट रहा होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयंकर थे। जिन लोगों ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नहीं यदि उन्हें यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरों में मकानों के गिरने का शोर था, पानी बड़े जोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमण्डल में धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीजें भी नजर नहीं आती थीं। देहातों में इतनी धूल नहीं थी और दूर तक दिखलाई देता था, लेकिन वहां कोई शान्ति से देखनेवाले ही नहीं थे। जो लोग जिन्दा बचे वे भयंकर त्रास के कारण जमीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढ़कने लगे।

मेरे खयाल से, मुजफ्फरपुर में एक बारह बरस का लड़का भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बड़ा चकित था। टूट-टूटकर गिरनेवाले ईंट-चूने ने जब उसे धराशायी करके दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही जीवित बचा है।

मुजफ्फरपुर में ही ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकानात गिर रहे थे और चारों तरफ सैकड़ों आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनों की जानें बच गईं और वे मजे में थे। भूकम्प की यादगार में बच्ची का नाम 'कम्पोदेवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आखिरी शहर मुंगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके थे और करीब-करीब नेपाल की सीमा तक पहुंच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वंस देखने के आदी हो गये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुंगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाश-पूर्ण अवस्था को देखा तो उसकी भयंकरता ने हमारा दम फूलने लगा और हमें कॅंपकॅंपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाकों में, क्या शहरों और क्या देहातों में, वहां के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नजर आया। शायद शहरों के मध्यम वर्ग में सबसे अधिक अभाव था। वे लोग इस इन्तजार में थे कि कोई सरकारी

गैरसरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हे सहायता दे। जो
रे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगो
हुक्म चलाना। यह निस्सहायता की भावना कुछ तो निस्सदेह भूकम्प के आतंक
पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सो और दूसरे प्रान्तो मे बडी सख्या मे जानेवाले मददगारो
। जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना मे एक बिलकुल अलग ही चीज नजर
ती थी। इन नवयुवको और नवयुवतियो की, मुस्तैदी के साथ सेवा करने की
ावना को देखकर चकित होना पडता था। और हालाँकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक-
स्थाये काम कर रही थी, फिर भी इनमे आपस मे बहुत कुछ सहयोग था।

मुगेर मे,खोदने और मलबा हटाने की स्वावलम्बी भावना को बढाने के लिए
ने नाटक-सा किया। इसे करने मे मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई, पर उसका
रिणाम बडा सफलतापूर्ण निकला। सहायक सस्थाओ के तमाम नेता टोकरियाँ और
ावडे लेलेकर निकले और इन्होने दिनभर खुदाई की और हमने एक लडकी की
ाश बाहर निकाली। मै तो उसी दिन मुगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम
ारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियो ने उसे बडी सफलता पूर्वक किया।

जितनी गैर-सरकारी सहायक सस्थाये थी उन सबमे सेन्ट्रल रिलीफ कमिटी, जिसके
अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कांग्रेसी सस्था
ही थी। शीघ्र ही यह बढकर भिन्न-भिन्न दलो और दानदाताओ के प्रतिनिधि-
स्वरूप एक अखिल भारतीय सस्था बन गई। इससे सबसे बडा लाभ यह था कि
हाता की कांग्रेस कमिटियो की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्त-
ान्त के कुछ जिलो को छोडकर कही के कांग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानो के उतने अधिक
म्पर्क मे नही थे जितने यहा के। दरअसल ये कार्यकर्त्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे।
हार भारत का सबसे मुख्य कृषक-प्रदेश है और उसके मध्यमवर्ग तक का किसानो
घनिष्ठ सबन्ध है। कभी-कभी, जब मै कांग्रेस के मत्री की हैसियत से बिहार-
ान्तीय कांग्रेस कमिटी के दफ्तर का निरीक्षण करने जाता था तो मुझे नजर आनेवाले
ढीलेपन और दफ्तर के काम मे ढीलम-ढाल की मै बडे कडे शब्दो मे आलोचना
किया करता था। वहाँ खडे रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट
ने की प्रवृत्ति थी। दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ्तरो मे सबसे अधिक
सामान था, क्योकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौर पर जरूरी लवाजमे के
ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ्तर की आलोचना के बावजूद,
मै अच्छी तरह जानता था कि कांग्रेस के लिहाज से यह प्रान्त देश के सबसे

ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तो मे से था। यहाँ की कांग्रेस मे ऊपरी तडक-भडक नही थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक रूप से उसके पीछे था। आल-इंडिया कांग्रेस कमिटी मे भी बिहार के प्रतिनिधियो ने शायद ही कभी किसी मामले मे उग्र रुख अख्तियार किया हो। वे तो अपने-आपको वहां देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भंग के दोनो आन्दोलनो मे बिहार ने बडे ऊँचे दर्जे का नमूना पेश किया। यहांतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भंग के आन्दोलन मे भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया।

रिलीफ कमिटी ने किसानो तक पहुचने के लिए इस सुन्दर संगठन से लाभ उठाया। देहात मे कोई भी साधन, यहांतक कि सरकार भी, इतने उपयोगी नहीं हो सकते थे। और रिलीफ कमिटी और बिहार कांग्रेस कमिटी दोनो के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने मे एक किसान के समान, बिहार-देश के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज और निष्कपट आँखो और गम्भीर मुख-मुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू मे देखने पर कुछ प्रभावशाली नही मालूम पडता। वह मुद्रा और वे आँखे भुलाई नहीं जा सकती, क्योंकि उनमे होकर सचाई आपकी ओर झाँकती है और उनपर आप संदेह कर ही नही सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद जरा सीमित है और नई रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं। पर उनकी ज्वलंत योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण है जिन्होने उनको अपने ही प्रान्त का नही बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसी सर्वमान्य नेतृत्व की स्थिति राजेन्द्र बाबू को बिहार मे प्राप्त है वैसी भारत के किसी भी प्रान्त मे किसी नेता व्यक्ति को प्राप्त नही। उनके सिवा, गाधीजी के वास्तविक सदेश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हो भी, तो विरले ही होगे।

यह बडे सद्भाग्य की बात थी कि राजेन्द्र बाबू जैसे व्यक्ति बिहार मे सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमे लोगो की जो श्रद्धा थी उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिची चली आई। स्वास्थ्य खराब होने पर भी वह सहायता के कार्य मे पिल पडे। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योकि वह सारी कार्रवाइयो का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीके पास आते थे

जिस समय मै भूकम्प के इलाको मे दौरा कर रहा था, या शायद वहां जाने से पहले, मुझे गाधीजी का यह वक्तव्य पढकर बडी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता

के पाप का दड था। यह वक्तव्य वडी हैरत मे डालनेवाला था। मैने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मै उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का इससे अधिक विरोध करनेवाली किसी ओर चीज की कल्पना करना कठिन है। कदाचित् विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियो ओर मनोवैज्ञानिक घटनाओ के प्रभाव के विषय मे इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई वात नही कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी धिक ओर कोई खराबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि मी मानवी रिवाज या कर्तव्य-हीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वी-तल की गति पर पडे, क हैरत मे डाल दनेवाली वात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ह्माण्ड की घटनाओ मे मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी वाते है जो हमको कई सौ र्ष पीछे ले जाती है, जवकि योरप मे धार्मिक अत्याचारो का वोलवाला था, जिसने ज्ञानिक कुफ्र के कारण गियोडीनो व्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियो ो सूली पर चढा दिया। अठारहवी सदी मे भी, अमेरिका मे वोस्टन के प्रमुख ादरियो ने मैसाचुसेट्स के भूकम्पो का कारण विजली गिरने से रोकने के लिए गाये गये खम्भो की अपवित्रता वतलाया था।

और अगर भूकम्प पापो का दैवी दड भी हो, तो भी हम यह कैसे मालूम करे कि हमको कोन से पाप का दड मिल रहा है? क्योकि दुर्भाग्यवश हमे तो वहुतसे पापो का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसद का कारण वता सकता है। शायद हम लोगो को एक विदेशी राज सत्ता कवूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दड मिला हो। आर्थिक दृष्टि से दरभगा महाराज जो वडी लम्वी-चौडी जागीरो के मालिक है, भूकम्प के कारण सवसे अधिक नुकसान उठानेवालो मे से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते है कि यह जमीदारी प्रथा के विरुद्ध फैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, वनिस्वत यह कहने के कि विहार के करीव-करीव निरपराध निवासी, दक्षिण भारत के लोगो के अस्पृश्यता के पाप के वदले मे त्रस्त किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश मे ही क्यो नही आया? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भग के लिए दैवी दड कह सकती है, क्योकि, यदि वास्तव मे देखा जाय तो, उत्तरी विहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सवसे अधिक नुकसान पहुचा, आजादी की लडाई मे वडा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनाये कर सकते है। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है कि हम लोग परमात्मा की दैवी आज्ञाओ के प्रभाव को अपने मानवी प्रयत्नो से कम करने की कोशिश करके उसके कार्यो मे क्यो हस्तक्षेप करे? और हमे इसपर

भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की— कि, पहले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दु:खपूर्ण संसार की रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड भी, और फिर हमको सजा भी देता है।

"जब तारों ने अपनी झिलमिल किरणे डाली जगती पर,
और गगन-मंडल से उतरी बूंदे रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठों पर ला सकता!
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता ?"[1]

पटना ठहरने की आखिरी रात को मैं बड़ी रात तक बहुतसे मित्रों और सहयोगियों से बाते करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तों से सहायता-कार्य में अपनी सेवाये देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त का अच्छा प्रतिनिधित्व था और हमारे कई चुनीदा कार्यकर्त्ता वहाँ थे। हम उस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमे बड़ा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीडितों की सहायता के काम मे लगावे ? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपनेको राजनैतिक कार्य से अलग हटा रहे थे। सहायता का काम बडा कठिन था और ऐसा हम कर नही सकते थे कि जब-जब हमे फुरसत मिले तब तो उसे करे और फुरसत न हो तो न करे। इसमे लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनों तक गैरहाजिर रहने की संभावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव बुरा पडे बिना नही रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस मे बहुत-से लोग थे, फिर भी करने—धरनेवालो की संख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नही दी जा सकती थी। इधर भूकम्प के तकाजे की भी अवहेलना नही की जा सकती थी। अपनी ओर से तो मेरा खाली सहायता के ही काम मे लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगो की कमी न होगी, अलबत्ता अधिक खतरे के कामो को करनेवाले लोग बहुत थोडे थे।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतन्त्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौके पर गिरफ्तार कर लिये गये थे पर हम लोग बच गये थे। मैंने मजाक मे उन लोगो से कहा कि

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"When the stars threw down their spears
And water'd heaven with their tears,
Dare he laugh his work to see?
Dare he who made the lamb make thee?"

मुझे तो पूरी सुरक्षा के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के रहस्य का पता लग गया है।

मै ११ फरवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-मादा, इलाहाबाद मे अपने घर पहुँचा। कडी मेहनत के दस दिनो ने मेरी शारीरिक अवस्था बडी भयानक बनादी थी और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शकल देखकर चकित हो गये। मैने इलाहाबाद रिलीफ कमिटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखना शुरू किया, लेकिन नीद ने मुझे आ घेरा। अगले २४ घटो मे से मैने कम-से-कम १२ घटे नीद मे बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त, कमला और मै चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोतमदास टडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे मे खडे हुए थे। इतने मे एक मोटर आई और पुलिस का एक अफसर उसमे से उतरा। मै फौरन समझ गया कि मेरा वक्त आ गया है। मैने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनो से आपका इतजार था।" वह जरा माफी-सी माँगने लगा और कहने लगा कि कुसूर उसका नही है। वारट कलकत्ता से आया था।

मै पाच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मै फिर तख़लिया और तनहाई मे भेज दिया गया। लेकिन दुःख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह औरतो पर ही था—मेरी रोगाक्रान्त माता पर, मेरी पत्नी पर और मेरी बहन पर।

५६

अलीपुर-जेल

> "फेंक यकायक कहां दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
> कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
> किधर खींच ले जावेंगे अब झोंकों के यह उलझे तार,
> दिखता नहीं प्रदीप, न जाने कहां लगेगी किश्ती पार !"[1]

उसी रात को मैं कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालबाजार पुलिस-था[ना] तक मुझे एक बड़ी काली मोटर-लॉरी में बिठाकर ले गये। कलकत्ता-पुलिस के इ[स] मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे में मैंने बहुत-कुछ पढ़ रक्खा था। अत मैं उस जगह [को] बड़े चाव से देखने लगा। वहां अंग्रेज सार्जेन्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बड़ी ताद[ाद] में मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी बड़े पुलिस-थाने में नहीं है। वहां [के] सिपाही अक्सर सभी बिहार और संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों के थे। अदालत से जे[ल] या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लारी में जाना पड़[ा] था और हर दफा इनमें से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे ब[ड़े] ही कुछ दुःखी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टत वे मे[रे] साथ बड़ी हमदर्दी-सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार उनकी आंखों में आ[ंसू] चमक पड़ते थे।

मुझे शुरू में प्रेसिडेन्सी जेल में रक्खा गया और वहींसे मुझे अपने मुकदमे [के] लिए चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट की अदालत में ले जाया जाता था। यह अदालत म[ेरे] लिए एक नया तजुर्बा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत के-से न[हीं] बल्कि एक घिरे हुए किले के जैसे थे। सिवा कुछ अखबारवालों और वहींके वकी[लों] के बाहर का कोई आदमी उसके आस-पास भी नहीं फटक सकता था। पुलिस [की] काफी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नहीं किया ग[या]

१. रॉबर्ट ब्राउनिंग की मूल कविता इस प्रकार है :—

> "Already how am I so far
> Out of that minute ? Must I go
> Still like the thistle-ball, no bar,
> Onward wherever light winds blow,
> Fixed by no friendly star ?"

था, यह तो वहाँका हमेशा का ही दस्तूर है। अदालत के कमरे मे जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे मे होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पडता था, जिसके ऊपर और दोनो बाजुओ मे जाली पडी हुई थी, मानो किसी पिजडे मे से निकल रहे हो। मुलजिम का कटघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालो ओर काले कोट ओर चोगेवाले वकीलो से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुकदमो से काफी वास्ता पड चुका है। मेरे पहले के कई मुकदमे जेल के भीतर हो चुके है, परन्तु उन सब मोको पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और पहचानवाले रहते थे इस कारण वहाँ का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पडता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप मे होती थी ओर वहाँ पिजडे वगैरा नजर न आते थे। यहाँ तो बात ही दूसरी थी, चारो तरफ अजनबी ओर बिना जान-पहचान की शकले नजर आती थी, जिनमे ओर मुझमे कुछ भी साम्य नही दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसद भी नही आये। चोगाधारी वकीलो की जमात मुझे तो देखने मे सुन्दर नही मालूम होती, और खासकर पुलिस की अदालत के वकीलो का नजारा तो जरूर ही अप्रिय मालूम होता है। आखिर उस काली जमात मे एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी उस झुण्ड मे मिलकर कही गायब हो गया।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मै बाहर झरोखे मे बैठा रहता था, तब भी मुझे अकेलापन ओर सूनसान मालूम पडता था। मेरी नब्ज़ जरूर तेज हो गई होगी और मेरा दिल इतना शान्त नही था जैसा पहले के मुकदमो के समय मे रहता था। मुझे तब खयाल आया कि जब इतने मुकदमो और सजाओ का तजुर्बा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत मे नातजुर्बेकार नौजवानो पर परिस्थिति का कितना बडा भार पडता होगा?

कटघरे मे मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफाई पेश नही की गई, और मैने अपना एक मुख्तसिर-सा बयान पढकर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फरवरी को मुझे दो बरस की सज़ा हो गई, और यो मेरी सातवी सज़ा शुरू हुई।

मेरी साढे पाँच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे सतोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से मे मै काम में काफी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह खतरे से बच निकली थी। मेरी छोटी बहन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लडकी की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैने भी अपनी घर-गृहस्थी की और आर्थिक कई मुश्किलो को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मै अर्से से भुला रहा

था, सुलझा लिये थे। ओर सार्वजनिक मामलो मे तो, मै जानता था कि, उस समय कि के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हां, मैंने कांग्रेस की ताकत को मज़ कर उसका रुख सामाजिक ओर आर्थिक विचारो के मार्ग की ओर मोडने मे ज़ कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरी पूना की खतो-किताबत ओर बाद मे अखबा मे निकले मेरे लेखो ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक ममले भी मेरे लेखो ने कुछ ही असर किया। इसके अलावा, मै दो बरस से ज्यादा अर्से बाद गांधीजी ओर दूसरे मित्रो ओर साथियो से भी मिल लिया आर आगे काम क के लिए दिली व दिमागी शक्ति सग्रह करली थी।

पर मेरे मन को दुखी करनेवाली एक घटा तो अब भी बाकी थी ओर वह कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाजा न क्योकि उसकी आदत थी कि जबतक वह चारपाई पकड न लेती तबतक काम मे अप बीमारी को धकेलती ही रहती। लेकिन मुझे बडी फिक्र थी। उसपर भी मुझे उम्मं थी कि अब मेरे जेल मे चले जाने पर तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायगी मेरे बाहर रहने पर यह कुछ कठिन था, क्योकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अके छोडने को सहसा तैयार नही होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दुख रह गया था। वह यह था कि इलाहाब जिले के गॉवो मे मै एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक सा हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गॉ की खबर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफा-सा होना मालूम होता था।

लेकिन काली मोटर-लारी ने मुझे फिर जेल मे पहुँचा दिया। रास्ते मे कई फौ सिपाही मशीनगन और फौजी गाडी (आरमर्ड कार) के साथ मार्च करते ह मिले। जेल की लारी के छोटे सुराखो मे से मैने उनकी ओर देखा। मेरे दिल खयाल आया कि फौजी गाडी (आरमर्ड कार) ओर टैंक कितने भद्दे होते हैं। उ देखकर मुझे इतिहास से पूर्व-कालिक दानवो, अजगरो इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसिडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल मे हो गया और वहां म एक दस फुट लम्बी और नौ फुट चौडी छोटी-सी कोठरी दी गई। इस कोठरी क सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, करी सात फुट की, थी और उसपर से झाककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब नजार दिखाई दिया। सब तरह की बेढगी इमारते, इकमजली, दुमजली, गोल, चोकोर औ अजीब छतोवाली खडी थी। कई तो एक के ऊपर दूसरी नजर आती थी। ऐसा माल् था कि ये सब इमारते बेतरतीब, जमीन का एक-एक कोना-कोना भर

के लिए बनाई गई थी। यह बनावट मुझे तो किसी घरोंदे की भूल-भुलैयाँ या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई है, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई कैदियों का गिर्जा है) और उसके चारों तरफ घरो की लाइने है। चूँकि यह जेल शहर में था, इस वजह से जमीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी काम में लाये बिना छोड़ा नही जा सकता था।

मै अभी शुरुआत के इस भोडे नजारे को देखकर नजर हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा खौफनाक नज़ारा दीख पड़ा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने [illegible] चिमनियाँ खड़ी दिखाई दीं, जिनमें से हमेशा गहरा काला धुआँ निकल रहा था, [illegible]सको हवा कभी-कभी मेरी तरफ फेंककर मेरा दम घोटने लगती थी। ये जेल के [illegible]वर्चीखानों की चिमनियाँ थीं। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को सलाह दी कि [illegible] मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियों पर जाली ढक दे।

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद [illegible]—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईटों की इमारतों का दृश्य और वही [illegible]वर्चीखानों की चिमनियों का धुआँ रात-दिन साँस और मुँह में जाना, सामने था। [illegible]रे सहन में दरख्त या सब्जी कुछ न थे। वह यों तो पत्थरों का पक्का और साफ बना [illegible]आ था, पर रोज़-रोज़ धुआँ जम जाने की वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता [illegible]। वहींसे पड़ौसवाले सहनों के एक-दो दरख्तों के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नज़र आते [illegible]। मेरे जेल में पहुँचने पर वे दरख्त बिला पत्ते और फूलों के ठूठ-से खड़े थे, पर धीरे-[illegible]रे उनमें एक अजीब तबदीली होना शुरू हुई और सब शाखों में हरी-हरी कोपलें [illegible]कलने लगीं। कोपलों में से पत्ते निकले और बड़ी जल्दी बढ़कर उन्होंने नंगी शाखों [illegible]ो खुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बड़ी सुखद मालूम हुई और [illegible]लीपुर-जेल भी बड़ी खुशनुमा हो गई।

इनमें से एक दरख्त में चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखने लगा। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक [illegible] सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उड़कर झपटते [illegible] नीचे किसी कैदी के हाथ या मुँह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

करीब-करीब शाम से सुबह तक हमें अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और [illegible] की लम्बी रातें काटे न कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी [illegible] [illegible] शुरू कर देता। चार-पाँच कदम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता [illegible] चिड़ियाघर के रीछ के अपने पिंजरे में इधर-उधर चक्कर काटने [illegible]

याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का शुरू का हिस्सा तो काफी शान्त होता था, केवल शहर की मुख्तलिफ आवाजें—ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसीके गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुँचती थीं। इस दूर से आते हुए धीमे गान की आवाज खुशनुमा मालूम होती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घण्टे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिये कोई अफसर यह देखने आता कि कोई कैदी भाग तो नहीं गया है। हररोज तीन बजे तडके बडा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व माजने की आवाज आती। उस वक्त बावर्चीखाने में काम शुरू हो जाता था।

प्रेसिडेन्सी जेल के माफिक अलीपुर-जेल में भी एक कसीर तादाद वार्डरों, पहरेदारों, अफसरों और क्लर्कों की थी। इन दोनों जेलों की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२००-२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियों की तादाद इन हरेक जेल में नैनी-जेल से दुगुनी से भी ज्यादा थी। इनमें कई अंग्रेज वार्डर और पेन्शनयाफ्ता फौजी अफसर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ जाहिर होती थी कि अंग्रेजी-शासन युक्त-प्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज्यादा कठोर और खर्चीला है। किसी बडे अफसर के पहुँचने पर जो नारा सब कैदियों को लगाना पडता था वह साम्राज्य की ताकत का एक चिन्ह और याददिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम", जो लम्बी आवाज में और बदन की कुछ खास हरकत के साथ लगाना पडता था। मेरे सहन की चहारदीवारी पर से कैदियों के इस नारे की आवाज दिन में कई मर्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। मेरे सहन की ७ फुट ऊँची दीवार पर से मैं उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये में सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मैं हैरत में आकर सोचने लगता कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की यह हरकत किसी पुराने जमाने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज अफसर की ईजाद? मुझे पता तो नहीं, पर मेरा कयास है कि यह अंग्रेजों की ईजाद है। इसमें एक खास किस्म के एंग्लो-इंडियनपन की बू आती है। खुश-किस्मती से इस नारे का रिवाज सिवा बंगाल और आसाम के युक्तप्रान्त या हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में नहीं है। सरकार की शान को कायम रखने के लिए जिस तरीके से इस सलामी पर जोर दिया जाता है, वह मुझे हकीकत में [illegible] करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल मे एक नई बात देखकर तो मुझे खुशी हुई। यहाँ के साधारण कैदियो का खाना युक्तप्रान्त के जेलो के खाने से कही अच्छा था। जेल के खाने के मामले मे तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबो से पिछडा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गई, विमल वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आ गई। दिन-दिन गर्मी बढती गई। मुझे कलकत्ते की आबहवा कभी पसन्द न थी, और चन्द दिनो के वहाँ रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल मे तो हालत कुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत मे कोई उन्नति न हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा मे कई घटो कोठरी बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गई और मेरा वजन तेजी से घटने लगा। मुझे तालो, चटखनियो, सीखचो और दीवारो से नफरत-होने लग गई।

अलीपुर मे एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ वर्जिश करने सहूलियत दी गई। यह तबदीली मुझे पसन्द आई और मै सुबह-शाम जेल की बडी ार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मै अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा आदी हो गया और बावर्चीखाना भी, मय उसके धुँए और शोर-गुल के, बर्दाश्त ने लायक बुराई हो गई। इस अर्से मे मेरे लिए नये-नये मसले खडे हुए और नई परेशानियाँ तग करने लगी। बाहर की खबरे भी अच्छी नही थी।

६०

पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल मे जब मुझे यह मालूम हुआ कि सज़ा होने के बाद मुझे कोई रोजाना अखबार नही मिलेगा, तब मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुकदमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ते का रोजाना अखबार 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुकदमा खत्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त मे तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीजन के कैदियो को सरकार की मर्जी का एक रोजाना अखबार हमेशा मिलता था। ज्यादातर बाकी के दूसरे सूबो मे भी यही बात है। और मैं बिल्कुल इसी खयाल मे था कि यही कानून बगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहा मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। साफ जाहिर है कि यह अखबार तो उन अग्रेजो के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान मे हाकिमी या रोज़गार करने के बाद वापस इग्लैण्ड पहुँच जाते है। इसलिए इस अखबार मे हिन्दुस्तान की उन खबरो का सार रहता है, जिनमे उनकी दिलचस्पी होती है। इस हफ्तेवार अखबार मे विलायतो की खबरे तो बिलकुल नही होती थी। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योकि मैं उनको सिलसिलेवार पढते रहना चाहता था। खुशकिस्मती से मुझे हफ्तेवार 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' अखबार भी मिल जाता था, जिसकी वजह से मुझे योरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की जानकारी हो जाती थी।

फरवरी मे जब मैं गिरफ्तार हुआ और जब मुझपर मुकदमा चला तभी योरप मे बडी उथल-पुथल और झगडे हुए। फ्रान्स मे भारी खलबली मची, जिसमे फासिस्टो ने दगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार कायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चान्सलर डॉलफस मजदूरो पर गोलियाँ चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल भवन को ढा रहा था। आस्ट्रिया मे होनेवाली खून-खराबी की खबर सुनकर मुझे बडा दुख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और खूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थो की हिफाजत के लिए कैसा बर्बर हो जाता है? ऐसा मालूम पडता था कि तमाम योरप और अमेरिका में फासिज्म का जोर बढता जाता है। जब जर्मनी मे हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकूमत ज्यादा दिनो तक नही चल सकेगी, क्योकि इसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयो का कोई हल पेश नही किया था। इसी

तरह जब दूसरी जगह भी फासिज्म फैला तब भी, मैने अपने मन को यह सोचकर तसल्ली दी कि यह प्रतिक्रिया की आखिरी मजिल है, इसके बाद सब बन्धन टूट जायँगे। लेकिन मै अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह खयाल कही मेरी ख्वाहिश से ही तो नही पैदा हुआ ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ दिखाई देती है कि फासिज्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी ? यदि ऐसी हालत पैदा हो गई, जो फासिस्ट डिक्टेटरो के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'सरे तसलीम खम' करने की जगह अपने देशो को सत्यानाशी लडाई मे न जुटा देगे ? ऐसी लडाई का नतीजा क्या होगा ?

इस बीच मे फासिज्म कई किस्मो और तरह-तरह की शक्लो मे फैलता गया। 'ईमानदार लोगो का नया प्रजातन्त्र' यानी स्पेन, जो सरकारो का खास 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' था, बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे मे जा पडा था। स्पेन के लिबरल नेताओ के मनोहर शब्द और भली-भली बाते देश की अधोगति को न रोक सकी। हर जगह मौजूदा हालतो का मुकाबिला करने मे लिबरल-नीति बिलकुल बेकार साबित हुई है। यह दल शब्दो और वाक्यो से चिपटा रहता है और समझता है कि बाते काम की जगह ले सकती है। इसीलिए जब कभी नाजुक वक्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से गायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त मे तसवीर।

आस्ट्रिया के दु खान्त नाटक के बारे मे 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखो को मै बडी दिलचस्पी के साथ पढता था और उनकी कद्र भी करता था। "और इस खूनी लडाई के बाद किस रूप मे आस्ट्रिया हमारे सामने आया ? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर योरप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलो और मशीनगनो से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इग्लैण्ड आजादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुँह इतना बन्द क्यो है ? डिक्टेटरशाहियो की उन्होने जो तारीफे की है वे हमने सुनी है, हमने उन्हे यह कहते हुए भी सुना है कि डिक्टेटरी 'कौम की आत्मा को जिन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नई ताकत पैदा करती है।' लेकिन इग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन जुल्मो की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो चाहे वे किसी भी देश मे हो, यद्यपि जाहिरा शरीर का नाश करते है, किन्तु उससे कही अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते है।"

लेकिन अगर 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' आजादी का ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान मे आजादी को कुचला जाता है तब उसका मुँह बन्द हो जाता है ? हम लोगो को भी तो न सिर्फ शारीरिक तकलीफे उठानी पडी है ब[illegible] [illegible] भी बदतर आत्मा के कष्ट भी भोगने पडे है।

"आस्ट्रिया का लोक-तन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले बरसों में किसी दिन यूरोपीय आजादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"उस योरप ने जो कि आजाद नहीं है, साँस लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें स्वस्थ भावनाओं का आवागमन नहीं होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नजदीक आ रही है उसे सिर्फ उग्र झकझोरों या भीतरी दौरों और दाहिने-बायें हर तरफ धड़ाधड़ वार करने से ही बचाया जा सकता है।

राइन नदी से लेकर यूराल पर्वत तक योरप एक बड़ा जेलखाना बना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे! मेरे दिल में इनकी प्रतिध्वनि होती थी, लेकिन साथ ही मैं सोचता, कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है? यह कैसे हो सकता है कि 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' या इंग्लैण्ड में जो बहुत-से आजादी के दीवाने हैं वे हमारी हालत की बाबत इतने उदासीन रहते हैं? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने जोरों से निन्दा करते हैं, जब वही बातें हिन्दुस्तान में होती हैं, तो उनकी तरफ वे क्यों नहीं देखते? बीस बरस पहले, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेजों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो १९वीं सदी की परम्परा में पले थे, स्वभाव से फूँक-फूँककर कदम रखते थे और अपनी भाषा पर संयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि कानून पर ताकत की दुःखदायी जीत को मैं चुपचाप देखूँ, मैं यह देखना पसन्द करूँगा कि हमारा यह मुल्क इतिहास के पन्ने से मिटा दिया जाय।" कितना बहादुराना खयाल है, और कैसे धारा-प्रवाह ढंग से कहा गया है! इंग्लैण्ड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद में इस खयाल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान में गये। लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एसक्विथ के समान बयान देने की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है। हममें से ज्यादातर लोग यह समझते हैं कि हम बड़े इन्साफ-पसन्द और निष्पक्ष हैं। हमेशा गलती दूसरा शख्स या दूसरा मुल्क ही करता है। हमारे दिमाग में कहीं-न-कहीं यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नहीं हैं जैसे दूसरे लोग हैं, हममें और दूसरों में जरूर फर्क है—यह दूसरी बात है कि शराफत की वजह से हम बारबार उस बात को न कहें। अगर खुशकिस्मती से हम किसी ऐसी शाही कौम के होते जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल हो जाता कि ...री सर्वोत्तम दुनिया में सभी बातें सर्वोच्च हैं, और जो लोग क्रान्ति के लिए

आन्दोलन करते है वे केवल खुदगर्ज ओर मुगालते मे पडे हुए बेवकूफ ही नही है बल्कि हमारे लिए अनेक लाभ प्राप्त करके भी अहसानफरामोशी करनेवाले है ।

अग्रेज कोम टापू मे रहनेवाली मुतास्सिम कोम है ओर इतनी मुद्दत तक की कामयाबी ओर खुशहाली ने उसे इतना घमण्डी बना दिया है कि अग्रेज करीब-करीब दूसरी सब कोमो को हिकारत की नजर से देखते है। जसा कि किसीने कहा है, उनकी राय मे इग्लैण्ड के समुद्र से आगे हबशी-ही-हबशी रहते है । लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है । शायद ब्रिटिश कौम के ऊँचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊँच-नीच के हिसाब से इस तरह बाँटेगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नही, फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमे भी सिर्फ सफेद चमडीवाले और अमेरिका (महज एग्लो-सेक्शन अमेरिका—डागो, इटेलियन वगैरा नही), (३) पश्चिमी योरप (४) बाकी योरप, (५) दक्षिणी अमेरिका (लेटिन कोम), ओर फिर बहुत दूर तक कोई नही । इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली कौमो के आदमी, जो कम-बढकर सब एक ही बोरे मे भर दिये जा सकने योग्य समझे जाते है ।

इन दर्जो मे आखिरी दर्जे के हम लोग उस ऊंचाई से कितनी दूर है. जिसपर हमारे शासक रहते है ? ऐसी हालत मे क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे उतनी ऊँचाई से हमारी तरफ देखते है तब उनकी नजर धुधली हो जाती है, और जब हम लोकतत्र और आजादी की बाते करते है तब वे हमसे चिढते है ? ये शब्द हमारे इस्तेमाल के लिए थोडे ही घडे गये थे । क्या यह बात एक बडे लिबरल राजनीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नही कही थी, कि वह बहुत दूर के धुधले भविष्य मे भी इस बात की कल्पना तक नही कर सकते कि हिन्दुस्तान मे लोकतत्रीय सस्थाये कायम होगी ? हिन्दुस्तान के लिए लोकतत्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरो का बहुत गरम कोट (यानी उसकी आबोहवा के खिलाफ) । और इसके बाद उस मजदूर दल ने जो समाजवाद का झण्डा लिये फिरता था, सब पददलित लोगो का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी मे हमे सन् १९२४ के बगाल-आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उनके दूसरे शासन-काल मे हमारा हाल और भी बुरा रहा । मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमे से कोई हमारा बुरा नही चीतता और जब वे लोग हमे अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढग से 'बहुत ही प्यारे भाई' कहकर पुकारते है तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपनेको कृतकृत्य समझते है । लेकिन उनकी राय मे हम उतने ऊँचे नही है, जितने कि वे खुद है, अत उनके [illegible] से दूसरे पैमानो से ही हमारी जाच होनी चाहिए । भाषा और सास्कृतिक

के कारण अंग्रेज और फ्रांसीसी के लिए यह काफी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचें। ऐसी हालत में एक एशियाई में और एक अंग्रेज में तो और भी ज्यादा फर्क होगा।

हाल ही में, हाउस ऑफ लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारों के प्रश्न पर बहसें हो रही थी और अनेक सम्माननीय लार्डों ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमें एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे में गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होंने वाइसराय की हैसियत से भी काम किया था। अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे। उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि "भारत सरकार सारे हिन्दुस्तान की कहीं अधिक प्रतिनिधि है बनिस्बत कांग्रेसी नेता के। वह हिन्दुस्तान के हाकिमों की, फौज की, पुलिस की, राजाओं की, लड़नेवाले रे मेण्टों की और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की तरफ से बोल सकती है, जबकि कां के नेता हिन्दुस्तान की बड़ी कौमों में से किसी एक कौम की तरफ से भी नहीं सकते।" इतना कहने के बाद उन्होंने आगे चलकर अपना आशय और भी स किया—"जब मैं हिन्दुस्तानियों की बात कहता हूँ, तब मैं उन लोगों का खयाल क हूं, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पड़ा था और जिनके सहयोग पर भ गवर्नरों और वाइसरायों को भरोसा करना पड़ेगा।"[1]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बातें निकलती हैं—एक तो यह कि उ विचार में जो हिन्दुस्तान किसी गिनती में है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की म करता है, और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा प्रातिनि और इसलिए सबसे ज्यादा लोकतन्त्रीय संस्था है। इस दलील का इतनी संजीदगी दिया जाना यह जाहिर करता है कि अंग्रेजी के शब्द स्वेज नहर से पार होते ही अ अर्थ बदल देते हैं। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ मतलब यह है कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और लोकतन्त्रीय स्वरूप होती है, क्योंकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर ल फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधिकार पर पहुंच जाते हैं।

सच बात तो यह है कि हाल में विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नाम समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर माल्कम हेली ने ५ नवम्बर १९३४ को बनारस में युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए कहा था कि देशी रियासतों में स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐस

१. हाउस आफ लार्ड्स, १७ दिसम्बर १९३४।

कोई जरूरत न थी, क्योंकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छाचारिता को नही छोडेगी। इसी कोशिश मे एक और दिलचस्प तरक्की यह हुई है कि, योरप मे लोकतत्र के नाकामयाब होने की बिना पर इस स्वेच्छाचारिता को कायम रखने की बात कही जाती है। मैसूर के दीवन सर मिर्जा इस्माइल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतत्र नाकामयाब हो रहा है, दूसरी तरफ इनकलाबी सुधारो की वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान करीब-करीब असली कामो के लिए काफी लोकतत्रीय है।"[१] मेरे खयाल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहाँके शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर मे इन दिनों जो लोकतत्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी कदर भिन्न नही है।

अगर लोकतत्र हिन्दुस्तान के लिए मौजूँ नही है, तो ऐसा मालूम पडता है कि वह मिश्र के लिए भी उतना ही बेमौजूँ है। इन दिनो जेल मे मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन', दिया जाता है। उसमे मैंने मिश्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ खरीता अभी हाल ही पढा है।[२] उस खरीते मे कहा गया है कि वहाँ के प्रधान-मत्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने कि उन्हे 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ, खास तौर पर वफ्द-पार्टी, एक हो जायँगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-विधायक असेम्बली का चुनाव करके उनके जरिये नया विधान तैयार करायँगी', जिम्मेदार लोगो मे कुछ कम भय पैदा नही किया है, क्योंकि आखिर इसके मानी यही होते है कि लोकतत्रीय सरकार फिर से कायम हो जाय, जो, इतिहास जाहिर करता है, मिश्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योंकि उसकी प्रवृत्तियाँ पिछले जमाने मे हमेशा हुल्लडपन मे दब जाने की रही है। मिश्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख्स को क्षणभर के लिए भी इस बात मे कोई शक नही हो सकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ्द-पार्टी का बहुमत हो जाय। इसीलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत [illegible] प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आ जायगा जो घोर [illegible] लोकतत्रीय, विदेशियों का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव मे "वफ्द् पार्टी का मुकाबिला करने के लिए" [illegible] को प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदकिस्मती यह है कि "प्रधान मत्री [illegible] कानून की पाबन्दी का बहुत ख़याल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि

१. मैसूर, २१ जून १९३६। पृष्ठ ६४३ का भी नोट देखिए।

२. १९ दिसम्बर १९३४।

अब सिर्फ एक ही रास्ता रह जाता है ओर वह यह कि ब्रिटिश सरकार दस्तन्दाजी करे और "यह बात सबको जाहिर करदे कि वह इस किस्म के शासन का फिर से कायम होना बर्दाश्त नहीं करेगी।'

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिश्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[१] लेकिन गालिबन आजादी के दीवाने एक अग्रेज द्वारा पेश की गई दलील से हमे मिश्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने मे थोड़ी मदद जरूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख मे कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि जिन्दगी के जिस तरीके से और दिमाग के जिस रुख से लोकतत्र का विकास होता है उससे साधारण मिश्री वोटर की जिन्दगी के तरीके और उसके दिमाग के रुख का मेल नही मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गई है: "योरप मे अक्सर लोकतत्र इसलिए नाकामयाब हुआ है, क्योकि वहाँ बहुत-से दल कायम हो गये है। लेकिन मिश्र की मुश्किल तो यह है कि वहा सिर्फ एक वफद-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान मे हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतत्र की तरक्की का रास्ता रोकता है ओर इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावो को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगो मे काफी एका नही है। मिश्र मे किसी किस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम पडता है कि वहाँ पूर्ण राजनैतिक एका मोजूद है। लेकिन वहाँ यही एकता उसके लोकतत्र और उसकी स्वाधीनता के रास्ते का रोडा बन जाती है। सचमुच लोकतत्र का रास्ता सीधा और तग है। पूर्वी देशो के लिए लोकतत्र के सिर्फ एक ही मानी है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासक-सत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ मे हाथ न डाला जाय। इन शर्तो के मान लेने पर लोकतत्रीय स्वाधीनता वहाँ भी बे-रोक-टोक फूल-फल सकती है।

१. नवम्बर १९३४ में मिश्र पर अग्रेजों के अधिकार के खिलाफ मुल्कभर में दगे हुए थे

६१

नैराश्य

"अब तो यही लालसा है मा, जाऊँ आकुल लेट वहाँ
ठंडा-ठंडा हरा सुमजुल मधुर घास हो बिछा जहाँ,
मा वसुधे! चरणो पर तेरे निपट निराश-अधीन,
परिश्रान्त इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन।"[१]

अप्रैल आ गया। अलीपुर मे, मेरी कोठरी मे, मेरे पास बाहर की घटनाओं की बावन अफवाहे पहुँची—ऐसी अफवाहे जो दु खदायी और बेचैनी पैदा करनेवाली थी। एक दिन जेल मे सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गाधीजी ने सत्याग्रह की लडाई वापस लेली है। मुझे इससे ज्यादा कुछ मालूम नही होसका। मुझे यह खबर अच्छी नही लगी और जिस चीज को मै इतने बरसो से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर मुझे रज हुआ। फिर भी मैने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाजिमी था। अपने मन मे मै यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लडाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पडेगी। मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजो की परवा न करके अनिश्चित काल तक लडते रहे लेकिन राष्ट्रीय सस्थाये ऐसा नही करती। मुझे इस बात मे कोई शक न था कि गाधीजी ने देश की स्थिति और अधिकाश कॉंग्रेसवादियो के मनोभावो को ठीक तरह समझ लिया था और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नही मालूम होता था फिर भी मैने अपने आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की।

अस्पष्ट रूप मे यह चर्चा भी मुझे सुनाई दी कि कौसिलो मे जाने की गरज मे पुरानी स्वराज पार्टी को फिर से जिन्दा करने की नई कोशिश की जा रही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनो से यह राय थी कि कॉंग्रेस अगले चुनावो मे अलग नही रह सकती। जब मै पॉच महीने जेल से बाहर था, तब मैने कौसिलो की तरफ बढनेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योकि मै समझता था कि अभी वह वक्त से पहले थी, और उसकी वजह मे न सिर्फ सीधी लडाई

१ मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है —
"And I yearn to lay my head
Where the grass is cool and sweet
Mother, all the dreams are fled
From the tired child at thy feet"

मे ही लोगो का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक इनकलाब के उन नये खयालो के विकास मे भी बाधा पडती थी जो काग्रेसवालो के दिलो मे घर करने जा रहे थे। मैं समझता था कि यह सकट जितने दिन ज्यादा बना रहेगा, उतने ही ज्यादा ये खयाल हमारे यहा सर्वसाधारण और पढे-लिखे लोगो मे फैलेगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह मे जो असलियत है वह जाहिर हो जायगी। जैसा कि लैनिन ने कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक सकट उपयोगी है, क्योकि वह छिपी हुई चीजो को रोशनी मे ले आता है, राजनीति की तह मे जो वास्तविक शक्तिया काम कर रही है उन्हे दिखा देता है, वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्द-जाल का और गपोडो का भण्डाफोड कर देता है, वह असली बातो को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगो को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे काग्रेसवालो का दिमाग साफ हो जायगा और कॉग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगो की मजबूत जमात हो जायगी। गालिबन उसके कुछ कमजोर हिस्से उसे छोड जायगे। लेकिन इसमे कोई हर्ज न होगा और जब कभी उसूली सीधी लडाई का मोर्चा खत्म करने और वैधानिक व कानूनी तरीको के नाम से पुकारे जानेवाले साधनो से काम लेने का वक्त आयगा, तब कॉग्रेस के आगे बढे हुए, वास्तव मे क्रियाशील पक्ष के, लोग इन तरीको का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तैमाल करेगे।

जाहिरा तौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बडी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लडाई और कॉग्रेस के कारगर कामो के आधारस्तम्भ रहे है वे पीछे को हट रहे है और दूसरे लोग जिन्होने ऐसा कोई काम नही किया अपनी हुकूमत जमाने लगे है।

इसके कुछ दिनो के बाद मेरे पास हफ्तेवार स्टेट्समैन आया और उसमे मैंने वह वक्तव्य पढा जो गाधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढकर मुझे बडी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढा, और सत्याग्रह और दूसरी ज्यादातर बाते मेरे दिमाग से गायब हो गई और उनकी जगह शक और सघर्ष से मेरा दिमाग भर गया। गाधीजी ने लिखा था—"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियो से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है। ... इसका मुख्य कारण वह ऑखे खोलनेवाली खबर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्बन्ध मे मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राजी न थे और उसके बजाय किताबे पढना पसन्द करते थे। यह सब कुछ सत्याग्रह के नियमो के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात मे इस मित्र की, जिसेकि मैं बहुत अधिक

प्यार करता था, दुर्बलताओ की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओ का अधिक बोध हुआ। मित्र ने कहा कि उनका खयाल था कि मै उनकी दुर्बलता को जानता हूँ लेकिन मै अन्धा था। नेता मे अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैने फौरन यह भाँप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मै अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूँगा।"

अगर गाधीजी के मित्र मे यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मै यह स्वीकार करता हूँ कि मै अक्सर इस जुर्म का अपराधी रहा हूँ और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफसोस नही है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय सग्राम, जिसमे बीसियो हजार प्रत्यक्ष रूप से और लाखो आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए है, महज इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई गलती कर डाली यकायक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयकर और हर तरह अनीतिमय मालूम हुई। मै इस बात की धृष्टता तो नही कर सकता कि मै यह बताऊँ कि सत्याग्रह क्या है और क्या नही है लेकिन अपने साधारण तरीके पर मैने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शो के पालन करने का प्रयत्न किया है। गाधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शो को धक्का लगा और वे सब गडबड हो गये। मै यह जानता हूँ कि गाधीजी आम तौर पर सहज-ज्ञान के मुताबिक काम करते है। गाधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते है, लेकिन मै उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूँ, और अक्सर ज्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमे कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते है वे आमतौर पर काम कर बैठने के बाद के सोचे हुए खयालात होते है और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। सकटकाल मे नेता या कर्मवीर पुरुष करीब-करीब हमेशा किसी अज्ञात-प्रेरणा से काम करते है और फिर उसके लिए कारण ढूढने लगते है। मैने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को मुल्तवी करके गाधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे मुल्तवी करने के जो कारण उन्होने बताये है वे बुद्धि के लिए अपमानजनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही हैरत-अगेज मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हे पूरा हक था कि वह अपने आश्रम मे रहनेवालो के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योकि उन लोगो ने सब तरह की प्रतिज्ञाये ले रक्खी थी और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रक्खा था। लेकिन कॉग्रेस ने ऐसी कोई बात नही की थी। मैने ऐसी कोई बात नही की थी। फिर हमे उन सब

कारणों के लिए, जो हमें आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे, और जिनमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी, कभी उधर और कभी उधर क्यों फेंका जाता था ? क्या कभी ऐसे आधारों पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती है ? मैं यह मानता हूँ कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुँचा देगा। मैं यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम में लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नहीं हैं। लेकिन यह नई तरक्की या नई व्याख्या उससे कहीं ज्यादा दूर जाती थी और उसमें कुछ नई बातें उठ खड़े होने की सम्भावना थी, जिन्होंने मुझे विचलित कर दिय

उस पूरे वक्तव्य ने तो मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। अन्त में गांधीजी ने कांग्रेसवालों को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हें आत्मत्याग स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा, राष्ट्र-निर्माण के काम में लग जाना चाहिए, उन्हें स्वयं हाथ से कात-बुनकर खद्द प्रचार करना चाहिए, उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के साथ निर्दोष स स्थापित करके लोगों के हृदयों में साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए, अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप में निवारण करना चाहिए नशेबाजों के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने आचरण को पवित्र रख मादक चीजों के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवायें हैं जिनके द्वारा गरीबों तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग गरीबी में न रह सकते हों, उन्हें किसी राष्ट्रीय धन्धे में पड़ जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया ऐसा मालूम पड़ता था कि एक बहुत बड़ा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अ तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होंने इतने से उनसे बाँध रक्खा था, टूट गये हैं। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्व रहा था। गांधीजी ने जो बातें की उनमें से बहुत-सी बातें न तो मेरी समझ में आईं, न वे मुझे पसन्द ही पड़ीं। सत्याग्रह की लड़ाई जारी रहते हुए, उसी बी जबकि उनके साथी लड़ाई की मँझधार में थे, उनके उपवास और दूसरी बातों अपनी ताकत लगाना, उनकी निजी और स्वयं-निर्मित उलझनें जिन्होंने उन्हें असाधारण स्थिति में ला डाला कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हें अपने लिए प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे, उनकी नई

निष्ठायें और नई प्रतिज्ञायें, जिन्होने उनकी पुरानी निष्ठाओ और प्रतिज्ञाओ और कामो को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियो के साथ लिये थे, और जो अबतक पूरे न हो हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया। मै चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैने इन और दूसरे मतभेदो को बहुत ही महसूस किया। गाधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदो का कारण स्वभावो की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढी हुई थी। मैने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलो मे मेरे साफ और निश्चित विचार है और वे उनके विचारो से नही मिलते। और फिर भी अबतक मै इस बात की कोशिश करता रहा कि जहाँतक हो सके, राष्ट्रीय आजादी के जिस ध्येय के लिए कॉंग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने, मै अपने ख़यालो को दबाये रखूं। अपने नेता और अपने साथियो के प्रति वफादार और विश्वासपात्र बनने की मैने हमेशा कोशिश की क्योकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियो के प्रति वफादारी का स्थान बहुत ऊँचा है। जब-जब मैने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लगर से दूर खीचा जा रहा है, तब-तब मुझे अपने मन मे बडे-बडे अन्तर्द्वन्द्व लडने पडे है, लेकिन उस वक्त मैने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैने गलती की, क्योकि यह तो किसीके लिए ठीक नही हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लगर को छोड दे। लेकिन आदर्शो की इस टक्कर मे मै अपने साथियो के प्रति वफादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओ की रेल-पेल और हमारी लडाई का विकास उन सब मुश्किलो को दूर कर देगा जो मुझे दु ख दे रही है और मेरे साथियो को मेरे दृष्टिकोण के नजदीक ले आयगा।

और अब तो यकायक मुझे अलीपुर की उस जेल मे बडा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दु खमय, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन मे मैने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये है, उनमे सबसे अधिक कठोर और दुखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्वपूर्ण विषयो पर किसीका भरोसा करना उचित नही है। हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा मे अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरो पर भरोसा करना जबर्दस्त निराशा और आफतो को बुलाता देना है।

मेरे इस रुके हुए क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पडा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारो की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना बड़ा दुश्मन है? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नही है? यह दृष्टि-

कोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीजो मे वह कितनी दूर है ? हमेशा दूसरी दुनिया की बाते सोचते-सोचते मानव-स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओ के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आखे मूंद लेना है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है फिर भी उसे सत्य को—संपूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नहीं करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल मे सत्य है यह नहीं ? वह तो दूसरो को उसके विषय मे कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूंढने का संकल्प और विश्वास की भावना दोनो जुदी-जुदी चीजे है। धर्म बाते तो शान्ति की करता है लेकिन उन प्रणालियो और व्यवस्थाओ का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के जिन्दा नहीं रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन उस हिंसा का क्या जो अक्सर शाति का लबादा ओढे चुप-चाप आती है और लोगो को भूखो तडपाती अ जान से मार डालती है या जो इससे भी ज्यादा बुरा काम यह करती है कि बि किसी प्रकार के जाहिरा शरीरिक कष्ट पहुँचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा कुचलती है और हृदय के टुकडे-टुकडे कर डालती है ?

और इसके बाद मै फिर उसी शख्स की बाबत सोचने लगा जिसने कि मेरे म मे यह खलबली पैदा की। आखिर गांधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी है। उन मोहकता कितनी हैरत अगेज और सर्वथा अबाध है और लोगो पर उनका कैसा अज काबू है। उनकी बाते और उनके लेख उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिच करा पाते है। इनसे उनके विषय मे लोग जितनी कल्पना कर सकते है, उन व्यक्तित्व उससे कही ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाये कितनी महान् है उन्होने भारत की जनता मे साहस और मर्दानगी फूँक दी है, अनुशासन अ कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी कुर्बान हो जाने की ओर पूर्ण नम्रता के सा स्वाभिमान की भावना पैदा कर दी है। उन्होने कहा है कि चरित्र की वास्तवि नीव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म औ न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते है, फिर भी उन्होने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गैरटी है कि आदमी जिस काम को हाथ मे ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन

और आत्म-सयम के विना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो मकती है।" शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हों। लेकिन इन शब्दो के पीछे ताकत थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप मे वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीडित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह खुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमे जो त्रुटियाँ थी, वे भारत की त्रुटियाँ थी। उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकते कर रहे थे यह नही जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फसल बो रहे हैं। दिसम्बर १९३१ मे जब गाधीजी गोलमेज कान्फ्रेंस मे लौट रहे थे, तब यह जानकर कि पोप ने गाधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया है मुझे कितना दु ख हुआ था वह मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान प्रतीत हुआ और इसमे तो कोई शक ही नही कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथोलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नही करते और क्योकि प्रोटेस्टेन्ट मत के कुछ लोगो ने गाधीजी को सच्चा ईसाई और बडा धर्मात्मा बताया इसलिए रोम के लिए यह और भी जरूरी हो गया कि वह इस कुफ्र से अपने को अलग रक्खे।

अप्रैल १९३४ मे, अलीपुर-जेल मे करीब-करीब इसी समय मैने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढे और 'ऑन दि रॉक्स्' (शिला पर) नाम के नाटक की वह भूमिका, जिसमे ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत अच्छी लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुकाबिला कर रहा है मुझे यह भूमिका इस समय के लिए सार्थक प्रतीत हुई। इसमे ईसामसीह ने पाईलेट से कहा है—"मै तुमसे कहता हूँ कि डर छोड दो। रोम की महत्ता के बारे मे मुझसे व्यर्थ की बाते मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नही है। भूत का डर, भविष्य का डर, गरीबो का डर, अमीरो का डर, उच्चमठाधीशो का डर, उन यहूदियो और यूनानियो का डर जो विद्वान् है, उन गॉल निवासियो, गोथो और हूणो का डर जो जगली है, उस कार्थेज का, जिसके डर से अपनेको बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही सीजर की मूर्ति का, जो तुम्हीने बनाई है और मुझ-सरीखे कौडीहीन दर-दर के भिखारी का, सताये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड

कोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीजो से वह कितनी दूर है ? हमेशा दूसरी दुनिया की बाते सोचते-सोचते मानव-स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओं के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आँखे मूंद लेता है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सत्य पर बनाता है फिर भी उसे सत्य को--सपूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नहीं करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल मे सत्य है यह नहीं ? वह तो दूसरो को उसके विषय मे कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूंढने का सकल्प और विश्वास की भावना दोनो जुदी-जुदी चीजे है। धर्म बाते तो शान्ति की करता है लेकिन उन प्रणालियो और व्यवस्थाओ का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के जिन्दा नहीं रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन उस हिंसा का क्या जो अक्सर शाति का लबादा ओढे चुप-चाप आती है और लोगो को भूखो तड़पाती और जान से मार डालती है या जो इससे भी ज्यादा बुरा काम यह करती है कि बिना किसी प्रकार के जाहिरा शरीरिक कष्ट पहुँचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकडे-टुकड़े कर डालती है ?

और इसके बाद मैं फिर उसी शख्स की बाबत सोचने लगा जिसने कि मेरे मन मे यह खलबली पैदा की। आखिर गाधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी है। उनकी मोहकता कितनी हैरत अगेज और सर्वथा अबाध है और लोगो पर उनका कैसा अजीब काबू है। उनकी बाते और उनके लेख उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिचय करा पाते है। इनसे उनके विषय मे लोग जितनी कल्पना कर सकते है, उनका व्यक्तित्व उससे कही ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाये कितनी महान् है। उन्होने भारत की जनता मे साहस और मर्दानगी फूंक दी है, अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी कुर्बान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा कर दी है। उन्होने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नीव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते है, फिर भी उन्होने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गैरटी है कि आदमी जिस काम को हाथ मे ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन

और आत्म-सयम के बिना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो सकती है।" शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हो। किन इन शब्दो के पीछे ताकत थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा क्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप से वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और डित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह खुद भारत के तिबिम्ब थे और उनमे जो त्रुटियाँ थी, वे भारत की त्रुटियाँ थी। उनका अपमान ायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और ाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकते कर रहे थे यह नही जानते थे कि कैसी खतरनाक फसल बो रहे है। दिसम्बर १९३१ मे जब गाधीजी गोलमेज न्फ्रेंस से लौट रहे थे, तब यह जानकर कि पोप ने गाधीजी से मिलने से इन्कार कर या है मुझे कितना दुख हुआ था वह मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का पमान प्रतीत हुआ और इसमे तो कोई शक ही नही कि इन्कार तो जान-बूझकर किया ा था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना रही हो। कैथोलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना ीकार नही करते और क्योकि प्रोटेस्टेन्ट मत के कुछ लोगो ने गाधीजी को सच्चा ाई और बडा धर्मात्मा बताया इसलिए रोम के लिए यह और भी जरूरी हो गया ि वह इस कुफ्र से अपने को अलग रक्खे।

अप्रैल १९३४ मे, अलीपुर-जेल मे करीब-करीब इसी समय मैने बर्नार्ड शा के नये ाटक पढे और 'ऑन दि रॉक्स्' (शिला पर) नाम के नाटक की वह भूमिका, जिसमे ासमसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत अच्छी लगी। आज जबकि एक ाम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुकाबिला कर रहा है मुझे यह भूमिका इस समय के ए सार्थक प्रतीत हुई। इसमे ईसामसीह ने पाईलेट से कहा है—"मै तुमसे कहता हूँ ि डर छोड दो। रोम की महत्ता के बारे मे मुझसे व्यर्थ की बाते मत करो। से तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नही है। भूत का र, भविष्य का डर, गरीबो का डर, अमीरो का डर, उच्चमठाधीशो का डर, उन दियो और यूनानियो का डर जो विद्वान् है, उन गॉल निवासियो, गोथो और हूणो ा डर जो जगली है, उस कार्थेज का, जिसके डर से अपनेको बचाने के लिए ुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही सीजर की ूर्ति का, जो तुम्हीने बनाई है और मुझ-सरीखे कौडीहीन दर-दर के भिखारी का, गाये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड़

कर बाकी सब चीजो का डर। खून-खराबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु मे श्रद्धा नही। तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत-उजागर कायर हो और मैं जो ससार मे ईश्वरीय सत्ता का हामी हूं, प्राणपन की बाजी लगा चुका हू, सर्वस्व तक गवॉ चुका हूँ और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हू।"

लेकिन गाधीजी की महत्ता, भारत के प्रति उनकी महान् सेवायें या मेरे प्रति उनकी महान् उदारताये, जिनके लिए मै उनका ऋणी हूँ, इनका कोई प्रश्न ही नही है। इस सब बातो के होते हुए भी वह बहुत-सी बातो मे, बुरी तरह गलती कर सकते हैं। आखिर उनका मकसद क्या है? इतने वर्षो तक उनके नजदीक-से-नजदीक रहने पर भी मुझे खुद अपने दिमाग मे यह बात साफ-साफ नही दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है। मुझे तो इस बात मे भी शक है कि इस मामले मे खुद उनका दिमाग कहाँतक साफ है। वह कहते है कि मेरे लिए तो एक ही कदम काफी है, और वह भविष्य की तरफ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नही करते। वह यह कहते-कहते कभी नही थकते कि हम अपने साधनो की चिता रक्खे तो साध्य अपने आप ठीक हो जायगा। अपने निजी जीवन मे पवित्र बने रहो तो बाकी सब बाते अपने आप ठीक हो जायँगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नही है। यह तो सकुचित आचार दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय? गान्धीजी चरित्र पर ही सब जोर लगा देते है, और मानसिक शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्व नही देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि खतरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र मे क्या रह जाता है? सचमुच, आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है? गान्धीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तो से की गई है और वह जो कुछ कहते है उसका अधिकाश इसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीके से कतई मेल नही खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेदजनक प्रतीत होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नही है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय पर हमे अपने आदर्श बदलने पडते हो, फिर भी हमें कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा खयाल है कि ध्येय के सम्बन्ध मे गाधीजी के विचार उतने अस्पष्ट नहीं जितने वह कभी-कभी मालूम होते है। वह किसी एक खास दिशा मे जाने के लिए

बहुत अधिक उत्सुक हैं। लेकिन उस तरफ जाना आजकल के खयालो और आजकल की परिस्थितियो के बिलकुल खिलाफ है, और अबतक वह इन दोनो का एक दूसरे से मेल नहीं मिला पाये हैं, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियाँ ही खोज पाये हैं जो उन्हे अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा दे। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचास बरस से, उस वक्त से, जबसे उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करना शुरू किये तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ जाहिर है। मुझे पता नहीं कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारो के द्योतक है या नहीं। वे उनके विचारो को पूरी तरह व्यक्त करते है मुझे तो इस बात मे शक है, लेकिन फिर भी उनसे हमे उनके विचारो की तह मे जो भावनाये काम करती रही है उनके समझने मे मदद मिलती है।

१९०९ मे उन्होने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमे है कि उसने पिछले पचास साल मे जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेलवे, तार या अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजे मिट जानी चाहिएँ, और ऊँची कही जानेवाली जातियो को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानो का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देनेवाला है।" और "जब-जब मैं रेल या मोटर मे बैठता हूँ, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मै ठीक समझता हूँ उसीके साथ मैं ज्यादती कर रहा हूँ।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेजी से चलनेवाली चीजो से दुनिया का सुधार करने की कोशिश कतई गैरमुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल गलत और नुकसान पहुँचानेवाली बाते मालूम होती है जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी जीवन के प्रति गाधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातो का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस बात मे नहीं है कि हम अपनी आवश्यकताओ को बढाते चले जायँ और अपने रहन-सहन का ढग ज्यादा खर्चीला करले, बल्कि इस बात मे है कि अपनी जरूरतो को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक हम कम करले, क्योकि ऐसा करने मे सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढ़ती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियो को मानले तो गाधीजी के बाकी के विचारो और कार्य-कलापो को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममे से ज्यादातर लोग इन्हे नहीं मानते और जब हम यह देखते है कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक नहीं है तब हम उनकी शिकायत करने लगते है।

व्यक्तिगत रूप से मुझे गरीबो की और तकलीफ झेलने की तारीफ करना पसन्द

नही है। मै यह नही समझता कि वे किसी प्रकार वाछनीय है, बल्कि मेरी राय मे तो उन्हे मिटा देना चाहिए। न मै सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूँ, चाहे कुछ व्यक्तियो के लिए वह ठीक ही हो। मै सादगी, समानता और आत्म-सयम चाहता हू और उसकी कद्र भी करता हू, लेकिन शारीरिक दमन करने के पक्ष मे नही हू। मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाडी या पहलवान के लिए अपने शरीर की साधना जरूरी है वैसे ही इस बात की भी जरूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतो को साधे और उन्हे अपने नियन्त्रण मे रक्खे। यह आशा करना तो बेहूदगी होगा कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन मे फँसा हुआ है, वह सकट के दिन आने पर ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-सयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा। नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही जरूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत मे रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो सीमारहित सयम है और न आत्मपीडन ही है।

'किसानो की-सी सादा जिन्दगी' का आदर्श मुझे जरा भी अच्छा नही लगता। मै तो करीब-करीब उससे घबडाता-सा हूँ और खुद उनकी सी जिन्दगी बर्दाश्त करने के बदले मै तो किसानो को भी उस जिन्दगी मे से खीचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूँ—उन्हे शहरी बनाकर नही बल्कि देहातो मे शहरो की सास्कृतिक सुविधाये पहुंचा कर। किसानो की सी यह सादा जिन्दगी मुझे सुख तो कतई नही देती, वह तो मुझे करीब-करीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना। आखिर "फावडेवाले आदमियो" मे ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय? असख्य युगो से इस पद-दलित और शोषित प्राणी मे और उन पशुओ मे जिनके साथ वह रहता है कोई अन्तर नही रह गया है।

> "किसने यो कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशा मे?
> व्याकुल नही शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से।
> स्तब्ध, मूक; जडरूप खडा वह, करे शिकायत क्या किससे?
> मानव है या वृषभ सहोदर उपमा इसकी दे जिससे।"[१]

मानव-बुद्धि से काम न लेकर पुराने जगलीपन की स्थिति मे, जहाँ बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नही था, पहुँचने की बात मेरी समझ मे बिलकुल नही

१ मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है —

> "Who made him dead to rapture and despair,
> A thing that grieves not and that never hopes,
> Stolid and stunned, a brother to the ox?"

आती। स्वय उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और वह भौतिक स्थिति, जो दिमाग के लिए भाररूप है और उसकी तरक्की को रोकती है, वाछनीय समझी जाती है। वर्तमान सभ्यता बुराइयो से भरी हुई है, लेकिन उसमे अच्छाइयाँ भी भरी पडी है, और उसमे वह ताकत भी है जिससे वह अपनी बुराइयो को दूर कर सके। उसको जड-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताकत को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस प्रकाशहीन और दु खमय स्थिति की ओर पहुँचना होगा। यदि ऐसा करना वाछनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की नदी को रोक नही सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते है, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममे से जिन लोगो ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जगलीपन की स्थिति मे जाना पसन्द नही कर सकते।

इस बात को समझना मुश्किल है, क्योकि ये दोनो दृष्टिकोण बिलकुल जुदे है। गाधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा मे सोचते है, जब कि हममे से अधिकाश लोगो के मन मे समाज की भलाई सबसे ऊपर है। मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पडता है और शायद इसीलिए मै गाधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नही समझ पाता हूँ। वह समाज या सामाजिक ढाचे को बदलना नही चाहते, वह तो व्यक्तियो मे से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते है। उन्होने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न मे हाथ नही डालेगा, क्योकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्ही नियमो से चलती आई है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये है।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नो मे वह काफी आगे बढ जाते है। पर वह जो सुधार करना चाहते है वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी है इन्द्रिया पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फासिज्म पर लिखनेवाले एक योग्य रोमन कैथोलिक लेखक ने आजादी की जो परिभाषा की है, शायद गाधीजी उससे सहमत होग। वह परिभाषा यह है—"आजादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवाय और कुछ नही है।" दो सौ बरस पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आजादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनो से और मनुष्य की बुरी कामनाओ, वासनाओ और असाधारण इच्छाओ के जाल से मुक्ति।"[१]

[१] यह उद्धरण जिस पत्र मे लिया गया है वह ४५६ पृष्ठ पर दिया जा चुका है

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे मे गाँधीजी का जो रुख है और जोकि आजकल के औसत आदमी को गैर-मामूली-सा मालूम होता है वह भी कुछ-कुछ समझ मे आ सकता है। उनकी राय में "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस में सहवास करना पाप है।" और "सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनो को काम मे लाने का परिणाम नपुसकता और स्नायविक ह्रास होता है।" "अपने कामो के परिणामो से बचने की कोशिश करना गलत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो जरूरत से ज्यादा पेट भरले और फिर कोई टानिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजो से बचने की कोशिश करे। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारो को तृप्त करे और फिर उसके परिणामो से बचे।"

जाती तौर पर मै गाधीजी के इस रुख को बिल्कुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और अगर गाधीजी की बात सही है तो मै तो उन पापियो मे से हूँ जो नपुसकता और स्नायविक ह्रास के नजदीक पहुँच चुके है। रोमन कैथोलिको ने भी बडे जोरो से सन्तति-निग्रह की मुखालिफत की है। लेकिन वे अपनी दलीलो को उस आखिरी दर्जे तक नही ले गये जिस दर्जे तक गाधीजी ले गये है। उसे वे इन्सानी फितरत समझते है, उसके साथ उन्होने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट देदी है।[१] लेकिन गाधीजी तो अपनी दलील की आख़िरी हद तक पहुँच गये है और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसग को जरूरी या जायज नही समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते है कि स्त्री-पुरुषो मे परस्पर एक दूसरे की तरफ कुदरती खिचाव होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री पुरुषो मे जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मै ध्यान मे नही रखता। मै यह मानने से इन्कार करता हूँ कि जिस आकर्षण का सकेत किया गया वह किसी भी हालत मे प्राकृतिक माना जा सकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो

१ ईसाइयों के विवाह के बारे में ११ वे पायस पोप ने ३१ दिसम्बर १९३० को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हकों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करे तो यह नहीं माना जाना चाहिए कि वे प्रकृति की व्यवस्था के ख़िलाफ़ काम कर रहे हैं, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी खराबी के कारण उनके बच्चे पैदा हो या न हों!" समय की परिस्थिति से मतलब जाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक्त से है, जब गर्भाधान सम्भव है समझा जाता।

सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री मे जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह वही आकर्षण है जो भाई ओर वहिन मे, मा और बेटे मे, बाप और बेटी में होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को कायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा जोर से कहते है—"नही, अपनी पूरी ताकत के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नि का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

ऑडीपस कॉम्प्लेक्स[1] ओर फ्रूड के विचारो और मनोवैज्ञानिक विश्लेपण के इस युग मे किसी विश्वास को इतने जोरदार शब्दो मे प्रकट करना आश्चर्यजनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नही। इसे आप माने या न माने। इसके बारे मे कोई बीच का रास्ता नहीं है। अपनी तरफ से तो मैं कह सकता हूँ कि इस मामले मे गाधीजी बिलकुल गलती पर है। कुछ लोगो के लिए उनकी सलाह ठीक हो सकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप मे तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग ध्वजभग, मृगी वगैरा तरह-तरह के शारीरिक और स्नायविक बीमारियो के शिकार हो जायँगे। विपय-भोग मे सयम जरूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात मे शक है कि गाधीजी के उसूलो से यह सयम किसी बडी हद तक हो सकेगा। वह सयम बहुत अधिक कडा है, ओर ज्यादातर लोग यही समझते है कि वह उनकी ताकत के बाहर है, और इसलिए आमतौर पर अपने मामूली तरीके पर चलते रहते है और अगर नही चलते तो पति-पत्नी मे खटपट हो जाती है। स्पष्टत. गाधीजी यह समझते है कि सन्तति-निग्रह के साधनो से निश्चित रूप से लोग अत्यधिक मात्रा मे काम-तृप्ति मे लग जायँगे ओर अगर स्त्री और पुरुप का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर मर्द हर औरत के पीछे दौडेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके

१. ऑडीपस थेबीज के राजा लेइस का लड़का था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़के के हाथों मारा जायगा। इसपर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया, और उसने कॉरिन्थ के बादशाह पॉलिबस को दे दिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बड़ा हुआ और जब उसे इस भविष्यवाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा अपनी मा से शादी कर लेगा, तो घर छोडकर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और मा जोकेस्टा मिली। वह उन्हे पहचानता न था, अतः बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी कर ली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मनःशास्त्री फ्रूड के मतानुसार 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स' का अर्थ है, वह चित्तवृत्ति जिसके अनुसार लड़के की अपनी मा के प्रति और लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो।

दोनों निष्कर्षों में से एक भी सही नहीं है, और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि गांधीजी उसपर इतना ज्यादा ज़ोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो उसके दो ही पहलू हैं—इस पार या उस पार, बीच का कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वह ऐसी पराकाष्ठा को पहुंच जाते हैं जो मुझे बहुत गैर मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है। इन दिनों हमारे ऊपर काम-शस्त्रसम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी बाढ आ रही है शायद उसीकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी ऐसी बातें कहते हैं। मैं मानता हूं कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूं और मेरे जीवन में वैषयिक भावना का असर रहा है। लेकिन न तो मैं कभी उसके काबू में हुआ और न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। वह केवल गौण रूप में ही रही है।

गांधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस विरक्त जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीकों से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक, लेकिन जो संसारी स्त्री-पुरुष जीवन को मिथ्या नहीं मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते हैं उनके लिए यह बहुत दूर की बात है। इसलिए, इस एक बुराई से बचने के लिए उन्हें दूसरी और उससे भी बड़ी-बड़ी बुराइयों को बरदाश्त करना पडता है।

मैं विषय से बाहर बह पडा हूँ। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दुःखदायी दिनों में सभी तरह के विचार मेरे मन में छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यवस्थित रूप में नहीं होते थे, बल्कि बिखरे हुए और बे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सबसे बढकर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोटनेवाली आबोहवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी बढ जाता था। अगर मैं जेल से बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुँची वह क्षणिक होती और मैं ज्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना गुब्बार निकालकर अपने मन-माफिक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर जेल के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बडी बुरी तरह बीते। खुशकिस्मती से मैं बडा खुशमिजाज हूँ और मायूसी के हमलों में बडी जल्दी सम्हल जाता हूं। इसलिए मैं अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलाकात हुई। उससे मुझे और भी बेहद खुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो हैं ही।

विकट समस्यायें

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते और जिन्होंने सिर्फ उनके लेख को ही पढ़ा है वे अक्सर यह सोच बैठते हैं कि गांधीजी कोई विरक्त साधु मे है—खुश्क जाहिद की तरह मनहूस और मुँह लटकाये हुए। लेकिन गांधीजी के लेख गांधीजी के साथ अन्याय करते हैं। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह खुद कहीं ज्यादा बड़े हैं। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसको उद्धृत करके उसकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ नहीं किया जा सकता। धर्मोपासकों के रास्ते में उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुस्कराहट आल्हादकारक होती है, उनकी हँसी सबको हँसा देती है, और वह विनोद की एक लहर बहा देते हैं। उनमें भोले बच्चों की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे में पैर रखते हैं तो अपने साथ एक ऐसी ताजी हवा का झोंका लेते आते हैं जो वहाँ के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनों के एक असाधारण नमूने हैं। मेरा खयाल है कि तमाम मशहूर और खास शख्स कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते हैं। बरसों इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गांधीजी पीड़ितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना खयाल रखते हुए भी एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो लाजिमी तौर पर पीड़ितों को पैदा करती है और फिर उन्हें कुच-लती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ तो वह अहिंसा के ऐसे अनन्य उपासक हैं, और दूसरी तरफ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे के पक्ष में हैं जो तलहो आने हिंसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है? शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। वह तो कम-ब-ढ एक दार्शनिक अराजक हैं, लेकिन क्योंकि अराजकों का आदर्श एक तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उनका कयास भी नहीं कर सकते, इसलिए वह मौजूदा व्यवस्था को मंजूर करते हैं। मेरा खयाल है कि प्रणाली को बदलने में हिंसा के इस्तैमाल की बाबत उन्हें जो एतराज़ है वह महज साधन के लिहाज से ही नहीं है, क्योंकि मौजूदा व्यवस्था को बदलने के लिए किन जरियों से काम लेना चाहिए इस सवाल से बिलकुल अलग हम किसी आदर्श ध्येय को अपनी आंखों के सामने रख सकते हैं, जिसको ज्यादा दूर भविष्य में नहीं, नजदीक भविष्य में ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपनेको समाजवादी भी कहते है, लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ मे करते है जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढाचे से कोई सरोकार नही है जो आम तौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी रहनुमाई मे पीछे-पीछे चलते हुए कुछ नामी-गरामी कॉंग्रेसी भी उन्हींके अर्थ मे समाजवाद शब्द का इस्तैमाल करने लगे है, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब खुदा के बन्दो की एक किस्म की गोलमटोल खिदमत से होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का प्रयोग करने मे वह जो गलती करते है उसमे बडे-बडे नामी शख्स उनके साथ है, क्योंकि वह तो सिर्फ ब्रिटिश नेशनल सरकार के प्रधान मन्त्री की मिसाल के पीछे ही चल रहे है।[१] मै यह जानता हूँ कि गाधीजी समाजवाद से नावाकिफ नही है क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबे पढी है और इन विषयो पर दूसरो के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन मे यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्व के मामलो मे अकेला दिमाग बजात खुद हमे ज्यादा दूर तक नही ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है कि—"अगर आपका दिल नहीं चाहता तो इतमीनान रखिए कि आपका दिमाग आपको कभी भी विश्वास नही करने देगा।" हमारे मनोविकार हमारी आम निगाह पर शासन करते है और मन उनके काबू मे रहता है। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, असल मे तो सहज ज्ञान या मनोभावो पर ही निर्भर रहती है। शौपेनहर ने कहा है कि—"मनुष्य जिस बात का सकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का सकल्प करना चाहे उसका सकल्प नही कर सकता।'

दक्षिण अफ्रीका मे अपने शुरू के दिनो मे गाधीजी मे बहुत जबरदस्त तबदीली हुई। इससे वह एक दम हिल गये और जीवन के बारे मे उनकी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होने अपने तमाम खयालो के लिए एक बुनियाद बना ली और अब वह किसी सवाल पर उस बुनियाद से हटकर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं कर सकते। जो लोग उनको कई बाते सुझाते है उनकी बातो को वह बडे भारी धीरज और ध्यान से सुनते है, लेकिन उनसे बाते करनेवाले पर यह असर पडता है कि वह उ...

१. जनवरी, सन् ३५ में एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्टों के एसोसिएशन के सघ को एक सन्देश देते हुए मि० रेमजे मेकडोनेल्ड ने कहा था कि—"समय की कठिनाइयाँ हरेक मुल्क के लोगों के लिए यह लाज़िमी बना रही हैं कि वे एक होकर अपनी तमाम ताक़त से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

शराफत व दिलचस्पी दिखा रहे है उस सबके बावजूद उन बातो के लिए उनके मन का दरवाजा बन्द है। कुछ खयालात से उनका लगर ऐसा बंध गया है कि और सब बाते उन्हे महत्त्व की नही मालूम होती। उनकी राय मे दूसरी ओर अ-प्रधान बातो पर जोर देने से ज्यादा बडी योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम उस लगर को पकडे रहे तो नतीजा यह होगा कि दूसरे सभी काम जरूरी तौर पर अपने-आप वाजिब तरीके से ठीक हो जायंगे। अगर हमारे साधन ठीक है तो साध्य भी लाजिमी तौर पर ठीक हो जायगा।

मेरे खयाल से उनके विचारो का आधार यही है। वह समाजवाद को और उससे ी ज्यादा खास तौर पर मार्क्सवाद को सदेह की दृष्टि से देखते है, क्योकि वह हिसा से म्बन्धित है। "वर्ग-युद्ध" शब्द मे ही उन्हे लडाई और हिसा की बू आती है, और सलिए वह उसे नापसन्द करते है। इसके अलावा वह यह भी नही चाहते कि आम ोगो के रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज्यादा ऊँचा बढाया जाय, क्योकि गर लोग ज्यादा आराम से और फुर्सत मे रहेगे तो उससे भोग-विलास और पाप की द्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठीभर अमीर लोग भोग-विलास मे लगे रहते , अगर ऐसे लोगो की तादाद और भी बढा दी गई तब तो बहुत ही बुरा हो ायगा। १९२६ मे उन्होने जो एक खत लिखा था उससे हम ऐसे कुछ नतीजे निकाल कते है। इग्लैण्ड मे उन दिनो कोयले की खानो मे मजदूरो ने बहुत बडी हडताल कर दी थी, और खानो के मालिको ने खाने बन्द कर दी थी। इस कशमकश के दौरान मे उनके पास जो खत आया था, उसके जवाब मे उन्होने यह खत लिखा था। जिन ाहब ने उन्हे खत भेजा था, उन्होने उसमें यह दलील पेश की थी कि इस लडाई मे मजदूर हार जायेगे, क्योकि उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हे चाहिए कि वह कृत्रिम साधनो से मदद लेकर ज्यादा सन्तान पैदा करना बन्द कर दे और इस तरह अपनी तादाद घटा ले। इस खत का जवाब देते हुए गाधीजी ने लिखा था—"आखिरी ात यह है कि अगर खानो के मालिक गलत रास्ते पर होने पर भी जीत जायेगे, तो नकी यह जीत महज इसलिए नही होगी कि मजदूर ज्यादा सन्तान पैदा करते है, ल्कि इसलिए होगी, कि मजदूरो ने जिन्दगी मे हर तरफ सयम से काम लेना नही ीखा। अगर खानो के मजदूरो के बच्चे न हो तो उन्हे अपनी हालत बेहतर बनाने ी कोई प्रेरणा ही नही रहेगी, और फिर वे यह बात भी कैसे साबित कर दिखायेगे ि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाने की जरूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और ाराब पीने की कोई ज़रूरत है? क्या इसके जवाब मे यह कहना ठीक होगा कि ानो के मालिक भी तो यह सब काम करते है, और फिर भी वे चैन की बंसी बजाते

है ? अगर मजदूर इस बात का दावा नही कर सकते कि वे कुछ बात मे पूजीपतियो से बेहतर है तो फिर उन्हे दुनिया की हमदर्दी हासिल करने का क्या हक है ? क्या इसलिए कि वे पूजीपतियो की तादाद बढावे और पूजीवाद को मजबूत करे ? हम-से कहा जाता है कि हम लोकतन्त्र के सामने अपने सिर झुका दे, क्योकि वादा यह किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब दुनिया की हालत बेहतर हो जायगी। पूजीवाद और पूजीपतियो के सिर हम जिन बुराइयो को थोपते है, वे ही खुद हमे और भी ज्यादा बडे पैमाने पर पैदा नही करनी चाहिए।"'

जब मैने इसे पढा, तब खानो मे काम करनेवाले अग्रेज मजदूरो और उनकी औरतो व बच्चो के भूख से उतरे हुए और पिचके हुए चेहरे मेरी आँखो के सामने आ गये, जो मैने १९२६ की गर्मियो मे देखे थे। वे गरीब मजदूर उस समय उन्हे कुचलनेवाली पैशाचिक प्रणाली के खिलाफ लड रहे थे। इस लडाई मे वे बिलकुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गाधीजी ने जो बाते लिखी है, पूरी तरह सही नही है, क्योकि खानो के मजदूर मजदूरी बढवाने के लिए नही लड र थे, वे तो इस बात के लिए लड रहे थे कि जो मजूरी उन्हे मिलती है उसमे कमी की जाय, और जो खाने बन्द करदी गई थी वे खोल दी जायँ। लेकिन इस वक्त ह इन बातो से कोई ताल्लुक नही। न हमारा ताल्लुक इसी बात से है कि मजदूर लो कृत्रिम साधनो की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोके या न रोके, यद्यपि मालि और मजदूरो के लडाई-झगडे को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था मैने तो गाधीजी के जवाब मे से इतनी बात यहाँ इसलिए दी है कि जिससे हम लो को यह बात समझने मे मदद मिले कि मजदूरो के रहन-सहन के ढग को ऊँचा बना की आम माँग के मामले मे और मजदूरो के दूसरे मामलो मे गाधीजी का दृष्टिको क्या है। उनका यह दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिको ही से क्यो, सच बात तो यह है कि पूजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफी दूर है। गाधी को इस बात मे ज्यादा दिलचस्पी नही है कि अगर स्वार्थी समुदाय रास्ते के रोडे बने तो यह बात करके दिखाई जा सकती है कि विज्ञान और धन्धो की कला के जरि हम आज तमाम लोगो को अबसे कही ज्यादा बडे पैमाने पर खाने-पहनने और रह को दे सकते है और उनके रहन-सहन के ढग को बहुत ज्यादा ऊँचा कर सकते है असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातो के लिए बहुत उत्सुक न है। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नही

' गांधीजी ने, 'अनीति की राह पर' नाम की जो किताब लिखी है उसमे य मत दिया गया है।

और पूँजीवाद भी महज कुछ हद तक ही बरदाश्त किया जा सकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूँजीवाद और समाजवाद दोनों ही को नापसन्द करते है, लेकिन पूँजीवाद को फिलहाल की बुराई समझकर उसे बरदाश्त कर लेते हैं। इसके अलावा वह पूँजीवाद को इसलिए भी बरदाश्त करते है, क्योंकि वह तो पहले ही से मौजूद है और उससे आँखे नही मूँदी जा सकती।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढने मे मैं गलती पर होऊँ, लेकिन मेरा यह ख्याल जरूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पडते है, और उनके कथनों मे हमे जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती है उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न है। वह यह नहीं चाहते कि लोग हमेशा बढते जानेवाले आराम व फुर्सत को अपने जीवन का लक्ष्य बनावे। वह तो यह चाहते है कि लोग नैतिक जीवन की बाते सोचे, अपनी बुरी लते छोड दे, शारीरिक भोगों को रोज-ब-रोज कम करते जायँ और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करे, और जो लोग आम लोगो की खिदमत करना चाहते है उनका काम यह नहीं है कि वे उन लोगो की माली हालत को ऊँचा उठाये, बल्कि उन्हे चाहिए कि खुद उनकी तह पर नीचे चले जायँ और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिले। ऐसा करते हुए वे लाजिमी तौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करने मे मदद दे सकेगे। उनकी राय के मुताबिक यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उसमे उन्होने लिखा है कि, "बहुत-से लोग मेरा विरोध करने मे निराश हैं। मेरे लिए यह बात जलील करने जैसी है, क्योकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्री हूँ। गरीब-से-गरीब इन्सान के साथ बिलकुल उसीका-सा हो जाना जिस हालत मे वह रहता है उससे बेहतर हालत मे रहने की ख्वाहिश छोड देना, और अपनी पूरी ताकत के साथ उसकी तह तक पहुँचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना। अगर ये ऐसी बाते है कि जिनकी बुनियाद पर किसीको यह दावा करने का हक मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूँ।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेगे कि अपनेको आम लोगो से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता और लोगो के रहन-सहन के ढंग से कहीं ज्यादा ऊँचे ढगो की नुमाइश उन लाखो लोगो के सामने करना जिनके पास ज़रूरी-से-ज़रूरी चीजो की भी कमी है, बहुत ही बेजा और शर्मनाक है। लेकिन इसके अलावा गांधीजी की बाकी दलीलो और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्री, पूँजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं हो सकता। मगर गांधीजी का दृष्टिकोण पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे इन बातो से कुछ हद तक

सहमत हो सकते है, क्योकि इन लोगो की भावुकता भी अतीत से बँधी हुई है और ये लोग हमेशा हर बात को अतीत की दृष्टि मे ही देखा करते है। वे 'है' या 'होगा' की बाबत इतना नही सोचते, जितना कि 'था' की बाबत। भूतकालिक और भविष्य-कालिक मनोवृत्तियो मे जमीन और आस्मान का फर्क है। पुराने ज़माने मे तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि आम लोगो की माली हालत को ऊँचा किया जाय। उन दिनो गरीब हमारे समाज के अभिन्न अग बने हुए थे। उस वक्त तो मुट्ठीभर अमीर लोग थे। वे सामाजिक ढाँचो के मुख्य अग थे। वे उत्पादन-प्रणाली के जरूरी हिस्से थे, इसीलिए सदाचारी सुधारक और परदुखकातर सभी लोगो ने उनकी सत्ता स्वीकार करली थी, लेकिन साथ ही, उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि वे अपने गरीब भाइयो के प्रति अपने कर्तव्य को न भूले। वे लोग गरीबो के ट्रस्टी होकर रहे, दानी बने, यह उनका उपदेश होता था। इस प्रकार यह दान-पुण्य का एक मुख्य अँग हो गया। राजा-महाराजाओ, बडे-बडे ज़मींदारो और पूँजीपतियो के लिए गाधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा जोर देते रहते है। वे इस विषय मे उन अनेक धार्मिक पुरुषो की परम्परा पर चल रहे है, जो समय-समय पर यही कह गये है। पोप ने ऐलान किया है कि 'अमीरो को यही खयाल करना चाहिए कि वे सर्वशक्तिमान के ऐसे सेवक और उसकी सम्पत्ति के ऐ सरक्षक और बाँटनेवाले है, जिनके हाथ मे गरीबो का भाग्य ईसामसीह ने खुद सा रक्खा है।" जनसाधारण के हिन्दू-धर्म और इस्लाम मे भी यही खयाल मौजूद है वे हमेशा पैसेवालो से यह कहते रहते है कि दान-पुण्य करो, और पैसेवाले भी मन्दि या मस्जिद या धर्मशालाये बनवाकर या अपनी धन-दौलत मे से गरीबो को कु ताँबे-चाँदी के गोल-गोल टुकडे देकर उनका हुक्म बजा लाते है और यह सोच लगते है कि हम लोग बडे धर्मात्मा है।

तेरहवे पोप लियो ने मई १८९१ मे जो मशहूर धर्माज्ञा निकाली थी, उस पुरानी दुनिया का इस मजहबी रुख को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। पोप कहा था —

"इसीलिए इन्सान के भाग्य मे यही बदा है कि वह धीरज के साथ दुखो क सहन करता जाय। इन्सान चाहे जितनी कोशिश करे, उसकी जिन्दगी को ज बीमारियाँ और तकलीफे रात-दिन परेशान किये रहती है, उन्हे हटाने मे कोई भ ताकत या तदबीर कारगर नही हो सकती। अगर कोई शख्स ऐसे है जो कहते है कि यह बात नही है, और जो बुरी तरह दुखी लोगो को दुख और वेदना से छुटकारा य उनको शान्ति, आराम और हमेशा भोग की उम्मीद दिलाते है, तो वे लोगो क

सरासर धोखा देते है। और उनके ये झूठे वादे उन बुराइयो को दुगुना कर देनेवाले है। इससे ज्यादा फायदे की बात और कुछ नही है कि हम दुनिया को वैसी ही शक्ल मे देखे, जैसी कि वह है, और साथ ही दुनिया जिन तकलीफो मे फँसी हुई है उनके इलाज के लिए दूसरी जगह तलाश करे।"

इसके आगे हमे यह बताया गया है कि यह "दूसरी जगह" कहाँ है—

"जो जीवन आनेवाला है और जो जीवन शाश्वत है उसको ध्यान मे लाये बिना इस दुनिया को न तो हम अच्छी तरह समझ ही सकते है न उसकी कीमत ही आँक सकते है. प्रकृति से हम जिस बडी सचाई का सबक सीखते है वह ईसाई धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—यह कि वास्तव मे हमारे जीवन का आरभ इस लोक को पार करने के बाद ही होगा। ईश्वर ने हमे दुनिया मे अनित्य और क्षणभगुर चीजो के लिए नही पैदा किया है, बल्कि उन चीजो के लिए पैदा किया है जो दिव्य और नित्य है। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमे देश-निकाले की जगह की बतौर दी है, न कि हमारे अपने देश की तरह। रुपया और वे दूसरी चीजे जिन्हे लोग अच्छी और चाहनेलायक कहते है उनकी बहुतायत भी हो सकती है और अभाव भी हो सकता है—जहाँतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उनका होना न होना बराबर है . . ।"

यह मजहबी रुख उस प्राचीन काल से बँधा हुआ है जब मौजूदा मुसीबतो से बचने का एकमात्र रास्ता परलोक की शरण लेना था। यद्यपि तबसे लोगो की आर्थिक अवस्था मे कल्पनातीत उन्नति हो चुकी है, फिर भी उस गुजरे हुए जमाने की फाँसी हमारे गले मे पडी हुई है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातो पर जोर दिया जाता है जो गोल-मोल है और ऊटपटाग-सी है और जिनकी नापजोख नही हो सकती। कैथोलिक लोगो की निगाह बारहवी और तेरहवी सदी की तरफ दौडती है। दूसरे लोग जिसे अधकार-युग कहते है उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते है। जब साधुओ की भरमार थी, जब ईसाई राज धर्मयुद्धो के लिए कूच करते थे और गौथिक ढगो पर गिरजाघरो का निर्माण होता था, उनकी राय मे वह जमाना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का जमाना था। उन दिनो मध्यकालीन सघो के शासन मे उसकी इतनी उन्नति हुई जितनी न पहले हुई थी न फिर बाद मे। मुसलमानो की [illegible] की निगाह उस प्रारम्भकाल के खलीफाशाही की ओर दौडती है। उनकी दृष्टि मे इस्लामी लोकतन्त्र यही था, क्योकि उन खलीफाओ ने दूर-दूर देशो मे अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बाते [illegible] है और रामराज्य के सपने देखते है। फिर भी तमाम तवारीखे हमसे यह कहती है कि उन दिनो की अधिकाश जनता बडी मुसीबत मे रहती थी। उनके लिए तो

अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनो चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक आनन्द का उपभोग करते हो, क्योकि उनके पास उसके लिए फुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरो के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज पेट पालने मे दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होगे। जो शख्स भूखो मर रहा है, वह सास्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फिक्र मे लगा रहता है कि खाने का इन्तजाम कैसे हो?

उद्योग-धन्धो का ज़माना अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी नजरो के सामने घूमती रहती है। लेकिन हम भूल जाते है कि समस्त ससार और खासकर उन हिस्सो मे, जहा उद्योग-धन्धे बहुतायत मे छा गे है, इसने भोतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाल दी है, जो बहुजनसमाज के लि सास्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्ता मे या दूसरे ओपनिवेशिक देशो मे साफ ज़ाहिर नही दिखाई देती है, क्योकि हम लोगं ने उद्योगवाद से फायदा नही उठा पाया है। हम लोगो का तो उलटा उद्योगवाद शोषण किया है, और बहुत-सी बातो मे हमारी हालत माली निगाह मे भी पहले भी बदतर हो गई है—सास्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज्याद बुरी हो गई है। इस मामले मे कुसूर उद्योगवाद का नही, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान मे जो चीज़ पाश्चात्यकरण के नाम से पुकारी जाती है, उस कम-से-कम इस वक्त के लिए तो, असल मे, माण्डलिकशाही को और भी मजबूत क दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा क दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदकिस्मती की बात हुई। मगर इस भावना से ह आज की दुनिया को नही देखना चाहिए। क्योकि मोजूदा हालत मे तमाम समाज के लि या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो जरूरी ही रहे है, न वाञ्छनीय ही। अब वे फजूल हो गये है और हर वक्त हमारे रास्ते मे रोडे की तरह अटकते है और धर्माचार्यो के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नही रहे, कि धनवान लोग दान पुण्य करे और गरीब जिस हालत मे है उसीमे सतुष्ट रहे और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करे, मितव्ययी बने, और भले आदमियो की तरह रहे। अब तो मानव समाज के साधन प्रचुरता से बढ गये है, और वह सासारिक समस्याओ का सामना क उनका उपाय कर सकता है। ज्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरो के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते है, और समाज मे ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियो के मार्ग मे बाधा है वरन् उनका अपव्यय करते

वाला भी है। यह समाज और जो प्रणाली इस जमात को पैदा करती है वह वास्तव मे उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनो भागो के बेकारो को शह देती है, यानी उन लोगो को भी जो दूसरो की मेहनत पर चैन करते है और उनको भी जिनको कोई काम ही नही मिलता और जो इसीलिए भूखो मरते है। खुद गाधीजी ने कुछ वक्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखो मरनेवाले लोगो के लिए तो मज़दूरी और वेतन-रूपी भोजन का आश्वासन ही ईश्वर हो सकता है। ईश्वर ने अपने बन्दो को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खावे और उसने कह दिया था कि जो बिना कमाये खाते है वे चोर है।"

उनकी मिल्कियत के अधिकारो को सीमित कर दिया गया है। युद्ध के समय मे तो निजी सम्पत्ति के अधिकारो पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोडकर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैंक मे जमा की हुई और कर्ज के रूप मे दी गई पूँजी। ज्यो-ज्यो सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाजी करता जाता है और जनता की मांगो के फलस्वरूप सम्पत्तिवालो के अन्धाधुन्ध अधिकारो को सीमित कर देता है। सभी प्रकार के भारी-भारी टैक्स, जो एक प्रकार की जब्ती है, सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारो का अपहरण-मात्र है। सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक नही है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारो की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले ज़माने मे भी ज्यादातर लोगो के कोई साम्पत्तिक अधिकार नही थे, वे खुद भी दूसरो की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगो को ये हक हासिल है। स्थापित स्वार्थो की बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह स्वार्थ यह है कि हर औरत और मर्द को यह हक है कि वह जिन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के [illegible]ो का उपभोग करे। सिर्फ इन बदलती रहनेवाली धारणाओ के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति लोप नही हो जाती, बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया है, मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोडे ही लोगो के पास केन्द्रित हो जाने से इन लोगो को दूसरो पर जो अधिकार प्राप्त हो गया था वह फिर सारे समाज के हाथो [illegible] वापस ले लिया जाता है।

गाधीजी लोगो का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते है और [illegible] सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते है। वह चाहते है कि [illegible] आदते छोड दे, इन्द्रियो के भोगो को तिलाञ्जलि दे दे और पवित्र बन जायँ।

वह इस बात पर जोर देते है कि लोग ब्रह्मचर्य से रहे, नशा न करे, न सिगरेट वगैरा पीवे। इस मामले मे लोगो मे मतभेद हो सकता है कि इन भोगो मे से कौन-सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम। लेकिन क्या इस बात मे किसीको शक हो सकता है कि ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ व्यक्तिगत दृष्टि मे भी और सामाजिक दृष्टि मे तो और भी कम अधिक हानिकारक है—बनिस्बत लालच, खुदगर्जी, परिग्रह, जाती फायदे के लिए व्यक्तियो के भयानक लडाई-झगडे, जमातो और फिरको के क्रूर सघर्ष, एक जमात द्वारा दूसरी जमात के अमानुषिक शोषण और दमन व राष्ट्रो की आपस की भयानक लडाइयो के? यह सच है कि गाँधीजी इन तमाम हिंसा और पतनकारी सघर्ष मे नफरत करते है। लेकिन क्या ये सब बाते आजकल के स्वार्थी पूँजीपति समाज मे स्वाभाविक रूप मे मौजूद नही है, जिसका कानून यह है कि बलवान लोगो को कमज़ोरो का शिकार करना चाहिए, और पुराने ज़माने की तरह जिसक मूलमन्त्र यह है कि "जिनके बाजुओ मे ताकत है वे जो चाहे सो लेले और जो र सकते है वे जो चाहे अपने पास रखे?" इस युग की मुनाफे की भावना का लाज़िम परिणाम सघर्ष होता है। यह सारी प्रणाली मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तिय का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमे सन्दे नही कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओ को भी शह मिलती है, लेकिन इनक अपेक्षा उसकी हीन वृत्तियो को कही अधिक पोषण मिलता है। इस प्रणाली कामयाबी के मानी है दूसरो को नीचे गिरा देना और गिरे हुओ पर चढ बैठना अगर समाज इन उद्देश्यो और महत्त्वाकाक्षाओ को प्रोत्साहित करता है और इन्हीं तरफ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते है, तो क्या गाधीजी यह समझते है ऐसे वातावरण मे वह अपने मानव-समाज को सदाचारी बनाने के आदर्श को पूरा क सकेगे? वह जनता को सेवाभावमय बनाना चाहते है। सम्भव है, कुछ व्यक्तियो बनाने मे उन्हे कामयाबी भी मिल जाय, लेकिन जबतक समाज स्वार्थी शोषक समाज के शूरमाओ को लोगो के सामने आदर्श के रूप मे अपने सामने रक्खेगा आ जबतक व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी तबतक बहुजन समाज तो इसी मार्ग पर चलता रहेगा।

लेकिन यह मसला तो अब महज सदाचार या नीति के वादविवाद का नहीं है यह तो आजकल का एक बहुत ज़रूरी मसला है, क्योंकि दुनिया ऐसे दलदल मे फँ गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नही। उसे उससे निकालने के लिए कोई-न कोई रास्ता ढूँढना ही होगा। मिकावर[१] की तरह हम इस बात का इन्तजार नहीं क

१. मिकावर, विल्किन्स, श्री चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कापरफ़ील्ड' नाम

नकते कि कुछ-न-कुछ अपने-आप हो जायगा। न तो पूजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म आदि के बुरे पहलुओ की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई प्रणालियो मे की चुनी हुई सर्वोत्कृष्ट बातो को एक जगह मिला देगा, कुछ काम नही चलेगा। बीमारी का निदान करना होगा, उसका इलाज मालूम करना होगा, और उसे काम मे लाना पडेगा। यह बिलकुल निश्चित है कि हम जहाँ है वहाँ-के-वही खडे नही रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते हो सकते हैं, या तो पीछे हटे या आगे बढे। लेकिन शायद इस बात मे हम स्वतन्त्र भी नही है, क्योकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नही की जा सकती।

फिर भी गाधीजी की बहुत-सी कार्रवाइयो से कोई भी यह सोच सकता है कि उनका ध्येय तो स्वाश्रयी व्यवस्था को फिर से ले आना है। न केवल राष्ट्र बल्कि गाँव तक को स्वाश्रयी बना देना है। प्राचीन काल के प्रारम्भिक समाजो मे गाँव कम या स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपड़े और अपनी जरूरतो के रे सामान गाँव मे पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी ये है कि लोग बहुत गरीबी के ढग से रहते होगे। मै यह नही समझता कि गाधीजी हमेशा के लिए ो लक्ष्य बनाये रखना चाहते है, क्योकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत जिन मुल्को की आबादिया बहुत बढी हुई है, वे तो जिन्दा ही नही रह सकते। ।लिए वे इस बात को बरदाश्त नही करेगे कि इस कष्टमय और भूखो मरने की यति की ओर लौटा जाय। मेरा खयाल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश मे, हा कि रहन-सहन का पैमाना बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगो को तरक्की देकर वहाँ ा जनता के पैमाने को कुछ ऊँचा कर सकते है। लेकिन हम लोग बाकी दुनिया से सी तरह बधे हुए है जैसे दूसरे मुल्क बधे हुए है, और मुझे यह बात बिलकुल रमुमकिन मालूम देती है कि हम उनसे अलग होकर रह सके। इसलिए हमे सब ातो को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर कुचित स्वाश्रयी व्यवस्था की कल्पना ही नही हो सकती। जाती तौर पर मै तो उसे सब दृष्टियो से अवाञ्छनीय समझता हूँ।

लाज़िमी तौर पर हमारे पास सिर्फ एक ही हल मुमकिन रह जाता है और वह

[illegible] का एक मशहूर पात्र है, जिसकी उदासीनता और प्रसन्नता क्षण-क्षण में एक-[illegible] का स्थान लेती रहती थी, जो बड़ा अदूरदर्शी और इसलिए हमेशा मुसीबतों [illegible] रहता था, और जो सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप [illegible] होने ही वाला है।

है एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले राष्ट्रीय सभाओं के अन्दर कायम होगी, फिर कालान्तर में तमाम दुनिया में। इस व्यवस्था में उत्पादन और सम्पत्ति का बटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथों में होगा। यह कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ है कि महज इस खयाल से कि जिन थोड़े-से लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुँचता है वे उसे बदलने में ऐतराज करते हैं, हमें अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई के काम को नहीं रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक संस्थायें ऐसी तबदीली के रास्ते में अड़चन डालती हैं, तो उन संस्थाओं को मिटाना होगा। उस वाञ्छनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलाजली देकर इन संस्थाओं से समझौता करना बहुत बुरा विश्वासघात होगा। दुनिया की हालतें इस तबदीली के लिए कुछ हद तक मजबूर और इसकी रफ्तार को तेज कर सकती हैं। लेकिन पूरे तौर से तो वह तबतक मुश्किल से ही हो सकती है जबतक जिन लोगों का उसमें फायदा उनमें से बहुत बड़ी तादाद उसे अपनी खुशी से न चाहे और न मजूर करे। इसीलि इस बात की जरूरत है कि उनको समझा-बुझाकर इस तबदीली के पक्ष में कर लि जाय। मुट्ठीभर लोगों का षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नहीं चलेगा कुदरतन कोशिश तो इस बात की की जानी चाहिए कि जिन लोगों को मौजू व्यवस्था से फायदा पहुँचता है वे भी हमारे साथ हो जायँ, लेकिन यह बात मुमकि नहीं मालूम होती कि उनमें का अधिकांश कभी हमारी तरफ हो सकेगा।

गाधीजी के खास तौर पर प्रिय खादी-आन्दोलन से उत्पत्ति के काम व्यक्तिवाद और भी गहरा होता है और इस तरह वह हमें औद्योगिक जम से पीछे फेंक देता है। आजकल के किसी भी बड़े मसले को हल करने के लिहाज तो आप उसपर बहुत भरोसा कर ही नहीं सकते। इसके अलावा उससे एक ऐ मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ बढ़ने देने में अड़चन साबित सकती है। फिर भी, मैं मानता हूँ कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फाय पहुँचाया और भविष्य में भी कुछ समय के लिए और लाभदायक हो सकता है, उ वक्त तक के लिए जबतक कि सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि औ उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने के काम को ख अपने हाथ में नहीं लेलेती। हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा बेकारी है जिसका कहीं को हिसाब ही नहीं है, और देहाती क्षेत्रों में तो आंशिक बेकारी इससे भी कहीं ज्याद है। सरकार की तरफ से इस बेकारी का मुकाबिला करने के लिए कोई कोशिश नहीं की गई है, न उसने बेकारों को किसी किस्म की मदद देने की ही कोशिश की है

ार्थिक दृष्टि से खादी ने उन लोगो को कुछ थोडी-सी मदद जरूर दी है, जो बिलकुल ा कुछ हद तक बेकार थे, और क्योकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनकी अपनी ोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढाया है और उनमे स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे ज्यादा अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादी ने शहरवालो और गाँववालो के बीच की खाई को पाटने की कोशिश मे कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो और किसानो को एक-दूसरे के नजदीक पहुँचाया है। कपडो के पहननेवालो और देखनेवालो दोनो के ही मन पर बहुत असर पडता है। इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगो ने सफेद खादी की सादी पोशाक पहनना शुरू किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि सादगी बढी, पोशाक की दिखावट और उसका गवारूपन कम हो गया, और आम लोगो के साथ एकता का भाव बढा। इसके बाद जो लोग मध्यमवर्ग मे भी नीची श्रेणी के थे, उन्होने कपडो के मामलो मे अमीर लोगो की नकल करना छोड दिया और खुद सादी पोशाक पहनने मे किसी किस्म की बेइज्जती समझना भी छोड दिया। सच बात तो यह है कि जो लोग अब भी रेशम और मलमल दिखाते फिरते थे, खादी पहननेवाले उनसे अपनेको ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊँचा समझने लगे। गरीब-से-गरीब आदमी भी खादी पहनकर आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ बहुत-से खादी-धारी लोग जमा हो जाते थे, वहाँ यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमे कौन अमीर है और कौन गरीब और इन लोगो मे साथीपन का भाव पैदा हो जाता था। इसमे कोई शक नही कि खादी ने कॉंग्रेस को जनता के पास पहुँचने म मदद दी। वह कौमी आजादी की वर्दी हो गई।

इसके अलावा, हिन्दुस्तान के कपडे की मिलो के मालिको मे अपनी मिलो के कपडो की कीमत बढाते जाने की जो प्रवृत्ति हमेशा पाई जाती थी उसको भी खादी ने रोका। पुराने जमाने मे तो हिन्दुस्तान की इन मिलो के मालिको को सिर्फ एक ही ीज कीमते बढाने मे रोकता था, और वह था, विलायती खासतौर पर लकाशायर, के कपडो की कीमतो का मुकाबिला। जब कभी यह मुकाबिला बन्द हो गया, जैसाकि ि व्यापी महायुद्ध के जमाने मे हुआ था, तभी हिन्दुस्तान मे कपडो की कीमत बेहद ट गई और हिन्दुस्तान की मिलो ने मुनाफे मे भारी रकमे कमाई। इसके बाद ी की हलचल और विलायती कपडो के बहिष्कार के पक्ष मे जो आन्दोलन हुआ ने इन मिलो को बहुत बडी मदद पहुँचाई, लेकिन जबसे खादी मुकाबिले पर ा सबसे बिलकुल दूसरी बात हो गई और मिलो के कपडो की कीमते उतनी

न बढ सकी जितनी वे खादी के न होने पर बढती। बल्कि सच बात तो यह है कि उन मिलो ने (साथ ही जापान ने भी) लोगो की खादी की भावना मे नाजायज फायदा उठाया—उन्होने ऐसा मोटा कपडा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपडे से भेद करना मुश्किल हो गया। युद्ध की-सी कोई दूसरी ऐसी गैर-मामूली हालत पैदा हो जाने पर, जिसमे विलायती कपडे का हिन्दुस्तान मे आना बन्द हो जाय, हिन्दुस्तानी मिलो के मालिको के लिए कपडो की खरीदार पब्लिक से अब उतना फायदा उठा सकना मुमकिन नही है जितना कि १९१४ से बाद तक उठाया गया। खादी का आन्दोलन उन्हे ऐसा करने से रोकेगा और खादी के संगठ मे इतनी ताकत है कि वह थोडे ही दिनो मे अपना काम बढा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान मे खादी के धन्धे के इन सब फायदो के होते हुए भी मुझे मालूम होता है कि वह संक्रमण-काल की ही वस्तु हो सकती है। मुमकिन है कि इस काल के गुजर जाने के बाद भी वह एक सहायक धन्धे की तरह चलती रहे जिससे कि आर्थिक उच्च व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था कायम होने मे मदद मिले लेकिन अब आगे तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्त्तमान व्यवस्था मे आमूल परिवर्त्तन करके औद्योगिक धन्धो के प्रसार मे लगेगी। कृषि अथवा भूमि-सम्बन्धी समस्याओ के साथ खिलवाड करने से और उन अगणित सरकारी कमीशनो से, जो लाखो रुपये खर्च करने के बाद सिर्फ ऊपरी ढाचो मे चुट-पुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीजे करते है, जरा भी लाभ नही होगा। हमारे यहाँ जो भूमि-प्रणाली जारी है वह हमारी आँखो के सामने ढहती जा रही है और वह पैदावार के लिए, बटवारे के लिए, और माकूल व बडे पैमाने पर किये जानेवाले कृषि-प्रयोगो के लिए एक अड़चन साबित हो रही है। इस प्रथा मे आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खित्तो की जगह संगठित, सामूहिक और सहयोगी कृषि-प्रणाली जारी करके ही थोडे परिश्रम से ज्यादा पैदावार करके हम मौजूदा हालत का मुकाबिला कर सकते है। यह ठीक है कि, जैसा गाधीजी को डर है, बडे पैमाने पर काम कराने से खेती का काम करनेवालो की तादाद कम हो जायगी, लेकिन खेती का काम ऐसा नही है कि उसमे हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायँगे या लग ही सकेगे। बाकी के दूसरे लोगो को सम्भव है कि कुछ हद तक तो छोटे पैमाने पर किये जानेवाले धन्धो मे जुटना पडे लेकिन ज्यादातर लोगो को तो खास तौर पर बडे पैमाने पर किये जानेवाले समाजीकृत काम-धन्धो और समाजहित के कामो मे लगना होगा।

यह सच है कि कुछ हलको मे खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी मे ही एक खतरा भी छिपा हुआ है। वह यहाँ की जीर्ण-शीर्ण भूमि-

प्रथा को पोषण दे रही है और उस हद तक उसकी जगह एक उन्नत प्रथा के आने देर लगा रही है। यह ज़रूर है कि खादी का यह असर इतना काफी ज्यादा नहीं कि उससे कोई खास फर्क पडे, लेकिन वह प्रवृत्ति जरूर मोजूद है। किसान या छोटे किसान-जमीदार को उसके खेतो की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफी भी नही रहा कि जिससे वह उसके जरिये अपनी बहुत नीचे गिरी हुई हालत मे से भी अपना गुजारा करले, जिसपर कि वह पहुँच गया है। अपनी तुच्छ आय बढाने के लिए उसे बाहरी साधनो का सहारा लेना पडता है, या जैसा कि वह आम तोर पर करता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुजारी अदा करने के लिए और भी ज्यादा कर्ज मे फँसना पडता है। इस तरह किसान को खादी वगैरा से जो जायद आमदनी होती है उससे सरकार या जमीदार को अपना हिस्सा वसूल करने मे मदद मिलती है, जो उसके अभाव मे नही मिलती। और अगर यह जायद आमदनी बहुत काफी होती, तो यह भी मुमकिन हो सकता था कि कुछ दिनो बाद लगान इतना बढ जाय कि वह इसे भी हडप जाता। मौजूदा प्रथा मे काश्तकार जितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज्यादा किफायतशारी करने की कोशिश करेगा, आखिर मे जमीदार को उतना ही ज्यादा फायदा पहुँचेगा। जहाँतक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'तरक्की ओर गरीबी' (Progress and Poverty) नाम की किताब मे इस मामले को, खास तौर पर आयर्लैण्ड की मिसाले दे-देकर, अच्छी तरह समझाया है।

गाँवो के धन्धो का पुनरुद्धार करने की गाधीजी जो कोशिश कर रहे है वह उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ होगा—कुछ अश मे तो स्थायी, और शेष अधिकाश थोडे दिनो के लिए। वह गाँववालो की उनकी मौजूदा मुसीबत मे मदद करेगा और कुछ ऐसे सास्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी गुणो को, जिनके नष्ट हो जाने की आशका थी, फिर से जिन्दा कर देगा। लेकिन जिस हद तक यह कोशिश मशीनो के और उद्योगवाद के खिलाफ बगावत है, वहाँतक उसे कामयाबी नही मिलेगी। हाल ही मे 'हरिजन' मे गाँव के धन्धो के बारे मे गाधीजी ने लिखा है—"मशीनो से उस वक्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते है उसे पूरा करने के लिए काम करनेवाले बहुत कम हो। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान मे है, अगर काम के लिए जितने आदमियो की जरूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हो तो, मशीनो से काम लेना बुरा है। हम लोगो के सामने यह सवाल नहीं है कि हम गाँव के रहनेवाले करोडो लोगो को काम से छुट्टी या फुर्सत किस तरह दे। हमारे सामने जो मसला है, वह तो यह है, कि हम उनके उन बेकारी के

घण्टों का किस तरह इस्तेमाल करें जिनकी तादाद साल में काम के छ महीनों के बराबर है।" लेकिन यह ऐतराज तो थोडी-बहुत मात्रा में उन सब मुल्कों के लिए लागू होता है जो बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए हैं। लेकिन सचमुच खराबी यह नहीं है कि लोगों के करने के लिए काम नहीं है, वह तो यह है कि मौजूदा पूंजीपति-प्रणाली में अब अधिक लोगों को काम में लगाना लाभकर नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सडकों का बनाना, सिंचाई का इन्तजाम करना, सफाई और दवादारू की सहूलियतों को फैलाना, धन्धों का, बिजली का, सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का और तालीम का प्रसार करना और लोगों के पास जिन बीसियों जरूरी चीजों की कमी है उनका इन्तजाम करना। हमारे करोडों भाई अगले पचास साल तक इन कामों में बराबर मेहनत करके भी उन्हें खत्म न कर पायेंगे और लोगों को काम मिलते रहेंगे। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक शक्ति समाज की तरक्की करना हो, न कि मुनाफे की वृत्ति, और जबकि समाज इन बातों का सगठन आम लोगों की भलाई के लिए करे। रूस की सोवियट यूनियन में और चाहे जितनी खामियां हों, लेकिन वहां एक भी आदमी बेकार नहीं है। हमारे भाई इसलिए बेकार नहीं हैं, कि उनके लिए कोई काम नहीं है, बल्कि इसलिए बेकार हैं, क्योंकि उनके लिए काम के और सांस्कृतिक तरक्की के वास्ते किसी किस्म की सहूलियतें नहीं हैं। अगर बच्चों से मजदूरी कराना कानूनन रोक दिया जाय, एक माकूल उम्र तक हरेक के लिए पढना लाजिमी कर दिया जाय, तो मजदूरों और बेकारों की तादाद में से इन लडके और लडकियों की कमी हो जायगी और मजदूरों के बाजार में से करोडों भावी मजदूरों का बोझ हलका हो जायगा।

गांधीजी ने चर्खे और तकली में और उनके चलाने की ताकत को बढाने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है, लेकिन यह कोशिश तो औजार और मशीन में तरक्की करने की कोशिश है, और अगर तरक्की जारी रही (और तरक्की की बात तो यह है कि यह बात भी कयास से बाहर नहीं है कि घरेलू धन्धे भी बिजली से चलाये जाने लगें), तो मुनाफे की भावना फिर आ घुसेगी और उससे वे अलामात, जो बहुत पैदावार और बेकारी के नाम से पुकारे जाते हैं, पैदा हो जायंगे। जबतक हम गांव के धन्धों को किसी आजकल की औद्योगिक यन्त्रकला के साथ नहीं मिलायेंगे तबतक तो हम आज जिन भौतिक और सांस्कृतिक चीजों की लाजिमी तौर पर हमें जरूरत है उन्हें भी पैदा नहीं कर सकेंगे। फिर ये धन्धे मशीन का मुकाबिला नहीं कर सकते। क्या हमारे लिए ऐसा करना ठीक होगा, या हम उसे कर भी सकेंगे,

हम अपने मुल्क मे बडे पैमाने पर काम करनेवाली मशीनो को अपना काम करने से रोक दे? गाधीजी ने बारबार यह कहा है कि वह मशीन के रूप मे मशीन के खिलाफ नही है। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते है कि आज हिन्दुस्तान मे उनके लिए कोई जगह नही है। लेकिन क्या हम बुनियादी धन्धो को—जैसे लोहे और इसपात को या इनसे हलके उन धन्धो को भी जो पहले से मौजूद है—समेटकर वन्द कर सकते है?

साफ जाहिर है कि हम ऐसा नही कर सकते। अगर हमारे यहाँ रेल, पुल, आवागमन की सहूलियते वगैरा रहे, तो या तो हमे खुद ये चीजे बनानी पडेगी या दूसरो पर निर्भर रहना होगा। अगर हमे अपने मुल्क की हिफाजत के जरिये अपने पास रखने है, तब तो हमे न सिर्फ बुनियादी धन्धे ही जारी रखने पडेगे बल्कि बहुत ज्यादा बढी हुई औद्योगिक प्रणाली भी कायम रखनी पडेगी। इन दिनो तो कोई भी मुल्क उस वक्त तक असल मे आजाद नही है, और न वह दूसरे मुल्क के हमले का मुकाबिला ही कर सकता है, जबतक कि औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो। एक बुनियादी धन्धे को इस बात की जरूरत रहती है कि उसकी मदद के लिए दूसरा बुनियादी धन्धा जारी किया जाय, जो उसके काम को पूरा करदे, और अन्त मे हमे खुद मशीने बनाने का धन्धा भी जारी करना पडेगा। जब ये तमाम बुनियादी धन्धे चलेगे, तब यह लाजिमी हो जायगा कि छोटे धन्धे भी फैले। इस प्रक्रिया को कोई रोक नही सकता, क्योकि उससे न सिर्फ हमारी भौतिक और सास्कृतिक तरक्की ही बधी हुई है बल्कि हमारी आजादी भी उसीपर मुनहसिर है। और बडे धन्धे जितने ज्यादा फैलेगे, छोटे पैमानो पर किये जानेवाले गाँवो के धन्धे उनका मुकाबिला उतना ही कम कर सकेगे। समाजवादी प्रणाली मे उनके बचने की थोडी-बहुत गुजाइश भी हो सकती है, लेकिन पूँजीवादी प्रणाली मे तो उन्हे कोई मौका नही मिल सकता, और समाजवाद मे भी वे घरेलू धन्धो के रूप मे उसी हालत मे बच सकते है, जब वे खास तौर पर ऐसा माल तैयार करे, जो बहुत बडे पैमाने पर तैयार नही किया जाता।

कांग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते है। उनका खयाल है कि उद्योग-प्रधान देशो की मौजूदा मुश्किले बहुत बडे पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई है। लेकिन यह तो स्थिति की बावत बहुत ही गलत खयाल है।[१] अगर आम

[१] जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में बोलते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद गाँव के धन्धे को तरक्की देने मे है। हम यह नही चाहते कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी मुल्कों में जो बुराइयाँ पैदा हो गई है उन्हे हम अपने यहाँ भी बुलावे।"

लोगो के पास किसी चीज की कमी है, तो उस चीज को उनके लिए काफी तादाद म तैयार करना क्या कोई बुरी बात है ? क्या उनके लिए यही बेहतर है कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने के बजाय उस चीज़ के बिना ही वे अपना काम चलाये ? साफ जाहिर है कि कुसूर इस तरह माल तैयार करने का नही है, बल्कि तैयार हुए माल का बटवारा करनेवाली प्रणाली की बेहूदगी और अयोग्यता का है ।

गाँवो के धन्धो की तरक्की करनेवालो को जिस दूसरी मुश्किल का सामना करना है, वह यह है कि हमारी खेती दुनिया के बाज़ार पर मुनहसिर है । इसकी वजह से मजबूरन किसानो को ऐसी फसल बोनी पडती है जिसके दाम अच्छे मिले और दामो के लिए उन्हे दुनिया के प्रचलित भावो पर निर्भर रहना पडता है । लेकिन जबकि ये भाव बदलते रहते है तब भी बेचारे किसान को अपना लगान या मालगुजारी नगदनाराण के रूप मे देनी पडती है । किसी-न-किसी तरह उसे यह रुपया लाना पडता है, या हर हालत मे वह रुपया भरने की कोशिश करता है, और इसीलिए वह वही फसल बोता है जिसकी वह समझता है कि मुझे ज्यादा-से-ज्यादा कीमत मिलेगी। वह तो इतना भी नही कर सकता कि कम-से-कम अपने और अपने बाल-बच्चो को खिलाने के लिए जितने अनाज की उसे जरूरत है उतना तो खुद अपने खेत म पैदा करले ।

इन सालो मे खाद्यपदार्थो मे से ज्यादातर अनाजो और दूसरी चीज़ो की कीमत एकदम गिर गई, तो नतीजा यह हुआ कि लाखो किसान, खास तौर पर युक्तप्रान्त और बिहार के, ईख की खेती करने लगे । सरकार ने विलायती शक्कर पर जो चुँगी लगादी है उसकी बदौलत बरसाती मेढको की तरह शक्कर के कारखाने खुल गये और गन्ने की माँग बहुत बढ गई । लेकिन इस माँग को पूरा करने के लिए लोगो ने जितना गन्ना पैदा किया वह फौरन ही माँग से बहुत ज्यादा बढ गया । नतीजा यह हुआ कि कारखानो के मालिको ने बेरहमी के साथ किसानो से नाजायज़ फायदा उठाया और गन्ने की कीमत गिर गई ।

इन चन्द वजूहात और इनके अलावा और भी बहुत-सी बातो से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याओ को किसी तरह स्वाश्रयी प्रणाली के तरीके पर न तो हल कर सकते है और न करना ठीक ही होगा । निस्सन्देह, हमारी जिन्दगी के हर पहलू से इनका ताल्लुक है । हम लोग अस्पष्ट और भावुकतामय वाक्यो के पीछे छिपकर अपनी जान नही बचा सकते । हमे तो इन तथ्यो का सामना करना होगा और अपनेको उनके माफिक बनाना पडेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जायँ ।

फिर मुझे उसी महान् समस्या—गांधीजी—का खयाल आता है।' समझ में नहीं आता कि इतनी तीव्र-बुद्धि और पददलित और पीड़ितों की हालत सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस प्रणाली का क्यों समर्थन करते हैं, जो इस तमाम पीड़ा और बरबादी को पैदा कर रही है और स्पष्टतः जो अपने-आप नष्ट हो रही है। यह सच है कि वह लोगों को मुसीबत से बचाने का रास्ता ढूँढ रहे हैं। लेकिन क्या पुराने ज़माने का वह रास्ता अब बन्द नहीं हो गया है? वह पुरानी व्यवस्था के स्मारक-स्वरूप "उन सब चीजों को आशीर्वाद देते जाते हैं जो तरक्की के रास्ते में रोड़े बनकर अटकी हुई हैं—जैसे माण्डलिक रियासतें, बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ और ताल्लुकेदारियाँ और मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल में इत्मीनान करना माकूल बात है? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहों आने सार्वजनिक की भलाई के लिए करेगा? क्या हममें से अच्छे लोग भी इतने सम्पूर्ण हैं कि उनके ऊपर इस हद तक भरोसा किया जा सके? इस बोझ को तो प्लेटो की कल्पना के दार्शनिक बादशाह भी योग्यतापूर्वक नहीं उठा सकते। क्या दूसरों के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार दैवी पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार करलें? फिर ऐसे दैवी पुरुष या दार्शनिक बादशाह हैं कहाँ? यहाँ तो सिर्फ मामूली इन्सान भर हैं, जो हमेशा यह सोचा करते हैं कि हमारी अपनी भलाई ही, हमारे अपने विचारों का प्रचार ही, सार्वजनिक हित के समान है। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेखी स्थायी हो जाती है और उसका परिणाम कई तरह से भयानक ही होता है।

मैं इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि इस वक्त मैं यह नहीं सोच रहा कि

¹ सन् १९३१ में, लन्दन की दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"सबसे ऊपर तो असल में कॉंग्रेस उन करोड़ों मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फैले हुए हैं—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत में रहते हों या देशी रियासतों में, जिन्हें 'भारतीय-भारत' के नाम से पुकारा जाता है। इसलिए कॉंग्रेस की राय में प्रत्येक हित, जो रक्षा के योग्य है, इन करोड़ों प्राणियों के हित का साधक होना चाहिए। आप समय-समय पर विभिन्न हितों में विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कॉंग्रेस की तरफ़ से यह कहने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाता कि कॉंग्रेस इन करोड़ों मूक प्राणियों के भले के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

यह परिवर्त्तन किस तरह किया जाय, हमारे रास्ते मे जो रोडे है उन्हे किस तरह हटाया जाय ? समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्त्तन के प्रेम-भाव मे या जबर्दस्ती से, अहिसा से या हिसा से ? इस पहलू पर तो बाद को विचार करूंगा। लेकिन यह बात तो मान ही लेनी और साफ कर दी जानी चाहिए कि परिवर्त्तन आवश्यक है। क्योकि यदि नेता और विचारक खुद ही इस बात को साफ तौर पर अनुभव न करे और न कहे, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते है कि वे किसीको अपने खयाल का बना लेगे या लोगो मे वाञ्छित विचार-धारा फैला सकेगे ? इसमे कोई शक नही कि सबसे ज्यादा शिक्षा तो हमे घटनाओ से मिलती है, लेकिन घटनाओ का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह जरूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझे और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करे।

मेरे जो दोस्त और साथी प्राय मेरे भाषणो से चिढे है, उन्होंने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है, कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, जमींदार अ शुभ-चिन्तक, भलामानुप पूजीपति कभी नही मिला ? निस्सन्देह मुझे ऐसे आद मिले है। मै खुद उस श्रेणी के लोगो मे से हूँ, जो इन जमींदारो और पूँजीपति से मिलते-जुलते रहते है। मै तो खुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूं, जिसका लालन-पा भी बुर्जुओ-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलो-दिमाग मे भले-बुरे सस्कार भर दिये वे सब मुझमे मौजूद है। कम्यूनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जु कहते है और उनका यह कहना सोलहो आने सही है। शायद अब वे अनुतप्त बुर्जुआ कहेगे। लेकिन मै क्या हूँ और क्या नही, यह सवाल ही न है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलो को कुछ इने-गिने व्यक्ति की निगाह से देखना बेहूदगी है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवालात करते है, कहते कभी नही थकते कि हमारी लडाई पाप से है, पापी से नही। मै तो हद तक भी नही जाता। मै तो यह कहता हूँ कि व्यक्तियो से मेरा कोई झगडा न मेरा झगड़ा तो प्रणालियो से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हदतक व्यक्ति और समूहो मे ही मूर्त्तिमान होती है, और इन व्यक्तियो और समूहो को हमे या अपने खयाल का कर लेना पडेगा या उनसे लडना पडेगा। लेकिन अगर कोई प्रणा किसी काम की न रही हो और भार-स्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पडे और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए है उन्हे भी बदलना पडेगा। परिवर्तन इस क्रिया मे यथासम्भव कम-से-कम तकलीफ होनी चाहिए, लेकिन बदकिस्मती कुछ कष्ट और कुछ गडबड़ी का होना तो लाजिमी भी है। किसी दूसरी कम बुराई डर की वजह से ही बहुत बडी बुराई को बरदाश्त नही किया जा सकता, बा

म वक्त, जब कि कुछ थोडी-सी बुराई से भी बच जाना हमारी ताकत से बाहर । हर तरह के मानव-सगठन —राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक—की अपनी-पनी कोई विचार-सरणि होती है। जब इन सगठनो मे कोई हेरफेर हो तो स विचार-सरणि को उसके अनुकूल बनने और उसका पूरा फायदा उठा लेने के लिए उसके अनुसार हेरफेर कर देना चाहिए। आम तौर पर घटनाये इतनी तेजी बढती है कि विचारादर्श पीछे पिछड जाता है और यह अन्तर ही इन सब मुसीबतो की जड है। लोकतन्त्र और पूँजीवाद दोनो ही १९वी सदी मे पैदा हुए, लेकिन एक-दूसरे के अनुकूल नही थे। उन दोनो मे बुनियादी भेद था। क्योकि लोकतन्त्र ज्यादा लोगो की ताकत पर जोर देता था, जबकि पूजीवाद से असली ताकत थोडे से लोगो के हाथ मे रहती थी। यह बेमेल जोडा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र खुद एक अत्यन्त सकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीकरण की वृद्धि रोकने मे उसने कोई खास हस्तक्षेप नही किया।

फिर भी ज्यो-ज्यो लोकतन्त्र की भावना बढती गई, इन दोनो का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गया और अब उसका वक्त आ गया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम हो गई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब किस्म के नये-नये नारे सुनाई पड रहे है। उसीकी वजह से हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी हो गई है, और इससे राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बाते तक रोक देने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरकुशता को उचित ठहराते है और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का ज़ोरो से ऐलान करते है जो कि दुनिया मे अब और कही नही पाई जाती।[1] लेकिन पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र मे जो त्रुटि या खामी है वह यह नही है कि वह बहुत आगे बढ गया है, बल्कि यह

[1] २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमण्डल के चान्सलर महाराजा पटियाला ने मण्डल में बोलते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का ज़िक्र किया था। जो इस आशा से सघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियां देशी नरेशों को अपने यहाँ प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"... कि हिन्दुस्तान के राजा लोग हमेशा उन कामों को करने के लिए राजी रहे हैं जो उनकी प्रजा के लिए सर्वोत्तम हैं, और आगे भी वे समय की रफ्तार के मुताबिक अपने-अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे, तब हमें यह भी साफ़-साफ़ कह देना है कि अगर ब्रिटिश भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के

है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हदतक आगे नहीं बढ़ा है। वह काफी लोकतन्त्रीय नहीं है, क्योंकि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीके ऐसे धीमे और उलझन-भरे हैं कि वे तेज रफ्तार से जानेवाले जमाने के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस समय सारे संसार में जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासतें उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक हैं। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के अधीन हैं लेकिन ब्रिटिश सरकार महज ब्रिटिश स्वार्थों की हिफाजत के लिए या उनकी तरक्की के लिए ही दस्तन्दाजी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने जमाने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ़ किस प्रकार इस बीसवीं सदी के ठीक मध्य में इतनी थोड़ी तबदीली के साथ टिके हुए हैं। वहाँ का वातावरण गलाघोंटू और स्तब्ध है। वहाँ की गति बहुत धीमी है और परिवर्तन और संघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागन्तुक वहाँ पहुँचने पर बेहोशी-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा सम्मोहन उसपर गालिब हो जाता है। यह सब एक ऐसे चित्र-सा अस्वाभाविक मालूम होता है, जहाँ समय स्तब्ध खड़ा रहता है और अपरिवर्तनीय दृश्य आँखों के सामने दिखाई देते हैं। सर्वथा अज्ञान-भाव से कोई भूतकाल और अपने बचपन के स्वप्नों की ओर बह जाता है, और कटिबद्ध रू

लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने तन्दुरुस्त राजनैतिक जिस्म पर एक बदनाम राजनैतिक उसूल की जहरीले रंग से रंगी हुई कमीज़ पहन लेंगे तो वह ख्वाबों की दुनिया में रह रहा है।" (इस सिलसिले में पृष्ठ ६०७ पर मैसूर—दीवान के भाषण का अंश भी देखिए) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में बोलते हुए बीकानेर के महाराजा ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूँ कि हम जो सैकड़ों साल की वंश परम्परा के आधार पर यह दावा कर सकते हैं कि हमने राज करने का सहज ज्ञान और, मुझे विश्वास है कि, कुछ अंशों में राजदक्षता भी विरासत में पाई है, उन्हें इस बात का पूरा-पूरा खयाल रखना चाहिए कि हम इस बात की हिफाजत करें कि हम जल्दबाजी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न ढकेल दिये जायँ। और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूँ, कि राजा लोग अपनेको किसीके हाथों बरबाद हो जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं, और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जबकि सम्राट देशी राज्यों की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तर-दायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायँ, तो नरेश और देशी राज्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आखिरी दमतक लड़ते-लड़ते मर जायँगे।"

सज्जित सूरमा और सुन्दर तथा वीर कुमारियो के और बुर्जदार किले और बहादुर सैनिकों के सम्मान और गौरव के तथा अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आँखो के सामने घूमने लगते है। खासकर तब, जब वह सयोग से अद्भुत शौर्य और भावुक पराक्रम की भूमि राजपूताना मे पहुँच जाता है।

लेकिन ये स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते है और विषाद की भावना आ घेरती है। वहाँ का वातावरण अवरोधक है और उसमे सास लेना मुश्किल हो जाता है। ऊपर और मन्दगति-प्रवाह के नीचे जडता और गन्दगी भरी पडी है। वहाँपर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानो वह चारो ओर काँटो और बाड से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड दिया गया है। उसे वहाँके राजमहल की चमक-दमक और शान-शौकत के सर्वथा विपरीत जनता की अवस्था अत्यन्त अवनत और विषादपूर्ण दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल मे राजा की अपनी व्यक्तिगत जरूरतो और ऐयाशी मे पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुँचता है। अपने राजाओ को बढाना और उन्हे कायम रखना भयानक रूप से खर्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध खर्च के बदले मे वे हमे वापस क्या देते है?

इन रियासतो पर रहस्य का एक परदा पडा रहता है। अखबारो को वहाँ पनपने नहीं दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। बाहर के अखबारो को अक्सर राज्य मे आने से रोक दिया जाता है। ट्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतो को छोडकर—जहा साक्षरता ब्रिटिश भारत से भी कही ज्यादा है—अन्यत्र साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतो मे जो खास खबरे आती है वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती है, जिसमे धूम-धडाके, रस्म-रिवाज की पूर्ति और एक-दूसरे की तारीफ मे दिये गये व्याख्यानो का जिक्र होता है, या राजा के विवाह अथवा जन्मगाठ की, जिसमे ढेर रुपया खर्च किया जाता है, या किसानो के विद्रोह-सम्बन्धी। ब्रिटिश भारत तक के खास कानून आलोचना से राजाओ की रक्षा करते है। रियासतो के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दबा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओ को तो शायद कोई जानता तक नही, और अक्सर सामाजिक बातो के लिए की जानेवाली सभाएं भी रोक दी जाती है।[1] बाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओ को अक्सर

[1] हैदराबाद दक्खिन का ३ अक्तूबर १९३४ का प्रेस-समाचार कहता है—"विवेक वर्धिनी थियेटर मे कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस

रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के करीब स्व० देशबन्धु दास बहु बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने कश्मीर जाने क निश्चय किया। वह वहा किसी राजनैतिक काम के लिए नही जा रहे थे। व कश्मीर की सरहद तक पहुँच चुके थे, लेकिन वही रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक क हैदराबाद रियासत मे जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजनी नायडू क भी, जिनका घर ही हैदराबाद मे है, जाने की इजाजत नही दी गई।

जब कि रियासतो मे यह हाल हो रहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक थ कि वह रियासतो मे रहनेवाले लोगो के प्रारम्भिक अधिकारो के लिए खड़ी हो जात और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गाधीजी ने कांग्रेस रियासतो के सम्बन्ध में एक नई नीति को जन्म दिया। वह नीति थी "रियासतो भीतरी इन्तजाम मे दखल न देने की।" रियासतो में असाधारण और दुखदाय घटनाओ के होते रहने और कॉग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भ वह अभीतक अपनी उसी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए है। जाहिर है ि डर इस बात का है कि कॉग्रेस अगर राजाओ की आलोचना करेगी तो वे लोग नारा हो जायँगे। उनका 'हृदय-परिवर्तन' ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जुलाई १९३४ गाधीजी ने श्री एन० सी० केलकर के नाम, जो देशीराज्य-प्रजा-परिषद् के सभाप थे, एक पत्र लिखा था। उसमे उन्होने इस विश्वास को दुहराया था कि दखल न दे की नीति न सिर्फ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतो की कानू और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध मे जो राय उन्होने जाहिर की वह तो बडी अज थी। उन्होने लिखा था—"ब्रिटिश कानून के अनुसार रियासते स्वतन्त्र हस्ती रखत है। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता रियासतो की पॉलिसी को शकल देने का उतना भी अख्त्यार नही है जितना उ

सार्वजनिक सभा का ऐलान किया गया था वह रोक देनी पडी है। इस सभा सगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक-सघ ने किया था। सघ के मत्री ने अखबारों को पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि मीटिंग के वक्त से २४ घटे पहले सरकारी अधिकारि ने यह हुक्म दिया कि मीटिंग करने की इजाजत तभी मिल सकती है जबकि दो हज की नक़द ज़मानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमें क राजनैतिक व्याख्यान नहीं दिया जायगा और सरकारी अफसरों के किसी सरकारी का की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के सयोजक के पास इन सब बातों लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफ़ी वक्त रह गया था, इसलि सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

ममल्न, अफगानिस्तान या सीलोन की नीति को शकल देने का है।" अगर मुलायम और नरम देशीराज्य-प्रजा-परिषद् ने ओर लिबरलो ने भी उनकी इस राय और इस सलाह पर ऐतराज़ किया तो आश्चर्य ही क्या है ?

लेकिन रियासतो के राजाओ ने इन विचारो का काफी स्वागत किया और उन्होने उनसे फायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य मे कॉग्रेस को गैरकानूनी करार दे दिया और उसकी सारी सभाओ को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा, कि "ज़िम्मेदार नेताओ ने खुद यह सलाह दी है।" ज़ाहिर है कि यह इशारा गाधीजी के बयान की तरफ था। यह बात नोट करने लायक है कि यह रोक ब्रिटिश भारत मे सत्याग्रह की लडाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतो में यह लडाई कभी नही हुई थी)। जिस वक्त रियासत मे यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने काग्रेस को फिर से कानूनी जमात करार दे दिया था। इस बात को नोट करना भी दिलचस्प होगा कि उस वक्त त्रावणकोर-सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामास्वामी ऐय्यर थे (और अब भी है), जो एक वक्त कॉग्रेस के और होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत सरकार और मदरास-सरकार के ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर रहे।

गाधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक, मामूली वक्त मे भी, त्रावणकोर राज्य ने बिला वजह कॉग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कॉग्रेसवालो की तरफ से पब्लिक मे एक शब्द तक नहीं कहा गया,[1] जबकि दूसरी ओर लिबरलो तक ने इसके खिलाफ जोरो से आवाज़ उठाई। सचमुच रियासतो के मामले मे गाधीजी का रवैया लिबरलो के रवैये से भी कहीं ज्यादा नरम और सयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषो मे शायद मालवीयजी ही—राजाओ के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—उतने ही सयत और इस बात मे सावधान है कि उन्हे किसी तरह चिढाया न जाय।

भारतीय नरेशो के बारे मे गाधीजी हमेशा इतना फूक-फूककर कदम नहीं रखते थे। फरवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय

[1] ६ जनवरी १९३५ को बडौदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इस दखल न देने की नीति पर जोर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्त्ताओं को उन सीमाओं में रहते हुए काम करना चाहिए जो रियासतें बांध लें और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना रहे।"

के उद्घाटन के समय—एक सभा मे, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमे और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होने एक भाषण दिया था। गाधीजी उस समय दक्षिण-अफ्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धो पर नही था। बडी सचाई और एक पैगम्बर के-से जोश के साथ उन्होने राजाओ से अपनेको सुधारने और अपनी थोथी शान-शौकत और विलासिता छोड देने के लिए कहा। उन्होने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणो को बेच दो।" उन्होने अपने आभूषण बेचे हो या न बेचे हो, लेकिन वे वहा से चले जरूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियो मे, वे सभा भवन से चले गये। यहातक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा भवन मे अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। मीटिंग मे श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थी। उन्हे भी गाधीजी की बाते बुरी लगी और इसलिए, वह भी मीटिंग से उठकर चली गई।

श्री एन० सी० केलकर को गाधीजी ने जो पत्र लिखा था उसमे आगे उन्होने यह भी कहा, कि "मै तो यह पसन्द करूँगा कि रियासते अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दे दे और वे अपनेको वास्तव मे उन लोगो का ट्रस्टी समझे, जिनपर कि वे हुकूमत करती है।" अगर ट्रस्टीशिप के इस खयाल मे ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे मे क्यों ऐतराज करते है कि वे भारत के लिए ट्रस्टी है? मै इसमे कोई फर्क नही देखता, सिवाय इसके कि अग्रेज हिन्दुस्तान के लिए विदेशी है। लेकिन जहाँतक चमडे के रग से, जातीय उत्पत्ति और सस्कृति से, सम्बन्ध है वहाँतक तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले तरह-तरह के लोगो मे आपस मे भी करीब-करीब उतने ही भेद है, जितने कि उनमे और अग्रेजो मे।

पिछले थोडे-से सालो मे हिन्दुस्तानी रियासतो मे ब्रिटिश अफसर बडी तेजी से घुस रहे है। अक्सर वे बेबस राजाओ की मर्जी के खिलाफ उनके मत्थे मढ दिये गये है। वैसे तो सदा से भारत-सरकार का देशी राज्यो पर काफी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ खास बडी-बडी रियासतो को भीतर से भी जकड दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासते कुछ कहती है, तो असल मे उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हा, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा जरूर उठाती है।

मै यह समझ सकता हूँ कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नही है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते है वह सब रियासतो मे भी कर सके। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग सूबो मे भी किसानो-सम्बन्धी, उद्योग-धन्धो-सम्बन्धी, सम्प्रदायो-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी काफी फर्क है, और हम हमेशा सब

न्तों में एक नीति से काम नहीं ले सकते। लेकिन हालांकि हम कहाँ क्या काम करें यह तो वहाँ के हालात के ऊपर मुनहसिर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहों में हमारी आम पॉलिसी अलग-अलग नहीं होनी चाहिए, और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए, नहीं तो हमारे ऊपर यह इलजाम लगाया जायगा र लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नहीं है और ारा मकसद सिर्फ यही है कि किसी तरह से ताकत हमारे हाथ में आ जाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसख्यक जातियों के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके खिलाफ काफी नुक्ताचीनी हुई है, और वह ठीक हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल खिलाफ पड़ता । इसमें कोई शक नहीं कि अगर हम चुननेवालों को अलग-अलग बन्द कमरों बाँट दें तो लोकतन्त्र कायम करना या जिसे जिम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा ाता है उसका कायम किया जाना मुमकिन नहीं है। लेकिन प० मदनमोहन मालवीय ार हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बड़े और अथक ालोचक हैं, रियासतों में जो कुछ अन्धेर मच रहा है उसके बारे में अजीब तौर से प हैं और जाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार हैं कि रियासतों की स्वेच्छा-ारिता और बाकी के हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र के नाम से पुकारी जानेवाली चीज ापस में मिलकर सघ-राज्य कायम हो जाय। इससे ज्यादा बेमौजूँ और बेहूदा एकता ी कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन हिन्दू-महासभा के जो लोग लोकतन्त्र और ाष्ट्रीयता के हिमायती बनते हैं वे ही इस एकता को बिना डकार लिये हुए ही निगल ाते हैं। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते हैं, लेकिन हमारी बुनियादी प्रेर-ााये अभीतक भावुकतामय ही बनी हुई हैं।

इस तरह मैं लौटकर फिर कॉंग्रेस और रियासतों की विकट समस्या पर आता । मेरा दिमाग थॉमस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने ोई डेढसौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध में कहा था—"वह (बर्क) तो परोपकार से तरस ाते हैं, लेकिन मरनेवाली चिड़िया को भूल जाते हैं।" यह ठीक है कि गांधीजी रनेवाली चिड़िया को नहीं भूलते। लेकिन वह उसके परों पर इतना ज्यादा जोर क्यों ेते हैं?

कम-बढ ये ही बातें तारलुकेदारी और जमींदारी-प्रथा पर भी लागू होती हैं। स बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की जरूरत नहीं मालूम पड़ती है कि यह ागीरदारी प्रथा अब समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और ...ी के रास्ते में बड़ी भारी अड़चन है। वह तो बढ़नेवाले पूँजीवाद के भी खिलाफ

जाती है और करीब-करीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ धीरे-धीरे गायब हो गई है और उनकी जगह जमींदार किसानों ने लेली है। मेरी तो हमेशा यही कल्पना रही है कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवत उठ सकता है वह मुआवजे का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गांधीजी ताल्लुकेदारी प्रथा को भी उस प्रथा की हैसियत में पसन्द करते है और चाहते है कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई १९३४ में उन्होंने कहा था—"किसानों और जमींदारों, दोनों में हृदय-परिवर्तन द्वारा बेहतर ताल्लुकात पैदा किये जा सकते है। अगर यह हो जाय तो दोनों आपस में मेल के साथ अमन-चैन में रह सकते है। मैं तो कभी भी ताल्लुकेदारी या जमींदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा, और जो लोग यह समझते है कि वह रद होनी चाहिए वे खुद अपनी बात को नहीं समझते।" गाँधीजी का यह आखिरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

बतलाते है कि उन्होंने आगे यह कहा—"बिना उचित कारणों के जायदादवाली श्रेणियों से उनकी निजी जायदाद छीने जाने के काम में मैं कभी साथ नहीं दे सकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके दिलों पर घर करके मैं आपको अपनी राय का बना लूँ, जिससे आप अपनी निजी जायदाद को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खे और उसका इस्तैमाल खास तौर पर उनकी भलाई के लिए करे। .... लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी जायदाद से वंचित करने के लिए अन्यायपूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे अपनी तरफ लड़ता हुआ पायँगे .. पश्चिम का समाजवाद और वहाँ का कम्यूनिज्म जिन खास विचारों पर टिका हुआ है, वे हमारे विचारों से बुनियादी तौर पर भिन्न है। जिन धारणाओं पर सामाजवाद वगैरा टिके हुए है, उनमें से एक तो यह है कि उनका विश्वास है कि मानव-स्वभाव मूलत स्वार्थी है.. इसलिए हमारे समाजवाद और हमारे कम्यूनिज्म की बुनियाद तो अहिंसा पर और मजदूर और मालिकों, किसानों और जमींदारों के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बातें उन्होंने जमींदारों के एक डेपूटेशन से कही थीं।

मैं नहीं मानता कि पूरब और पश्चिम के बुनियादी खयालात में ऐसे कोई फर्क है। शायद कुछ हो। लेकिन हाल ही के पिछले दिनों में तो एक जाहिरा फर्क यह रहा है कि हिन्दुस्तान के मालिकों और जमींदारों ने अपने मजदूरों और किसानों के हितों की जितनी ज्यादा उपेक्षा की है उतनी उनके विलायत के बिरादरीवालों ने नहीं की। हिन्दुस्तान के जमींदारों की तरफ से किसानों की भलाई के लिए किसी तरह के सामाजिक सेवा के काम में दिलचस्पी लेने की अमलन कोई कोशिश नहीं हुई। पश्चिमी समा-लोचक मि० एच० एन० ब्रेलसफोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के सूदखोर और जमींदार

परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी है, कि अर्वाचीन मानव-समाज मे उनका सानी नही मिलता।"[1] शायद इसमे हिन्दुस्तान के ज़मीदारो का कोई कुसूर नही है। परिस्थितिया उनके इतनी खिलाफ थी कि वे उनका मुकाबिला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति मे फँस गये है, जिसमे वे अपनेको मुश्किल से निकाल सकते है। बहुत-से ज़मीदारो से तो उनकी ज़मीदारियाँ बोहरो ने लेली है, और छोटे-छोटे ज़मीदार जिस ज़मीन के कभी मालिक थे उसीमे अब काश्तकार की हालत मे पहुँच गये। शहरो मे रहनेवाले इन बोहरो ने पहले तो ज़मीन-जायदाद गिरवी करके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले उसे हड़प-कर अब वे खुद ज़मीदार बन बैठे है और गाधीजी की राय मे अब वे उन अभागो के ट्रस्टी है जिनको उन्होने खुद उनकी ज़मीन से वञ्चित किया है। गाधीजी ऐसे लोगो से यह उम्मीद भी रखते है कि वे अपनी आमदनी खास तोर पर किसानो की भलाई के कामो मे लगायँगे।

अगर ताल्लुकेदारी की प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान भर मे क्यो नही जारी की जाती। हिन्दुस्तान के कुछ बडे हिस्सो मे रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गाधीजी गुजरात में बडी-बड़ी ज़मीदारिया और ताल्लुकेदारियाँ कायम हो जाना पसन्द करेगे ? तो फिर क्या बात है कि ज़मीन सम्बन्धी एक प्रणाली तो यू० पी०, बिहार या बगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पजाब के लिए ? जहाँ-तक मेरा खयाल है, हिन्दुस्तान के उत्तर व पूरब और पश्चिम व दक्षिण के रहने-वाले लोगो मे ऐसा कोई खास फर्क तो नही है, और उनके बुनियादी खयालात भी वैसे है। इसके मानी तो यह हुए कि जो कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की आर्थिक जाँच नही की जानी चाहिए कि लोगो के लिए कौन-सी बात सबसे ज्यादा वाञ्छनीय या फायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ एक ही बात की ज़रूरत है, और वह यह कि लोगो का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय। ज़िन्दगी और उसके मसलो की तरफ यह तो विशुद्ध धार्मिक रुख है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र से उसका कोई सरोकार नही। फिर भी गाधीजी इससे आगे बढ जाते है और राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपने धार्मिक रुख को ले आते है।

ये है कुछ विकट समस्याये जो आज हिंदुस्तान के सामने है। हमने अपनेको इन गुत्थियो मे उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियो को सुलझा न लेगे, तबतक आगे बढना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नही होगा। बहुत दिन

1. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड की 'Property or Peace' नामक पुस्तक से।

हुए, स्पिनोजा ने एक सवाल पूछा था—"ज्ञान और बुद्धि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने, और भावुकता की गुलामी में रहने, इन दो में से आप कौन-सी चीज को पसन्द करेंगे ?" उन्होंने खुद पहली बात पसन्द की थी ।

हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गांधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के उसूल की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज मे इसी उसूल का बोलबाला रहा है। लोगो की बहुत बडी तादाद ने बिना किसी सोच-विचार के उसे दुहराया है, लेकिन दुहराया है खुशी के साथ। कुछ लोगो ने अपनेमे काफी सघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगो ने खुल्लमखुल्ला इस उसूल का मजाक भी उडाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन मे उसने बहुत बडा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया मे भी लोगो का काफी ध्यान उसने अपनी तरफ खीचा है। निस्सन्देह उसूल बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गाधीजी ही पहले व्यक्ति है जिन्होने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन मे सामूहिकरूप मे उसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलत धर्म से सम्बन्धित चीज थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सासारिक प्रपचो से ऊँचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति लाभ करने का साधन थी। उसके जरिये बडे-बडे सामाजिक मसलो को हल करने और सामाजिक परिस्थितियो मे परिवर्तन करने का कोई खयाल न था, अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्ष-रूप मे। उस वक्त लोगो की करीब-करीब यही भावना थी कि मोजूदा सामाजिक ताना-बाना तो, अपनी सब असमानताओ और अन्यायो सहित, ऐसा ही रहेगा। गाधीजी ने कोशिश की कि यह वैयक्तिक आदर्श समाज का भी आदर्श हो जाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनो ही परिस्थितियो को बदलने पर तुले हुए थे और इसी गरज से उन्होने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र मे अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा है —'जो लोग मानव-स्थिति और अवस्थाओ मे आमूल परिवर्तन करना चाहते है वे समाज मे खलबली पैदा किये बिना ऐसा नही कर सकते। लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीके है, एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक दबाव आदमी के जिस्म पर पडता है। जो इस दबाव से काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह दबाव डाला जाता है उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वय कष्ट सहकर—जैसे उपवास आदि करके—जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है वह बिलकुल दूसरे तरीके से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगो के

खिलाफ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मजबूत बनाता है।"[१]

यह कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम सरसरी तौर पर तो जरूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उससे निकलनेवाले व्यापक परिणामों को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोड़े-से आदमियों ने उसे अस्पष्ट-रूप में समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम में जुट पड़े। लेकिन जब काम की रफ्तार धीमी पड़ गई, तब कुछ लोगों के मन में बहुत-से प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नों का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नहीं पड़ता था। इनका सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त से था। राजनैतिक अर्थों में तो अभीतक अहिंसात्मक आन्दोलन को कामयाबी मिली नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान अतभीत साम्राज्यवाद के अनीतिपाश में जकड़ा हुआ है, और सामाजिक अर्थ में तो उसने क्रान्ति की कल्पना तक नहीं की। लेकिन फिर भी जो आदमी ज़रा भी गहराई से देख सकता है, वह यह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों में उसने एक जबरदस्त तबदीली कर दी। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोड़ों हिन्दुस्तानियों को चरित्रबल शक्ति और आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया है; और ये ऐसे अमूल्य गुण हैं जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक किसी भी किस्म की तरक्की करना या उसे कायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए हैं या महज़ संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौकों पर कई राष्ट्रों ने ऐसे फायदे हिंसात्मक लड़ाई के ज़रिये भी हासिल किये हैं, फिर भी, मेरा खयाल है, कि यह बात तो इत्मीनान के साथ कही जा सकती है कि इस मामले में अहिंसा का तरीका हमारे लिए बेशकीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज में जिस खलबली का जिक्र किया था वह खलबली पैदा करने में उसने निश्चित रूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी वजूहात और हालतों की बदौलत हुई। उसने आम लोगों में वह तेज़ी की प्रक्रिया पैदा करदी है जो इनकिलाबी हेर-फेर से पहले पैदा होती है।

स्पष्ट रूप से यह बात उसके हक में है, लेकिन वह हमें ज्यादा दूर नहीं लेजाती। असली सवाल तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बदकिस्मती यह है कि इस मसले को हल करने में गांधीजी हमें ज्यादा मदद नहीं देते। इस विषय पर उन्होंने बहुत बार लिखा

१. ४ दिसम्बर १९३२ को अपने एक अनशन के अवसर पर गांधीजी ने जो बयान दिया था उससे।

और व्याख्यान भी दिये है। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उन्होंने सार्वजनिक रूप से उसमे निकलनेवाले अर्थो पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नही किया। वह इस बात पर जोर देते है कि साधन साध्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है।[1] जोर-जबरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है, और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयो से भिन्न नही समझते। सच तो यह है कि इन शब्दो का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते है मानो वे एक-दूसरे के समानार्थक है। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हो उन को उच्चात्माओ की कोटि का मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है बल्कि कुछ ऐसा समझा जाता है मानो वे किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार है। और गाधीजी के कुछ अनुयायी तो, इसके कारण, लाजिमी तौर पर अपने-आपको बडा पहुँचा हुआ और धर्मात्मा समझने लगे है।

लेकिन हममे से जो इतने खुशकिस्मत नही कि इस चीज़ मे इतनी श्रद्धा रखते हो, उन्हे बहुत-से सन्देहो से परेशान होना पडता है। तात्कालिक आवश्यकताओ से उनका कोई सम्बन्ध नही है, लेकिन वे चाहते है कि कोई ऐसा सुसगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मै मानता हूँ कि मुझमे भी यह सन्देह मौजूद है और मुझे इस मसले का कोई सन्तोषजनक हल नही दिखाई देता। मै हिंसा को कतई नापसन्द करता हूँ, लेकिन फिर भी मै खुद हिंसा से भरा हुआ हूँ और जान मे या अनजान मे अक्सर दूसरो को दबाने की कोशिश करता रहता हूँ। और मानसिक दबाव से अधिक दबाव भला और क्या हो सकता है, जिसके कारण गाधीजी के अनन्य भक्तो और साथियो के दिमाग कुण्ठित हो जाते है और वे स्वतत्र रूप से सोचने के योग्य नही रहते?

लेकिन असली सवाल तो यह था, कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को काफी तौर पर अपना सकते है? क्योकि उसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य मे बहुत ऊँचा चढा हुआ है। यह सच है कि दरअसल वाञ्छनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ...चा उठ जाय और उसमे से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त मे जाकर ...सा हो भी सकेगा या नही, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है, लेकिन उसके ...ना जीवन उस निरे बुद्धू की कही हुई कहानी का-सा नीरस हो जायगा, जिसमे कम्पन ...र तड़प है लेकिन जिसका मतलब कुछ नही है। इस मकसद पर पहुँचने के

[1] The Power of Non violence (अहिंसा की ताक़त) नामक किताब में ...ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह ...बहुत ही दिलचस्प और विचारोत्तेजक है।

लिए क्या यह आवश्यक है कि हम इन गुणों को अपनाने के लिए लोगों में प्रचार करें और उन अड़चनों की कुछ भी परवाह न करें, जो इस मकसद पर पहुंचना नामुमकिन कर रही है और जो इस मकसद के खिलाफ पड़नेवाली हरेक प्रवृत्ति को शह दे रही है? अथवा, क्या हम पहले उन अड़चनों को दूर करके प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल वातावरण न पैदा करलें? अथवा, क्या हम इन दोनों उपायों को साथ-साथ काम में लायें?

और फिर क्या हिंसा और अहिंसा अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर इतना स्पष्ट और सरल है? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कहीं अधिक दबाने या मजबूर करने-वाला भयंकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्याय-वाची शब्द हैं? सत्य क्या है? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हजारों जवाब दिये जा चुके हैं, मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है। लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नहीं जा सकता। हिंसा स्वतः बुरी है, लेकिन आप उसको महज उसके हिंसा होने की वजह से ही पापमय नहीं कह सकते। उसके कई आकार और प्रकार हैं, और अक्सर यह हो सकता है कि उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुकाबिले में हमें हिंसा पसन्द करनी पड़े। गांधीजी ने यह खुद कहा है कि बुजदिली, डर और गुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस फेहरिस्त में और भी बहुत-सी बुराइयाँ जोड़ी जा सकती हैं, जो हिंसा से भी ज्यादा बुरी है। यह सच है कि आम तौर पर हिंसा के साथ घृणा रहती है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से हमेशा ऐसा ही हो, यह जरूरी नहीं है। यह बात हो सकती है कि हिंसा का आधार सद्भावना पर हो (जैसे कि सर्जन द्वारा की गई हिंसा) और कोई भी चीज, जिसका आधार यह हो, कभी भी सिद्धान्त पापमय नहीं हो सकती। आखिर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और वैर-भाव ही है। इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नहीं ठहराई जा सकती और उस दृष्टि से उसे खतरनाक भी समझा जा सकता है, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि वह हमेशा ऐसी ही हो।

हमारा सारा जीवन ही संघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिंसा से हिंसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नहीं है। लेकिन फिर भी हिंसा का कभी प्रयोग न करने की कसम खा लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक रुख अख्त्यार कर लेना, जिसका स्वयं जीवन से कतई कोई [illegible] नहीं होता। हिंसा तो आजकल के राष्ट्रों और सामाजिक प्रणालियों का जीवन-

तत्व है। राष्ट्र के पास अगर यह अस्त्र न हो तो न तो कर वसूल किये जा सकते है, न ज़मीदारो को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही कायम रह सकती है। अपने शस्त्र-बल से कानून दूसरो को दूसरो की निजी सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार आक्रमणात्मक और रक्षणात्मक हिंसा के बल पर वर्त्तमान राज्य कायम है।

यह सच है कि गाधीजी की अहिंसा बिलकुल ही नकारात्मक और अप्रति-रोधक नही है। वह तो अहिंसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य प्रणाली है। यह उन लोगो के लिए नही है, जो परिस्थितियो के सामने चुपचाप सिर झुका देते है। उसका तो उद्देश ही समाज मे खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्त्तन के भाव के पीछे उद्देश कुछ भी रहा हो, व्यवहार मे तो वह लोगो को विवश करने या दबाने का भी एक ज़बरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढग से काम मे लाया गया। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखो मे गाधीजी ने खुद "मजबूर करना" शब्द का इस्तेमाल किया है। पजाब के फौजी कानून के ज़माने अत्याचारो के सम्बन्ध मे दिये गये वाइसराय लार्ड चैम्सफोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० मे उन्होने लिखा था —

"कौंसिल-उद्घाटन के समय वाइसराय ने जो व्याख्यान दिया उससे मुझे उनका ऐसा रुख मालूम हुआ कि जिसकी वजह से प्रत्येक आत्मसम्मान रखनेवाले के लिए उनसे या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पजाब के बारे मे उन्होने जो कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगो की शिकायत दूर करने को तैयार नही है। वह चाहते है कि हम लोग निकट-भविष्य की समस्याओ पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करदे, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पजाब के मामले मे हम सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए मजबूर करदे, जिसका कोई लक्षण नही दिखाई देता। इसके विरुद्ध, [illegible] ने अपने आलोचको की टीकाओ का जवाब देने के अपने प्रलोभन को रोका [illegible] जिसका अर्थ यह है कि हिन्दुस्तान की इज्जत से ताल्लुक रखनेवाले बहुत-से ज़रूरी [illegible] पर उनकी राय अभीतक नही बदली है, वह इतने ही से सतुष्ट है कि इन [illegible] को भावी इतिहास के निर्णय पर छोड दिया जाय। मेरे विचार मे इस तरह [illegible] हिन्दुस्तानियो को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेगी। जिन पर अत्याचार किये गये है और जो अभीतक उन अफसरो के जूतो के नीचे दबे

हुए हे, जो अपने-आपको किमी विश्वाम और जिम्मेदारी के ओहदे पर रहने के स
अयोग्य सिद्ध कर चुके है, यदि इतिहास-निर्णय अनुकूल भी हुआ तो वह उनके
काम आयगा ? पजाब के प्रति न्याय न करने की सरकार की हठ के मोजूद रहते
सहयोग का उपदेश करना, यदि अधिक तीव्र भापा का प्रयोग न किया जाय तो,
से-कम, निरा पाखण्ड तो हे ही।'

यह बात जग-जाहिर है कि सरकार बुरी तरह हिसा पर आश्रित है—न के
शस्त्र-बल की हिसा पर वरन् अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे प्रयुक्त जासूस, मुखबिर, लोगो
भडकानेवाले एजेण्टो, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे शिक्षा और समाचारपत्रो
द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वगैरा के दूसरे प्रकार
भयो की कही अधिक भयकर हिसा पर। उनके पीछे अपनी अगणित शाखा-प्रशाख
और षड्यत्र और धोखेबाजी के ताने-बाने और भेदियो-उपभेदियो, अपराधियो के
अड्डो के साथ सम्बन्ध, रिश्वत और मानव-स्वभाव को पतित करनेवाले दूसरे उ
व गुप्त हत्याओ के अपने सब साधनो सहित खुफिया पुलिस का बहुत बडा
काम करता हे। शान्तिकाल तक मे सरकारो के बीच सब प्रकार का झूठा और
फरेब जायज हे, बशर्ते कि वह खुल न जाय, और युद्ध के समय तो वह और भी ज
जायज हो जाता है। खुद ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वॉटन ने तीन सो
पहले राजदूत की यह परिभाषा की थी कि "राजदूत वे ईमानदार प्राणी है जो
मुल्क की भलाई के लिए झूठ बोलने को दूसरे मुल्को मे भेजे जाते है।" आजकल
राजदूतो के साथ उनका फौजी, जहाजी और व्यापारिक कबीला भी जाता है,
का खास काम होता है, उस मुल्क का भद लेना जिस मुल्क मे वे भेजे जाते है।
पीछे खुफिया पुलिस का बहुत बडा जाल, जो षड्यन्त्रो और धोखेबाजी के ताने-बा
भरा-पूरा रहता है, काम करता है। भेदियो और उपभेदियो से उनका ताल्लुक, उ
रिश्वत-खोरी और मानव-प्रकृति का पतन तथा उसकी गुप्त हत्याये सब बाते
जाल मे शामिल होती है। शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीजे खराब है
युद्धकाल मे इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव
दिशा मे फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गय
उसके कुछ उदाहरण पढकर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशो के
आश्चर्यजनक झूठी बाते फैलाई गई थी, और इन बातो के फैलाने और खु
पुलिस का जाल बिछाने मे अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान श
स्वय दो युद्धो के बीच का विरामकाल मात्र है, अर्थात् लडाई के लिए तैयारी
की एक अवधि मात्र है और कुछ हदतक आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रो मे सघर्ष

रखना ही है। विजयी और पराजितो मे, सत्ताओ और उनके मातहत उपनिवेशो मे, रक्षित वर्ग और शोषित वर्ग की यह रस्साकशी हर वक्त जारी रहती है। इसलिए जिसे आज शान्ति-काल के नाम से पुकारा जाता है, उसमे भी कुछ हदतक लडाई का वातावरण अपने हिसा और झूठ के सब अस्त्रो-सहित जारी रहता है और दोनो इस स्थिति का मुकाविला करने के लिए तैयार रहने को अभ्यस्त किये जाते है। लार्ड वोलसली ने 'सोलजर्स पाकेटवुक फॉर फील्ड-सर्विस' नामकी एक पुस्तक मे लिखा है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार जोर देते रहेगे, कि ईमानदारी ही सबसे अच्छी पालिसी है और आखिर मे जाकर हमेशा सचाई की ही जीत होती है, लेकिन ये साधारण वाक्य बच्चो की नोटवुको के लिए ही ठीक है, और अगर लोग युद्ध के दिनो मे इनपर अमल करने लगे तो यही वेहतर है कि वे हमेशा के लिए अपनी तलवारे मियानो के अन्दर वन्द करले।"

वर्तमान स्थिति मे, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ है, हिसा और असत्य का यह पाया करीब-करीब लाजिमी मालूम होता है। अपनी शक्ति और विशेषाधिकारो को वनाये रखने के लिए उत्सुक और अपने पीडितो को उन्नति का अवसर न देनेवाले अधिकार-प्राप्त राष्ट्रो और समूहो को तो लाजिमी तौर पर हिसा, दवाव और झूठ का आश्रय लेना ही पडता है। सभव है कि ज्यो-ज्यो लोकमत जागृत होता जायगा और इन सघर्षो तथा दमन की वास्तविकता स्पष्ट होती जायगी, त्यो-त्यो इस हिसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन असल बात तो यह है कि हाल के तमाम तजुर्बे इसके खिलाफ इशारा कर रहे है और जैसे-जैसे मौजूदा सस्थाओ के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, इन लोगो की हिसा भी वढती जाती है। कभी हिसा की प्रत्यक्ष उग्रता मे कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कही अधिक सूक्ष्म और अधिक भयकर रूप अख्त्यार कर लिया है। हिसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही ज़रा भी रोक सकी है। मानवता के परिमाण की दृष्टि से कुछ [illegible] उन्नति करके ऊँचे चढ गये है और अगर सबसे ऊँचे नमूनो को छोड दिया जाय, [illegible] दुनिया मे आजकल इस किस्म के ऊँचे दर्जे के जितने ज्यादा व्यक्ति है, [illegible] इतिहास के और किसी जमाने मे नही थे, कुल मिलाकर तो समाज ने तरक्की [illegible] है, और वह कुछ हद तक पुरातन और सहज क्रूर वृत्तियो पर अकुश रखने के [illegible] प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहो या समुदायो ने कोई खास [illegible] नही की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न मे अपने पूर्वकालिक [illegible] बुराइयाँ समाज को देता जा रहा है, और क्योकि हिसा [illegible]

नहीं किन्तु दूसरी श्रेणी के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायों के नेता लोग शायद ही पहले दरजे के पुरुष या स्त्री होते हों।

लेकिन अगर हम यह भी मानलें कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के सबसे बुरे रूप मिट जायँगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि सरकार और सामाजिक जीवन दोनों ही के लिए किसी प्रकार के दबाव की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी तरह की सरकार का होना ज़रूरी है, और इस कारण जिन लोगों को कुछ अधिकार मिल जाता है उनके लिए यह लाजिमी है कि वे व्यक्तियों और समूहों की उन सब प्रवृत्तियों पर, जो स्वभावतः स्वार्थ-परायण है और जिनसे समाज को नुकसान पहुँचने का अंदेशा है, अंकुश रक्खें और उन्हें रोकें। आमतौर पर ये अधिकारी लोग ज़रूरत से ज्यादा आगे बढ़ जाते हैं, क्योंकि ताकत जिसके हाथ में पहुँचती है उसीको भ्रष्ट करके गिरा देती है। इस तरह उन शासकों को स्वतन्त्रता से कितना ही प्रेम और दमन से कितनी ही घृणा क्यों न हो, फिर भी उन्हें उस वक्त तक अपने यहाँ के झगड़ालू व्यक्तियों का दमन करना ही पड़ेगा जबतक कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त न करले और सर्वथा निःस्वार्थ और परोपकार-परायण न बन जाय। ऐसे राज्य के शासकों को भी उन बाहरी समूहों का मुकाबिला करना पड़ेगा, जो लूट मार के लिए उनके राज्य पर हमला करें। अर्थात्, उन्हें ताकत का मुकाबिला ताकत से करके अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। इस बात की ज़रूरत तो तभी दूर होगी जबकि पृथ्वी-भर के लिए केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जाय।

इस तरह अगर आन्तरिक अविच्छिन्नता और बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा इन दोनों के लिए शक्ति और दमन आवश्यक है, तो यह भेद किस तरह किया जाय कि वे सर्वथा अहिंसात्मक हैं या हिंसात्मक? रिन्होल्ड नीयूर[१] का कहना है कि जब आप एक बार नैतिकता के मुकाबिले में इतनी भयावह छूट देते हैं और सामाजिक अविच्छिन्नता को कायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते हैं, तब अहिंसात्मक और हिंसात्मक बल प्रयोग में अथवा सरकार और क्रान्तिकारियों द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग में आप कोई विशुद्ध भेद नहीं कर सकते।

मैं ठीक-ठीक नहीं जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गांधीजी यह बात मान लेंगे कि इस अपूर्ण संसार में किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहर से होनेवाले आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। अवश्य ही राज्य को चाहिए कि अपने पड़ोसी और अन्य दूसरे राज्यों के साथ

१ 'Moral Man and Immoral Society'

सर्वथा शान्तिमय और मैत्रीपूर्ण नीति ग्रहण करे, लेकिन फिर भी आक्रमण की सम्भावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ ऐसे कानून भी बनाने पड़ेंगे, जो इस अर्थ मे दबाव डालनेवाले होंगे कि इनके द्वारा विभिन्न समुदायों या समूहों के कुछ अधिकार और विशेष रिआयतें छिन जाती है और उनकी कार्य-स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। कुछ हदतक तो सभी कानून दबाव डालनेवाले होते है। कराची कांग्रेस का प्रोग्राम यह निर्धारित करता है कि—"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता मे, करोड़ो भूखों मरनेवालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए। आवश्यक मनोभाव को कार्य मे परिणत करने के लिए, जिन लोगों के अत्यधिक विशेषाधिकार है उन्हे अपने बहुत-से अधिकार उन लोगो के लिए छोड़ देने पड़ेंगे जिनके पास बहुत थोड़े अधिकार है।" आगे उसमे यह भी बताया गया है कि मजदूरों को निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी और जीवन की दूसरी सुविधायें भी जरूर मिलनी चाहिएँ, मिल्कियतो पर खास टैक्स लगाये जाने चाहिएँ, और "खास उद्योग-विभागों, खनिज-साधनों, रेल्वे, जल मार्ग, जहाजरानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनो पर राज्य अपना अधिकार और नियंत्रण रखेगा।" साथ ही यह भी कि "नशीले पेय और पदार्थ सर्वथा बन्द किये जायँगे।" मुमकिन बहुत-से लोग इन सब बातो का विरोध करेंगे। यह हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुकालें, लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञा-भंग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतंत्र का अर्थ ही बहुसंख्यक लोगों का अल्पसंख्यक लोगो पर दबाव है।

अगर मिल्कियत सम्बन्धी अधिकारो को कम करने या बहुत हदतक उन्हे रद करने के लिए कोई कानून बहुमत से पास हो जाय, तो क्या इसलिए उसका विरोध किया जायगा कि यह तो दबाव है? स्पष्ट है कि यह नही है, क्योंकि सभी लोकतंत्रात्मक कानूनो को बनाने मे यही तरीका काम मे लाया जाता है। इसलिए दबाव की बिना पर ऐतराज नही किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत गलत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत मे सवाल यह पैदा होता है कि बहुमत राय से जो कानून पास हुआ, क्या वह किसी नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है? लेकिन इस सवाल का फैसला कौन करेगा? अगर अलग-अलग व्यक्तियों और समूहो को यह छूट देदी जाय कि वे अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार नैतिक-[illegible] की व्याख्या करले, तो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का तो खात्मा ही हो जाता है।

[illegible] रूप से मैं तो यह महसूस करता हूँ कि (बहुत ही संकुचित [illegible]) [illegible] सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियों को सारे समाज पर [illegible]

देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबखोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूँ, क्योंकि शराब समाज को उतना नुकसान नहीं पहुँचाती जितना कि व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखने का दावा करते है उनमे से कुछ लोगो ने मुझसे कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उसके मालिक की स्वीकृति के बिना राष्ट्रीयकरण करना दबाव होगा और इसीलिए अहिंसा के विरु अवश्य ही मेरे सामने इस दृष्टिकोण पर उन बड़े-बड़े जमींदारों ने, जो जबरदस्त लगान वसूल करने मे सरकार की मदद लेने मे नहीं हिचकिचाते, और कई फैक्टरिये के मालिक उन पूजीपतियो ने, जो अपने हलकों मे स्वतन्त्र मजदूर-सघ भी काय नहीं होने देना चाहते, जोर दिया है। यह बात काफी नहीं मानी जाती कि जिन लोग का उस बात से ताल्लुक है उनका अधिकाश परिवर्तन चाहता है, बल्कि परिवर्तन जिन लोगो को नुकसान है उन्हीका हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है थोडे-से स्वार्थी दल स्पष्टत आवश्यक परिवर्तन को रोक सकते है।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हि ही समूहो और वर्गो के दृष्टिकोण के निर्माता होते है। इन हितो के सामने न त तर्क और न नैतिक विचारो की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राजी ह जायँ और अपने विशेषाधिकार छोड दे, यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते है, लेकि समूह और वर्ग ऐसा कभी नहीं करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त व को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारो को छोड देने के लिए रजामन्द करने क जितनी कोशिशे अबतक की गईं वे हमेशा नाकामयाब ही हुईं और इस बात क मानने के लिए कोई वजह नहीं दिखाई देती कि वे भविष्य मे कामयाब हो जायँगी रीन्होल्ड नीबूर ने अपनी किताब[1] मे उन सदाचारवादियो को आडे हाथो लिया है जो यह कल्पना कर बैठे है कि "व्यक्तियो की स्वार्थपरायणता, विवेक और धार्मि स्फूर्ति-प्राप्त सद्भावना की वृद्धि से, दिन-ब-दिन कम हो रही है और य भी कि समस्त मानव-समाजो और समूहो मे सामाजिक ऐक्य स्थापित कराने के लि सिर्फ इतना ही जरूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये सदाचारवादी "मनुष्य सामूहिक व्यवहार मे उन मूल बातो को, जो प्रकृति का अग है और जो कभी सर्वथा विवेक या अन्तरात्मा के अकुश मे नहीं लाई जा सकती, पहचानकर मान समाज मे न्याय-प्राप्ति के लिए जो सघर्ष चल रहा है उसमे राजनैतिक आवश्यक ताओ की अवहेलना कर देते है। ये लोग इस सच बात को नहीं मानते कि ज

१. Moral Man and Immoral Society

सामूहिक शक्ति, चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हो या वर्ग-प्रभुता के रूप में, कमजोरों का शोषण करती है तब वह उस वक्ततक अपनी जगह से नहीं हटाई जा सकती जबतक कि उसके खिलाफ ताकत खड़ी न कर दी जाय।" और फिर, "क्योंकि किसी भी सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हद तक स्वार्थ का दास होता है, केवल नैतिक या बौद्धिक समझाव-बुझाव से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में शक्ति का मुकाबिला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीलें देने से संघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि किसी ऐसे कारगर दबाव के बिना ही, जो मजबूर करने की हदतक पहुँचता हो, कोई साम्राज्यवादी शासक-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च पद और विशेषाधिकारों को छोड़ देगा, सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते हैं, हालांकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नहीं पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीका तो स्वयं कष्ट-सहन का तरीका है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योंकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम उसे न तो नाप ही सकते हैं और न किसी भौतिक तरीके से उसकी जांच ही कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विरोधियों पर भी इस तरीके का काफी असर पड़ता है। यह तरीका विरोधियों की नैतिक दलीलों का परदा फाश कर देता है, उन्हें घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाजा खोल देता है। इस बात में तो कोई शक नहीं हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वयं कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शकों पर बहुत ही जबरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जंगली जानवरों के पास जिस दृष्टि से जाते हैं वैसा ही उनपर असर हो जा[illegible] वह जानवर दूर से ही भांप लेता है, कि आप उसपर हमला करना चाह[illegible] [illegible]सीके मुताबिक वह अपना रवैया अख्तियार करता है। इतना ही नहीं, [illegible]र किसी जानवर से डरे, फिर चाहे वह उसे महसूस न भी हो, तब भी [illegible]सी तरह जानवर के पास पहुँच जाता है और उसे भयभीत कर दे[illegible] [illegible]की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरों को पालनेवा[illegible] [illegible] तो उसपर हमला किये जाने का खतरा फौरन पैदा हो जाता [illegible] आदमी किसी अज्ञात दुर्घटना के सिवा शायद ही कभी

खतरे का शिकार होना हो। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मानव-प्राणी इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं, लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड सकता है। वर्ग के रूप में वह वर्ग किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट-सम्पर्क में नहीं आता। इतना ही नहीं, उसके सबन्ध में वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकागी और तोडी-मरोडी हुई होती है। और हर हालत में जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमें विलीन हो जाते हैं। वह वर्ग तो बहुत दिनों से इस खयाल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए हैं, वे समाज-हित के लिए जरूरी हैं। इसलिए उसके खिलाफ जो राय जाहिर की जाती है वह उसे कुफ्र जैसी मालूम होती है। कानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को कायम रखना खास गुण हो जाते हैं और उनमें विघ्न डालने की कोशिश सब से महान् पाप।

इसलिए जहाँतक विरोधी पक्ष से ताल्लुक है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीका हमें कुछ बहुत दूर तक नहीं ले जाता। निस्सदेह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नर्मी और उसकी साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित बना देती है। क्योंकि वह समझता है कि उसने इससे उसे गलत स्थिति में डाल दिया है और जब किसी व्यक्ति को यह शका होने लगती है कि शायद वह गलती पर न हो, तब उसका सात्विक रोष और भी बढ़ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियों पर जरूर प्रभाव पडता है और इस प्रकार विरोध की दृढता में कमी आ जाती है। इससे भी अधिक बात यह है कि वह तटस्थ लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और ससार के लोकमत को प्रभावित करने का बडा जबर्दस्त जरिया है। लेकिन इस दशा में यह सभव हो सकता है कि शासक-वर्ग खबर को बाहर जाने से रोक दे या उसे तोड-मरोडकर जाने दे। क्योंकि प्रकाशन की एजेन्सियों पर उसका नियत्रण रहता है और इस तरह वह असली वाकयात का पता लगाना रोक सकता है। ताहम अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा जोरदार और व्यापक असर तो जिस देश में यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके न्यूनाधिक उदासीन लोगों पर होता है। निस्सदेह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर उनके जोरदार समर्थक बन जाते है। लेकिन ऐसे लोगों का हृदय-परिवर्तन कोई बडी बात नहीं, क्योंकि ये लोग आम तौर पर उस उद्देश्य को तो मानते ही थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते हैं र कोई असर दिखाई नहीं देता। भारत में असहयोग और सत्याग्रह जिस

तेजी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक हलचल बहुसंख्यक लोगों पर जबरदस्त असर डालती है, और बहुत-से अस्थिर-मति लोगों को किस तरह अपनी ओर खींच लेती है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज्यादा हद तक नहीं बदले। मगर जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे, उनकी किसी उल्लेखनीय संख्या को वह अपने पक्ष का न बना सकी। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढ़ा दिया और इस प्रकार वह और भी ज्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह मान लिया जाता है कि राज्य के लिए अपनी आजादी की रक्षा करने के खातिर हिंसा का प्रयोग जायज है, तब यह समझना मुश्किल है कि उस आजादी को हासिल करने के लिए उन्हीं हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीकों को अख्तियार करना उतना ही जायज क्यों नहीं है? कोई अहिंसात्मक तरीका अवाञ्छनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा नाजायज और वर्जित नहीं हो सकता। सिर्फ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ में सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का ज्यादा हक नहीं मिल जाता। उस हालत में जबकि अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और उसका राज्य पर काबू हो जाय, क्या उसको हिंसा को इस्तैमाल करने का वह हक फौरन ही हासिल हो जायगा, जो उसके पास पहले नहीं था? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के खिलाफ बगावत हो, तो वह उसका मुकाबिला कैसे करे? स्वभावतः वह यह नहीं चाहेगा कि हिंसात्मक तरीके से काम ले और विरोध का मुकाबिला करने के लिए हर शान्तिमय तरीके से कोशिश करेगा। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकता। यह निश्चय है कि जनता में ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होंगे, जो इस परिवर्तन के खिलाफ होंगे और वे इस बात की कोशिश करेंगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेंगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुकाबिला अपने दमनकारी शस्त्रों से नहीं करेगी, तब तो वे गालिबन और भी ज्यादा हिंसा को काम में लायँगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित और पूर्ण विभाजक-रेखा खींच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परिवर्तन के सम्बन्ध में तो यह कठिनाई सचमुच ठीक है लेकिन तब सारा [illegible] शोषक और शोषितवर्गों के सम्बन्ध में यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ [illegible]।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशंसा हुई है, और [illegible] [illegible] में [illegible] चलाये बिना किसी उद्देश के लिए तकलीफ सहने में एक [illegible] [illegible] [illegible] है जिसे मानना ही पड़ता है। फिर भी [illegible] और

के लिए कष्ट उठाने के बीच मे भेद करनेवाली बहुत पतली लकीर है, और इस प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा अक्सर क्रूरतापूर्ण होती है तो कम-से-कम अपने नकारात्मक पहलुओं में अहिंसा सम्भवत दूसरी तरफ अति पर पहुंच सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा को अपनी कायरता और अकर्मण्यता को छिपाने और स्थितिपालकता को कायम रखने का साधन बना लिया जाय।

हिन्दुस्तान मे पिछले कुछ बरसो मे, जबसे कि क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने जोर पकडा है, अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्तन मे हिंसा आवश्यक रूप से काम मे लानी पडती है, इसलिए इन परिवर्तनो के लिए जोर नही दिया जा सका। श्रेणी-युद्ध का जिक्र तक नही किया जाना चाहिए (फिर चाहे वह कितना ही ज्यादा क्यो न मौजूद हो), क्योंकि वह हमारे उस पूर्ण सहयोग और उस अहिंसात्मक प्रगति की भावना मे, जो हमे अपने भावी लक्ष्य की ओर ले जानेवाली है, विघ्न डालता है। यह बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौके पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योंकि यह तो निश्चय ही मालूम पडता है कि जिन वर्गो को विशेष अधिकार प्राप्त है वे अपने प्राप्त अधिकारो को कायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने मे नही हिचकेगे। लेकिन सिद्धान्तत अगर अहिंसात्मक तरीके से कोई बड़ा भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो इसी तरीके से क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यो नही होना चाहिए? अगर हम लोग अहिंसा के जरिये हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल कर सकते है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को निकाल सकते है, तो हम उसी तरीके से माण्डलिक राजाओ, जमीदारो और दूसरे सामाजिक मसलो को हल करके समाजवादी सरकार क्यो नही कायम कर सकते? प्रश्न इतना अधिक यह नही है कि यह सब कुछ अहिंसा के जरिये हो सकता है या नही। सवाल तो यह है कि या तो ये दोनो ही उद्देश अहिंसा के जरिये हासिल हो सकते है या फिर एक भी नही। सचमुच यह तो कहा ही नही जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ विदेशी शासको के ही खिलाफ किया जा सकता है। जाहिरा तौर पर तो किसी देश मे उसके अपने देशी स्वार्थी समुदायो और अडगानीति ग्रहण करनेवालो के खिलाफ उसका प्रयोग करना ज्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर बाहरवालो की बनिस्बत ज्यादा पडेगा।

हिन्दुस्तान मे इन दिनो जो यह प्रवृत्ति चल गई है कि उद्देशो और नीतियो को
 इसलिए बुरा बता दिया जाय क्योंकि वे अहिंसा से टकराती है, मुझे ऐसी

मालूम होती है मानो इन समस्याओ को समझने का जो सही तरीका है उसे छोडकर दूसरी तरह देखा जाता है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिसात्मक उपाय को इसलिए अख्त्यार किया था कि हमे यह विश्वास हो चला था कि उसके द्वारा हम सब-मे अधिक वाञ्छित और कारगर तरीके से अपने लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। उस वक्त हमारा लक्ष्य अहिसा से अलग था। वह न तो केवल अहिसा का पुछल्ला ही था, न उसका परिणाम। उस वक्त कोई यह नही कह सकता था कि हमे आजादी या स्वतन्त्रता को अपना ध्येय तभी बनाना चाहिए जब वह अहिसात्मक तरीको से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय का फैसला अहिसा की शर्तो से होता है, और अगर वह उनके मुताबिक ठीक नही बैठता तो नामजूर कर दिया जाता है। इसलिए अहिसा का खयाल एक ऐसा जडवाद बनता जा रहा है जिसके खिलाफ आप कुछ नही कह सकते। इस कारण आध्यात्मिक रूप मे अब वह हमारी बुद्धि को अपील नही करता और श्रद्धा और धर्म के घोसले मे अपनी जगह ले रहा है। इतना ही नही, वह तो स्वार्थी समुदायो के लिए पक्का लगर बन रहा है और ये लोग मौजूदा स्थिति को ज्यो-का त्यो बनाये रखने के लिए उसमे नाजायज फायदा उठा रहे है।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योकि मेरा विश्वास है कि अहिसात्मक प्रतिरोध के विचार और लडाई की अहिसात्मक विधि, हिन्दुस्तान और बाकी की दुनिया के लिए, अत्यन्त लाभप्रद है और गाधीजी ने वर्त्तमान विचार-जगत् को इनपर गौर करने के लिए विवश करके बडी जबरदस्त सेवा की है। मेरा विश्वास है कि उनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव समुदाय अभी इतना आगे नही बढ पाया है कि वह उन्हे पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धो को प्रकाश के लिए अपनी मशाल देते है, लेकिन उससे उन्हे क्या विशेष लाभ पहुँच सकता है?" सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फली-भूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारो की तरह उसका प्रभाव बढता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेगे। असहयोग, जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते है अपना सहयोग हटा लेना, एक बहुत ही जबरदस्त और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि उच्चकोटि के मुट्ठीभर लोग भी उस-पर अमल करे तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढता चला जाता है। सख्या की दृष्टि मे उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस ह[illegible] हानि यह होती है कि दूसरी बाते नैतिक सवाल को दबा लेती है। ऐसा म[illegible] है कि उसके विस्तार से उसकी गहराई पर उसका असर पडता है। [illegible] [illegible] धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे धकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो ज़ोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन में एक भिन्न-सी वस्तु बन गई है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धर्म की तरह मंजूर करलें या उसे बिलकुल नामंज़ूर कर दें। उसका बौद्धिक अंश पीछे जा छिपा है। १९२० में हिन्दुस्तान के आतंकवादियों पर उसका बहुत असर पड़ा था और जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस में पड़ गये और अपने हिंसात्मक कार्यों को बन्द कर दिया, लेकिन अब उनपर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नहीं रहा है। कांग्रेसवादियों में भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होंने असहयोग और सविनय-भंग के आन्दोलनों में महत्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होंने अहिंसा का उसके सब व्यापक अर्थों में ईमानदारी से पालन करने का प्रयत्न किया था, अब वे काफ़िर समझे जाते हैं और कहा जाता है कि उन्हें कांग्रेस में रहने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वे अहिंसा को न तो ध्येय के तौर पर और न धर्मरूप में मानने को तैयार हैं और न उस एकमात्र लक्ष्य को ही छोड़ने को तैयार हैं, जिसे प्राप्त करना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं, अर्थात् समाजवादी राज्य, जिसमें सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधायें होंगी। व्यवस्थित समाज जो तभी कायम हो सकता है, जब कि आजकल जो विशेष सुविधायें और संपत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं वे अधिकार समाप्त कर दिये जायँ। निस्सन्देह गांधीजी आज भी वही जिन्दा हस्ती बने हुए हैं, जिनकी अहिंसा सजीव और उग्ररूप की है और कोई नहीं कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर देंगे। अपनी तमाम महत्ता और परस्पर विरोधी बातों और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की शक्ति के कारण वह साधारण स्टैण्डर्ड से ऊँचे हैं। जैसे हम दूसरों को नापते तौलते हैं, वैसे उनका नाप-तोल नहीं हो सकता। लेकिन बहुत-से, जो उनके अनुयायी होने का दावा करते हैं, निकम्मे शान्तिवादी या टालस्टाय टाइप के अप्रतिरोधी या किसी संकुचित सम्प्रदाय के सदस्य बन जाते हैं, जिनका कि जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नहीं होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे बहुत से लोगों को इकट्ठा कर लेते हैं जिनका स्वार्थ इसीमें है कि वर्त्तमान व्यवस्था कायम रहे और जो इसी मतलब से अहिंसा की शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसा में समय-साधकता घुस पड़ती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधी के हृदय परिवर्त्तन का, लेकिन अहिंसा को सुरक्षित रखने की धुन में हम स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं, और विरोधी की लाइन में आ जाते हैं। जब जोश ठंडा हो जाता है और हम कमज़ोर पड़ जाते हैं, तब हमेशा थोड़ी-सी पीछे की तरफ हट जाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और बड़े फख्र के साथ अपने विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकारा जाता

है। कभी-कभी तो इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पुराने साथियों तक को गंवा देते हैं। हम उनकी आदतों की, उनके भाषणों की, जो हमारे नये दोस्तों को चिढ़ाते हैं, निन्दा करते हैं और उनपर हमारी एकता भंग करने का इलजाम लगाते हैं। सामाजिक व्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर जोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज में दया और उदारता पर जोर देते हैं और स्वार्थी समुदाय वैसे-के-वैसे ही बने रहते हैं।

मेरा विश्वास है कि साधनों की महत्ता पर जोर देकर गांधीजी ने हमारी बड़ी सेवा की है। फिर भी मैं इस बात को विश्वास के साथ महसूस करता हूँ कि अन्तिम जोर तो लाजिमी और जरूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मकसद हो उसीपर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नहीं करते, तबतक हम इधर-उधर घूमने और इधर-उधर के मामूली सवालों पर अपनी ताकत बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। लेकिन साधनों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते हैं या जबर्दस्त नई-नई समस्यायें खड़ी कर देते हैं। और, आखिरकार, किसी आदमी के बारे में कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नहीं कर सकते, बल्कि उन साधनों से ही करते हैं जिन्हें कि वह व्यवहार में लाता है। ऐसे साधनों के अवलम्बन से, जिनसे कि व्यर्थ की लड़ाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक दूसरे से इतना नजदीकी सम्बन्ध है कि उनको अलग-अलग करना बहुत मुश्किल है। अतः निश्चय रूप से साधन ऐसे होने चाहिएं, जिनमें घृणा या झगड़े यथासम्भव कम हो जाय या सीमित हो जाय, (क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। असल प्रश्न किसी विशिष्ट साधन का उतना नहीं होता, जितना कि वह हेतु, उद्देश्य और स्वभाव का बन जाना है। गांधीजी ने इसी बुनियादी भावना पर जोर दिया है और अगर वह मानव-स्वभाव को किसी उल्लेखयोग्य सीमा तक बदलने में कामयाब [illegible] हैं तो उनको एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय हलचल पर, जिसमें लाखों ने हिस्सा [illegible] इनकी छाप बिठाने में आश्चर्यजनक कामयाबी हुई है। कड़े नैतिक अनुशासन [illegible] उन्होंने जो जोर दिया वह भी बहुत जरूरी था, हालांकि उन्होंने उस वैयक्तिक [illegible] के जो स्टैण्डर्ड कायम किये हैं वे शायद वहम तलब हैं। वह वैयक्तिक पापों [illegible] कमजोरियों को तो बहुत ज्यादा महत्त्व देते हैं और सामाजिक पापों को बहुत [illegible] अनुशासन की आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योंकि सुभीतों का रास्ता छोड़कर

शक्ति और अधिकार के स्थान पर पहुचे हुए विशेष अधिकारप्राप्त समूह मे मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से कॉग्रेसवादियो को काग्रेस से बाहर खींच लिया है। क्योंकि किसी भी नामी कॉग्रेसवादी के लिए उस सुविधापूर्ण स्थान के द्वार तो सदा खुले ही रहते है।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के सकटो मे ग्रस्त है। लेकिन इनमे सबसे बड़ा सकट आध्यात्मिक सकट है। यह बात पूर्व के देशो मे खासतौर पर दिखाई देती है, क्योकि हाल मे दूसरी जगहो की अपेक्षा एशिया मे बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुए है और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बड़ी कष्ट-प्रद है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्त्व पागई है, शायद सबमे कम महत्त्व की चीज है। हालाकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मसलो मे लगे, उसका सतोषप्रद हल हो जाना जरूरी है। पिछले बहुत-से युगो मे हम लोग एक अपरिवर्त्तनीय मूल सामाजिक व्यवस्था के आदी हो गये है। हममे से बहुतो का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ यही आधार समाज के लिए सम्भव और ठीक आधार है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते है। लेकिन भूत-काल से वर्तमान को मिलाने की हम जितनी कोशिशे करते है वे सब बेकार हो जाती है, जोकि अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है कि—"अन्त मे आर्थिक सदाचार आर्थिक आवश्यकताओ का अनुकरण करता है।" आजकल की जरूरते हमे इस बात के लिए मजबूर करेगी कि हम उनके मुताबिक सदाचार की एक नई व्याख्या बनावे। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक सकट मे से निकल भागने का कोई रास्ता ढूढना चाहते है और चाहते है कि हम आजकल की सच्ची आध्यात्मिक उपयोगिताओ को महसूस करले तो हमे निर्भीकता से और साहस के साथ समस्याओ का सामना करना पड़ेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नही चलेगा। धर्म जो कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीके से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास करले, उससे किसी बात को बुद्धिपूर्वक समझ लेने मे हमे कतई कुछ मदद नही मिलती। जैसा कि फ्रूड ने कहा है कि धर्म के आदेश—"विश्वास किये जाने योग्य है इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे, दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद है, जो हमे उसी पुराने जमाने से विरासत मे मिलते आये है, और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे मे सवाल उठाना मना है।"[१]

अगर हम अहिसा पर उसके सब व्यापक भावो सहित निर्भ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करे तो वहम के लिए कोई गुंजाइश नही रहती है। उस हालत मे तो वह

१. The Future of an Illusion

एक सम्प्रदाय का सकुचित ध्येय हो जाता है, जिसे लोग माने या न माने। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमे मौजूदा मसलो को हल करने की क्षमता नही रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतो के सिलसिले मे उसपर बहस करने को तैयार रहे तो वह हमे इस दुनिया के नवनिर्माण के हमारे प्रयत्नो मे बहुत मदद दे सकता है। ऐसा करते समय हमे साधारण व्यक्ति की कमजोरियो और उसके स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए। विस्तृत प्रमाण मे सामूहिक रूप से और खासकर कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तनो के लिए किये जानेवाले किसी भी प्रयत्न पर केवल इसी बात का असर नही पडता कि नेता लोग उसके सम्बन्ध मे क्या सोचते है, बल्कि मौजूदा अवस्थाओ का और इससे भी अधिक मानव प्राणी उसके साथ काम करते है वे उसके सम्बन्ध मे क्या सोचते है, इसका भी प्रभाव पडता है।

दुनिया की तवारीख मे हिसा का बहुत बडा हिस्सा रहा है। आज भी वह बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और गालिबन आगे भी बहुत वक्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले जमाने मे जो परिवर्त्तन हुए, उनमे से ज्यादातर हिसा और बलप्रयोग से ही हुए। एक मर्तबा डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था कि—"मुझे यह कहते हुए दुख होता है कि अगर राजनैतिक सकट के समय इस मुल्क के लोगो को हिसा से नफरत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने की हिदायतो के अलावा और हिदायते न जारी की गई होती, तो इस मुल्क मे लोगो को जो आजादिया है वे उन्हे कभी प्राप्त न हो पाती।"

पिछले जमाने की, और आजकल भी, हिसा की अहमियत की उपेक्षा करना नामुमकिन है। उसकी उपेक्षा करना जिन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी बिला शक हिसा एक बुरी चीज है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामो की एक लम्बी लीक छोड जाती है। और हिसा से भी ज्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, बदला और सजा की वे प्रवृत्तिया है जो अक्सर हिसा के साथ चलती है। सच बात तो यह है कि हिसा स्वत बुरी नही बल्कि वह इन्ही प्रवृत्तियो की वजह से बुरी है जो उसके साथ-साथ रहती है। इन प्रवृत्तियो के बिना भी हिसा हो सकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिसा को इन प्रवृत्तियो से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वाछनीय है कि जहाँतक मुमकिन हो हिसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने मे हम यह नकारात्मक रुख अख्तियार नही कर सकते कि उससे बचने की धुन मे दूसरी व उससे कही ज्यादा बडी बुराइयो के सामने [illegible]र। हिसा के सामने दब जाना या हिसा की नीव पर टिके हुए किसी [illegible]सन को मजूर कर लेना अहिसा की स्पिरिट के बिलकुल खिलाफ है।

अहिंसा का तरीका तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और इतनी सामर्थ्य रखता हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा ख्याल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी-न-किसी किस्म का बल-प्रयोग तो लाजिमी मालूम पड़ता है, क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताकत और खास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस वक्त नहीं छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरतें न पैदा करदी जायं जिनमें उनके लिए इन खास हकों का रखना उन्हें छोड़ने से ज्यादा नुकसानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बगैर बल-प्रयोग के कभी नहीं मिट सकते। निस्सन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे, क्योंकि जबतक बहुत बड़ी तादाद हमारे हमख़याल न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्त्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नहीं हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। हमारे लिए यह ठीक नहीं है कि हम इन बुनियादी लड़ाइयों पर परदा डालें और यह दिखलाने की कोशिश करें कि वे हैं ही नहीं। ऐसा करने में न सिर्फ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका सीधा परिणाम यह होता है कि यह लोगों को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मजबूत बनाता है और शासक-वर्ग को वह नैतिक आधार मिल जाता है, जिसकी, अपने विशेष अधिकारों को उचित ठहराने के लिए वे हमेशा, तलाश में रहते हैं। किसी भी अन्याययुक्त पद्धति का मुकाबिला करने के लिए यह लाजिमी है कि जिन गलत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक खूबी यह भी है कि वह इन गलत उपपत्तियों और झूठी बातों को मानने और आगे बढ़ाने में सहयोग देने से इन्कार करके उनका रहस्योद्घाटन कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधा युक्त एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निस्वार्थपरायण सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो और अन्त में एक ऐसी संसारव्यापी व्यवस्था हो जाय। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते में रोड़ा बनकर आवेगा उसे हटाना होगा। हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक, और इस बात में बहुत कम शक है कि अक्सर बलप्रयोग

 पड़ेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता

की भावना से नहीं, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की निर्विकार इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नहीं है, कोई सीधा रास्ता भी नहीं है और गड्ढों की कोई गिनती नहीं। हमारे सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्कतें और गड्ढे दूर नहीं हो जायगे, बल्कि उनका असली रूप जानकर और साहस के साथ उनका मुकाबिला करके उन्हें हटाना होगा। यह सब बातें काल्पनिक और सुख स्वप्न सी मालूम होती हैं और अधिकतर यह सम्भव नहीं है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओं से प्रेरित होंगे। लेकिन हम उन्हें अपनी नजर के सामने रख सकते हैं और उनपर ज़ोर दे सकते हैं और यह हो सकता है कि इसके फल-स्वरूप हममें से बहुतों में जो घृणा और दूसरे विकार भरे हुए हैं वे कम हो जायँ।

साधन हमें इस लक्ष्यतक पहुँचानेवाले और इन भावनाओं पर अवलम्बित होने चाहिएं। लेकिन हमें यह बात जरूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी अपीलों पर और दलीलों पर हमेशा ध्यान नहीं देंगे और न ऊँचे नैतिक उसूलों के मुताबिक काम ही करेंगे। हृदय-परिवर्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर जरूरत पड़ती रहेगी और सबसे अधिक हम जो कुछ कह सकते हैं वह यही है कि उसको सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम में लावें कि उसकी बुराई कम हो जाय।

६४

फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेल मे मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती थी। मेरा वजन बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढ़ती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफवाह थी, कि मुझे किसी अच्छी आबोहवावाली जगह मे भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मैं देहरादून-जेल मे भेजा जा रहा था। कुछ महीनो की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी ठण्डी हवा मे कलकत्ता के बीच होकर गुजरना बड़ा खुशगवार मालूम होता था और हावड़ा के आलीशान स्टेशन पर लोगो की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मैं उम्मीद-भरी नजरो से देहरादू और उसके आस-पास के पहाड़ो की तरफ देखता था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर दे कि, नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अ नही रही है। मैं अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियो के रहने की जग को साफ और ठीक करके नियत किया गया था।

कोठरी की शकल मे वह कुछ बुरी नही थी। उसके साथ एक छोटा-सा बराम भी था। उसीसे लगा हुआ करीब पचास फीट लम्बा सहन था। देहरादून मे पहल बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मु मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियाँ कुछ बेहतरी के लिए न थी। घेरे की दीवार, ज दस फीट ऊँची थी, खासकर मेरी गरज से उसी वक्त चार या पाँच फीट और ब दी गई थी। इससे पहाड़ियो के जिस नजारे की मैं इतनी उम्मीद कर रहा था वह बिलकुल छिप गया था, और मैं सिर्फ कुछ दरख्तो के सिरे ही देख पाता था। इस जेल मे करीबन तीन महीने से ज्यादा रहा, लेकिन मुझे कभी पहाड़ो की झल तक दिखाई नही दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाजे सामने घूमने की इजाजत न थी। मेरा छोटा-सा सहन ही वर्जिश या कसरत लिए काफी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई बन्दिशे नाउम्मीदी पैदा करनेवाली थी, जिससे कि मैं खि गया। मैं अनमना हो गया और अपने सहन मे जो थोड़ी-बहुत वर्जिश कर सकता था उस तक के करने को तबीयत न रही। शायद ही मैने कभी अपने को इतना अकेल ...र दुनिया से जुदा महसूस किया हो। तनहाई कैद का मेरी तबियत पर खरा

असर होने लगा, और मेरी जिस्मानी और दिमागी हालत गिर गई। मैं जानता था कि दीवार के दूसरी तरफ कुछ फीट की दूरी पर वायुमण्डल मे ताज़गी और खुशबू भरी है, घास और मिट्टी मे मिलकर ठण्डी-ठण्डी सुगन्ध फैल रही है और हरे-हरे वृक्षों के बीच मे दूर-दूर तक रास्ते बने हुए हैं। लेकिन ये सब मेरी पहुँच के बाहर थे और बारबार उन्ही दीवारो को देखते-देखते मेरी आँखे पथरा जाती थी। वहा पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योकि मै सबसे अलग और अकेला रक्खा गया था।

छ हफ्ते बाद मूसलाधार बारिश हुई, पहले हफ्ते मे बारह इञ्च पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ, गर्मी कम हुई और शरीर हल्का हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखो या दिमाग को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दर्वाजा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक चमचमाते हुए हरे-भरे खेत और रंग बिरंगे वृक्ष, जिन पर मेह की बूँदे मोती की तरह चमकती थी, बिजली के गाज की भांति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल लुप्त हो जाती थी। दर्वाजा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियो को साफ तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कही नज़दीक होऊं तो वह न खोला जाय, और वे जब-कभी खोलते भी थे, तो बस ज़रा-सी हरियाली और ताज़गी की ये थोडी-थोडी झाँकियाँ अब मुझे अच्छी नही लगती थी, उन्हे देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल मे एक दर्द-सा उठता था, इसीलिए जब कभी दर्वाज़ा खुलता तो मै बाहर की तरफ नही देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल मे जेल की ही वजह से नही थी। यह तो बाहरी घटनाओ का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ मेरी राजनैतिक चिन्तायें। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला [illegible]। उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है और ऐसी दशा मे मै उसकी कोई भी [illegible]ा न कर सकने मे मजबूरी और लाचारी महसूस कर रहा था। मैं जानता था कि [illegible] कमला के पास होता तो अवस्था बहुत कुछ बदल जाती।

[illegible] अलीपुर मे तो यह बात न थी, पर देहरादून जेल मे मुझे रोजाना अखबार [illegible] लगा और मुझे बाहर के राजनैतिक और दूसरे हालात मालूम होने लगे। [illegible] मे आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की करीब तीन बरस बाद बैठक हुई (इस [illegible]न मे तो वह करीब-करीब गैरकानूनी ही रही।) इसकी कार्रवाई पढकर [illegible] गई। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और दुनिया मे इतना कुछ हो जाने [illegible] यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने [illegible] से निकलने की कुछ कोशिश नही की गई। दूर से ऐसा जान पडा,

मानो गांधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप में खड़े कह रहे हैं "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना चाहते हो, तो मेरी शर्तें कबूल करो।" उनकी मांग बिलकुल स्वाभाविक थी। क्योंकि यह तो हो नहीं सकता था कि उन्हें रक्खा भी जाय और काम भी उनसे उनके गहरे विश्वासों के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा ज़रूर लगा कि ऊपर से लादने की वृत्ति ज्यादा थी और आपस में चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र बात है कि एक तरफ तो गांधीजी लोगों के दिल और दिमाग पर कब्ज़ा कर लेते हैं और फिर उन्हींकी लाचारी की शिकायत करते हैं। मैं समझता हूँ, जनता ने जितनी वफादारी और भक्ति के सामूहिक रूप में उनका साथ दिया है, उतना बहुत कम लोगों का दिया है। ऐसी हालत में जनता को यह दोष देना न्यायोचित नहीं मालूम होता कि उससे जो बड़ी-बड़ी आशायें बांधली गई थीं वे पूरी नहीं हुईं। पटना की बैठक में गांधीजी अन्त तक ठहरे तक नहीं क्योंकि उन्हें हरिजन प्रवास जारी रखना था। उन्होंने आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी में फालतू बातों में न पड़कर काम-से-काम रखने और वर्किंग कमिटी के रक्खे हुए प्रस्तावों को जल्दी से निपटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे वाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यों के विचारों में इतनी गड़बड़ी और स्पष्टता की कमी थी कि नुकताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसी ने दिया हो। उस वक्त की परिस्थिति में यह था तो स्वाभाविक, क्योंकि लड़ाई का भार अलग-अलग प्रान्तों से आये हुए इन्हीं नेताओं पर आ पड़ा था, और वे ज़रा थके हुए और परेशान से थे। उन्हें कुछ ऐसा तो लगा कि अब लड़ाई बन्द करनी पड़ेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय। उस समय दो स्पष्ट दल बन गये। जिनमें से एक तो कौंसिलों द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष में और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारों के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज्यादातर मेम्बर दोनों में से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नहीं थे। उन्हें यह पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलों की शरण ली जाय और साथ ही समाजवाद से कुछ डर भी लगता था कि कहीं इस नई चीज़ से आपस में फूट पैदा न हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एकमात्र आशा और सहारा गांधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होंने गांधीजी की तरफ देखा और जो उन्होंने कहा किया। यह बात दूसरी है कि बहुतों को गांधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गांधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का कमिटी और कांग्रेस दोनों में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा कांग्रेस पीछे हट गई। पिछले पन्द्रह साल में, जब से असहयोग का जग हुआ, कांग्रेस के नेताओं ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढग की बाते नहीं की थी। पिछली स्वराज-पार्टी, हालांकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार धारा को देखते हुए कहीं आगे बढी हुई थी। और स्वराज्य-पार्टी मे जैसे बडे और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसम है भी नही, इसमे बहुत-से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस मे धडाधड शामिल होकर बडे आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशे उठाली और वह कानूनी सस्था बन गई। लेकिन उसकी बहुत-सी सहायक सस्थाये फिर भी गैर कानूनी बनी रही—जैसे, कॉंग्रेस का स्वयसेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान सभाये, शिक्षण-सस्थाये, और नौजवान-सभाये। जिनमे एक बच्चो की सस्था भी थी। खास तौर पर खुदाई खिदमतगार या सरहद्दी लाल कुर्तीवाले फिर भी गैरकानूनी बने रहे। यह सस्था १९३१ मे कांग्रेस की बाकायदा शाखा बनकर सरहद्दी सूबे मे उसकी तरफ से काम करती थी। इस तरह हालाकि कॉंग्रेस ने अपनी हलचल का सीधीलडाई वाला हिस्सा पूरी तरह मुल्तवी कर दिया था और वैध ढग इख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो खास कानून बनाये थे, वह सब-के-सब कायम रक्खे और कॉंग्रेस सस्था के जरूरी हिस्सो पर पाबन्दियाँ जारी रक्खी। किसानो और मजदूरो की सस्थाओ को दबाने की तरफ भी खास ध्यान दिया गया। और मजेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बडे-बडे सरकारी अफसर घूम-घूमकर जमीदारो और ताल्लुकेदारो को सगठित करने लगे। जमीदारो की इन सस्थाओ को हर तरह की सहूलियते दी गई। युक्तप्रान्त की इन सस्थाओ मे से बडी-बडी दो का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियो ने इकट्ठा किया।

मेरा खयाल है कि मैंने हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक सस्थाओ के साथ कभी शिकायत नही की है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन मे खास तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने खामखाह लाल कुर्तीवालो पर लगाई गई बन्दिशो की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोक दी। एक तो मामूली नागरिक अधिकारो का छीना जाना, और फिर भी वह ऐसे वक्त मे जब कोई लडाई नही थी, इस कार्रवाई के समर्थन से मै दग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड भी दें, तो भी सबको मालूम था कि लडाई के दिनो मे, इन सरहद्दी लोगो का बर्ताव विलक्षण रहा और उनके नेता खान अब्दुलगफ्फारखाँ, जो देश में ऊँचे दरजे के बहादुर

ओर ईमानदार आदमी हैं, ओर जो बगैर मुकदमा चलाये नजरबन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल मे थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज्यादा साम्प्रदायिक द्वेष ओर क्या हो सकता है। मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू महासभा के बडे नेता इस मामले मे अपने साथी की फोरन तरदीद करदेगे। लेकिन जहातक मुझे मालूम है, उनमे से किसीने एक शब्द भी न कहा। हिन्दू महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बडी अशान्ति हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखाई दिया कि देश मे एक नई स्थिति पैदा हो जाने का पेशखीमा हो। गर्मी के दिन थे ओर तीसरे पहर का वक्त। मेरी आँखे झपक गई। याद पडता है कि एक अजीब-सा सपना देखा। अब्दुलगफ्फारखा पर चारो तरफ से हमले हो रहे है और मैं उन्हे बचाने के लिए लड रहा हूं। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूं कि तकिया आँसुओ से तर है। मुझे बडा ताज्जुब हुआ, क्योकि जागृत अवस्था मे तो कभी मुझ पर ऐसी भावुकता सवार नही हुआ करती।

उन दिनो मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नीद ठीक नही आती थी। यह मेरे लिए नई बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नीद मे चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा जोर का हो गया। जब मैं चौककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियो को खडा पाया। उन्हे मेरे शोर से चिन्ता हो गई थी। सपना मुझे यह आया था कि कोई मेरा गला घोट रहा है।

इसी अर्से मे कॉग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर तकलीफ-देह असर हुआ। यह कहा गया था कि "निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती ओर वर्गयुद्ध के सबध मे होनेवाली गैरजिम्मेदाराना चर्चा को मद्दे नजर रखकर" यह प्रस्ताव पास हुआ है, और आगे चलकर इसके जरिये कॉग्रेसवालो को यह बताया गया था कि कराची कॉग्रेस के प्रस्ताव मे "न तो किसी माकूल वजह या मुआविजे के बिना निजी सम्पत्ति की जब्ती का खयाल रक्खा गया है, न वह वर्गयुद्ध की हिमायत ही करता है। वर्किंग-कमिटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध कॉग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ है।" इस प्रस्ताव की भाषा अनुचित थी, जिससे एक हदतक यह जाहिर होता था कि इसके बनानेवाले यह जानते ही नही कि वर्गयुद्ध क्या चीज है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कॉग्रेस समाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल मे, इस दल के किसी भी जिम्मेदार शख्स की तरफ से जब्ती की कभी कोई बात नही कही गई थी, हाँ, मौजूदा परिस्थितियो मे जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका जिक्र कर दिया जाता था। वर्किंग कमिटी के इस प्रस्ताव मे यह

इशारा पाया जाता है कि कोई भी ऐसा शख्स जो इस तरह वर्गयुद्ध की इस वजूदगी मे यकीन रखता हो कॉंग्रेस का मामूली मेम्बर तक नही बन सकता। किसी ने कॉंग्रेस के समाजवादी हो जाने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की कभी कोई शिकायत नही की थी। कुछ मेम्बर यह राय रखते थे, लेकिन अब यह जाहिर हो गया कि इस राष्ट्रीय संस्था मे जहाँ सबके लिए जगह है, समाजवादियो के लिए कोई जगह नही।

अक्सर यह कहा गया है कि कॉंग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रंक तक सभी किस्म के लोग इसमे शामिल है। राष्ट्रीय आन्दोलनो का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते है और उनकी नीति सभी किस्म के लोगो की भलाई की होती है। लेकिन जाहिर है कि यह दावा तो किया ही नही जा सकता। कोई राजनैतिक संस्था विरोधी-हितो की प्रतिनिधि नही हो सकती। क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमजोर और बे-मानी संस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिन्ह और स्वरूप भी कायम न रह सकेगा। कॉंग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता हासिल करने और राष्ट्र की भलाई के लिए उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक खास विचारधारा है, या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्म-प्रचारिणी संस्था है, जिसके अपने कोई विचार नही है, बल्कि वह सबका भला चाहती है। यह तो उन्ही लोगो की नुमाइन्दा बन सकती है जो उस उद्देश और सिद्धान्त के साथ आम तौर पर सहमत हो और जो उसके विरोधी है उन्हे राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और पतिगामी समझकर उनके असर को रोके या मिटाये ताकि कॉंग्रेस अपने सिद्धान्तो पर अमल कर सके। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन मे अधिक लोगो के सहमत होने की गुंजाइश रहती है, क्योंकि उसका सामाजिक संघर्ष से कोई संबंध नही होता। इस तरह कॉंग्रेस किसी-न-किसी मात्रा मे भारतवासियो के भारी बहुमत की प्रतिनिधि थोड़े-बहुत रूप मे जरूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग इसमे शामिल रहे है। ये लोग एकमत सिर्फ इस बात पर रहे कि साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर जोर देने का जुदा-जुदा लोगो का [illegible] जुदा ढंग था। साम्राज्यवाद के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगो की राय [illegible] खिलाफ रही, वे लोग कॉंग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शकल मे [illegible] सरकार के साथ मिल गये। इस तरह कॉंग्रेस एक तरह की स्थायी सर्वदल [illegible] बन गई, जिसमे एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल रहे जो एक विश्वास और [illegible] की जबरदस्त हस्ती से बंधे रहे।

आगे चलकर वर्किंग कमिटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव का महत्व उसकी भाषा या मजमून में उतना न था, जितना कि इसमें कि उससे कांग्रेस की बदली हुई विचार-धारा का एक बार फिर परिचय मिलता था। साफ है कि यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल आनेवाले असेम्बली के चुनाव में जायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इस दल के (या, इन लोगों के प्रभाव से) कांग्रेस का दृष्टिकोण अधिकाधिक नरम होता जारहा था और वह मुल्क के नरम और पुराने ख्याल के लोगों को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगों ने पहले कांग्रेस की हलचलों का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने में भी सरकार का साथ दिया था, उन लोगों के प्रति भी चापलूसीभरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और नुक्ताचीनी करनेवाला विरोधी पक्ष (कांग्रेस के गरम विचारवाले लोग) इस मेल-मिलाप और मत-परिवर्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणों ने यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी गरमदलवालों के काटने-खसूटने पर भी अपना नया रास्ता छोड़ने को तैयार नहीं थी। यह भी जाहिर होता था कि अगर गरम दल का रुख न बदला तो उसे दबोचकर कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूंक-फूंककर कदम रखने का कार्यक्रम बताया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल में कांग्रेस ने कभी अख्तियार नहीं किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस के नेताओं में कई ऐसे मशहूर लोग थे, जिनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बड़ी बेशकीमती सेवायें रही हैं और जिनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर में बड़ी इज्जत की जाती है। लेकिन इस नई नीति की वजह से कांग्रेस के दूसरी श्रेणी के ही नहीं, चोटी के नेताओं में भी बहुत-से ऐसे थे, जिन्हें आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्ताओं में अलबत्ता बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान लोलुपों और समय-साधकों के लिए दर्वाजा जितना ज्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। गांधीजी के रहस्यमय और भ्रमात्मक व्यक्तित्त्व के सिवा जिसने कि सारी नुमाइश पर अपना प्रभाव जमा रक्खा था, कांग्रेस के यह दो रुख थे—एक तो वह जो सर्वथा राजनैतिक था और संगठित दल का रूप अख्त्यार कर रहा था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसका विचार

था कि वह जीत उस नीति की सफलता के कारण है जिसका प्रयोग करके उसने सत्याग्रह और उस के आन्दोलन की शाखाओं को दबा दिया था। ऑपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगे कि मरीज जियेगा या मरेगा। हालांकि उस वक्त कांग्रेस किसी हद तक दबादी गई थी, फिर भी सरकार अपनी दमन नीति को, कुछ मामूली सी तबदीलियों के साथ, वैसा ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्त्तन क्षणिक या आरजी ही हो सकते हैं, और इसलिए अपनी नीति में ज़रा भी ढिलाई करने से आन्दोलन की गति कहीं उल्टी अधिक तेज़ रफ्तार न पकड़ले। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मज़दूर या किसानवर्ग में से अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के विशेष नेताओं की बहुत अधिक नाराजी की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हदतक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटनाक्रम के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून में मुझे सरकार की पसन्द के अखबार के जरिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफा खबरें मिलने लगी थीं। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हदतक परिवर्त्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मैं भूतकाल की बातों का, जब से मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया तब से हिन्दुस्तान में गुजरी हुई राजनैतिक घटनाओं का खयाल करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हदतक सही रास्ते पर थे? किस हदतक गलती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर कागज़ पर लिखता जाऊँ तो वह अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग को एक निश्चित काम में लगाये रखने से उसे [illegible] इस तरह चिन्ता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह [illegible] सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह 'कहानी' लिखना शुरू [illegible] और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर [illegible] आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई, तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-[illegible] भर तक मैं न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की, और [illegible] इस व्यक्तिगत यात्रा की समाप्ति के निकट पहुँच चुका हूँ। इसका अधिकांश

एक अजीब परेशानी की हालत मे लिखा गया है, जब कि मै उदासी और मानसि
चिन्ताओ से दबा हुआ था। शायद इसकी थोडी-सी झलक जो कुछ मैने लिखा, उस
आ गई है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओ को भुलाने अपना गम क
करने मे बडी सहायता दी। जब मै इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के श्रोताओ क
बिलकुल खयाल न था, मै अपने-आपको सबोधन करता था, और प्रश्न बनाकर उस
उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरञ्जन भी हो जाता था। यथ
सम्भव मै बिना किसी लाग-लपेट के सीधा सोचना चाहता था, और मुझे खयाल
कि शायद भूतकाल का यह सिहावलोकन मुझे इस काम मे सहायक होगा।

आखिरी जुलाई के करीब कमला की हालत बडी तेजी से बिगडने लगी औ
कुछ ही दिनो मे वह नाजुक हो गई। ११ अगस्त को मुझसे यकायक देहरादून-जे
छोडने को कहा गया और उस रात को मै पुलिस की निगरानी मे इलाहाबाद भे
दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुँचे और वह
मुझ से जिला मजिस्ट्रेट ने कहा कि मै आरजी तौर पर रिहा किया जा रहा हू ि
जिससे मै अपनी बीमार पत्नी को देख सकूँ। यह मेरी गिरफ्तारी से एक दिन क
छठा महीना था।

६५

ग्यारह दिन

"स्वय काटकर जीर्ण म्यान को फेंक-फाक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[1]

मेरी रिहाई आरजी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जब तक डॉक्टर बिलकुल जरूरी समझे तबतक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना सम्भव न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमे तो मैं किसी दिन, किसी भी जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए जरा भी तैयार न था। कैद की तनहाई से मैं एकदम डॉक्टरों, नर्सो और रिश्तेदारो से भरे हुए घर पर पहुँचाया गया। मेरी लड़की इन्दिरा भी शान्तिनिकेतन से आ गई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दर्यापत करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढंग भी बिलकुल जुदा था, घर के सब आराम थे, और अच्छा खाना था। यह सब कुछ होते हुए भी कमला की खतरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी। मैंने उसे बहुत दुबली और निहायत कमजोर हालत मे पडे देखा। उसका ढाचा भर रहा था, जो बड़ी कमजोरी से अपनी बीमारी से लोहा ले रहा था। और यह ख्याल कि शायद वह मुझे छोड़ जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढे अठारह साल हुए थे। मेरा दिमाग उस दिन और उसके बाद के इन सब पिछले बरसो मे जो कुछ गुजरा उसकी तरफ घूमने लगा। शादी के वक्त मैं छब्बीस साल का था और वह करीब सत्रह बरस की, दुनियवी तौर-तरीको से सर्वथा अलिप्त भोली अबोध बालिका थी। हमारी उम्र मे काफी अन्तर था, और उससे भी अधिक अन्तर हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु मे था, क्योंकि उसकी बनिस्वत मेरी उम्र कहीं ज्यादा थी। सजीदगी के इन सब अलामात के बावजूद भी मुझमे बड़ा लडकपन था, और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक लडकी

[1] बायरन का मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है—

"For the Sword outwears its sheath,
And the soul wears out the breast"

का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनों एक दूसरे की तरफ आकर्षित हो रहे थे और काफी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में सघर्ष तक की नौबत आ जाती थी, और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चों के से छोटे-मोटे झगडे भी हो जाया करते थे, जो ज्यादा देरतक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल मिलाप-होकर समाप्त हो जाते थे। दोनों का स्वभाव तेज था, दोनों ही तुनकमिजाज थे, और दोनों में ही अपनी शान रखने की बच्चों की-सी जिद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढता गया, हालाकि परस्पर अनुकूलता का अभाव धीरे-धीरे कम हुआ, हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लडकी और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएँ हुई और उनमें मेरी सलग्नता बढती गई। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फौरन ही पजाब के मार्शल लॉ और असहयोग का जमाना आया और मैं सार्वजनिक कामों के आँधी-तूफान में अधिकाधिक फँसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ गई थी कि ठीक उस समय, जब कि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नजर अन्दाज कर, उसे अपने खुदके भरोसे पर छोड दिया। उसके प्रति मेरा स्नेह बराबर बना रहा, बल्कि बढा भी और यह जानकर बडी तसल्ली हुई कि वह अपने शान्तिप्रद प्रभाव के साथ इसमें मेरी सहायक है। उसने मुझे बल दिया। लेकिन साथ ही उसकी तन्दुरुस्ती पर भी असर पडा होगा और उसने अपने प्रति कुछ लापरवाही को भी महसूस किया होगा। इस तरह उसे भूला-सा रहने और कभी-कदास ही उसकी सुध लेने के बजाय उसपर मेरी अकृपा रही होती, तो भी किसी कदर अच्छा ही था।

उसके बाद उसकी बीमारी का दौरा शुरू हुआ और जेल-निवास के कारण मेरी लम्बी गैरहाजिरी रहने लगी जिससे हम केवल जेल की मुलाकात के समय ही मिल सकते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे हमारे प्रथम श्रेणी के योद्धाओं के बीच ला खडा किया, और जब वह खुद जेल गई तो इसकी उसे बडी खुशी हुई। हम सदा एक दूसरे के और भी निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मुलाकातें बेशकीमती होती गईं, हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं क्योंकि हमारी मुलाकातों और अल्पकालिक सम्मिलनों में हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी

और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनों में से हरेक बराबर एक दूसरे में नई-नई बातें पाते रहते थे, हालाँकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदों में भी लड़कपन की मात्रा रहती।

हमारे वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसकी सूरत पर कौमार्य अभी तक वैसा ही बना हुआ था, स्त्रियोचित संजीदगी का कोई चिन्ह न था। इतने अर्से पहले वह जैसी दुल्हन बनकर हमारे घर में आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था, और हालाँकि अपनी उम्र के मुताबिक मैं काफी योग्य, क्रियाशील और चुस्त था--और कुछ लोगों का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफ़तें मौजूद हैं, फिर भी मेरा चेहरा मेरे साथ धोखा करता है। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाकी थे वे पक गये थे, पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियाँ और आँखों के चारों तरफ़ काली झाई पड़ गई थीं। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियाँ मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गई थीं। इन पिछले बरसों में मैं और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते, तो मैं यह देखकर हैरान हो जाता था, कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहन सी दिखाई देती थीं।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस! लेकिन उनमें से कितने साल मैंने जेल की कोठरियों में, और कमला ने अस्पतालों और सैनिटोरियम में बिताये? और फिर इस समय भी मैं जेल की सज़ा भुगत रहा था और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए संघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में उसकी लापरवाही पर कुछ झुंझलाहट सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योंकि उसकी तेज तबियत अपनी अक्रियशीलता और राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने में अपनी लाचारी के कारण उसे छटपटाती रहती थी। शरीर ऐसा करने में समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को बरबाद कर दिया।

सचमुच ही इस समय, जब कि मुझे उसकी सब से अधिक आवश्यकता है, क्या वह मुझे छोड़ तो न जायगी? क्यों, इसलिए कि हम दोनों ने एक दूसरे को ठीक तौर पर पहचानना और समझना अभी-अभी शुरू ही किया है। हम दोनों ने एक दूसरे पर भरोसा किया था, हम दोनों को एकसाथ रहकर बहुत काम करना था।

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह [illegible] उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो कुछ हो चुका था, और जिससे कि मैं वाकिफ नहीं था, उसके मुतल्लिक उन्होंने बहुत कुछ कहा। उन्होंने वर्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का खयाल दिमाग से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब प्रश्नों का जवाब यकायक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। अच्छी तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क जरूरी था, उसके बगैर राय जाहिर करना सर्वथा शाब्दिक-सा और असलीयत से दूर होता। इसके साथ ही मुझे गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमिटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बातों पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय जाहिर करना, उनके प्रति अन्याय करना मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था, उसपर मेरे दिमाग में काफी आलोचना भरी हुई थी, लेकिन मैं कोई निश्चित सूचना देने के लिए तैयार न था। उस समय जेल से बाहर आने का कोई खयाल न होने के कारण उस दशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक खयाल यह भी था कि, सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौके का मैं राजनैतिक बातों के लिए उपयोग करूं। हालांकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस खयाल का मुझ पर बराबर असर होता रहा।

सिवा झूठी अफवाहों के खण्डन के मैंने किसी भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टलाया। प्राइवेट बातचीत में मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नहीं किया, लेकिन पुरानी घटनाओं की आलोचना काफी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया था, और मेरे बहुत-से गहरे साथी उसमें शरीक थे। जहाँतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी, लेकिन वह एक अजीब और खिचड़ी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मैं बिलकुल आजाद होता, तो भी यकायक उसमें शरीक न होता। स्थानीय राजनैतिक झगड़ों ने भी मेरा कुछ समय लिया, क्योंकि कुछ दूसरी जगहों की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस कमिटियों के चुनाव के समय असाधारण रूप से जहरीला प्रचार हुआ था। इनमें सिद्धान्त की [illegible] बात न थी, ये बिलकुल कुछ व्यक्तियों के अपने खानगी प्रश्न थे। मुझसे [illegible]। कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगड़ों को निबटाने में मैं मदद करूँ।

इन झगड़ों में पड़ने की मेरी जरा भी इच्छा न थी, न मेरे पास समय ही था। ...नके बावजूद कुछ वाकयात मेरे सामने आये और उनसे मुझे बड़ा दुख हुआ। ...ह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कांग्रेस के चुनाव पर लोगबाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठे। इनमें सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति वही थे, जो अनेक निजी कारणों से सत्याग्रह के समय कांग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के बन्द हो जाने के साथ ही वे कारण प्रभावहीन हो गये, और ये लोग यकायक मैदान में निकल आये और एक-दूसरे के खिलाफ भयंकर और अक्सर कमीना तक प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण बात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश में शिष्टता के साधारण नियमों तक को भुला दिया गया था। खासकर मुझे इस बात का बहुत ही रंज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी तक का इन स्थानीय चुनावों के खातिर दुरुपयोग किया गया।

जिन व्यापक प्रश्नों पर चर्चा हुई, उनमें कॉंग्रेस का असेम्बली के आने-वाले चुनाव में अपनी ओर से उम्मेदवार खड़े कर चुनाव लड़ने का निर्णय भी था। ...राजदान दल में से बहुतों ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योंकि उनके खयाल में यह उसी पुराने वैधानिक और समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था, लेकिन उन्होंने इसके बदले और कोई कारगर रास्ता नहीं सुझाया। यह एक अजीब-सी बात थी कि उनमें के कुछ विरोधी ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों के आधार पर कॉंग्रेस के अलावा दूसरी संस्थाओं द्वारा चुनाव लड़ने के खिलाफ न थे। उनका मकसद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक संस्थाओं के लिए मैदान साफ छोड़ दिया जाय।

इन स्थानीय झगड़ों और तेजी से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेंचों से मुझे ...रत हो गई। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नहीं बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मैं अपनेको अजनबी-सा महसूस करने लगा। ऐसे में अपनेको उस वातावरण के अनुकूल न पाकर मैं हैरान था। ऐसे वातावरण में जब इन जैसे मामलों ...र ध्यान देने का समय आता तो मैं क्या कर सकता था।

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा। क्योंकि मेरा खयाल था ...ि मैं जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊँगा, और सम्भव है कि अपने दिल की ...ाहिर करने का फिर दूसरा मौका न मिले, इसलिए मेरे दिमाग में जो बातें घूम ...ी उनकी भी कुछ झलक उन्हें दे दी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक ... परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र में उसकी एक हलकी-सी छाप थी। ...चित करने की कोशिश नहीं की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। ...कुछ भी लिखा वह तो इधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो कुछ भी

प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुख पहुँचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तजार करता रहता था। समय-समय पर मुझे यह कहा जाता रहा कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डॉक्टरों को यह हिदायत हो गई थी कि वे सरकार को कमला की हालत की रोज़ाना इत्तिला देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

यह आम विश्वास था, यहाँतक कि जो लोग साधारणतया सरकार के विश्वासपात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं उनका भी यह खयाल था, कि मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता, अगर आगे होनेवाली बातों—अक्तूबर में बम्बई में होनेवाले कॉंग्रेस के अधिवेशन और नवम्बर में होने वाले असेम्बली के चुनाव—का सरकार को ध्यान न होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालनेवाला होऊँ, इसलिए यह मुमकिन मालूम होता था कि मैं अगले तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊँ और उसके बाद छोड़ दिया जाऊँगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने करीब-करीब जम जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवाँ दिन था। पुलिस की मोटर आई, पुलिस अफसर मेरे पास पहुँचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से विदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार माँ बाँहें फैलाये हुए फिर दौड़ी हुई आई। उसकी वह सूरत एक अर्सेतक रह-रहकर मेरी नजरों में घूमती रही।

६६

फिर जेल में

छाया का मार्ग स्वत निर्बाध है, पर धूप का स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी विचित्र रंग बिरंगी झांकियां हो जाती हैं। इसी प्रकार दु:ख सुख से भिन्न वस्तु है, ...त्र का क्षेत्र असंख्य दु:खों की वेदनाओं और क्षतिओं से घिरा रहता है।

राजतरंगिणी

मैं फिर नैनी जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नई सजा की मियाद शुरू कर रहा हूँ। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के ...हर, मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था। जीवन में इस प्रकार के अस्थिर परिवर्त्तन ...यता-तन्त्रों को हिला डालते हैं, और अपने आपको नये परिवर्त्तनों के अनुकूल कर ...ना उतना सहज काम नहीं होता। मैं आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी ...ी उसी पुरानी कोठरी में रक्खा जायगा, जिसमें मैं अपनी पिछली लम्बी सजा काट ...का था। वहाँ थोड़े से फूल के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू में ...गाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक में एक ...जरबन्द, सरकारी कैदी थे, जिन पर न तो कोई मुकदमा चलाया गया था, न कोई ...जा दी गई थी, रख दिया गया था। यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके ...म्पर्क में आऊं, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रखा गया, जो और भी अधिक ...अन्दर की तरफ था, और जिसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं थे।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नहीं थी, मेरा मन तो दूसरे ...थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार हुआ है, वह ...रे दुबारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ ...ों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हररोज डाक्टर ...का मुख्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास ...ता था। डाक्टर टेलीफोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता, और ... ...स जेलतक पहुँचा देती। डाक्टरों और जेल के कर्मचारियों में सीधा सम्बन्ध ...क नहीं समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित, और कभी-...नियमित, रूप से मिलती रही, और उसके बाद रोक दी गई, हालांकि क... ...दिन-ब-दिन गिरती ही जारही थी।

... समाचारों और समाचारों की प्रतीक्षा ने दिनों को असहनीय लम्बा

रातो को उनसे भी भीषण बना दिया। समय की गति मानो बिलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो, हरेक घण्टा भार और आतक-सा जान पडता था इतनी तीव्रता से इस तरह की भावना को मैने कभी महसूस नही किया था। उ समय मेरी ऐसी धारणा थी कि दो-तीन महीने के अन्दर बम्बई-कांग्रेस के अधिवेश के बाद ही, मेरे छूट जाने की सम्भावना थी, लेकिन वे दो महीने भी कभी न समाप होनेवाले दिखाई दे रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने बाद एक पुलिस अफसर मुझे मे पत्नी से थोडी-सी देर के लिए मुलाकात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मु इस तरह हफ्ते मे दो बार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भ निश्चित हो गया था। मैने चौथे दिन प्रतीक्षा की—कोई मुझे लेने नही आया, इस तरह पाचवा, छठा और सातवा दिन बीता, मै इन्तजार करते-करते थक गया। मेरे पा समाचार पहुचा कि उसकी हालत फिर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैने सोचा कि मुझसे सप्ताह मे दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मजाक था

सितम्बर का महीना भी किसी तरह ख़त्म हुआ। मेरी ज़िन्दगी मे वे ती दिन सबसे लम्बे और सबसे खराब थे।

कई व्यक्तियो के द्वारा मेरे पास तक यह सलाह पहुँचाई गई कि अगर मै अपनी मियाद के बाकी दिनो के लिए राजनीति मे भाग न लेने का आश्वासन—चा वह लिखित भले ही न हो—देदू तो मुझे कमला की तीमारदारी के लिए छोडा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारो से दूर की चीज़ थी, और बाहर जाक ग्यारह दिनो मे मैने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो ग थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नही की जा सकती थी। उसका अर्थ हो अपनी प्रतिज्ञाओ, कार्य, साथियो और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिण कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अ अस्तित्त्व की जडो पर मर्माघात, और उन सब चीजो को, जो मेरी दृष्टि मे पवि थी, अपने हाथो कुचल डालना। मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दि बिगडती जा रही है, और उसके निकट मेरी उपस्थिति से जीवन और मरण अन्तर पड सकता है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहकार क्या कमला के जीव से बडी चीज़ थी ? मेरे लिए यह एक भयकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, क से-कम इस रूप मे, वह मेरे सामने उपस्थित नही हुई। मै जानता था कि इस प्रक के किसी भी आश्वासन को खुद कमला नापसन्द करती, और अगर मै कोई ऐसा क बैठता, तो उसे धक्का लगता और नुकसान भी हो जाता।

अक्टूबर के शुरू मे मुझे फिर उससे भेट करने के लिए ले गये। वह करीब-करीब गाफिल-सी पडी हुई थी, बुखार बहुत तेज़ था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बडी तीव्र थी, पर जब मै जेल लौट जाने के लिए उससे विदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मै जब उसके नजदीक जाकर झुका, उसने मेरे कान मे कहा, "सरकार को आश्वासन देने की भला यह क्या बात है! ऐसा हर्गिज न करना।"

कुल ग्यारह दिन मै जेल के बाहर था। हम लोगो ने इन दिनो निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य मे थोडा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देगे। तभीसे हम उसके कुछ अच्छा होने की इन्तज़ारी कर रहे थे, पर, उसके बजाय कमला की हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छ हफ्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ दिखने लगी थी। इन्तज़ार करते रहना इसलिए अब बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी ही हालत मे भुवाली की पहाडी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी उसके एक दिन पहले मुझे उससे मिलने के लिए ले जाया गया। मै सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेट होगी, और भेट होगी भी या नहीं? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी, और इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ पूछिए नहीं।

करीब तीन हफ्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अल्मोडा डिस्ट्रिक्ट जेल मे भेज दिया गया, जिससे मै कमला के ज्यादा नज़दीक रह सकू। भुवाली रास्ते मे ही पडता था—पुलिस के 'गारद' के साथ मैने कुछ घण्टे वही बिताये। मुझे कमला की हालत मे थोडा सुधार देखकर बडा अच्छा लगा और उससे विदा लेकर मै खुशी-खुशी, अपनी अल्मोडा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुँचने के पहले ही पहाडो ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाडो मे पहुँच जाने की खुशी थी। ज्यो-ज्यो हमारी मोटर [illegible]दार सडक पर तेज़ी से आगे बढती जा रही थी, सबेरे की ठण्डी हवा और धीरे-[illegible] खुलता जानेवाला प्रकृति का सौदर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम [illegible]र चढते जा रहे थे, घाटियाँ गहरी होती जा रही थी—पर्वत की चोटियाँ [illegible] मे छिपती जा रही थी। हरियाली भी रग बदलती गई, और चारो ओर की [illegible] देवदार की घटा से घिरी हुई दिखाई देने लगी। कभी सडक की किसी मोड [illegible] मुडते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियो का एक नया विस्तार और [illegible] की गहराई मे एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती।

उस दृश्य को देखते-देखते मेरा जी नही अघाता था, उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मै अपने स्मृति-पात्र को उसमे भर लेना चाहता था, जिससे, उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नही होता, उसीको मै अपने मन मे जगाकर आनन्द उठा लेता।

पहाडियो के कक्ष मे छोटी-छोटी झोपडियो के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारो ओर छोटे-छोटे खेत। जहा कही थोडा भी ढाल मिल गया, वही कडी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखो या छज्जो के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पडता था, मानो बडी-बडी सीढियां हों जो घाटी के नीचे से पहाडी की चोटी तक सीधी कतारबन्द चली गई हो। इस बिखरी हुई जनसख्या के लिए प्रकृति से थोडे-से खाद्य-पदार्थ निकलवाने के लिए मनुष्य को कितनी कडी मेहनत करनी पडती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी जरूरते पूरी हो पाती है। इन छज्जेनुमा खेतो के कारण पहाडियो मे एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पति-शून्य या जगलो से लदी ढालू जमीन बडी विचित्र लगती थी।

दिन मे यह सारा दृश्य बडा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यो-ज्यो सूर्य आकाश मे ऊँचा चढता जाता है, उसकी बढती हुई गरमी से पहाडो मे एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते है। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौडे डग भरती हुई विश्व को अंकवार मे भर लेती है, और उच्छृखल प्रकृति को पूरी आजादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूढता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठडे और गम्भीर बन जाते है। चादनी या तारो की रोशनी मे पर्वतो की श्रेणियां रहस्यमयी, भयकर, विराट, और फिर भी अपार्थिव-सी आकृति ग्रहण कर लेती है, और घाटियो के बीच से वायु का चीत्कार सुनाई पडता है। गरीब मुसाफिर अपने अकेले मार्ग पर चलता हुआ कांप उठता है और अपने चारो ओर विरोधी शक्तियो की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मखौल-सा उडाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी-हवा बन्द भी हो जाती है, दूसरी किसी प्रकार की आवाज भी नही होती, और चारो ओर एक पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी सघनता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ के तार धीमे-धीमे गुन-गुनाते रहते है और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते है। पर्वत-श्रेणियां सजीदगी से एक ओर देखती रहती है और ऐसा जान पडता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा है।

पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानो मे रात कभी इतनी नीरव नही होती, प्राणो का कम्पन वहाँ तब भी सुनाई देता रहता है, और कई किस्म के जानवरो और कीडो की आवाजे रात के सन्नाटे को चीरती रहती है।

लेकिन जब हम मोटर मे बैठे अल्मोडा जा रहे थे, रात अपनी सर्दी और वीरान सन्देश लिये हमसे—अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आगया था। सडक के मोड को पार करने और बादलो के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और खुशी हुई मुझे वह देखकर। बीच मे आ जानेवाले जगलो से लदे पहाडो के बहुत ऊपर बडी दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियाँ चमक रही थी। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सतरी बडे शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन मे एक शान्ति सी छा जाती थी, और हमारे छोटे-छोटे द्वेष और सघर्ष, मैदान और शहरो की वासनाये और छल-छिद्र तुच्छ-से लगने लगते और उनके हमेशा के मार्गो से बहुत दूर की चीज़ लगते।

अल्मोडा की छोटी-सी जेल एक ढालू ज़मीन पर बनी हुई है। मुझे उसीमे एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। उसमे [illegible] फुट का एक बडा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और [illegible], छत [illegible] की [illegible] हुई थी, जिसमे से टुकडे टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमे पन्द्रह खिडकियाँ और एक दरवाजा था, या यो [illegible] चाहिए कि इन सीखचो से जडे हुए खुले स्थान थे, क्योकि असल मे तो दरवाजा या खिडकी एक भी नही थी। ताज़ी हवा की [illegible] कमी हो ही नही सकती थी, क्योकि सर्दी बढ गई थी। कुछ खिडकियो को [illegible] की चटाइयो से बन्द कर दिया गया था। इस बडे कमरे मे (जो देहरादून [illegible] जेल के किसी भी कमरे से बडा था) मै अपने एकाकी वैभव मे रहता था। [illegible] मे बिलकुल अकेला भी नही था, क्योकि कम-से-कम दो दर्जन चिडियो ने उस [illegible] छत मे अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, अपनी [illegible] बाहो द्वारा, कई खिडकियो मे से प्रवेश करता हुआ मेरे पास आ जाता, और [illegible] को कुहरे से भरकर सीलन फैला देता।

[illegible] रोज़ शाम के साडे चार बजे मेरे आखिरी भोजन, या यो कहना [illegible] कि शाम की चाय ले लेने के बाद पाँच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और [illegible] सवेरे [illegible] बजे मेरा सीखचोवाला दरवाज़ा खुलता था। दिन के समय या तो [illegible] उसके बाहर एक पास के दालान मे, धूप लिया करता था। [illegible]

दिवारी से एक-डेढ मील दूर के एक पहाड की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। इन बादलो की बडी आश्चर्यजनक शकले बन जाती, जिन्हे देखते-देखते मै कभी थकता न था। खयाल करता था कि मै उन्हे सब तरह के जानवरो का रूप धारण करते हुए देख रहा हूँ, और कभी-कभी वे मिलकर इतने बडे बन जाते कि एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेडो के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की सी आवाज लगती। कभी-कभी कोई बादल बडे साहस के साथ हमारी ओर बढता नजर आता। दिखने मे तो बडा ठोस और घना लगता, पर हमारे नजदी आते-आते वह बिलकुल कोहरा बन जाता और हमे ढक लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी मे ज्यादा पसन्द थी, हालाँकि छो कोठरी मे इतना अकेलापन महसूस नही होता था। बाहर पानी बरसता तो मै उन ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढती गई, उसका सूनापन बढता गय और जब सर्दी बहुत ही बढ गई, तब मेरा ताजी हवा और खुले मे रहने का प्रेम कम पड गया। मुझे उस समय बडी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ह खूब बर्फ पडा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ से लिप हुए जेल की दीवारो के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभाव दिखने लगे।

कमला की हालत मे उतार-चढाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और क कोई खराब खबर मिल जाती, तो उससे मै कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकि पहाड की हवा का सान्त्वना देनेवाला प्रभाव मुझ पर पडता और मै फिर गहरी नी मे सोने की अपनी आदत पर लौट आता था। निद्रा-लोक के किनारे पर खडे होक मैं कभी-कभी सोचता था कि यह नीद भी कैसी आश्चर्य की और रहस्य की ची है। मनुष्य उससे जगे ही क्यो ? मै बिलकुल ही न जागू तो ?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी, और इस वक्त त बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस खत्म हो चुकी थी। नवम्बर भ आकर चला गया और असेम्बली के चुनावो की चहलपहल भी खत्म हो गई थी। मु आशा हो चली थी कि मै जल्दी ही छोड दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलगफ्फार खा की गिरफ्तारी और सजा औ श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान मे अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञ आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा स्वतः मनुष्यता से खाली और अविचार

गई थी, और उस ऐसे मनुष्य पर लगाई गई थी जिसकी, अपने असंख्य देशवासियो के दिल मे प्रेम और आदर की जगह है और जो, अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्युशैया पर पड़े हुए अपने पिता के दर्शनो के लिए दौड़कर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार का दृष्टिकोण इस तरह का बना हुआ है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नही थी। बाद के सरकारी वक्तव्यो से यह बात साफतौर पर जाहिर भी हो गई थी।

अलमोड़ा जेल मे एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मैं तकरीबन हर तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। भारत मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ्ते मे एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाजत दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज्यादह नजदीक था, अगर यह कहते कि महीने मे एक या दो बार मुझे यह इजाजत मिलती है। कुल साढ़े तीन महीनो मे जब से कि मैं अलमोड़ा आया, मैं पाच बार उससे मिला। मैं यह शिकायत के तौर पर नही लिख रहा हूं, क्योंकि मेरा खयाल है कि इस मामले मे सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधाये दे रक्खी है वे असाधारण है। मैं उसके लिए उसका आभारी हूँ। साथ-साथ की ये मुलाकाते मेरे लिए और मैं समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत कीमती साबित हुई है। मेरी मुलाकात के दिन डाक्टरो ने [illegible] हद तक अपने दूसरे साधारण कार्यक्रम को भी स्थगित कर दिया था, और [illegible] कभी-कभी बात करने की इजाजत दी है। इन मुलाकातो के फल-[illegible] हम सदा ही एक दूसरे के नजदीक आते गये, और उसे छोड़कर लौटने मे [illegible] असहनीय पीड़ा होती। हम केवल विदा होने के लिए ही मिलते थे। [illegible] कभी-कभी तो मैं बड़े वेदनाभरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ [illegible] है, जब कि यह विदा आखिरी विदा हो।

मेरी मा बीमारी से उठ न पाई थी, इसलिए इलाज के लिए बम्बई [illegible]। वहाँ उनकी हालत मे सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का [illegible] महीना बीतने के करीब, एक दिन सवेरे ही तार के जरिये दिल को चोट [illegible] ऐसी इत्तिला मिली जिसकी कल्पना भी नही थी। उन्हे लकवा मार [illegible] इसलिए मेरे बम्बई-जेल मे भेजे जाने की सम्भावना थी, ताकि जरूरत [illegible] मैं उन्हे देख सकूँ। लेकिन उनकी हालत मे थोड़ा सुधार हो जाने के कारण [illegible] नही गया।

[illegible] ने अपना स्थान अब फरवरी को दे दिया है, और [illegible]

दिवारी मे एक-डेढ मील दूर के एक पहाड की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। इन बादलो की बडी आश्चर्यजनक शकले बन जाती, जिन्हे देखते-देखते मै कभी थकता न था। खयाल करता था कि मै उन्हे सब तरह के जानवरो का रूप धारण करते हुए देख रहा हूँ, और कभी-कभी वे मिलकर इतने बडे बन जाते कि एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेडो के बीच मे आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की सी आवाज लगती। कभी-कभी कोई बादल बडे साहस के साथ हमारी ओर बढता नजर आता। दिखने मे तो बडा ठोस और घना लगता, पर हमारे नजदीक आते-आते वह बिलकुल कोहरा बन जाता और हमे ढक लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज्यादा पसन्द थी, हालाँकि छोटी कोठरी मे इतना अकेलापन महसूस नही होता था। बाहर पानी बरसता तो मै उसमे ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढती गई, उसका सूनापन बढता गया और जब सर्दी बहुत ही बढ गई, तब मेरा ताजी हवा और खुले मे रहने का प्रेम भी कम पड गया। मुझे उस समय बडी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ पडा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ से लिपटे हुए जेल की दीवारो के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत मे उतार-चढाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई खराब खबर मिल जाती, तो उससे मै कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड की हवा का सान्त्वना देनेवाला प्रभाव मुझ पर पडता और मै फिर गहरी नींद मे सोने की अपनी आदत पर लौट आता था। निद्रा-लोक के किनारे पर खडे होकर मै कभी-कभी सोचता था कि यह नीद भी कैसी आश्चर्य की और रहस्य की चीज है। मनुष्य उससे जगे ही क्यो ? मै बिलकुल ही न जागू तो ?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी, और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस खत्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावो की चहलपहल भी खत्म हो गई थी। मुझे आशा हो चली थी कि मै जल्दी ही छोड दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलगफ्फार खा की गिरफ्तारी और सजा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान मे अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा स्वत: मनुष्यता से खाली और अविचार-

पूर्ण थी, और एक ऐसे मनुष्य पर लगाई गई थी जिसकी, अपने असख्य देशवासियो के दिल मे प्रेम और आदर की जगह है और जो, अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्युशैया पर पडे हुए अपने पिता के दर्शनो के लिए दौडकर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार का दृष्टिकोण इस तरह का बना हुआ है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नही थी। बाद के सरकारी वक्तव्यो से यह बात साफतौर पर ज़ाहिर भी हो गई थी।

अलमोडा जेल मे एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मै तकरीबन हर तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। भारत मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ्ते मे एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाज़त दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज्यादह नज़दीक होते, अगर यह कहते कि महीने मे एक या दोबार मुझे यह इजाजत मिलती है। पिछले साढे तीन महीनो मे जब से कि मै अलमोडा आया, मै पाच बार उससे मिला। मै यह शिकायत के तौर पर नही लिख रहा हू, क्योकि मेरा खयाल है कि इस मामले मे सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधाये दे रक्खी है वे असाधारण है। मै उसके लिए उसका आभारी हूँ। उसके साथ की ये मुख्तसिर-सी मुलाकाते मेरे लिए और मै समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत कीमती साबित हुई है। मेरी मुलाकात के दिन डॉक्टरो ने किसी हद तक अपने दूसरे साधारण कार्यक्रम को भी स्थगित कर दिया था, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बाते करने की इजाज़त दी है। इन मुलाकातो के फल-स्वरूप हम सदा ही एक दूसरे के नज़दीक आते गये, और उसे छोड़कर लौटने मे सदा ही एक असहनीय पीडा होती। हम केवल बिदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मै बडे वेदनाभरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब कि यह बिदा आखिरी बिदा हो।

मेरी माँ बीमारी से उठ न पाई थी, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थी। वहाँ उनकी हालत मे सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का महीना बीतने के करीब, एक दिन सवेरे ही तार के जरिये दिल को चोट पहुँचानेवाली ऐसी इत्तिला मिली जिसकी कल्पना भी नही थी। उन्हे लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल मे भेजे जाने की सम्भावना थी, ताकि जरूरत पर मै उन्हे देख सकूँ। लेकिन उनकी हालत मे थोडा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहा भेजा नही गया।

जनवरी ने आपना स्थान अब फरवरी को दे दिया है और ...

के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियाँ फिर दिखाई और सुनाई देने लगी हैं और जमीन में जगह-जगह छोटे-छोटे कुल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरजभरी नजर डाल रहे हैं। सदा बहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं, और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झाक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जाते हैं, मैं उन्हें गिनता रहता हूँ और अपनी अगली भवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत में कहाँ तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार नाउम्मीदी, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारों का मूल्य ठीक ठीक न आंका जा सके। शायद विचारों की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन जरूरी है, परन्तु उसकी अधिकता दिमाग पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने अन्तर्निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन तेज कॉफी या कुचले के सत की तरह आत्म-चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरञ्जन के लिए, मैं प्रोफेसर मैकडूगल के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेजी के साथ!

अपने सुदूर ओर पहाड पर के एकान्त निवास स्थान पर से अधिक-से-अधिक जो दो मोटी विशेषतायें मैं जान सका, वे थीं—गाधीजी का ज़बरदस्त व्यक्तित्व और पण्डित मदनमोहन मालवीय ओर श्री अणे द्वारा प्रदर्शित साम्प्रदायिक विरोध का बिलकुल नगण्य प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते है, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नहीं हुआ कि किस तरह गाधीजी एक छोर से दूसरे छोरतक भारत के एकमात्र सर्वेसर्वा बने हुए है। सरकारी अफसर ओर कुछ दकियानूसी राजनीतिज्ञ अपनी भीतरी इच्छा को ही कल्पना का आधार बनाकर अक्सर यह सोचने लगते है कि अब राजनैतिक-क्षेत्र मे गाधी-युग बीत गया है, या कम से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण हो गया है। और जब गाधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान मे आते है, तो ये लोग चकित रह जाते है और इस प्रत्यक्ष परिवर्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते है। कॉंग्रेस और देश पर गाधीजी की अगर प्रभुता है तो वह उनके उन विचारो के कारण, जोकि आमतोर पर स्वीकार किये जा चुके है, उतनी नही है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्त्व के कारण। व्यक्तित्व तो सभी जगह अपना काफी प्रभाव रखता है, लेकिन हिन्दुस्तान मे तो वह प्रमुखरूप से और भी अधिक काम करता है।

कॉंग्रेस से उनकी अलहदगी इस अधिवेशन का एक अजीब वाकाया था और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कॉंग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। लेकिन असल मे इसका महत्त्व कुछ अधिक नही था क्योकि वह चाहे तो भी अपने व्यापक नेतृत्व-पद से पीछा नही छुडा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नही थी। कॉंग्रेस मे आज भी गाधीजी का दृष्टिकोण करीब-करीब पहले जैसाही झलकता है, और यदि वह उनके मार्ग से भटक भी जाय तो भी, गाधीजी अनजाने मे भी, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेगे। इस भार और जवाबदेही से वह अपनेको जुदा कर नही सकते। देश की प्रत्यक्ष स्थिति का खयाल करते हुए उनका व्यक्तित्त्व खुद ही दूसरो का ध्यान बरबस अपनी ओर खीचता है, और इस तरह उसकी उपेक्षा की नहीं जा सकती।

वह इस वक्त, कॉंग्रेस से शायद इसलिए अलग हो गये है, कि उनके कारण कॉंग्रेस किसी कठिनाई मे न पडे। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगडा छिड जाना होगा। ... कॉंग्रेस का प्रश्न नही बनाना चाहते।

मुझे खुशी हुई कि कॉंग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए कास्टीट्यूएण्ट असेम्वली का विचार मजूर कर लिया। मेरे खयाल मे इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नही, और निश्चय ही हमे कभी-न-कभी ऐसी असेम्वली वनानी पडेगी। दीखता तो यही है कि व्रिटिश सरकार की अनुमति के वगैर ऐसा हो नही सकेगा, हॉं, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो वात दूसरी है। यह भी साफ है कि वर्त्तमान परिस्थितियो मे सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नही है। देश मे जवतक इतनी ताकत पैदा नही हो जाती कि वह इस तरह का कोई कदम उठाने को वलपूर्वक आगे वढ सके, तवतक ऐसी असेम्वली वन नही सकती। इसका लाज़िमी नतीजा यही है कि तवतक राजनैतिक समस्या भी नही सुलझ सकेगी। कॉंग्रेस के कुछ नेताओ ने विधानकारिणी असेम्वली के विचार को मजूर करते हुए, इसकी उग्रता को कम करके करीव-करीव पुराने ढग के एक वडे सर्वदल मम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई विलकुल वेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादा अपने आपही चुने जाकर सम्मिलित हो जायँगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। कास्टीट्यूएण्ट असेम्वली की असली मन्शा तो यह है कि इस असेम्वली का चुनाव विस्तृतरूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताकत और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार का सम्मेलन ही असली प्रश्नो पर विचार करने मे सफल हो सकेगा, और साम्प्रदायिक या अन्य झगडो से, जिनमे हम लोग इतनी वार उलझ जाते है, वरी रहेगा।

इस विचार की शिमला और लन्दन मे जो प्रतिक्रिया हुई वह भी वडी मजेदार रही। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह तो जाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमे कोई एतराज़ न होगा, उसने अपनी सरपरस्ती की सहमति भी दे ही सी दी, क्योंकि प्रत्यक्ष मे उसे यह भी पुराने ढग के सर्वदल-सम्मेलन की सी ही दिखाई दी, और चूँकि ऐसे सर्वदल-सम्मेलन के भाग्य मे पहले से ही असफलता लिखी रहती है, उसने सोचा कि इससे भी उल्टे अपने हाथ ही मजवूत होगे। लेकिन मालूम होता है वाद मे उसने इस विचार के अदर समाये हुए खतरो और इस तरह की असेम्वली से जिन-जिन वातो की सम्भावनाये हो सकती थी, उनको महसूस किया, और तव से वह इसका ज़ोरो से विरोध करने लगी।

वम्वई-कॉंग्रेस के वाद फौरन ही असेम्वली का चुनाव आया। कॉंग्रेस चुनावसम्वन्धी कार्यक्रम मे मेरा कोई उत्साह न होते हुए भी मेरी इस व[illegible] दिलचस्पी थी और मै मनाता था कि कॉंग्रेस के उम्मीदवार जीते, या [illegible] शब्दो मे कहा जाय तो यो कहना चाहिए कि मै उनके विरोधियो की

मनाता था। इन विरोधियो मे पदलोलुप सम्प्रदायवादी, पथभ्रष्ट और ऐसे लोगो का अजीब-सा सम्मिश्रण था, जिन्होने सरकार की दमन-नीति का जोरो से समर्थन किया था। इस बात मे कोई शक नही था कि इनमे से अधिकांश लोग हरा दिये जायँगे, लेकिन बदकिस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और उनमे से बहुतो ने साम्प्रदायिक सगठनो की व्यापक रूप मे फैली हुई भुजाओ की शरण ली। लेकिन इतने पर भी काग्रेस को बडी मार्के की सफलता मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवाञ्छनीय लोगो मे से बहुत से खदेड दिये गये।

मुझे खासकर, नामधारी काग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख, बहुत ही खेदजनक लगा। उसके साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति तीव्र विरोध को समझा जा सकता है, लेकिन अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए उसने ऐसे कट्टर साम्प्रदायिक सगठनो के साथ सहयोग किया, यहाँ तक कि सनातनियो तक का, जिनसे बढकर कि आज भारत मे, राजनैतिक और सामाजिक, दोनो ही दृष्टि से प्रतिगामी दल दूसरा नही है। साथ ही, अनेक मशहूर राजनैतिक प्रतिगामियो तक का सहारा लिया। बगाल को छोडकर, जहाँ कारण विशेष से एक ज़बर्दस्त कॉंग्रेस दल ने उनका समर्थन किया, उनमे से अधिकतर सब तरह से कॉंग्रेस के विरुद्ध थे। इसमे शक नही कि कॉंग्रेस के सबसे जबर्दस्त विरोधी यही लोग थे। इतनी सारी तरह की विरोधी शक्तियो के मुकाबिले मे, जिनमे कि ज़मीदार, नरम दलवाले, और निस्सन्देह सरकारी अफसर तक शामिल थे, कॉंग्रेस उम्मीदवारो ने काफी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति कॉंग्रेस का रुख विचित्र था, लेकिन इस परिस्थिति मे इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी पिछली तटस्थता की नीति का या यो कहो कि कमजोर नीति का लाज़िमी परिणाम था। शुरू से ही दृढ नीति अख़्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की चिन्ता किये उसका पालन करते रहना अधिक शानदार और सही तरीका होता। लेकिन क्योकि कॉंग्रेस ऐसा करने मे अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख़्तयार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नही। साम्प्रदायिक निर्णय एक खास बेहूदगी की चीज थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आजादी हासिल करना अशक्य था। यह इसलिए नही कि उसने मुसलमानो को बहुत अधिक दे दिया था। किसी दूसरी तरह शायद यह मुमकिन था कि वे जो कुछ भी मागते सब कुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को अनेक ऐसे आपस मे एक दूसरे से अलग अनगिनती हिस्सो मे बाँट

था, जो एक दूसरे को आगे बढ़ने से रोकता, और उसके प्रभाव को बिलकुल बेकार

कर देना था, जिससे कि विदेशी अंग्रेजी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार पर की निर्भरता को अनिवार्य वना दिया।

खासकर बगाल मे, जहॉ कि छोटे से यूरोपियन समुदाय को भारी प्राधान्य दे दिया गया है, हिन्दुओ के साथ वहुत ही अन्याय किया गया है। ऐसे निर्णय या फैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, (उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गई है) का तीव्र विरोध होना जरूरी था। और चाहे वह हम पर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणो से, अस्थायी रूप से वह वर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगडे की जड ही। मेरा अपना खयाल है कि इसके पक्ष मे एक ही बात कही जासकती है कि खुद इसकी वुराई ही इसका गुण है और ऐसी हालत मे वह किसी बात का स्थायी आधार वन नही सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक सगठनो ने स्वभावत ही इस जवरदस्ती से लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल मे उनकी आलोचना उसके समर्थको की तरह ब्रिटिश सरकार की विचारसरणि के आधार पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गई ओर अव भी आगे लिये जा रही है जिससे सरकर अवश्य ही प्रसन्न हुई होगी। साम्प्रदायिक निर्णय के भूत से परेशान होकर ये लोग इस आशा मे कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय को हमारे पक्ष मे वदल देगी, दूसरे मुख्य विषयो के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे है। हिन्दू महासभा इस दिशा मे सवसे आगे वढ गई है। उसको यह सूझता मालूम नही पडता कि इस नीति का अख्तियार करना सिर्फ अपमानजनक ही नही है वल्कि उससे निर्णय का वदला जाना वहुत ज्यादा कठिन हो जाता है, क्योकि यह मुसलमानो को खिझाता ही है और उन्हे और भी अधिक दूर खींच ले जाता है। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियो को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है। अन्तर वहुत वडा है और स्वार्थों का सघर्ष वहुत ही साफ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थो के सकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम दोनो साम्प्रदायिको को खुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियो का पक्ष चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह महज मुठ्ठीभर हिन्दू सम्प्रदायवादियो को खुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट दगी और मुसलमानो को नाखुश करेगी?

खुद यह बात कि सामूहिक रूप से हिन्दू राजनैतिक दष्टि से वहुत आगे वढे हुए

है और राष्ट्रीय आजादी के लिए बहुत जोर देते है, उनके विरुद्ध अवश्य जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतो के कारण (और नगण्य के सिवाय वे किसी महत्त्व की हो ही नही सकती) उनके राजनैतिक विरोध मे कुछ अन्तर नही पड जायगा, लेकिन ऐसी रिआयते मुसलमानो के रुख मे एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देगी।

असेम्बली के चुनावो ने दोनो अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक सस्थाओ, हिन्दू महासभा और मुस्लिम कान्फ्रेन्स, के हिमायतियो की अत्यन्त स्पष्ट रूप मे कलई खोल दी। इसके उम्मीदवार बडे-बडे जमींदारो या साहूकारो मे लिये गये थे। महासभा ने हाल ही मे कर्ज-बिल का जोरो मे विरोध करके भी साहूकार वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी। हिन्दू-समाज के सिरमौर इन छोटे समुदायो से हिन्दू महासभा बनी है और इन्हीके एक भाग या कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशेवाले लोगो से लिबरल-दल बना है। हिन्दुओ पर उनका कोई खास प्रभाव नही है, क्योकि निम्न मध्यम वर्ग मे राजनैतिक चेतना जागृत हो गई है। औद्योगिक नेता भी इन लोगो से अलग ही रहते है, क्योकि नये नये धन्धो और अर्द्ध-माण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओ मे परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धे-वाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी खतरे मे पडने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियो और सरकार दोनो ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते है। वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलो पर कोई खास ध्यान नही देते। औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानो के निम्न मध्यम वर्ग मे यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगिक दृष्टि से भी वे लोग पिछडे हुए है। इस तरह हम देखते है कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, जागीरदार, और सरकारी नौकरियो मे रहे हुए अधिकारी लोग न सिर्फ उनकी साम्प्रदायिक सस्थाओ पर ही कब्जा किये हुए है, बल्कि सारी जाति पर अपना भारी प्रभाव काम मे ला रहे है। सरकारी उपाधिधारियो, भूतपूर्व मिनिस्टरो और बडे-बडे जमीदारो के मजमुए का नाम ही मुस्लिम कान्फ्रेन्स है। और फिर भी मेरा खयाल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता, शायद सामाजिक विषयो मे कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू जनता की अपेक्षा ज्यादा हिम्मत और ताकतवर है। और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बडी तेजी से समाजवाद की ओर बढ जायँगे। इस समय तो मुस्लिम शिक्षितवर्ग बौद्धिक और शारीरिक दोनो ही तरह से चेतना-हीन सा होगया है और उसमे कोई स्फूर्त्ति नही रह गई है। अपने पुराने रहनुमाओ के खिलाफ आवाज उठाने का वह साहस कर नही सकता।

राजनैतिक दृष्टि से सबसे आगे बढी हुई महान् सस्था कॉंग्रेस के नेता जो पथ-प्रदर्शन

कर रहे है, वह वर्तमान अवस्था मे जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए उसकी अपेक्षा कही अधिक फूक-फूककर कदम रखने का है। वे जनता से सहयोग की तो माग करते है, लेकिन उसकी राय जानने या दु ख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हो। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होने विभिन्न नरम गैर कांग्रेसियो को अपनी ओर खीचने की गरज से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश विल जैसे कामो तक के सम्बन्ध मे उन्होने अपना रुख बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियो तक को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध मे आश्वासन दिये गये थे। लाग-लपट-रहित और उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कही अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने मे उससे कही अधिक मदद मिली होती। अब क्योकि कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया है, इसलिए असेम्बली मे किसी विषय पर वोट गिने जाने के समय कुछ नगण्य वोट पाजाने की आशा से, उसमे राजनैतिक और सामाजिक दकियानूसो के लिए और भी ज्यादा गुजायश होजायगी, और कांग्रेस के नेताओ और जनता के बीच खाई और भी ौडी हो जायगी। असेम्बली मे जोरदार भाषणो की झडी लग जायगी, और सर्वोत्तम र्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को राया जायगा—जिसकी कि सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि ह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ वरसो मे, जबकि कांग्रेस कौसिलो का वहिष्कार कर रही थी, रकारी मुखिया लोग अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्वली और प्रान्तीय कौसिले नता की असली प्रतिनिधि है और लोकमत को प्रदर्शित करती है। लेकिन यह दिल्लगी की वात है कि, अव जव कि असेम्बली मे अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व , सरकारी दृष्टिकोण वदल गया है। जब कभी कांग्रेस को चुनाव मे मिली सफलता ा हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओ की सख्या बहुत ही ोडी, तीस करोड या उसके लगभग जनता मे से, केवल तीस लाख ही है। जिन रोडो लोगो को वोट देने का हक नही मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ ौर पर अंग्रेजी सरकार के हामी है। इसका जवाव साफ है। हरेक वालिग व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तव पता लग जायगा कि इन लोगो का ख्याल क्या है।

असेम्वली के चुनाव के वाद ही भारतीय शासन-सुधारो पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारो ओर से और भिन्न-भिन्न जो आलोचनाये हुई, उनमे अक्सर इस वात पर जोर दिया गया था कि इससे भारतवासियो के प्रति

है और राष्ट्रीय आजादी के लिए बहुत जोर देते है, उनके विरुद्ध अवश्य जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतो के कारण (और नगण्य के सिवाय वे किसी महत्त्व की हो ही नही सकती) उनके राजनैतिक विरोध मे कुछ अन्तर नही पड जायगा, लेकिन ऐसी रिआयते मुसलमानो के रुख मे एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देगी।

असेम्बली के चुनावो ने दोनो अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक सस्थाओ, हिन्दू महासभा और मुस्लिम कान्फ्रेन्स, के हिमायतियो की अन्यन्त स्पष्ट रूप से कलई खोल दी। इसके उम्मीदवार बडे-बडे ज़मीदारो या साहूकारो से लिये गये थे। महासभा ने हाल ही मे कर्ज-बिल का ज़ोरो मे विरोध करके भी साहूकार वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी। हिन्दू-समाज के सिरमौर इन छोटे समुदायो से हिन्दू महासभा बनी है और इन्हीके एक भाग या कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशेवाले लोगो से लिबरल-दल बना है। हिन्दुओ पर उनका कोई ख़ास प्रभा नही है, क्योकि निम्न मध्यम वर्ग मे राजनैतिक चेतना जागृत हो गई है। औद्योगि नेता भी इन लोगो से अलग ही रहते है, क्योकि नये नये धन्धो और अर्द्ध माण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओ मे परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धे वाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी खतरे मे पडने का साहस न होने के कारण राष्ट्रवादियो और सरकार दोनो ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते है। लिबरल या साम्प्रदायिक दलो पर कोई खास ध्यान नही देते। औद्योगिक प्रगति औ लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानो के निम्न मध्यम वर्ग मे यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगि दृष्टि से भी वे लोग पिछडे हुए है। इस तरह हम देखते है कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी जागीरदार, और सरकारी नौकरियो मे रहे हुए अधिकारी लोग न सिर्फ उनकी साम्प्रदायिक सस्थाओ पर ही कब्जा किये हुए है, बल्कि सारी जाति पर अपना भारी प्रभाव काम मे ला रहे है। सरकारी उपाधिधारियो, भूतपूर्व मिनिस्टरो औ बडे-बडे जमीदारो के मजमुए का नाम ही मुस्लिम कान्फ्रेन्स है। और फिर भी मेरा खयाल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता, शायद सामाजिक विषयो मे कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू जनता की अपेक्षा ज्यादा हिम्मत और ताकतवर है और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बडी तेजी से समाजवाद की ओर बढ जायँगे। इस समय तो मुस्लिम शिक्षितवर्ग बौद्धिक और शारीरि दोनो ही तरह से चेतना-हीन सा होगया है और उसमे कोई स्फूर्त्ति नही रह गई है अपने पुराने रहनुमाओ के खिलाफ आवाज उठाने का वह साहस कर नही सकता

राजनैतिक दृष्टि से सबसे आगे बढी हुई महान् सस्था कॉंग्रेस के नेता जो पथ-प्रदर्शन

कर रहे है, वह वर्त्तमान अवस्था मे जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए उसकी अपेक्षा कही अधिक फूक-फूककर कदम रखने का है। वे जनता से सहयोग की तो माग करते है, लेकिन उसकी राय जानने या दुःख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हो। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होने विभिन्न नरम गैर काँग्रेसियो को अपनी ओर खीचने की गरज से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल जैसे कामो तक के सम्बन्ध मे उन्होने अपना रुख बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियो तक को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध मे आश्वासन दिये गये थे। लाग-लपट-रहित और उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कही अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने मे उससे कही अधिक मदद मिली होती। अब क्योकि काँग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया है, इसलिए असेम्बली मे किसी विषय पर वोट गिने जाने के समय कुछ नगण्य वोट पाजाने की आशा से, उसमे राजनैतिक और सामाजिक दकियानूसो के लिए और भी ज्यादा गुजायश होजायगी, और काँग्रेस के नेताओ और जनता के बीच खाई और भी चौडी हो जायगी। असेम्बली मे ज़ोरदार भाषणो की झडी लग जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी कि सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ बरसो मे, जबकि काँग्रेस कौंसिलो का बहिष्कार कर रही थी, सरकारी मुखिया लोग अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिले जनता की असली प्रतिनिधि है और लोकमत को प्रदर्शित करती है। लेकिन यह दिल्लगी की बात है कि, अब जब कि असेम्बली मे अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी काँग्रेस को चुनाव मे मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओ की संख्या बहुत ही थोडी, तीस करोड या उसके लगभग जनता मे से, केवल तीस लाख ही है। जिन करोडो लोगो को वोट देने का हक नही मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ तौर पर अंग्रेज़ी सरकार के हामी है। इसका जवाब साफ है। हरेक बालिग व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगो का खयाल क्या है।

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारो पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारो ओर से और भिन्न-भिन्न जो आलोचनायें हुई, उनमे अक्सर इस बात पर जोर दिया गया था कि उससे भारतवासियो के प्रति

'अविश्वास' ओर 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओ पर विचार करने का मुझे यह तरीका बडा ही विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितो मे कोई महत्त्वपूर्ण विरोध नही है? सवाल यह है कि इनमे से किसकी वात रहे। स्वतन्त्रता क्या हम महज़ साम्राज्यवादी नीति को कायम रखने के लिए ही चाहते है? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योकि हमे सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेगे और जैसा वह चाहती है, ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करते है, तबतक 'सरक्षणो' का उपयोग नही किया जायगा। अगर भारत मे ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने खुद के हाथो मे शासन की बागडोर लेने का यह सब शोरगुल क्यो मचाया जा रहा है?

यह साफ जाहिर है कि ओटावा-पैक्ट, आर्थिक दृष्टि से इग्लैण्ड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए, बहुत लाभकारी नही हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ के ब्रिटिश व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुँचा है, और वह पहुँचा है भारत के राजनीतिज्ञो और व्यवसायियो की राय के अनुसार भारत के विस्तृत हितो के बलिदान पर। उपनिवेशो, खासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध मे स्थिति इससे उलटी है।[2] उन्होने ब्रिटेन के साथ बडा कडा व्यापारिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकाश लाभ खुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धो की वृद्धि और साथ ही अन्य

१. सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड० ओ० जहाजी कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से लाभप्रद रहा है।"

२. जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' अखबार ने लिखा था कि ओटावा-परिषद् का "समर्थन केवल उसी दशा मे किया जा सकता था, जब कि वह बाक़ी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटाये बिना अन्तर्साम्राज्य के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात सन् १९३१ के २४,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर सन् १९३३ में २४,६०,००,००० पौण्ड हुआ था। किन्तु निर्यात १७,६०,००,००० पौण्ड से घटकर ५००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बर्षो

देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दों से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[1] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल, याने लिबरल दल जिसके हाथों में जल्दी ही शासन सूत्र आ जाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचनबद्ध है।[2] आस्ट्रेलिया में ओटावा-पैक्ट के अर्थों की खींचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपड़ों और सूत पर चुंगी बढ़ा दी गई, जिस पर लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियों की ओर से सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की गई और इसे ओटावा-पैक्ट का भंग कहकर उसकी निन्दा की गई। इसीके विरोध और बदले के रूप में लंकाशायर में आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी खास असर नहीं हुआ, बल्कि इसके ख़िलाफ वहाँ भी कड़ा रुख इख्तियार किया गया।[3]

साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०.९ फ़ी सदी घटी थी, जब कि साम्राज्य से हमारी आयात सिर्फ़ ३२.९ फ़ी सदी ही घटी थी। विदेशों को हमारी निर्यात की कमी कहीं अधिक कभी नहीं हुई, किन्तु इन देशों से हमारे आयात की कमी कहीं अधिक थी।”

१. मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उसकी राय में यह पैक्ट “एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी गलती मानते जा रहे हैं।” (१९ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मैन्चेस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।)

२. कनाडा के वर्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बैनेट तक व्यापारिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं। वह 'नई योजना' (New Deals) की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तब्दीली हो रही है। श्री लिटवीनोव, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के भयंकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं। इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विसवालों को इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस किस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालों का साथ देना छोड़ दें, नहीं तो वे खुद ही उन भयंकर सिद्धान्तों के समर्थक बन जायँगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किङ्ग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त करली है, और शासन-सूत्र अब उसीके हाथ में आगये हैं।)

३. मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लङ्काशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लङ्काशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढ़ता के साथ हमें लङ्काशायर का साथ देना होगा।' (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मैन्चेस्टर गार्जियन'

यह स्पष्ट है कि आर्थिक सघर्ष का कारण कनाडा और आस्ट्रेलिया के लोगो मे ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नही है, हाँ, आयर्लैण्डवालो मे यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। सघर्ष स्वार्थो के परस्पर विरोध के कारण होता है, और जहा कही इस किस्म के हित-विरोध हो, हिन्दुस्तान मे 'सरक्षण' का उद्देश्य, यह देखना रहता है कि ब्रिटिश हित प्रधान रहे। 'सरक्षण' के क्या नतीजे होगे, इसका एक हलका-सा इशारा हाल मे की गई भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि मे लग जायगा, जिसकी ब्रिटिश-धन्धेवालो की तो खबर थी, लेकिन जो भारतीय व्यवसायियो और उद्योग-धन्धेवालो से छिपाकर की गई थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने अपनी जिद्द से उसे कायम रक्खा। ऐसे सरक्षणो की तो बड़ी जबर्दस्त ज़रूरत कनाड़ा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका मे है, जिससे कि इन उपनिवेशो के लोग न केवल व्यापारिक मामले मे ही, वरन साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छिन्नता के महत्त्वपूर्ण विषयो मे भी मनमाना रास्ता अख्तियार न करले।'

कहा गया है कि साम्राज्य का अर्थ है 'कर्ज', और सरक्षणो का निर्माण इसीलिए किया गया है कि शाही लेनदार अपने सब विशिष्ट स्वार्थो और शक्तियो को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अपने अभागे कर्जदार पर अपना ज़बर्दस्त काबू रख सके। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ से दुहरायी जाती है, यह है कि गाधीजी और कॉग्रेस ने ऐसे सरक्षणो के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योकि सन् १९३१ के दिल्ली के गाधी-अर्विन समझौते मे भारत के हित मे 'सरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी सरक्षण फिर भी छोटी बाते है।[२] जो कही अधिक महत्त्व की बात है, वह तो है वे बीसियो सुविधायें, जिनका

१. दक्षिण अफ्रीका सघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरो ने कहा था कि सघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम योजना में भाग नही लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफ्रीका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है गृह-युद्ध छिड जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फरवरी १९३५ को भेजा हुआ रूटर का सवाद) प्रधान सचिव जनरल हर्ट जोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को जाहिर करता है।

२ लन्दन का 'एकनोमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भविष्य मे

उद्देश हिन्दुस्तानियो पर अपने हरेक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व को, जिसने कि भूतकाल और वर्तमान मे उन्हे इस देश के शोषण मे सहायता दी है स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधाये और 'सरक्षण' बने हुए है, तबतक किसी भी दिशा मे वास्तविक उन्नति हो सकना गैरमुमकिन है, और तबदीली के लिए किसी किस्म के वैध प्रयत्न के लिए कोई जगह ही नही छोडी गई है। ऐसा हरेक प्रयत्न 'सरक्षणो की नगी दीवारो के साथ टकरायगा' और यह दिन-दिन साफ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नही चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और इसका भीमकाय सघ एक वाहियात चीज है, और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियो को ही) साप दी गई है, लेकिन वास्तविक महत्त्व की कोई शक्तियाँ—कुछ कर-धर सकने के साधन नहीं दिये गये है। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इग्लैण्ड अपने हाथो मे रक्खे हुए है। निरकुशता के नगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नहीं है। हरेक आदमी जानता है कि इस समय की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तियुक्त हो जिससे कि वह तेज़ी से बदलती रहनेवाली अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और हाथ मे उन निर्णयो को अमल मे लाने की शक्ति, होनी भी चाहिए। इतने पर भी इसमे शक है कि पार्लमेण्टरी प्रजातन्त्र भी, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशो मे चल रहा है, आधुनिक [illegible] सचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने मे सफल हो सकेगा या नही, लेकिन वह प्रश्न हमारे यहाँ नही उठता, क्योकि हमारी गति हथकडी और बेडियो से जान बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाजे बन्द करके ताले लगा दिये गये है। हमें ऐसी मोटर देदी गई है, जिसमे सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफी [illegible] है, लेकिन उसे चलानेवाला एजिन नदारद है। मार्शल-ला—फौजी कानून [illegible] का सदा आधार है, ऐसे लोगो का बनाया हुआ यह शासन-विधान है। [illegible] विश्वास रखने वाले के लिए मार्शल-लॉ—फौजी कानून—ही उसका असली [illegible] उसके लिए उसके छोडने का अर्थ है अपना सर्व नाश।

ए. ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथिवी के अनेक हिस्सों [illegible] पसवाले मूल निवासियों को हम महगी दर पर लङ्काशायर का माल खरीदने के लिए मजबूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

इंग्लैण्ड के इस तोहफे से हिन्दुस्तान को किस हदतक आजादी मिली है, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए दलोतक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियो को भी इसकी आलोचना करनी पड़ी है, लेकिन उन्होने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढग के साथ। दूसरे लोगो ने उग्र रूप से विरोध किया है।

नरम दलवालो का जो यह अटल विश्वास था कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अंग्रेजो के मातहत करने मे अपार बुद्धिमानी से काम लिया है, शासन-विधान की इन धाराओ ने उनके लिए उसपर उतना ही डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होने तीव्र आलोचना की, लेकिन असलीयत की अवहेलना करके और सुन्दर शब्दो और लुभावने हाव-भावो मे अनुरक्त होकर, उसमे इसी बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि रिपोर्ट और बिल, दोनो मे, 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द गायब है। इस सम्बन्ध मे, उनकी तरफ से, बडा वावैला मचा था और अब क्योकि सर सैमुअल होर ने इस विषय मे एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है बहुत हदतक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ मे वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव जगह, जहाँ हम कभी पहुँच नही सकेगे। हाँ, उसके सपने देख सकते है और उसकी अनेक सुन्दरताओ का ओजमय वर्णन कर सकते है। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन मे पैदा हुए सन्देहो से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट की शरण ली है। क्योकि वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल कानूनदां है, उन्होने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते है—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करे, इन दोनो के ऊपर सम्राट है, जो कि भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकाक्षा किया करते है।"[१] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो हमे शासन-विधान, कानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियो की झझटो मे पडने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नही होगा कि नरम दलवालो ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है। उनमे से अधिकाश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे मौजूदा हालतो को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते है, बनिस्बत उस बिनमागे तोहफे

१. लखनऊ की, २६ जनवरी १९३५ की एक सार्वजनिक सभा मे दिये हुए भाषण से।

के जो कि हिन्दुस्तान के सर पर जबरदस्ती लादा जा रहा है। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हे आगे बढकर कुछ करने से रोकते है, और यह कहा जा सकता है कि वे उक्त बातो पर जोर देते रहेगे। एक पुरानी कहावत, वर्त्तमान समय के अनुकूल तबदील कर दी जाने पर, उनके मोटो का अच्छा काम दे सकती है और वह है—"अगर एक बार कामयाबी न मिले, तो फिर-फिर चिल्लाओ।"

लिबरल नेताओ और कितने ही दूसरे लोगो ने, जिनमे कि कुछ कांग्रेसवाले भी शामिल है, इग्लैण्ड मे मजदूर दल की विजय और मजदूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बाँध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नही है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलो के सहयोग से आगे बढने का प्रयत्न क्यो न करे, अथवा मजदूर सरकार के आगमन से लाभ क्यो न उठावे। लेकिन इग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्त्तन पर ही बिल्कुल निर्भर रहना न तो सम्मान की बात है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई अच्छी बुद्धिमानी की बात भी नही है। ब्रिटिश मजदूर दल से हम इतनी ज्यादा आशा क्यो रक्खे ? हम अभी दो बार मजदूर दल की सरकार देख चुके है, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफे मिले है, उन्हे हम भूल नही सकते। श्री रेमजे मेकडानल्ड भले ही मजदूर दल से अलग हो गये हो, लेकिन उनके पुराने साथियो मे भी कोई ज्यादा परिवर्त्तन हुआ दिखाई नही देता। सन् १९३० के अक्तूबर मे साउथपोर्ट में होनेवाली मजदूर दल-कान्फ्रेन्स मे श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"इस कान्फ्रेन्स का यह विश्वास है कि यह बहुत ही जरूरी है कि हिन्दुस्तान मे पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त कार्य मे परिणत किया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए बडा जोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से अपनी स्वभाग्य-निर्णय की नीति को भारत के लिए उपयोग मे लाने का आश्वासन देने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ तौर मे बता चुके है कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब समुदायो से सलाह करेगे। इस बात से सबका समाधान हो जाना चाहिए।" लेकिन लोगो का यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मजदूर सरकार और राष्ट्रीय सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स, व्हाइट-पेपर, जॉइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलो मे इग्लैण्ड के :

और मजदूर-दल मे बहुत कम फर्क है। यह सच है कि सर्व-साधारण मजदूर-वर्ग कही अधिक आगे बढा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओ पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मजदूर दल के उग्र विचारवाले शक्तिसम्पन्न हो जायँ, क्योकि आजकल परिस्थितियाँ बडी तेजी से बदल रही है, लेकिन क्या विलायत के नीति-परिवर्तन के इन्तजार मे, हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियाँ अपना प्रवाह बदल दे और सो जायँ ?

हमारे देश के लिबरल दलवाले ब्रिटिश मजदूर दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे है, उसका एक अजीब पहलू है। अगर, इसी फरक से, यह मजदूर दल उग्र विचार का बन जाय और इग्लैण्ड मे अपने समाजवादी कार्यक्रम को कार्य मे परिणत कर डाले, तो हिन्दुस्तान मे और यहाँ के लिबरल और दूसरे नरम दलो पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इनमे के अधिकाश लोग सामाजिक दृष्टि से कट्टर पुराण-पन्थी है। वे मजदूर दल के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो को पसन्द न करेगे और भारत मे उनके प्रचलित किये जाने से डरेगे। यहाँतक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगो की ब्रिटिश-भक्ति समाप्त ही हो जाय। उस दशा मे यह मुमकिन हो सकता है कि मुझ जैसे व्यक्ति जो राष्ट्रीय-स्वतत्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी है, अपने विचार बदल दे और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगे। निस्सन्देह हममें से किसीको भी ब्रिटिश जनता के साथ सहयोग करने मे कोई आपत्ति नही है, यह उनका साम्राज्यवाद है, जिसके कि हम विरोधी है, साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होने धता बताई नही कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालो का क्या होगा ? शायद वे नई व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा सकेत समझकर, स्वीकार कर लेगे।

गोलमेज कान्फ्रेन्स की कार्रवाई और सघ शासन के विधान का एक खास नतीजा है देशी नरेशो को मैदान मे बहुत आगे ला देना। उनके और उनकी 'स्वतन्त्रता' के प्रति प्रदर्शित कट्टर अनुदारपन्थियो की शुभचिन्तकता ने उनमे एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नही दिया गया था। पहले उनकी मजाल नही थी कि वे ब्रिटिश रेजीडेण्ट के सकेत मात्र तक को अस्वीकार करदे, और अनेक देशी नरेशो के प्रति भारत सरकार का व्यवहार भी साफ ही अवहेलनापूर्ण था। उनके भीतरी मामलो मे बराबर दस्तदाजी होती रहती थी, जो अक्सर न्याय-सगत ही ठहराई जाती थी। आज भी अधिकाश रियासते प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से 'उधार' दिये हुए अग्रेज-अफसरो द्वारा शासित हो रही है। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि श्री

चर्चिल और लार्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घबरा सा दिया है, और इसलिए वह उनके निर्णयो मे हस्तक्षेप करने मे फूंक फूंककर कदम रखने लगी है। देशी नरेश भी अब ज़रा कही अधिक अकड के साथ बात-चीत करने लगे है।

मैने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रो की बाहरी घटनाओ को समझने की कोशिश की है, लेकिन मै अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सब बाते कोई असली महत्त्व की नही है। और इन सबकी तह मे रहनेवाली भारत की स्थिति का खयाल मुझे परेशान कर रहा है। असलीयत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सर्वत्र घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियो को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बडी सख्या मे लोग जेलो मे पडे ना अमूल्य यौवन नष्ट कर रहे है और बरसो से अपने जिगर का खून पी रहे है।[१] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी और हजारो दूसरे लोगो मे कटुता बढती जा रही है और नग्न पाशविकता के सामने अपनी ज़लालत और बेबसी की कुत्सित-भावना ने उन्हे घेर लिया है। साधारण समय मे भी अनेक सस्थाये गैरकानूनी करार दे दी गई है और 'सकटकाल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्ति रक्षा-विधान' (ट्रेंक्विलिटी एक्टस्) सरकारी शस्त्रागार मे करीब-करीब स्थायीरूप से शामिल कर लिये गये है। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम मे बनते जा रहे है। बहुसख्यक पुस्तके और पत्रिकाये या तो ज़ब्त

१. होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बडी धारा सभा में जेलों और स्पेशल केम्पों में बन्द नजरबन्दों की सख्या इस प्रकार बतलाई थी—बगाल में १५०० और १६०० के बीच, देवली में ५००, कुल २००० और २१०० के बीच। यह संख्या तो नजरबन्दों की है, जिन पर न तो मुकदमा चलाया गया न सज़ा दी गई। इसमें दूसरे राजनैतिक कैदी शामिल नहीं है। जिन लोगों को सज़ा दी गई है, आमतौर पर उनकी सजा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के (१७ दिसम्बर १९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाईकोर्ट ने बिना लाइसेस हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कडी कैद की सजा दी थी। अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कारतूस निकले थे।

इन्हीं दिनों (१९३५ के पिछले पक्ष में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले कई क़ानूनों की मियाद और बढ़ा दी गई। इनमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था, लेकिन बाद में वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से पास कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही क़ानून बनाये गये हैं।

की जा रही है या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनकी प्रवेश बदी की जा रही है और 'भयकर' साहित्य रखने के अपराध मे लम्बी-लम्बी सजाये दी जाती है। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देना अथवा रूस की वर्त्तमान सामाजिक या सास्कृतिक स्थिति की प्रशसात्मक रिपोर्टें सेसर की प्रबल नापसन्दी का शिकार होती है। 'माडर्न रिव्यू' को बगाल सरकार की ओर से महज इसी बात पर चेतावनी दे दी गई है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था, वह लेख जो उन्होने स्वय रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमन्त्री इस पर पार्लमेण्ट मे फरमाते है कि—"उस लेख मे, भारत मे ब्रिटिश राज्य की नियामतो का विकृतरूप दिखाया गया था" इसलिए उसके खिलाफ कार्रवाई की गई थी।[१] इन नियामतो के निर्णायक सेन्सर महोदय होते है, और हम उनके विरुद्ध मत नही रख सकते या जाहिर नही कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ फ्रेन्डस् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गई थी। केवल सास्कृतिक विषयो मे रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान बल्कि समस्त ससार मे सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब बिचारे असहाय जन-साधारण का तो कहना ही क्या? सरकार ने आतक का जो वातावरण बना रक्खा है वह तो दमन के इन वास्तविक नमूनो से भी कही ज्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-सञ्चालन ऐसी परिस्थिति मे असम्भव है,[२] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओ का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातो की शुरूआत करने के लिए यह एक बडा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक समझदार आदमी जानता है कि ससार इस समय एक विचार क्रान्ति के मध्य मे है, और हमेशा मौजूदा परिस्थितियो के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से अनुभूत घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बडे महत्त्व के परिवर्तन

१. १२ नवम्बर १९३४

२. ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान मे प्रेस एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में एक सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३२ के बाद ५१४ समाचार पत्रों पर ज़मानत और ज़ब्ती आदि का प्रयोग हुआ था। इनमें से २४८ पत्र बन्द कर देने पडे, क्योंकि वे और अधिक जमानत की रक़म की व्यवस्था न कर सके; बाकी के १६६ पत्रों ने जमानत देदी, जो २,५२,८५२ रुपये रक़म थी!

हो रहे है, और भविष्य, चाहे उसका रूप कुछ ही हो, बहुत दूर नही है—वह कोई ऐसी दूर की चीज नही है, जो मस्तिष्क मे निरी शास्त्रीय दिलचस्पी पैदा करता हो। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध होगा, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही है उन्हे वह समझे और अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करे, पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये ससार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाव ढूढने के लिए यह जरूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या। निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफसोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओ से आश्चर्यजनक रूप से नावाकिफ है, या उनके प्रति उदासीन है। सम्भवत यह अज्ञान अधिकाश सरकारी अफसरो तक बढा हुआ है, क्योकि सिविल सर्विसवाले बड़े मजे से और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से सकुचित दायरे मे रहना पसन्द करते है। केवल सर्वोच्च अधिकारियो को ही इन समस्याओ पर विचार करना पडता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओ का ध्यान रखना पडता है और उन्हींके अनुसार अपनी नीति निर्धारित करनी पडती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बडा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ गवारा करते है कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-सघ की बढ़ती हुई ताकत, या स्यागकियाग मे होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी षड्यन्त्र अथवा मध्य एशिया या अफगानिस्तान या फारस की घटनाओ का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है? मध्य एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पडता है, इसलिए वह ब्रिटिश सरकार की साधारण और रक्षण नीति का आधार-स्तम्भ बन गई है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व के है वे आर्थिक परिवर्त्तन, जो आज सारे ससार मे हो रहे है। हमे जान लेना चाहिए कि उन्नीसवी सदी का तौर-तरीका गुज़र चुका है और वर्त्तमान अवश्यकताये इसके जरिये पूरी नही की जा सकती। वकीलो का नज़ीरे दे-देकर शुरू करने का तरीका, हिन्दुस्तान मे इतना अधिक प्रचलित है, जो अब, जब कि यहाँ नज़ीरे नही रही है, कुछ काम का नही रहा। बैलगाडी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाडी नही कहा जा सकता। इसको नासमझी समझकर छोड देना होगा, और इसका स्थान दूसरे को देना होगा। इस के सिवा भी 'नवीन योजनाओ' और महान् परिवर्त्तनो की चर्चा हो

है। सब प्रकार से पूजीवादी प्रणाली को कायम रखने और मजबूत करने की दिली इच्छा से प्रेसीडेण्ड रूजवेल्ट ने अत्यन्त साहसपूर्वक ऐसी योजनाये प्रचलित की है, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उसने "अत्यधिक विशिष्ट अधिकार-प्राप्त वर्ग को उखाड फेकने और पददलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की" घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक मे बाहर खीच निकालने की उसकी महत्त्वकाक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलो को स्वीकार करने मे भी वह नही हिचकिचाता। इग्लैण्ड मे श्री लायड जार्ज अपना 'न्यू डील' (नई योजना) लेकर सामने आये है। हम भारत मे भी अनेक नई योजनाये चाहते है। यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने योग्य है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने योग्य है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक भयकर बेवकूफी है।

हमे बहुत सी समस्याओ का सामना करना है और वह हमे बहादुरी के साथ करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को जिन्दा रहने क कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था को अधिकतर उन्नत करने मे असमर्थ है ? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार व्यापक प्रगति का आश्वासन देती है ? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हद तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है ? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते मे स्थापित स्वार्थवाले बाधक हो तो क्या यह बुद्धिमानी और नैतिकता होगी कि जन-समूह की दु ख-दरिद्रता की कीमत पर उनको कायम रखने का प्रयत्न किया जाय ? अवश्य ही उद्देश्य स्थापित स्वार्थो को आघात पहुँचाना नही है, वरन उनको दूसरे लोगो पर आघात करने से रोकना है। यदि इन स्थापित स्वार्थो से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध मे मतभेद रक्खे, लेकिन समझौते की सामाजिक उपयोगिता मे बहुत कम को सन्देह होगा। साफ है कि समझौता यह इसप्रकर नही हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ कायम करके दूसरे स्थापित हित को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और जरूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवजा दिया जा सकता है, क्योकि झगडे से अधिक हानि होने की सम्भावना है। मगर, अफसोस है, कि सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित हितवाले ऐसे समझौते स्वीकार नहीं करते। वे वर्ग, जो कि समाज के प्रमुख अग नहीं रह गये है, काफी विवेकशून्य होते है। वे सब कुछ या न कुछ के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा देते है और इस तरह अपना अन्त कर लेते है।

जब्ती आदि के सम्बन्ध मे बहुत-सी 'असम्बद्ध चर्चा' (जैसाकि कांग्रेस कार्य-

समिति ने अपने एक प्रस्ताव मे कहा था) हो रही है। लेकिन जब्ती—मुस्तकिल और मुतवातिर जब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज मजदूरो के गाढे पसीने की कमाई ज़ब्त की जा रही है, और इस हदतक लगान और मालगुजारी बढाकर कि किसान उसके अदा करने मे असमर्थ हो जायँ, उसकी जोत ज़ब्त करली जाती है। पहले कुछ व्यक्तियो ने सार्वजनिक भूमि पर कब्जा कर लिया और उससे बडी-बडी जमीदारियाँ बनाली, इस तरह भू-स्वामी किसान भी उखाड फेंके गये। साराश यह कि ज़ब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज कुछ सामयिक उपाय काम मे लाता है, जो स्वय ही ज़ब्ती के रूपक है, जैसे भारी टैक्स, विरासत-कर, कर्ज से छुटकारा दिलाने का कानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही मे हमने राष्ट्रो को इन्कार करते, अपरिमित कर्ज़ की अदायगी से इन्कार करते देखा है, केवल रूस का सोवियट सघ ही नही, वरन अग्रणी पूजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये है। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कर्ज अदा करने से इन्कार कर दिया है—खुद अग्रेजो द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रक्खा गया एक भयकर उदाहरण! लेकिन इन सब जब्तियो से और कर्जो को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ कुछ हद तक ही मदद मिलती है, आधारभूत कारणो से छुटकारा नही मिलता। नये-निर्माण के लिए तो जड पर ही कुठाराघात करना होगा।

मौजूदा हालत बदलने का उपाय निश्चित करते समय हमे भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का अन्दाज़ा करना होगा। बहुत सकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नही सकता—हमे दूरदर्शी बनना होगा। हमे देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियो से मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि मे कहाँतक सहायता मिलेगी। लेकिन हमे इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि मौजूदा व्यवस्था को न बदलकर, हमारे निराशामय और कुत्सित जीवन, भुखमरी और गरीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन के गहन भार सहित उसे ज्यो का-त्यो चलते रहने देने के लिए, हमे कितनी जबर्दस्त कीमत चुकानी पडती है। हमेशा प्रवाहित होनेवाली प्रलय की बाढ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मानव प्राणियो को लगातार कुचलती हुई तबाही की ओर लिये जा रही है। हम इस जल-प्रलयकारी बाढ को रोक नही सकते या हममे से कुछ लोग बाल्टी मे पानी उलीच-उलीचकर इन प्राणियो को बचा नही सकते। बाँध

बनवाने होंगे, नहरें निकालनी होंगी, जल की नाशक शक्ति को बदलना और मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह स्पष्ट है कि समाजवाद जो महान् परिवर्त्तन लाना चाहता है, वह कुछ कानूनों के सहसा पास कर लेने मात्र से नहीं हो सकता। लेकिन और आगे बढ़ने और इमारत की नींव रखने के लिए कानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ में होना जरूरी है। अगर समाजवादी समाज का महान् निर्माण करना है, तब तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोड़ा जा सकता है, न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह प्रमुख रुकावटों को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसीको वञ्चित करना नहीं, वरन सम्पन्न करना है, वर्त्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते में से सब रुकावटों और स्वार्थों को, जो कि समाज को पीछे रखना चाहते हैं, जरूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम अख्तियार कर रहे हैं, वह सिर्फ इस प्रश्न पर निर्भर नहीं है कि हम क्या पसन्द करते हैं या क्या पसन्द नहीं करते, अथवा न केवल सैद्धान्तिक न्याय पर ही, वरन इस बात पर निर्भर होगा कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक हो, उन्नति की तरफ ले जा सकने योग्य हो और जिससे ज्यादा-से-ज्यादा जन-समाज का कल्याण हो सके।

हितों अथवा स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नहीं है। हममें से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकतामय अपील से काम नहीं चलेगा। उसके साथ-साथ प्रमाणों और अंकों से पुष्ट आलोचना सविवेक और युक्तियुक्त तफसीली विवेचन भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस तरह का साहित्य बहुतायत से मौजूद है, लेकिन भारत में उसका भयंकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबों का यहाँ आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशों की पुस्तकों का पढ़ना ही काफी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद का निर्माण होना है, तो वह भारतीय अवस्थाओं के आधार पर ही होगा और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना आवश्यक है। हमें इसके लिए ऐसे विशेषज्ञों की जरूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सकें। बदकिस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकांश में सरकारी नौकरियों में या अर्द्ध सरकारी यूनीवर्सिटियों में फँसे हुए हैं, और वे इस दिशा में आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते।

समाजवाद की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक वातावरण ही काफी नहीं है। दूसरी शक्तियाँ भी आवश्यक हैं। लेकिन मैं यह जरूर महसूस करता हूँ कि

विना उस आधार के किसी हालत मे भी हम विषय का मर्म नहीं समझ सकते, और न कोई जोरदार हलचल ही पैदा कर सकते हैं। इस क्षण तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्त्व की समस्या है, और शायद भविष्य मे भी ऐसी ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है और वह बढती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र ? अवश्य ही, मुख्यत तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा, लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढा जा सकता है, और मै समझता हूँ, अवश्य बढना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धो के मालिक लोग अपने विचारो मे आश्चर्यजनक रूप मे पिछडे हुए हैं, वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूंजीपति भी नहीं हैं। साधारण लोग इतने निर्धन है कि वे उनको पक्का ग्राहक नहीं मानते, और मजदूरी की वृद्धि और काम के घण्टो की कमी करने की किसी भी माग का वे जबर्दस्त विरोध करते हैं। इन्ही दिनो कपडे की मिलो में काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इस पर अहमदाबाद के मिल मालिको ने मजदूरो की,—फुटकरिये मजदूरो तक की मजदूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टो की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मज़दूर की आमदनी की कमी और उसके जीवन के रहन-सहन का और भी नीचा स्टेण्डर्ड। लेकिन रेशनलाइजेशन (अर्थात् औद्योगिक एकीकरण), मज़दूर की उचित मज़दूरी बढ़ाये बिना ही, उसपर काम का भार और उसकी थकान बढाता हुआ, तेजी से बढता जारहा है। सब उद्योगवादियो का दृष्टिकोण उन्नीसवी सदी के शुरू जमाने का सा है। जब मौका आता है, वे अनाप-शाप लाभ उठाते हैं, और मज़दूर वैसे-का-वैसा बना रहता है, लेकिन अगर कोई आफत आजाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते है कि मज़दूरी घटाये बिना काम नही चल सकता। उनको सरकार की तो मदद ही है, हमारे मध्यम श्रेणी के राजनीतिज्ञो की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हींकी ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद मे सूती मिलो के मज़दूरो की अवस्था कही अधिक अच्छी है बनिस्वत बम्बई या दूसरी जगह के। आमतौर पर सभी सूती मिल मजदूरो की हालत बगाल के जूट मिलो के और कोयले की खानो के मज़दूरो से अच्छी है। छोटे-छोटे, असगठित उद्योग-धन्धो के मज़दूर औद्योगिक परिमाण मे सबसे नीचे दर्जे के है। कपडे और जूट के करोड़पति मालिको के गगनचुम्बी प्रासादो और विलासी जीवन और शान-शौकत की अगर अध-नगे मज़दूरो के रहने की काल-कोठरियो से तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते है और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसकी उपेक्षा कर देते है।

हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग की हालत इतनी खराब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वह किसान-समुदाय की हालत से कही अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ जरूर है, वह यह कि वह खुली हवा मे रहता है ओर गन्दी बस्तियो के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गई है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डलवाले गॉव को भी, गाधीजी के शब्दो मे, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमे सहयोग या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नही होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन खुद ही इसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत सघर्ष का विषय बन गया है और हरेक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खडा है ? किस तरह वह अपनी जिन्दगी बिता रहा है, यही अत्यन्त आश्चर्य की बात है। देखा गया है कि सन् १९२८—२९ मे पजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०—३१ मे वह गिर कर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गई ! पजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बगाल के किसानो की अपेक्षा कही अधिक खुशहाल माने जाते है। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी जिलो (गोरखपुर वगैरा) मे, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनो मे मजदूरी दो आना रोज थी। मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नो द्वारा इस दर्दनाक हालत को उन्नत करने की बाते करना बेचारे किसान और उसकी बेबसी का मजाक उडाना है।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते है ? ऐसी गिरी हुई हालत मे जन-समूह को उठाना कठिन तो अवश्य है, लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा। लेकिन असली दिक्कत तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ से आती है, जो तब-दीली का विरोधी है, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता मे रहते हुए तबदीली का हो सकना गैर-मुमकिन-सा मालूम होता है। आगामी वर्षो मे भारत क्या रुख अख्तियार करेगा ? समाजवाद और फासिज्म इस युग की प्रधान वृत्तिया मालूम होती है, और मध्यममार्ग तथा ढिलमिल-यकीन समुदाय लुप्त होते जा रहे है। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फासिज्म ही है। निकट भविष्य के लिहाज से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियो मे फासिस्ट भावना साफ प्रकट है—खासकर बगाल मे और किसी हद तक दूसरे प्रान्तो मे भी, और कॉग्रेस मे भी उसकी झलक आने लगी है। फासिज्म का सम्बन्ध उग्र रूप की हिसा से होने के कारण काग्रेस के बडे-बूढे, जिन्होने अहिसा का व्रत ले रक्खा है, स्वभावत: ही उससे डरते है। लेकिन फासिज्म का, कार्पोरेट स्टेट का, यह कथित तात्त्विक आधार कि व्यक्तिगत

सम्पत्ति कायम रहे और स्थापित स्वार्थो का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, शायद उन्हे पसन्द आजायगा। शुरू मे ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीका बना भी रहे और नया भी मालूम हो। रोटी खा भी लो और उसे बनाये भी रक्खो, ये दोनो बाते एकसाथ मुमकिन भी है या नही, यह बात दूसरी है।

फासिज्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम श्रेणी के नवयुवको से। वस्तुत इस समय हिन्दुस्तान मे जो क्रान्तिकारी है वह मध्यम श्रेणी का ही भाग है, मज़दूर या किसान वर्ग का उतना नही, हालाँकि कल-कारखानो के मज़दूर-वर्ग मे इसकी शक्यता अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्यम श्रेणी फासिस्ट विचारो के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जबतक विदेशी सरकार बनी हुई है, योरप के ढँग का फासिज्म यहाँ नही चल सकेगा। भारतीय फासिज्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवादिता से वह अपनेको मिला न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी पडेगी। यदि ब्रिटिश सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फैसिज्म बड़ी तेजी से बढ़ेगा, क्योकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थो से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के शीघ्र उठ जाने की सम्भावना नही है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्यूनिस्ट विचारो का भी जोरो से प्रचार हो रहा है। भारत मे कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी सस्था) गैर कानूनी करार दे दी गई है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखनेवाले और उन्नत-प्रोग्रामवाले मजदूर सघो तक को शामिल कर लिया जाता है।

फासिज्म और साम्यवाद, इन दोनो मे से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्ही पृष्ठो से मालूम हो जायगा कि मै साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे सस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवी सदी के है और मानववाद[1] की उदार-परम्परा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पडा है कि मै उससे बिलकुल बचकर निकल नही सकता। यह मध्यमवर्गीय सस्कार मेरे साथ लगे

[1] मानववाद (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें आधिदैविक अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानवहित को अपना अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है। अर्थात् इस मत के अनुसार मनुष्य प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए।

रहते है और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्रो की खिझलाहट के कारण बने हुए है। कट्टरता को मै नापसन्द करता हूँ, और कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिसको कि चैलेञ्ज न किया जा सके, और सैनिक अन्धानुकरण और स्वमत-विरोधियो के खिलाफ जिहाद, जो कि आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण से बन गये है, मुझे पसन्द नही है।

मूल्यो के सिद्धान्त (Theory of Value) या दूसरे किन्ही बातो मे मार्क्स का विवेचन गलत हो सकता है, मै उसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नही हूं, फिर भी मै समझता हूँ कि समाज-विज्ञान मे उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष मे इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्त्तमान घटनाओ का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् मे होनेवाले परिवर्त्तनो का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखको की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यमवर्ग मे होनेवाली क्रान्तकारी भावनाओ की जागृति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरे प्रवृत्तियो की उपेक्षा की अथवा उनका महत्व कम आँका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बडी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमे कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमे अपने समय के समाज-सगठन को समझने मे सहायता कर सकता है और काम करने का तरीका और बाधाओ से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन कार्य का वह तरीका भी स्थायी अथवा अपरिवर्त्तनीय नही है, बल्कि उस स्थिति के अनुकूल बनाया जा सकता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने परिवर्त्तित परिस्थितियो के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि "किसी खास अवसर की वास्तविक परिस्थिति का, विकास की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाने पर, विस्तृत रूप से विचार किये बिना, किसी सघर्ष के निश्चित साधनो के प्रश्न पर 'हा,' या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लघन करना है।" उसने फिर कहा है—"दुनिया मे कोई भी पूर्ण नही है, परिस्थितियो से हमे शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की सजीव भावना जगाता है।

राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अधेरे मे टटोलन

की चीज नही रह जाती। जिन आदर्शो और लक्ष्यो को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके लिए परिश्रम और उसके प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को सार्थक और सफल बनाते है। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अग है जो मनुष्यजाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ रही है, और 'इतिहास के साथ कदम-ब-कदम चलने' की उसमे बुद्धि है।

शायद अधिकांश कम्यूनिस्ट इन सब बातो को नही समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस सजीव भावना को पूरी तरह समझता था, जिसने कि उसके प्रयत्नो को इतना कारगर बनाया। फिर भी, कुछ हद तक, हरेक कम्यूनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातो को जानता है।

बहुत-से कम्यूनिस्टो के साथ सब के साथ पेश आसकना बहुत मुश्किल है, उन्होने दूसरो को चिढाने देने का अजीब ढग अख्तियार कर लिया है। लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी है, और रूस के सोवियट-सघ के बाहर, उन्हे अनगिनती कठिनाइयो का मुकाबिला करना पडता है। मैने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है। करोडो भाग्य हीनो की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबते उठाते है, लेकिन किसी क्रूर और सर्व शक्तिसम्पन्न दैव मे अन्ध-श्रद्धा रखकर नही। मर्दो की तरह वे मुसीबतो का सामना करते है, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने मे एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगो की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तो पर कोई जाहिरा असर नही पडता। यह हो सकता है, हालाँकि इसकी अधिक सम्भावना नही है, कि प्रतिकूल परिस्थितियो या राष्ट्र-शक्तियो का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगो को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा। वहाँ अधिकतर जो कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी मै यह समझता हूँ कि वह ससार के लिए ज्यादा से ज्यादा आशा का सदेश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नही है, और न मै अपने आपको उसके कार्यो का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूँ। मेरा अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण उनके पीछे कही ऐसी भयकर लीक न छोड जाय, जिससे उनका पीछा छुडाना मुश्किल हो जाय। लेकिन सबसे बडी बात जो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओ के पक्ष मे कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलो से शिक्षा ग्रहण करने मे नही हिचकते। वे अपना कदम पीछे ले सकते है, और फिर नये सिरे मे शुरू कर सकते है। अपने आदर्श को वे हमेशा अपने सामने रखते है। कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादीसघ—द्वारा दूसरे देशो

मे उठायी गई उनकी प्रगतिया नित्तान्त असफल रही है, और अब तो वैसी प्रगतिया घटते-घटते कम-से-कम रह गई है।

और फिर हिन्दुस्तान मे तो कम्यूनिजम ओर समाजवाद अभी दूर की बात है, बशर्ते कि बाहर की घटनाये उसे कदम आगे बढाने को विवश न करदे। हमे अपने यहाँ कम्यूनिजम का सामना नही करना है, वरन उससे बढकर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार मे है। प्रभावशाली लोग निकम्मी बातो, साजिशो और हथकण्डे फैलाने मे यहाँ अपनी शक्ति बरबाद कर रहे है और इनमे एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे है। उनमे से विरले ही ऐसे होगे जो दुनिया को ऊँचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न मे दिलचस्पी रखते हो। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कॉंग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार मे ज्यादातर दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न वुर्जुआ जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओ के लिए जो उपाय वह सोचती है, वे भी निम्न वुर्जुआई ढग के-से ही है। मगर इस ढग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नही मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम श्रेणी की प्रतिनिधि है, क्योकि इस समय इसीकी आवाज बुलद है और यही सबसे अधि क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताकतवर नही है, जितनी कि व दिखाई देती है। वह दोनो ओर—एक सबल और सुरक्षित ओर दूसरी अब भ कमजोर लेकिन बढती हुई—दो शक्तियो से दबाई जा रही है। इस समय वह अप अस्तित्व के खतरे मे से गुजर रही है, भविष्य मे उसका क्या होगा, यह कह सकन कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश, राष्ट्र की आजादी, की प्राप्ति को पूरा नह कर लेती, तबतक वह उन सुरक्षित शक्तियो की ओर जा नही सकती। लेकि इसके पहले कि वह इसमे सफलता हासिल करे यह मुमकिन है कि दूसरी शक्तियां जो पकड ले और उसे अपनी ओर खिचने के लिए प्रभावित करले। या धीरे-धीरे उसक जगह लेले। लेकिन, यह सभव मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रत बहुत कुछ अशो मे प्राप्त नही हो जाती, तबतक कॉंग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा खयाल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ उदाहरणो के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आम तौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमे हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैयां मे डालने के सिवा, जिसमे कि निकल सकना मुश्किल होगा, और कही नही ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस में एक सूत्र में बंध जाना चाहिए और सबको 'मिलकर मुकाबिला' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी कवि-सुलभ भावुकता के साथ इसका जोरों से प्रचार करती हैं। वह कवि हैं, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर जोर देने का उन्हें अधिकार है। इसमें शक नहीं कि 'संयुक्त मुकाबिला' हमेशा ही वांछनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह मुकाबिला हो। इस वाक्य का विश्लेपण किया जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गों के चोटी के व्यक्तियों का पारस्परिक शर्तनामा या समझौता। ऐसे मजमूए का लाजिमी नतीजा यह होगा कि अत्यन्त शंकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथप्रदर्शन करेंगे। जैसाकि सबको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, इसलिए नतीजा होगा 'संयुक्त अवरोध' अर्थात् सब हलचलों का रुक जाना—'संयुक्त सामने' के बजाय 'संयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवकूफी होगी कि हम लोग दूसरों के साथ सहयोग या समझौता न करेंगे। जीवन और राजनीति दोनों ही इतने गूढ़ हैं कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "बिना समझौता किये या मार्ग बदले आगे कुछ करना मानसिक छिछोर-पन है, और क्रान्तिकारी वर्ग की गम्भीर कार्य-कुशलता के विरुद्ध है।" समझौते लाजिमी हैं, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत अधिक परेशान होने की जरूरत नहीं है। हम समझौता करें या उससे इनकार कर दें, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओं को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुयें उनका स्थान कभी न लेने पावें। अगर हम अपने सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ़ हैं तो अस्थायी समझौते कुछ नुकसान नहीं पहुँचा सकते। लेकिन खतरा यही है कि कहीं हम अपने कमजोर भाइयों की अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तों और ध्येयों में पीछे न हट जायँ। किसीको गुमराह करना कहीं ज्यादा बुरा है, बनिस्बत किसी को नाखुश करने के।

मैं प्रचलित घटनाओं के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूँ और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने की कोशिश करता हूँ। आम तौर पर यह खयाल है कि जब कार्य मुझे अपनी ओर बुलाता है, तब मैं तमाशबीन नहीं बना रहता, बल्कि अक्सर मुझसे कहा गया है, कि मेरा दोष यह है कि काफी उत्तेजना के बिना ही मैं बेवकूफी से उसमें कूद पड़ता हूँ। मैं अब क्या करूँगा, और अपने देशबन्धुओं को क्या करने की सलाह दूँगा, यह सब

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामों में लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने से रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूँ तो कहना होगा कि सचमुच मैं कुछ नहीं जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूँ। जब मैं काम कर नहीं सकता, तब परेशान क्यों होऊँ? जरूर ही मैं एक बहुत हद तक तो परेशान होता हूँ, लेकिन यह अनिवार्य है। कम-से-कम जबतक मैं जेल में हूँ, तबतक तो, मैं तत्काल-निर्णय की समस्याओं के चक्कर में फँसने से बचने की कोशिश करता हूँ।

जेल में रहते हुए सब हलचलों से दूर रहना पड़ता है। यहाँ मनुष्य को घटनाओं का शिकार होकर रहना पडता है, कार्य का विषय बनकर नहीं, भविष्य में कुछ होने की आशा में रह-रहकर इन्तजार करना पडता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर लिख रहा हूँ, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जो कि एक अर्से से मेरा घर बन गई है, इस सबसे क्या वास्ता? कैदियों की एक ही बात में खास बडी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख का खयाल।

नैनी जेल में और यहाँ अलमोड़ा में भी बहुत-से कैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे में पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका कि यह 'जुगली' क्या चीज है, लेकिन बाद को मुझे खयाल आया कि वह जुबिली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफवाहों की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणों के कारण उनके लिए उसका एक ही अर्थ था—कुछ लोगों की जेल से मुक्ति या सजा में काफी कमी। इसलिए हरेक कैदी, और खासकर लम्बी अवधिवाले कैदी, आगे आनेवाली 'जुबली' के बारेमें बडे उत्सुक थे। उनके लिए शासन-सुधार-विधान, पार्लमेण्ट के कानून और समाजवाद और कम्युनिज्म की बनिस्बत यह 'जुगली' कहीं ज्यादा महत्त्व की चीज थी।

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है, किन्तु यह क्षमता हमें नही दी गई है कि हम अपने कार्यों को पूरा कर सके।

तालमद

मैं अपनी कहानी की समाप्ति पर पहुँच गया हूँ। अपनी जीवन यात्रा का, अधिकतर अपने से ताल्लुक रखनेवाला, यह विवरण, जैसा कुछ भी यह है, अलमोड़ा जिला जेल के अपने निवास के आज दिन—१४ फरवरी १९३५—तक का है। तीन महीने पहले, आज के ही दिन मैंने इस जेल मे अपनी पैतालीसवी वर्षगाठ मनाई थी, और मै खयाल करता हूँ कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का खयाल मुझपर गालिब आ जाता है, लेकिन फिर मैं अपनेको उत्साह और चैतन्य से भरपूर महसूस करने लगता हूँ। मेरा शरीर काफी गठीला है और मेरे दिमाग मे सदमो को पार कर जाने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मै अभी काफी अर्से तक जिन्दा रहूँगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध मे कुछ लिखा जाय उसका उपभोग कर लिया जाना जरूरी है।

मेरे ये साहसिक काम शायद बहुत उत्तेजना पैदा करनेवाले नही रहे है; कई बरसो के जेल-निवास को साहसिक कार्य का नाम नही दिया जा सकता और न वे किसी तरह अद्वितीय ही हुए है, क्योकि इन बरसो को मैने, उनके सब उतार-चढाव सहित, अपने हजारो देश-भाइयो और बहनो के साथ बिताया है, और इसलिए जुदी-जुदी भावनाओ, और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलो और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका सयुक्त वर्णन है। मै जन-समूह मे का ही एक व्यक्ति रहा हूँ, उसके साथ काम करता रहा हूँ, कभी उसका नेतृत्व कर उसे आगे बढाता रहा हूँ, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूँ, और फिर भी, दूसरी इकाइयो की तरह दूसरो से अलग जन-कोलाहल के बीच मे अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता हूँ। हम अक्सर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए है, और उनके अनुसार अपने अनेक रग बताये है, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमे बहुत कुछ असलीयत थी, बहुत सचाई थी, और उसने हम नाचीज प्राणियो को ऊँचा उठा दिया, हमे अधिक सजीव बना दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो कि अन्यथा हमे मिल नही सकता था। कभी-कभी हमे जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप मे परिणत करने में होती है और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा जी

बिताना, जिसमे इन आदर्शों का परित्याग करके किसी महान् शक्ति के सामने दीनता-अधीनता ग्रहण करनी होती, अपने अस्तित्व को नष्ट करना होता, असन्तोष और अन्त क्लेश से भरा होता।

इन वर्षो मे मुझे बहुत-से तोहफो के साथ-साथ एक अनमोल तोहफा यह भी मिला है कि मै जीवन को अधिकाधिक महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ, जहाँ इतना सीखने को मिलता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमे हमेशा रही है, वह अब भी मुझमे है और मेरी हलचलो, उसी तरह पुस्तको के पठन-पाठन मे रुचि पैदा करती है और आम तौर पर जीवन को जीने योग्य बनाती है।

'मेरी कहानी' के लिखने मे मैने हरेक घटना पर जो मनोभाव और विचार उठते थे, उन्हे देने का—जहाँतक सम्भव हो सकता था उस समय के अपने भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। किसी बीते हुए मनोभाव को फिर से याददाश्त पर लाना कठिन है, और बाद मे आनेवाली घटनाओ को भुलाना सरल नही है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनो के वर्णन पर पिछले विचारो का प्रभाव ज़रूर पडा होगा, लेकिन मेरा उद्देश्य, खासकर अपने ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अकित करना था। मैने जो कुछ लिखा है, शायद वह इस बात का इतना वर्णन नही है, कि मै क्या रह चुका हूँ, जितना इस बात का कि कभी-कभी मै कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनो पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने अपने एक सार्वजनिक भाषण मे कहा था कि मै जनता के भावो को प्रदर्शित नही करता, बल्कि और भी अधिक खतरनाक व्यक्ति, अपने आत्म-बलिदानो, आदर्शवाद और आत्मविश्वास की दृढता के कारण, जिसे कि उन्होने 'आत्मसम्मोहन' कहा था, हो गया हूँ। आत्म-सम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध मे निर्णय कर सकता है और किसी भी हालत मे मै इस व्यक्तिगत मामले मे सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे मे न पडना चाहूँगा। बहुत बरसो से हम एक-दूसरे से मिले नही है, लेकिन बहुत अर्से पहले एक समय था जबकि हम दोनो होमरूल लीग के सयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद को बहुत घटनाये घट चुकी है और रामस्वामी चक्करदार जीनो को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढते-चढते चोटी तक जा पहुँचे, जबकि मै पृथिवी पर ही, पृथिवी का साधारण प्राणी बना हुआ हूँ। सिवा इसके कि हम दोनो एक राष्ट्रवासी है अब उनमे और मुझमे कोई समानता नही रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसो से भारत मे ब्रिटिश-राज्य के जबरदस्त हामी है, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक है और खुद भी एक देशी रियासत मे स्वेच्छा-

चारिता के चमकदार आभूषण बने हुए है। मै समझता हूँ, हम अधिकाश बातो मे मतभेद रखते है, लेकिन एक साधारण से मामले मे हम सहमत हो सकते है। उनका यह कहना बिल्कुल सच है कि मै जनता का प्रतिनिधि नही हूँ। इस विषय मे मुझे कोई भ्रम नही है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मै यह सोचने लगता हूँ कि दरअसल क्या मै किसीके भी भाव को प्रदर्शित करता हूँ, और मै इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ कि, नही, मै वैसा नही करता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते है। मै पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण—मिक्सचर— बन गया हूँ, हर जगह बेमौजू—अपने घर मे कही का भी नही-सा। शायद मेरे विचार और जीवन का मेरा रास्ता पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तन जैसा कि वह अपने सब बच्चो के हृदय मे रहता है, अनेक रूप से मेरे हृदय मे भी है और अन्तर के किसी अनजान कोने मे, कोई सौ, (या सख्या कुछ भी हो) पीढियो के ब्राह्मणत्व की जातीय स्मृतिया छिपी हुई है। मै अपने पिछले सस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नही सकता। ये दोनो मेरे अग हो गये है, और जहाँ वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनो से मिलने मे सहायता करते है, वहाँ साथ ही, न केवल सार्वजनिक कार्यो मे वल्कि खुद जीवन मे भी एक आध्यात्मिक निरानन्दता का भाव पैदा करते है। पश्चिम मे मै विदेशी हूँ—अजनबी हूँ। मै उसका हो नही सकता। लेकिन अपने देश मे भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मै कहीका निर्वासित हूँ।

सुदूर पर्वत सुगम्य और उनपर चढना सरल मालूम होता है, उसका शिखर आवाहन करना दिखाई देता है, लेकिन, ज्यो-ज्यो हम उसके नजदीक पहुँचते है, कठिनाइया दिखाई देने लगती है, और जैसे-जैसे ऊँचे चढते जाते है, चढाई ज्यादा-से-ज्यादा मालूम होने लगती है और शिखर बादलो मे छिपता नजर आने लगता है। फिर भी चढाई प्रयत्न किये जानेयोग्य है और उसका अपना एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष है। शायद जीवन को महत्त्व देनेवाली चीज सघर्ष ही है, अन्तिम परिणाम इतना नही। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है, कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नही है, और दरअसल जिसमे कुछ सचाई है, उसे नज़र अन्दाज कर दिया जाता है। अत्यत नम्रता के साथ मै महान् सुकरात के अन्तिम शब्दो का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था—"मै नही जानता कि मृत्यु क्या चीज़ है—वह कोई अच्छी चीज़ हो सकती है, और मुझे इसका कोई भय नही है। लेकिन मै यह जानता हूँ कि किसीके उज्ज्वल भूतकाल को नष्ट कर देना बुरा है, इसलिए जिसके बारे में मै जानता हूँ कि

बुरी है उसकी अपेक्षा जो अच्छी हो सकती है उसे मैं अपनाना पसन्द करता हूँ।"

बरसों मैंने जेल में बिताये हैं। अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए, कितनी ऋतुओं को मैंने एक दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध और अनवरत गति और शान के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने अतीत दिवसों की यहाँ चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मैं इन अतीत दिवसों की प्रेत आत्माओं को उठते हुए, अपनी दुःखद स्मृतियों को साथ लाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूँ "क्या यह करनेयोग्य था"! और इसका जवाब देने में मुझे कोई झिझक नहीं है।

अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौका मिले, तो इसमें शक नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक तबदीलियाँ करने की कोशिश करूँगा, जो कुछ मैं पहले कर चुका हूँ, उसको कई तरह से उन्नत करने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन सार्वजनिक विषयों में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह, मैं उन्हें बदल नहीं सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक जबर्दस्त हैं, और मेरे काबू से बाहर की सत्ता ने मुझे उस ओर खींचकर उन-तक पहुँचाया है।

मेरी सजा को आज पूरा एक बरस हो गया, सजा के दो बरसों में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाकी है, क्योंकि इस बार रिआयती दिन न कटेंगे, सादी सजा में इस तरह दिन नहीं काटते। इतना ही नहीं पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि में बढ़ा दिये गये हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊँगा—मगर उसके बाद? मैं नहीं जानता, लेकिन एक ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, यह मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

कुछ और

वेडनवीलर, स्वार्टस्वाल्ट
२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने मे मेरी पत्नी भुवाली से योरप इलाज कराने के लिए गई। उसके योरप चले जाने से मेरा भुवाली जाना बन्द हो गया, पहाडी सडको पर मेरा हर पखवारे आवागमन बन्द हो गया। वह मुझे अब दिखाई न देती थी, और अल्मोडा-जेल मेरे लिए अब पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बाते भुला दी। लेकिन अधिक समय के लिए नही, क्योकि भारत सरकार हमे उसको या उसके विचित्र तरीको को, भूलने नही देती। फौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जो कि भूकम्प सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्राय किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते है, क्वेटा जाने और पीडितो की सहायता करने की इजाजत नही दी गई। न गाधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता को ही वहाँ जाने दिया गया। क्वेटा-भूकम्प के बारे मे लेख लिखने के कारण कई भारतीय अखबारो की जमानते जब्त करली गई।

जिधर देखिए उधर सब ओर फौजी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखाई देता था—असेम्बली, मे सिविल शासन मे, सीमान्त पर बम बरसाये जाने मे, सबमे, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान मे अग्रेजी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बडे समुदाय से मुतवातिर लडाई लड रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियो और उनके डडो से भरी हो, शायद रहने के लिए उपयुक्त स्थान न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को गिरा देता है, क्योकि इससे वह जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग करता है उसे जलील और हीन बना देता है। इस समय हिन्दुस्तान मे ऊँची नौकरिया, खासकर भारतीय सिविल-सर्विस वालो के दिन-पर-दिन बढते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखाई देती हो। खासतौर पर ऊँचे अफसरो मे यह सबसे अधिक पाई जाती है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियो मे यह एक जाल की तरह फैली हुई है। जब कभी किसी ऊँचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चितरूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को यकायक मैं अलमोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गई है। स्वार्टस्वाल्ट (जर्मनी) के वेडनवीलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सजा मुल्तवी करदी गई है, और मैं अपनी रिहाई के साढे पाच महीने पहले छोड दिया गया। मै फौरन हवाई जहाज से योरप को रवाना हुआ।

योरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवो की आशकाये और आर्थिक सकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मडराते रहते है, अबीसीनिया पर धावे हो रहे है और वहाँ की जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्ताये आपस मे टकरा रही है और एक-दूसरे के लिए खतरनाक बनी हुई है, और अपनी अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इग्लैड, साम्राज्यवादी सत्ताओ का सिरमौर इग्लैड, शान्ति और राष्ट्रसघ की दुहाइयाँ दे रहा है। लेकिन यहाँ इस 'ब्लेक फारेस्ट' मे शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहाँतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिन्ह स्वस्तिक भी नजर नहीं आता। मै देख रहा हूँ कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रास के सुदूर सीमान्त को छिपाता हुआ दिखनेवाले भू-प्रदेश को ढक रहा है और मै हैरत मे हूँ कि उस पार क्या है?

परिशिष्ट—क

[२६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस, का प्रतिज्ञा-पत्र]

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रो की भाति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते है कि हम स्वतत्र होकर रहे, अपनी मेहनत का फल हम खुद भोगे और हमे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाये मिले जिससे हमे भी विकास का पूरा-पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते है कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी हक है। हिन्दुस्तान की अग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियो की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नही किया है, बल्कि उसका आधार भी गरीबो के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अग्रेजो से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आजादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते है उनका २० फी सदी किसानो से लगान के रूप मे और ३ फी सदी गरीबो से नमक-कर के रूप मे वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये है। इससे साल मे कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते है। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मद हो गई और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये है उनकी जगह दूसरे देशो की भाति कोई नये उद्योग जारी भी नही किये गये है।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानो का भार और भी बढ गया। हमारे देश मे बाहर का माल अधिकतर अग्रेजी कारखानो से आता है। चुगी के महसूल मे अग्रेजी माल के साथ साफ तौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबो का बोझा हलका करने मे नही, बल्कि एक अत्यत अपव्ययी शासन को कायम रखने मे किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीके से निश्चित की गई है कि जिससे देश का करोडो रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अग्रेजो के जमाने मे घटा है उतना पहले कभी नही घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ मे असली राजनैतिक सत्ता नही आई। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के

सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आजादी से जाहिर करने और आजादी से मिलने-जुलने के हमारे हक छीन लिये गये है और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गये है। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गावो के छोटे-छोटे ओहदो और मुशीगिरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"सस्कृति के लिहाज से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की जजीरो को ही प्यार करने लगे है।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबरदस्ती छीनकर हमे नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुकाबिले की भावना को बडी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलो मे यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते है और न विदेशी हमलो से देश की रक्षा कर सकते है। इतना ही नही, चोर, डाकू और बदमाशो के हमलो मे भी हम अपने बाल-बच्चो और जान-माल को नही बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय मे मनुष्य और ईश्वर दोनो के प्रति जुर्म है। किन्तु हम यह भी मानते है कि हमे हिंसा के द्वारा स्वतत्रता नही मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-सभव स्वेच्छा-पूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राजी-राजी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बगैर कर देना बन्द कर सके तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक सकल्प करते है कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कॉग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाये देगी, उनका हम पालन करते रहेगे।"

परिशिष्ट—ख

[यरवड़ा सेन्ट्रल जेल, पूना मे सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकन्दराव जयकर को ता० १५ अगस्त को कांग्रेस-नेताओं द्वारा लिखा गया पत्र, जिसमे सुलह की शर्ते थीं ।]

प्रिय मित्रगण,

आप लोगों ने ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी है । आपका वाइसराय के साथ जो खत-किताबत हुआ है, और आपके साथ हम लोगों की जो बहुत अधिक बाते हुई है और हम लोगो मे आपस में जो कुछ परामर्श हुआ है, उस सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचे है कि अभी ऐसे समझौते का समय नही आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो। पिछले पांच महीनो मे देश मे जो गजब की जागृति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले लोगो मे से छोटे-बडे सभी प्रकार और वर्ग के लोगो ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते है कि न तो वह कष्ट-सहन काफी ही हुआ है, और न वह इतना बडा ही हुआ है कि उससे तुरन्त ही हमारा उद्देश पूरा हो जाय। शायद यहाँ यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नही है कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुँची है या वह आन्दोलन कुसमय मे खडा किया गया है या वह अवैध है। अंग्रेजो का इतिहास ऐसे-ऐसे रक्तपूर्ण क्रान्तिकारियो के उदाहरणो से भरा पडा है, जिनकी प्रशंसा के राग गाते हुए अंग्रेज लोग कभी नही थकते, और उन्होंने हम लोगो को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है । इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्य-रूप मे भी बहुत बडे पैमाने मे और अद्भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अंग्रेज को शोभा नही देता । पर जो सरकारी या गैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते है, उनके साथ झगडा करने की हमारी कोई इच्छा नही है। हम मानते है कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्य-जनक रूप से इस आन्दोलन मे शामिल हुए, वही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है । यहाँ कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते है कि अगर किसी तरह सम्भव हो, तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया। अपने देश के पुरुषो, स्त्रियो और

बच्चो तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति मे रखना कि उन्हे जेल जाना पडे, लाठियाँ खानी पडे और इनसे भी बढ-बढकर दुर्दशाये भोगनी पडे, हम लोगो के लिए कभी आनन्ददायक नही हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते है कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते है, उन सबको ढूँढकर उनका अवलम्बन करने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेगे, तो आशा है कि आप हम लोगो की इस बात पर विश्वास करेगे। लेकिन फिर भी हम मानते है कि अभीतक हमे क्षितिज पर ऐसी शान्ति का कोई चिह्न नही दिखाई देता। हमे अभीतक इस बात का कोई लक्षण नही दिखाई पडता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते है कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियो ने अपने शुभ विचारो की जो निष्ठापूर्ण घोषणाये की है और जिनमे से बहुत-सी प्राय अच्छे उद्देश मे की गई है, उनपर हम विश्वास नही करते। इधर मुद्दतो से अंग्रेज इस प्राचीन देश के निवासियो की धन-सम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये है, उनके कारण उन अंग्रेजो मे अब इतनी शक्ति और योग्यता नही रह गई है कि वे यह बात देख सके कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नही कर सकते कि उनके करने का सबसे बडा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढे बैठे है, उसपर से उतर जायँ, और लगभग सौ बरसो तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हम लोगो का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे वे बाहर निकलकर विकसित होने मे हमारी सहायता करे, और अबतक उन्होने हमारे साथ जो अन्याय किये है, उनका इस रूप मे प्रायश्चित्त कर डाले।

पर हम यह बात जानते है कि आपके और हमारे देश के कुछ और मित्र लोगो के विचार हमारे इन विचारो से भिन्न है। आप यह विश्वास करते है कि शासको के भावो मे परिवर्तन हो गया है, और अधिक नही तो कम-से-कम इतना परिवर्तन ज़रूर हो गया है कि जिससे हम लोगो को प्रस्तावित परिषद् मे जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालाँकि हम इस समय एक विशेष प्रकार के बन्धन मे पडे हुए है, तो भी जहाँतक हमारे अन्दर शक्ति है वहाँतक हम इस काम मे खुशी से आप लोगो का साथ देगे। हम जिस परिस्थिति मे पडे हुए है, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न मे हम अधिक-से-अधिक जिस रूप मे और जिस सीमा तक सहायता दे सकते है, वह इस प्रकार है—

(१) हम यह समझते है कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है, उसमे प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध मे जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहोर मे जो राष्ट्रीय माँग पेश की गई थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्व ही निर्धारित नही कर सकते, और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि काँग्रेस की कार्य-समिति, और जरूरत हो तो महासमिति के नियमित रूप से अधिवेशन मे विना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सके। पर हम इतना अवश्य कह सकते है कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगो के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा जबतक कि (क) पूरे और स्पष्ट शब्दो मे यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय। (ख) भारत मे ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जो उसके निवासियो के प्रति जवाबदेह हो। उसे देश की रक्षक शक्तियो (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयो पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमे उन ११ बातो का भी सामावेश हो जाय जो गाधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र मे लिखकर भेजी थी। (ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार प्राप्त न हो जाय कि जरूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतत्र पचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अग्रेजो को जो विशेष पावने और रिआयते वगैरा प्राप्त है, जिसमे भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध मे राष्ट्रीय सरकार का यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नही है या भारत की जनता के लिए हितकर नहीं है, वे सब अधिकार, रिआयते और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य है या नही।

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक्त भारत के हित के विचार से इस किस्म के जिस लेन-देन आदि की जरूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेगे

(२) ऊपर बतलाई हुई बाते ब्रिटिश-सरकार को अगर ठीक जँचे और वह इस सम्बन्ध मे सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम काँग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफारिश करेगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अवज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय, अर्थात्, केवल आज्ञा-भग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट कानूनो का भग न किया जाय। पर विलायती कपडे और शराब, ताडी वगैरा की दूकानो पर तब तक शान्तिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगी, जबतक कि सरकार खुद कानून बनाकर शराब, ताडी आदि और विलायती कपडे की बिक्री बन्द न कर देगी। सब लोग अपने घरो

मे बराबर नमक बनाते रहेगे और नमक-कानून की दण्ड-सम्बन्धी धाराये काम मे नह लाई जायँगी। नमक के सरकारी या लोगो के निजी गोदामो पर धावा नही किय जायगा।

(३) (क) ज्योही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, त्योही उसक साथ वे सब सत्याग्रही कैदी और राजनैतिक कैदी, जो सजा पा चुके है पर जे हिसा के अपराधी नही है या जिन्होने लोगो को हिसा करने के लिए उत्तेजित नह किया है, सरकार-द्वारा छोड दिये जायँगे। (ख) नमक-कानून, प्रेस-कानून, लगान कानून और इसी प्रकार के और क़ानूनो के अनुसार जो तमाम सम्पत्तिया ज़ब्त की गई है, वे सब लोगो को वापस कर दी जायँगी। (ग) सज़ायाफ्ता सत्याग्रहियो से जो जुर्माने वसूल किये गये है या जो जमानते ली गई है, उन सबकी रकमे लौटा दी जायँगी। (घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमे गाँवो के कर्मचारी भी शामिल है, जिन्होने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुडा दिये गये है, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहे तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायँगे।

नोट—ऊपर जो उपधाराये दी गई है, उनका व्यवहार असहयोग-काल के सज़ायाफ्ता लोगो के लिए भी होगा।

(ङ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये है, वे सब रद्द कर दिये जायँगे।

(च) प्रस्तावित परिषद् मे कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायगे और उसमे काँग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, इसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातो का सन्तोषजनक निपटारा हो जायगा।

आपके—

मोतीलाल नेहरू
मोहनदास करमचन्द गाधी
सरोजिनी नायडु
वल्लभभाई पटेल
जयरामदास दौलतराम
सैयद महमूद
जवाहरलाल नेहरू

परिशिष्ट—ग

[२६ जनवरी १९३२ को पढ़ा गया स्मारक-वक्तव्य]

भारत-माता की उन सन्तानो का, जिन्होने आज़ादी की महान् लड़ाई मे भाग
या और देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक कष्ट सहे और कुर्बानी की
न महान् और प्रिय नेता महात्मा गांधी का जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के
ोत रहे है, और जो हमे सदैव उसी ऊँचे आदर्श और पवित्र साधनो का मार्ग दिखला
हे है, उन सैकडो हज़ारो बहादुर नवयुवको का, जिन्होने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने
प्राणो की बलि चढाई, पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर मिदनापुर
और बम्बई के शहीदो का, उन सैकडो हज़ारो भाइयो का, जिन्होने दुश्मन के तमाम
लाठी-प्रहारो का मुकाबिला किया और उन्हे सहा, गढ़वाली रेजीमेन्ट के सैनिको और
फौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियो का जिन्होने कि अपनी जान खतरे
मे डालकर भी अपने देशभाइयो पर गोली आदि चलाने से इनकार कर दिया
गुजरात के उन दबंग किसानो का, जिन्होने कि बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशंस
अत्याचारो का मुकाबिला किया, भारत के अन्य प्रदेशो के उन बहादुर और पीड़ित
किसानो का, जिन्होने कि सब प्रकार के दमन को सहकर भी लड़ाई मे पूरा भाग
लिया, उन व्यापारियो और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायो का, जिन्होने कि जबर्दस्त
नुकसान उठाकर भी राष्ट्रीय सग्राम मे, विशेषकर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के
बहिष्कार मे, सहायता की, उन एक लाख स्त्री-पुरुषो का, जो जेल गये और सब प्रकार
के कष्ट सहे, यहाँतक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटे सही,
और खासकर उन साधारण स्वयसेवको का, जिन्होने कि भारत-माता के सच्चे
सिपाहियो की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एक-
मात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टो और कठिनाइयो के बीच भी
अनवरत और शान्तिपूर्वक कार्य किया, हम·········के निवासी गौरव और कृतज्ञता-
पूर्ण हृदय से अभिवादन करते है; और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना
करते है, भारत की नारी-जाति का, जो कि भारत-माता के सकट के समय अपने
घरो की शरण छोडकर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना मे अपने
भाइयो के साथ कधे-से-कधा भिडाकर अगली कतार मे खड़ी रही और बलिदान और
सफलता के उल्लास मे पूरा-पूरा भाग लिया, और भारत की उस युवकशक्ति और
वानरसेना पर जिसे कि उसकी सुकुमार आयु भी लड़ाई मे भाग लेने और अपने ध्येय
पर कुर्बान होने मे न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते है।

और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्गों ने इस महान् संग्राम में हाथ बटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्तिभर प्रयत्न किया। खासकर अल्पसंख्यक जातियों—मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई आदि के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी समान-मातृभूमि के प्रति अपनी एकनिष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने और उसे कायम रखने तथा उस नवीन स्वतंत्रता का भारत के सब समुदाय के लोगों की बेड़ियाँ तोड़कर सबमें से असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतंत्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जबतक हिन्दुस्तान आजाद नहीं हो जाता तबतक अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।

निर्देशिका

अ

आ

इ

उ

ए

ऐ

ओ

क

घ

च

छ

ज

झ

ट

भ

म

य

र

ल

व

स